अलंकार
सम्पादक:—
आचार्य देवशर्मा 'अभय'
आषाढ़
१९९१
वार्षिक मू०

का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः, कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ?

"सुन्दर वचनों से हम तेरा क्या अलंकार कर सकते हैं ? हे इन्द्र ! वह समय कब आवेगा जबकि हम तुझे अपने आप को दे देंगे, पूर्ण आत्मसमर्पण कर देंगे ?" ऋ० -७-२९- ३

वर्ष ४] आषाढ़, १९९१ :: जुलाई, १९३४ [संख्या ६

'अलंकार' के लिए भेजा गया

महात्मा गांधी जी का सन्देश

'सत्याग्रह के बारे में जो मैंने निश्चय दिया है वह पूर्णतया धार्मिक है इसे समझने की सब कोशिश करें।'

२०-४-३४ मो० क० गांधी

'अलंकार' भारत का अलंकार बने !

[श्री स्वामी सत्यानन्दजी महाराज]

समाचार-पत्र का ऊँचा उद्देश होना चाहिए कि वह अपने पाठकों को जागृत करने का साधन हो। उनके अच्छे भावों को उत्तेजित करे; उनको उनके हित का पथ प्रदर्शित करे, उस पर चलने के लिए प्रभाव-जनक लेखों से प्रेरित करता रहे और जनता की अच्छी रुचियों को उन्नत करने में तत्परता रक्खे। ऐसे समाचार-पत्र देश के लिए बहुत ही उपयोगी हुआ करते हैं। मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि "अलंकार" नाम से पत्र, श्री अभय देवशर्म्माजी निकालने लगे हैं। श्री शर्म्माजी के सम्पादकत्व में "अलंकार पत्र" अपने उदात्त उद्देशों की दृष्टि से तथा अपनी उपयोगिता से भारत का, सचमुच अलंकार बन कर सुशोभित होगा, ऐसी ही आशा रखनी चाहिए। श्री अभयदेवजी को इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हो, मेरी यही हार्दिक कामना है।

'अलंकार' जनता का पथ-प्रदर्शक हो !

[श्री गंगाप्रसादजी, एम्. ए, चीफ़-जज टिहरी-राज्य]

मुझ को यह जान कर आनन्द हुआ कि "अलंकार" फिर प्रकाशित होता है और कि उसका सम्पादन श्रीयुत पं० देवशर्माजी "अभय" करेंगे। मुझ को दृढ़ आशा है कि उनके जैसी निर्भीक और उच्च विचारों तथा सात्विक और तपस्वी जीवन की छाप पत्र पर रहेगी। यदि ऐसा हुआ, तो "अलंकार" गुरुकुल कांगड़ी, आर्य्यसमाज, तथा साधारण जनता को अवश्य लाभ पहुँचाएगा, और अपने पाठकों को उस स्वार्थत्याग, धर्म-प्रेम, स्वदेशाभिमान और राष्ट्रीयता के मार्ग पर ले जायगा जिसकी स्वामी श्रद्धानन्दजी साक्षात् मूर्ति थे।

❦ ❦ ❦

'अलंकार' भारत का भूषण हो !

[श्री आचार्य रामदेवजी, देहरादून]

अन्य भाषाओं के साहित्य को देखते हुए हिन्दी का भंडार सूना-सा ही प्रतीत होता है। अतः हिन्दी-साहित्य को सर्वतोमुखी बनाने के लिए नये नये विषयों का प्रवेश करना 'अलंकार' का कर्तव्य है।

मुझे पूर्ण आशा है कि 'अलंकार' अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने में समर्थ होगा। यह पत्रिका जिन आशाओं, महान कर्तव्यों एवं पवित्र उद्देश्यों को सन्मुख रखकर प्रकाशित की जा रही है उन को अवश्य पूर्ण करेगी। जिस प्रकार यूरोप में उच्चकोटि की पुस्तकों एवं साहित्य की सामग्री पहिले पहल मासिक पत्रिकाओं के रूप में निकलती है उसी प्रकार भारत में यह कार्य्य "अलंकार" द्वारा सम्पादित होगा। विशेषतया वेद का अन्वेषण, प्राचीन इतिहास की खोज तथा हिन्दी-भाषा-प्रचार ये तीन कार्य 'अलंकार' द्वारा संपन्न होंगे।

मैं भगवान् से मनाता हूँ कि यह पत्रिका गुरुकुल के उद्देश्यों की शान हो, स्नातकों की आन हो एवं ऋषि की अभिलाषा को पूर्ण करनेवाली हो। भारत माता के उज्ज्वल भविष्य की शोभा हो और भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म आदि की दिव्य आभा को दिग्-दिगन्त में छिटका देनेवाली हो।

'अलंकार' सत्य और स्वाधीन-विचार का प्रचारक हो !

[श्री प्रो. इन्द्रजी विद्यावाचस्पति, संचालक 'अर्जुन', दिल्ली]

मैं इस पत्र द्वारा आपके संकल्प का स्वागत करता हूँ। 'अलंकार' गुरुकुल के स्नातकों का प्रमुख पत्र होने की हैसीयत से सत्य और स्वाधीन विचार का समर्थक और प्रचारक होगा ऐसी दृढ़ आशा है। परमात्मा आपके प्रयत्न को सफल करें।

स्वर्गीय शहीद स्वामी श्रद्धानन्दजी का अमर संदेश—

तुम्हारा अलंकार सचाई पर जिला हो

मुझ से "अलङ्कार" के लिये लेख की याचना की गई है। गुरुकुल के स्नातक मिल कर एक पत्र निकालना चाहते हैं, उसका नामकरण संस्कार किया गया है "अलङ्कार"।

गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के स्नातकों को जो उपाधियाँ दी जाती हैं उन के साथ अलङ्कार पद पीछे लगा रहता है। शायद इसी से पत्र का नाम चुना गया है।

जैसे मनुष्य को अलंकृत करने का रिवाज़ है वैसे ही वस्तुओं को भी अलंकृत करने का रिवाज़ पुराना है। अलङ्कार भी विद्या की तरह दोधारी तलवार है। जहाँ विद्या संसार के लिये कल्याणकारिणी हो सकती है वहाँ वही विद्या संसार को नरक धाम भी बना सकती है। यदि सचाई से परिमार्जित विद्या संसार को सीधे मार्ग पर चलाकर उसे स्वर्गधाम बना सकती है तो चमकीले खोल के नीचे छिपाई हुई विद्या मनुष्य को नरककुंड में धकेल सकती है। अलङ्कार व मनुष्य वस्तु के रूप को उठानेवाला नहीं, गिराने वाला भी हो सकता है। जिस बर्तन पर स्वाभाविक जिला की जाती है उस की आब बढ़ जाती है और चिरकाल तक ठीक काम देता है, परन्तु जिस बर्तन पर उस का ऐब ढाँपने के लिये मुलम्मा चढ़ाया जाता है वह कुछ दिनों ऊपर से दिल खुश रख कर उसको, बर्तन वाले का स्वास्थ्य भी बिगाड़ देता है। इसी प्रकार पुरुष को भी जहाँ स्वाभाविक साधनरूपी जिला श्रेय मार्ग की ओर ले जाकर अपने और संसार के लिए कल्याणकारी बनाती है; वहाँ बनावटी आभूषण उस के ऐब छिपा कर उसे अपने और संसार के लिए दुःखदाई बना देते हैं।

मेरे स्नातक धर्मपुत्रो! मैं परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारा साहित्य सम्बन्धी परिश्रम सफल हो और उस के द्वारा तुम सचाई पर स्वाभात्रिक जिला चढ़ा कर संसार के सामने सचाई का गौरव बढ़ाने वाले और उस का वास्तविक स्वरूप दिखाने वाले सिद्ध हो। सत्य ही धर्म है इस लिए परमात्मा तुम सब को बल दें कि तुम प्रमाद, क्रोध, मोहादि के वश हो कर कभी भी धर्म को न छोड़ो क्योंकि धर्म नित्य है जो मनुष्य का साथ कभी नहीं छोड़ता। सत्य ही तुम्हारा पथदर्शक हो ऐसा सत्य जो संसार में शान्ति और सुख फैलाने वाला हो न कि ऐसा जो कि अशान्ति फैला कर सर्वसाधारण को सत्य से भी विमुख कर दे। ॥ शमित्योंश्म् ॥

इस से पूर्व अलंकार गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित होता था। इस के प्रथम अंक के लिए स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी ने यह संदेश दिया था। आज भी अमर महात्मा का वह संदेश जनता के लिए पथ-प्रदर्शक का काम दे रहा है। - संपादक

किस लिये ?

[ले०—श्री आचार्य देवशर्मा जी 'अभय']

"यह यंत्रालयों का युग है। छापेखाने दिन-रात चल रहे हैं और लगातार सफ़ेद काग़ज़ों को काला करते जा रहे हैं। छपे हुए ग्रन्थ अनगिनत पड़े हुए हैं, पुस्तकालय पुस्तकों से भरे रखे हैं। उन्हें देखकर तेरा जैसा आदमी तो घबरा जाता है कि इतनी पुस्तकों को कौन पढ़ेगा ? और हिन्दी के समाचार-पत्र भी तो बहुत निकलते हैं। पर उनमें से किस समाचार-पत्र को कितने लोग पूर्णतया पढ़ते हैं ? हिन्दी की मासिक पत्रिकाएँ भी दर्जनों निकलती हैं, तो एक और पत्रिका किस लिये निकालने लगा है ? प्रति मास हज़ार वार ५०-६० पृष्ठ और काले किये जाने की ज़िम्मेवारी अपने पर किस लिये ले रहा है ?'

एक स्नातक भाई से जब 'अलङ्कार' पत्रिका निकालने की बात चली तो उन्होंने 'अलङ्कार' का वार्षिक चन्दा तुरंत अपने बटुए से निकाल कर रख दिया, पर साथ ही मुस्करा कर प्रेम से पूछने लगे—'पण्डितजी ! आप यह पत्र किस लिये निकालने लगे हैं ?' कई मासिक-पत्रों का नाम लेकर बोले कि क्या इनमें लेख लिखते रहने से आप का काम नहीं चल जायगा। यह वार्तालाप भी अपने अन्तरात्मा से होनेवाले वार्तालाप की तरह ही हार्दिक और सच्चा था।

इसमें लेखक को ज़रा भी सन्देह नहीं है कि उस ज़माने की अपेक्षा जब कि छापेखाने नहीं थे, लोग हाथ से किताबें लिखते थे, बहुत थोड़ी पुस्तकें रहती थीं, स्मरणशक्ति से बहुत काम लिया जाता था। उस ज़माने की अपेक्षा आज जब, जो चाहो, जितना चाहो, छपा लो, हर विषय में इतना लिखा हुआ है और रोज़ रोज़ नया लिखा जा रहा है कि उसे पढ़ना भी मुश्किल है, सुन्दर, सचित्र लिखा हुआ सर्वत्र सुलभ है, आज हमारा सुख बढ़ नहीं गया है, इस परिवर्त्तन से मनुष्य वास्तव में ज़रा भी अधिक उन्नत नहीं हुआ है। तो भी इस परिवर्त्तित युग में बोलना चाहने वालों के लिये और कोई चारा नहीं है। जो अपने मौन द्वारा ही संसार को हिला सकते हैं, उनकी बात जाने दीजिये। जिन का तृप्त हुआ अन्तरात्मा मौन भाव से गाया करता है—

'मन मस्त हुआ तो क्यों बोले ?'

उन ऊँचे महात्माओं की बात और है। पर जो बोलने की आवश्यकता समझते हैं, उन्हें तो पत्र पत्रिकाओं के द्वारा ही बोलना पड़ेगा। स्पष्ट है कि हम कुछ बोलना चाहते हैं, इसी लिये यह मासिक-पत्र निकालने लगे हैं।

हम 'किस लिये' बोलना चाहते हैं ? यह बताने से पहिले कह देना आवश्यक है कि हम 'किस लिये नहीं' बोलना चाहते। हम अपनी रोज़ी कमाने के लिये नहीं बोलना चाहते। पैसा जमा करने के लिये या पेट भरने के लिये भी अख़बार निकालना हमारा काम नहीं है। अतः 'अलंकार' के सम्पादक, संयुक्त-सम्पादक, प्रबन्धक आदि सब अवैतनिक सेवा करेंगे, प्रेमवश ही अपना परिश्रम प्रदान करेंगे, और यह भी निश्चय है कि यदि कभी 'अलंकार' से कुछ आर्थिक बचत होगी तो वह भी 'अलंकार' के अधिक उपयोगी बनाने, 'अलंकार' को सस्ता

(ग़रीबों को सुलभ) करने या अलंकार-परिवार की सलाह से किसी अन्य ऐसे ही सार्वजनिक सेवा के कार्य में लगाई जायगी। पैसा-पूजा के इस युग में ऐसी बातों पर पूर्णतया विश्वास करना लोगों को कठिन होगा, तो भी यह सर्वथा ठीक है कि यह 'पत्रिका' आर्थिक लाभ का विचार-लेश भी अपने सन्मुख नहीं रखती। यह जो कुछ बोलना चाहती है उसकी एक मुख्य बात इस प्रचलित पैसा-पूजा की प्रवृत्ति को रोकना भी है। अतः पहिली बात तो यह हुई कि पैसा पाने के लिये हम नहीं बोलना चाहते।

तो हम इस लिये बोलना चाहते हैं चूँकि हम ने जनता को एक संदेश सुनाना है। सचमुच, गुरुकुल के स्नातकों के पास, नहीं नहीं राष्ट्रीय शिक्षणालयों के और राष्ट्रीय विद्यापीठों के, सभी स्नातकों के पास एक सन्देश है जिसे मुखरित करने का काम यह 'अलंकार' करना चाहता है। गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों ने अपने शिक्षाकाल में "*बन पर्वत मे, नदी नीर में' जो सन्देश पाया है, अन्य राष्ट्रीय शिक्षणालयों के छात्रों ने जो क्रांति का संदेश संग्रह किया है, विद्यापीठों के स्नातक जो स्वावलंबन का सन्देश लेकर निकले हैं उसको सुनाना इस पत्र का ध्येय है। 'गुरुकुल' नामक एक राष्ट्रीय शिक्षणालय की उपज, यह 'अलंकार' का सम्पादक, सभी राष्ट्रीय शिक्षणालयों के स्नातकों का इस मासिक पत्र द्वारा सच्चा प्रतिनिधित्व करने का यत्न करेगा अर्थात् सच्ची राष्ट्रीयता के विचारों को 'अलंकार' द्वारा भारतीय वायुमण्डल में प्रतिध्वनित करने का यत्न करेगा।

यद्यपि आज राष्ट्रीय शिक्षणालयों के स्नातक मुट्ठी भर हैं और वे बहुत विपरीत, तंग अवस्थाओं में रह रहे हैं तो भी उनके हृदयों में कुछ उछल रहा है, वाणी में व्यक्त होने के लिये कुछ बार बार उठ रहा है जिसे भारतवासियों को ध्यान से सुनने की आवश्यकता है। चलते प्रवाह से उलटे चलने का यत्न करनेवाले, अत एव दयनीय दशा में दीखनेवाले ये गुरुकुल आदि राष्ट्रीय शिक्षणालय किसी तरह निरर्थक नहीं सिद्ध हुए हैं। इन्होंने तो अपने थोड़े से स्नातकों में हां वह ईश्वरप्रदत्त स्वाभाविक शक्ति पैदा कर दी है जिसे यदि संगठित किया जाय तो इसीसे सारे भारत में एक कल्याणकारिणी क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। स्नातकों की शक्ति का यह अपेक्षित संगठन करने का यत्न यह 'अलंकार' भी करेगा। राष्ट्रीय शिक्षा पाये स्नातकों का यह हिन्दी-भाषा-भाषी समुदाय 'अलंकार' द्वारा भारत को नया जीवन सन्देश सुनायेगा।

इस लिये पाठ देखेंगे कि यद्यपि 'अलंकार' एक साहित्यिक पत्र होगा, किसी सम्प्रदाय से संबंध रखने वाला न होगा, तो भी इस में निकलने वाला साहित्य एक विशेष (विस्तृत) दृष्टिकोण का सूचक होगा। इस की कवितायें और कहानियाँ कुछ सिखाने के लिये होंगी। इस में 'असली भारतवर्ष' इस शीर्षक के नीचे आज कल की सब से बड़ी माँग अर्थात् ग्राम-सेवा के सम्बन्ध की बहुत उपयोगी और अनुभूत बातें लिखी जायँगी। 'स्वाधीनता के पथ पर' इस नाम से किसानों और मज़दूरों की दशा सुधारने की चर्चा हुआ करेगी। गुरुकुल तथा अन्य राष्ट्रीय शिक्षणालयों के समाचार तो होवेंगे ही, पर उनके स्नातकों के कार्यों के विषय में भी समय समय पर 'अलंकार' में लिखा जाया करेगा। गुरुकुल तथा अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं में उन्नति व परिवर्तन

---

* बन पर्वत मे नदी नीर मे माता जो पाया संदेश।
तेरी पुण्य पताका लेकर फैला देंगे देश विदेश॥

यह गीत गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में कुल-पताका के गीत के तौर पर गाया जाता है।

की तरफ़ निर्देश करनेवाले लेख इसमें अवश्य देखेंगे। पाठक देखेंगे कि 'अलंकार' सच्चे क्रियात्मकधर्म पर ज़ोर देगा, नक़द धर्म की बात करेगा। धर्म के विषय में भी किसी संकुचितता सांप्रदायिकता के लिये 'अलंकार' में स्थान न होगा। इसी लिये आर्यसमाज के क्षेत्र में यह श्रद्धानन्द-दल जैसी उदारनीतिवाली संस्थाओं की नीति का समर्थन करेगा। आज जो नौजवानों में धर्म से घृणा सी पैदा हो गई है उसका एक कारण यह है, उन्हें साक्षात् जीवन से संबन्ध रखनेवाला क्रियात्मक धर्म नहीं बताया जाता। इसी दृष्टि से वेद-विचार भी 'अलंकार' में हुआ करेगा। 'अध्यात्म-सुधा'-शीर्षक से लोगों की आध्यात्मिक पिपासा तथा योगजिज्ञासा के तृप्त करने की कुछ सामग्री देने का भी हमारा विचार है।

मतलब यह कि 'अलङ्कार' जहाँ पहुँचेगा वहाँ यह अलङ्कार के, सजावट के, शोभा के नये संदेश को सुनावेगा। भारत को नये रूप से अपना अलंकार करना सिखावेगा। जो दासता में फँसे लोग अब तक विदेशी कपड़े और कोट-पतलून आदि विजातीय वेष-भूषा पहिनते हैं, उन्हें खद्दर से भारतीय वेष में सजना बतावेगा। जो अँगरेज़ों की भाषा में गिटपिट करने में अपनी शान समझते हैं, उन्हें संस्कृत तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी का अद्भुत सौन्दर्य दिखायेगा। जो 'कम्यूनिज़्म' आदि आन्दोलनों के अधूरे रूपों को देख कर ईश्वर व धर्म के नाम से ही नफ़रत करने लगे हैं, उन्हें प्रेम से वह साहित्य-सुधा पिलावेगा, जिससे शायद उनके बिना जाने वे आस्तिकता और उदार धर्म की शोभा को समझने लगेंगे।

जो वेद को गडरिओं के गीत समझते हैं, उन की आँखें वैदिक सौन्दर्य देखने के लिये खोल देगा और जिन का आध्यात्मिकता की हँसी उड़ाना ही फ़ैशन हो गया है, उन्हें भी भारतीय आध्यात्मिकता का सच्चा रूप दिखला कर उस का प्रशंसक बनायेगा।

हाँ, यह सब काम एक नया पत्र निकाले बिना केवल अन्य पत्रों में लेख लिखते रहने से, नहीं हो सकता। एक तो राष्ट्रीय संस्था के स्नातकों को संगठित करनेवाला अभी तक कोई अन्य पत्र नहीं है, और इस संगठन की आवश्यकता है। किन्तु यह संगठन करना यदि अभी अभीष्ट न हो तो भी जिन विचारों को 'अलङ्कार' प्रचारित करना चाहता है उन्हें अन्य पत्र नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि जो पत्र धन कमाने के लिये हैं वे तो उन्हीं विचारों को प्रकाशित करेंगे जोकि किसी तरह ग्राहक-संख्या बढ़ाने में सहायक होंगे या जो विचार उस अख़बार के मालिकों को नापसन्द न होंगे। इसी तरह आर्य-सामाजिक पत्रों में, जो किसी संस्था या प्रतिनिधि सभाओं के पत्र हैं वे अपनी निर्धारित नीति के अनुकूल विचारों को ही अपने पत्रों में स्थान देवेंगे, स्वतन्त्र विचारों को नहीं। सचमुच दृष्टान्त मौजूद हैं जब कि बड़े सुन्दर उत्तम लाभकारी लेख पड़े रहे, पर छापे नहीं गये। इस लिये इस समय ऐसे स्वतन्त्र, ग़रीब और स्वयंश्रमी पत्र की आवश्यकता है जो किसी तरह बँधा हुआ न होकर, सच्चे विचारों को प्रकट कर सके, जो कि उन राष्ट्रीय स्नातकों के सन्देशों को जोकि बालकपन से भारतीयता के विशुद्ध वायुमण्डल में पले हैं, ठीक रूप में जनता के सन्मुख रख सके, और जोकि इस प्रकार सच्ची राष्ट्रीयता के मूलमन्त्र की दीक्षा भारत के नौजवानों को दे सके।

परमेश्वर करे कि यह 'अलङ्कार' का उद्योग निरर्थक उद्योग, यूँही सफ़ेद काग़ज़ों को काला करनेवाला उद्योग न साबित होवे, परमेश्वर करे कि यह अलङ्कार' अपने पवित्र उद्देश्य की पूर्ति में सफल होवे और परमेश्वर करे कि यह 'अलङ्कार' सचमुच घर घर का अलङ्कार सिद्ध होवे।

संयुक्तप्रान्त के लिये रचनात्मक कार्यक्रम की एक रूप-रेखा

[पं० जयदेवजी विद्यालंकार, मंत्री, गांधी-सेवाश्रम]

[असली भारतवर्ष गाँवों में रहता है। ग्रामों की सेवा ही भारतवर्ष की सेवा है और ग्रामीणों का स्वराज्य ही भारतवर्ष का स्वराज्य है। अतः (असली भारत) इस शीर्षक के नीचे इस मासिक में प्रायः प्रतिमास ग्राम-सेवा और ग्राम-संगठन कार्य की उपयोगी चर्चा हुआ करेगी।] —सम्पादक

(१)

हरद्वार में गांधी-सेवाश्रम नाम की एक संस्था ग्राम-संगठन के लिये गत तीन वर्षों से स्थापित है। इसके संचालक आचार्य देवशर्माजी हैं। इस संस्था का वर्णन तो कभी फिर पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जायगा। परन्तु इस आश्रम में ५-६ मई को जो एक समस्त युक्त प्रान्त के उन कार्यकर्त्ताओं के प्रतिनिधियों की बैठक हुई थी जो कि अपने ज़िले में रचनात्मक कार्य में लगे हुए हैं या लगना चाहते हैं। उस बैठक की सिफ़ारिशों की तरफ़ आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

इस बैठक में उपस्थित हुए सज्जनों में से श्री मंज़र अली सोख़्ता (कानपुर), आचार्य जुगलकिशोर जी (प्रेम महाविद्यालय), श्री ठाकुरप्रसादजी (लखनऊ) श्री चौ० तुलसीरामजी (बदायूँ), श्री पं० देवशर्माजी व श्रीदुर्गेशचन्द्रदासजी (गांधी-सेवाश्रम हरद्वार), श्रीअजितप्रसादजी (सहारनपुर) के नाम उल्लेख योग्य हैं। उपस्थित सज्जनों ने अपने अपने स्थानों के रचनात्मक-कार्य का विवरण सुनाया। प्रान्त में कांग्रेस का रचनात्मक-कार्य किस प्रकार किया जाय, इस पर विचार किया गया और प्रान्त के रचनात्मक कार्यकर्ताओं तथा इस कार्य में दिलचस्पी रखनेवालों के सामने निम्नलिखित सिफ़ारिशें की गयीं—

१—रचनात्मक कार्य का उद्देश्य सत्य और अहिंसा-द्वारा पूर्ण-स्वराज्य प्राप्त करने की शक्ति उत्पन्न करना है।

२—रचनात्मक कार्य का स्वरूप सेवा होगा और वह सेवा के भाव से ही किया जायगा।

३—सेवा के अन्तर्गत वे सब कार्य होंगे, जिनमे जन-साधारण की धार्मिक, नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति में सुधार हो।

४—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सबसे अच्छा कार्यक्रम वह है, जो कांग्रेस ने स्वीकार किया है अर्थात् खादी-प्रचार, अछूतपन को दूर करना, मादक-द्रव्य निषेध, और हिन्दू मुस्लिम एकता।

५—रचनात्मक कार्यकर्त्ता को जनता से सीधा सम्पर्क रखने के लिये शिक्षा, रोगियों की सेवा, दवा बाँटना, सफ़ाई, गृह-व्यवसाय, दस्तकारी आदि का कार्य अपनी सुविधानुसार करना चाहिये।

६—रचनात्मक कार्यकर्त्ता को अन्त में ग्रामों में सामूहिक जीवन को पैदा करने, उसे बढ़ाने तथा वहाँ के सार्वजनिक कष्टों को दूर करने के लिये ग्रामसभा आदि संगठनों को बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

७—रचनात्मक कार्यकर्त्ता कांग्रेस के सहयोग से कार्य करेंगे।

८—जन-सेवक को अपने पालन-पोषण के लिये जनता के ऊपर निर्भर रहना चाहिये।

९—रचनात्मक कार्य का प्रान्तीय संगठन स्वाभाविक तौर पर धीरे धीरे विकसित होना चाहिये। इस तरह कुछ समय बाद स्वयमेव ज़िले वार अलग अलग आश्रम क़ायम होकर उनके प्रतिनिधियों का प्रान्तीय संगठन हो जायगा।

१०—जहाँ सम्भव हो रचनात्मक कार्य के केन्द्रों के साथ साथ रचनात्मक कार्य के शिक्षण केन्द्र भी खोले जावें।

गांधी सेवाश्रम हरिद्वार ने एक "ग्राम-सेवक-शिक्षणालय" स्थापित कर दिया है। उसमें शिक्षा लेने के लिये श्री पं० देवशर्माजी से पत्र-व्यवहार कीजिये।

११—इस योजना को आगे बढ़ाने के लिये श्रीमन्जरअली सोख्ता, श्री प्रो० रामशरणजी, श्री पं० देवशर्मांजी की एक कमेटी बना दी गई।

१२—इस विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये श्री आचार्य देवशर्माजी गांधी-सेवा-श्रम हरद्वार, डाकखाना गुरुकुल कांगड़ी, ज़िला सहारनपुर से पत्र व्यवहार कीजिये।

जीवन-कुटीर, वनस्थली

[लेखक—श्री हीरालाल शास्त्री, बी० ए०]

(२)

[भारतवर्ष मे ऐसे स्थान बहुत थोडे हैं जहाँ कि गभीरता-पूर्वक ग्राम-सेवा का कार्य हो रहा है, यद्यपि ग्राम-सेवा और ग्रामसंगठन की बातें आजकल सब तरफ सुनाई दे रही हैं। पाठक इस लेख में ऐसे स्थान का परिचय प्राप्त करेंगे। जयपुर रियासत मे वनस्थली एक ग्राम है, वहाँ 'जीवन-कुटीर' नाम से एक आश्रम इस प्रयोजन के लिए पाँच वर्ष से स्थापित है। इस संस्था के संचालक श्रीयुत हीरालाल शास्त्री हैं। आप उन थोड़े व्यक्तियो में से हैं, जिन्हे सचमुच इस कार्य की लगन है। वह शिक्षित है, गम्भीर हैं, विचारवान हैं, साथ ही 'धुन'वाले भी हैं। कई सौ मासिक तनख्वाहों की नौकरियो को तिलांजलि दे, स्वेच्छापूर्वक उन्होंने दरिद्रता का जीवन अपनाया है और गत पाच वर्ष मे बडी लगन और तत्परता के साथ अपने चुने हुए क्षेत्र मे वह काम कर रहे हैं। उसी कार्य की पञ्चवर्षीय (मई १९२९ से अप्रैल १९३४ तक) विवरण उन्हीं के द्वारा यहाँ प्रस्तुत है। आशा है, 'अलंकार' के पाठक इसे बहुत दिलचस्पी और ध्यान के साथ पढ़ेंगे।] —सम्पादक

ग्राम-सुधार के कार्य में अपना जीवन बिताने की बात इस विवरण के लेखक को पहले-पहल १९१७ या १९१८ में (जब वह करीब १८ वर्ष की उम्र का विद्यार्थी था) सूझी थी। उसके बाद तीन वर्ष लगा कर कॉलेज की शिक्षा पूरी करने पर उसने ६॥ वर्ष तक जयपुर-राज्य की नौकरी की। आखिर १९२७ के दिसम्बर में राज्य की नौकरी छोड़ दी गई और फिर १८ महीने की तैयारी के बाद मई १९२९ में निवाई तहसील (जो कि जयपुर-राज्य की सबसे ग़रीब व पिछड़ी हुई तहसीलों में एक है) के वनस्थली नामक गांव में जीवन-कुटीर की स्थापना की गई।

क्षेत्र का विस्तार

शुरू की कल्पना तो यह थी कि ग्राम-सुधार के प्रयोग में कम-से-कम १०००० जन-संख्या को शामिल किया जावे—परन्तु बाद में अनुभव ने बतलाया कि प्राप्त शक्ति के मुकाबिले में १०००० जन संख्या ज़्यादा है। इसलिए अब बृहत्-क्षेत्र के ८४ गाँवों के अलावा कुटीर का काम पास-पास बसे हुए और ५००० जन-संख्यावाले केवल १६ गाँवों में फैला हुआ है। काम के बँटवारे के सुभीते के लिए इन १५ गाँवों को ७ उपक्षेत्रों में बाँटा गया है।

ग्राम-सेवा की समस्या की रूप-रेखा

पिछले पाँच वर्षों में हमने ग्रामों की दशा का जो प्रत्यक्ष अनुभव किया है, उसका कुछ अपूर्ण-सा सार इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है :—

१. ग्रामवासी को वर्ष के अधिकांश महीनों में तो कड़ा परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु लगभग तीन महीने तक उसको मजबूरन बेकार रहना पड़ता है। तीन महीनों में से बतौर छुट्टी के एक महीना निकाल दिया जाय, तब भी ग्रामवासी को दो महीने की निश्चित .फ़ुरसत रहती है, जिस के लिए उसको अवश्य ही कोई सहायक धन्धा तलाश करना चाहिए।

२. मामूली तौर से तो ग्रामवासी समझदार होता है, परन्तु शिक्षा व जानकारी न होने के कारण वह अपने हित सम्बन्धी बड़े मामलों के विषय में बड़ा अड़ियल और उन्नति का विरोधी है।

३. कुछ तो ग़रीबी के कारण, कुछ आलस्य के स्वभाव के कारण, ग्रामवासी का घर और सारा गाँव ही रहने योग्य नहीं रहा है। जहाँ कहीं मैला-कुचैलापन होता है, वहाँ बीमारी भी अवश्य रहती है।

४. ग्रामवासी के पास न तो ज्ञान और साधन हैं, और न उसकी प्रवृत्ति ही है कि खेती में सुधार किया जाय। पैदावार बढ़ाने के लिए उसके पास पूँजी नहीं है और यह बिलकुल देखी हुई बात है कि उसको अच्छे बैल, अच्छे बीजों व काफ़ी खाद के बिना ही काम चलाना पड़ता है, और इसके सिवाय उसको पानी की कमी, पाला, टिड्डी आदि शत्रुओं से भी मुठभेड़ लेनी पड़ती है। कृषकों के ऋण की कथा तो प्रसिद्ध ही है—गाँव का बोहरा भी अपने आसामियों के लिए सहायक न हो कर अब बाधक ही बन गया।

५. इसलिए ग्रामवासी अपने परिश्रम के मुकाबिले में कुछ ठीक पैदावार नहीं कर सकता है—और वह जो कुछ बचा सकता है, या उधार ला सकता है, उस सारी पूँजी को नाशकारी सामाजिक कुरीतियोंमें उड़ा देता है।

ये गाँव के अर्थशास्त्र की अस्थायी बातों में से कुछ हुईं। परन्तु वर्तमान आर्थिक संकट ने तो जो पहले से कठिन समस्या थी उसको और भी कठिन बना दिया है—क्योंकि इस संकट के कारण सब से ज़्यादा नुकसान ग्रामवासी को ही पहुँचा है, कारण कि भावों के गिरने से उसकी आमदनी घट गई है और देनदारी बढ़ गई है।

* * *

ऊपर बताई हुई स्थिति में सुधार करने का भार जीवन-कुटीर को अपने ऊपर लेना था। इस महान् कार्य के लिए कार्यकर्ताओं को तैयार करना अपने आप में एक समस्या है। दो दर्जन से कम कार्यकर्ता कुटीर में नहीं आए और फिर एक दर्जन से कम विद्यार्थी नहीं आए और फिर एक दर्जन से कम आदमी फुटकर कामों के लिए नहीं रखे गए। इन सब में से छँट कर अब १५ आदमी हैं।

और साफ़ कहना पड़े तो इन १५ में भी सभी को पक्का नहीं समझा जा सकता। पहले तो कार्यकर्ताओं के निर्वाह के लिए मासिक अलाउन्स का नियम था, परन्तु अब हम लोग एक ग़रीब संयुक्त-परिवार के रूप में रहते हैं, जिस में प्रति दिन का भोजन-ख़र्च फ़ी आदमी डेढ़ आने से ज़्यादा नहीं होता है। कुटीर के कायकर्ताओं को खूब कड़ा परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु इस सारे परिश्रम का एकमात्र आधार कार्यकर्ताओं को अपने तीव्र सेवा-भाव में ही तलाश करना पड़ता है। हम तो केवल यही चाह सकते हैं कि स्वार्थत्याग व कष्ट-सहन की योग्यतावाले अधिकाधिक आदमी ग्रामवासियों की इस मूक-सेवा के लिए तैयार हो कर मैदान में आवें।

* * *

हमारे मित्रों व दूसरे सहानुभूति रखनेवाले सज्जनों के पास से हम को जो सहायता मिल सकी, केवल उसी से हमने अपना ख़र्च चलाया है। हम इकठ्ठा करने को नहीं निकलते हैं और इसी स्थिति में, जहां न जन का और न धन का ही निश्चित ठिकाना है, हम केवल अपनी श्रद्धा के भरोसे ही निभा सकते हैं। इसलिए हम आशा करते हैं कि हमारा श्रद्धा से हम को भविष्य मे भी आन्तरिक प्रोत्साहन मिलता रहेगा।

इन पांच वर्षों में हमे २२,५५६=) सहायतार्थ प्राप्त हुये, और कुल मिलाकर २१,८६८।=)॥ ख़र्च हुआ, जिसमे से १४,६७३=)। कार्यकर्त्ताओं के निर्वाह में व्यय हुआ। निर्वाह-ख़र्च मे से करीब ६०००) अर्थात् १००) मासिक अथवा ४० फ़ी सदी उन कार्यकर्त्ताओं, विद्यार्थियों व अन्य आदमियों पर ख़र्च हो गया, जो कुटीर मे आये सही परन्तु जो आख़िर तक नही निभे। बाक़ी ९,०००) अर्थात् १५०) मासिक जो कार्यकर्ता यानी १५) तक टिके उन पर ख़र्च हुआ समझा जावे। हम व्यवस्था, प्रचार आदि ख़र्च के लिये प्रायः ५००) का वार्षिक वजट रखा करते हैं। इस मद के कुल ख़र्च २,२२६।।।)। पर से ४४५) वार्षिक फलित होते हैं, पूँजीखाते के ४,६६७।।)। में १,९८१।-)। माल मौजूद के, ८००) से ऊपर कुटीर के जीवनकूप के, ३००) टीनों के, व बाकी १,५००) कच्चे मकानों के शामिल हैं। इससे स्पष्ट होगा कि हमने बड़ी किफ़ायत से काम लिया है और क्षमा चाहते हुये हम यह भी निवेदन कर दें कि हमने अपने खुद के स्टैंडर्ड को जितना कम कर सकते थे कर लिया है।

* * *

यद्यपि हमको बराबर आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा है, फिर मी हमने इस बात की कभी परवाह नहीं की। क्योंकि हमारो सबसे बड़ी कठिनाई यह रही है कि ग्राम-सुधार को अपने जीवन का लक्ष्य बना सकनेवाले योग्य कार्यकर्त्ता काफ़ी नहीं मिले। परन्तु इस सबसे बड़ी कठिनाई से भी बड़ी कठिनाई यह हो गई है कि खुद ग्रामवासी को अपने सुधार की परवाह नहीं है। ग्रामवासी की जानकारी, नहीं के बराबर है। वह कई प्रकार के झूठे बहमों का उपासक है और वह पुरानी चालों पर अड़ा रहनेवाला भी है और उसकी विचार की व सूझ की शक्ति नष्ट हो चुकी है। फिर उसकी जान के लिये (१) गांव का पुजारी, (२) गांव का बोहरा, (३) गांव का पटेल (४) जाति का पंच और ऐसे ही दूसरे कई लाग भी मौजूद है—जिनका एकमात्र काम असहाय ग्रामवासी को हैरान करना, ठगना व बहकाना तथा हमारे उद्योगों को निष्फल करना ही हमारे

देखने में आया है। हमने सोचा था कि हमारा प्रयोग पाँच वर्ष में पूरा हो जायगा—परन्तु अभी तो पूरा होने की स्थिति दिखाई नहीं दे रही है। हमको मालूम है कि हमारी कठिनाइयों का एक कारण यह भी है कि हम ही ने जयपुर-राज्य के इस प्रांत में पहले-पहल इस प्रकार का सार्वजनिक काम छेड़ा है। हम इस नतीजे पर भी पहुँचे हैं कि इस पुनरुद्धार के काम में सब प्रकार के उद्योगों के एकीकरण की आवश्यकता है और जब तक चारों ओर उन्नति का वातावरण नहीं बन जायगा तब तक किसी चुने हुए क्षेत्र में किये हुए सुधार-कार्य का पड़ोस के विरोध के कारण नष्ट हो जाने का डर रहेगा। हमको भली-भाँति मालूम है कि ग्रामीण जनता का आर्थिक ह्रास बड़ी तेज़ी के साथ हो रहा है और इसलिये हमारी निश्चित सम्मति है कि जिन लोगों का हित इस ओर उलझा हुआ है वे बिलकुल भी समय नष्ट न करें। और तुरन्त इस प्रश्न को हाथ में लेकर इस दुखदाई नाश का गति को रोकने की युक्तियाँ सोच निकालें।

* * *

हम ख़ूब जानते हैं कि जनता ने हमारी सहायता बड़ी उदारता के साथ की है। यह भी मान ही लिया जायगा कि हमने भी अपनी ओर से अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उद्योग करने में कुछ कसर नहीं रखी और हम समझते हैं कि यह भी आम तौर से स्वीकार कर लिया जायगा कि हम एक प्रकार से एक वैज्ञानिक प्रयोग में लगे हुये हैं जिसमें जल्दी ही दिखाई देने वाले असर को रुपये पैसे समय अथवा मनुष्य शक्ति के हिसाब से नहीं नापा जा सकता। हमारे साधनों का और जिस समस्या को सुलझाने के लिये हम जूझ रहे हैं; उसका भी ध्यान रखा जावे तो हमको यह घोषणा करते खुशी होती है कि हमको अब तक जितनी सफलता मिली है वह सर्वथा सन्तोषजनक है हमारे लिये हताश होने का कोई सवाल ही नहीं है। हमारे कार्य के साथ सहानुभूति रखनेवाले सज्जनों की सभी को निज भावना के द्वारा लेकर हम तिगुने उत्साह के साथ और इस प्रकार के तूफानों को झेल सकने वाले ध्रुव निश्चय के साथ इसी घड़ी अपने काम में फिर लग जाने का संकल्प करते हैं। एक वर्ष पहिले या पीछे की बात भले ही हो परन्तु हमको ज़रा-सा सन्देह भी नहीं है कि हमको अपने उद्योग में आख़िरकार सफलता अवश्य मिलेगी।

ध्येय !

नैन भर कर, नैन दर्शन——और बस !
अपना जीवन ? इतना साहस……और बस !!

इक नज़र पर, अपना सर्वस्व——और बस !
अपनी दुनिया ? चरण चुम्बन……और बस !!

उस झलक का, फिर से चिन्तन——और बस !
अपना परलोक ? उनका चिंतन……और बस !!

मनमोहन

बिहार में गुरुकुल के स्नातक

[ले०—श्री बलदेवनारायण, एम्० ए०]

दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्दजी-द्वारा संस्थापित गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के स्नातक देश-सेवा त्याग और कष्ट-सहन करने का अवसर उपस्थित होने पर पीछे नहीं रहते—इसका परिचय बिहार में भूकम्प का कल्पनातीत संकट उपस्थित होने पर भो मिल गया। देश पर दुर्भिक्ष, बाढ़ अथवा ऐसा ही कोई और संकट आने पर गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने सबसे पहिले अपना घी-दूध आदि छोड़कर उसकी बचत से दुखी देशवासियों की सदा ही सहायता की है। उनके इस उदाहरण से देश के नवयुवकों, विशेषतः विद्यार्थियों में नवजीवन स्फूर्ति और जागृति पैदा होने में सहायता मिली है। त्याग और तपस्या-प्रधान गुरुकुल-शिक्षा पद्धति की यह विशेषता स्नातकों के जीवन के साथ तन्मय हो गई है

बिहार पर भूकम्प का यह संकट आते ही उसकी आर्त पुकार सुनकर देहली से पं० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति (संचालक अर्जुन) और श्रद्धानन्द मेमोरियल ट्रस्ट के मन्त्री श्री धर्मवीरजी वेदालंकार जनवरी के तीसरे सप्ताह में यहाँ के लिये चल दिये थे। अपने पत्र 'अर्जुन' में बिहार की सहायता के लिये विशेष फण्ड खोलने के इलावा पं० इन्द्रजी ने दुखी बिहार के संकटापन्न प्रदेश का दौरा कर सब समाचार-पत्रों में उसके लिये हलचल और आन्दोलन पैदा कर दिया था। आपके वक्तव्यों ने उस समय बिहार के दुःखों की कहानी आम लोगों तक पहुँचाई थी, जब कि बिहार के लोग अपनी सुध-बुध भुलाकर किंकर्तव्यविमूढ़ हुये पड़े थे। पं० धर्मवीर वेदालंकार को श्रद्धानन्द-मेमोरियल-ट्रस्ट और हिन्दू-महासभा की ओर से होनेवाले सेवा सहायता कार्य का प्राण कहा जा सकता है। हिन्दुमहासभा के सब कार्य को संगठित करके उसका संचालन आपने जिस तत्परता के साथ किया है, उसको देखकर बाहर से आनेवाले लोग चकित रह गये हैं। मुजफ़्फ़रपुर को अपने कार्य का केन्द्र बनाकर आपने सीतामढ़ी और मोतीहारी के शहरों तथा गाँवों में सेवा का जो कार्य किया है, उसकी सराहना यहाँ सबके मुँह पर है। इसमें सन्देह नहीं कि आपके बिना हिन्दू-महासभा को अपने कार्य में इतनी सफलता प्राप्त नहीं होती। अपने कार्य का एक स्थिर स्मारक यहाँ छोड़ जाने के लिये अब इस समय मुजफ्फरपुर में 'श्रद्धानन्द-हिन्दू-भवन' बनवाने का यत्न कर रहे हैं, जिसके लिये एक उदार दानी सज्जन ने बड़े अच्छे मौके पर भूमि दान देने की आशा दिलाई है।

सुप्रसिद्ध पत्रकार, कट्टर राष्ट्र-सेवक और देश-भक्त श्रद्धानन्दजी की जीवनी के प्रख्यात लेखक श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने भी इधर गुरुकुल और आर्यसमाज के गौरव को बढ़ाने में बहुत ही सरा-

हनीय कार्य किया है आप की संगठन शक्ति, सेवा की भावना की यहां छाप लग गई है। सहायक समिति कलकत्ता के बेट्टौल कैम्प द्वारा आप भी गांवों में सेवा और सहायता का कार्य कर रहे हैं। शुरू से ही आपने अपने को गांवों की सेवा के साथ तन्मय कर दिया है। जहां आप कार्य कर रहे हैं, वहाँ इस मौसम में भी १५-२० वर्गमील में खड़ा हुआ पानी ५०-६० गांवों के सर्वनाश का कारण बन रहा है। मृत्युमुख में पड़े हुये उन गांवों की मूक जनता की ओर से आपने जो आन्दोलन किया है, इससे सरकारी अधिकारियों और देश के नेताओं का ध्यान उधर एक समान आकर्षित हो गया है। जिसने आपके कार्य को देखा है, उसी ने उसकी सराहना के गीत गाये हैं। आपनें एक आदर्श दिल्ली कैम्प स्थापित करके कार्यकर्त्ताओं के सामने एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित कर दिया है।

आपके समान ही आपकी वीरपत्नी सुप्रसिद्ध राष्ट्रसेविका श्रीमती सुभद्रा देवी जी ने भी इधर एक आदर्श उपस्थित कर दिया है। बिहार-केन्द्रीय-सहायक-समिति के रामपुरहरि-केन्द्र की आप संचालिका हैं और बिहार में आप अकेली ही महिला-केन्द्र-संचालिका हैं। आप ने भी अपने केन्द्र का आदर्श-संगठन कर दिखाया है। सामाजिक प्रगति की दृष्टि से पिछड़े हुए परदे के इस प्रदेश में आपका इस प्रकार काम करना सामाजिक जागृति में विशेष सहायक हुआ है। महात्मा गांधी के इधर पधारने पर रामपुरहरि में महिला सभा का आयोजन और एक दो नहीं १२-१५ हज़ार महिलाओं का सम्मेलन आपके इस उदाहरण से पैदा हुई जागृति का शुभ परिणाम था। इस केन्द्र द्वारा आप ४६ गांवों में सहायता तथा सेवा का कार्य संगठित कर रही हैं।

मुंगेर में श्री वेदप्रकाशजी वेदालङ्कार सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी की ओर से विधवाओं की सेवा और सहायता का कार्य भूकम्प से पहिले से ही कर रहे हैं। भूकम्प ने सैकड़ों महिलाओं को गृह-विहीन और पति हीन बना दिया है। इसी दृष्टि से आप ने समस्त बिहार का दौरा करके ऐसी महिलाओं की सेवा का महान् पुण्यमय कार्य किया है।

बम्बई की बिहार-भूकम्प-पीड़ित जो संकट-निवारिणी-समिति के साथ काम करनेवाले श्रीयुत पूर्णचन्द्र जी वेदालङ्कार हाजीपुर-सबडिविज़नल में कार्य कर रहे हैं और पंजाब प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से यहाँ आनेवाले नवस्नातक श्री विद्यानन्दजी वेदालङ्कार मोतीहारी में आर्य समाज के क्षेत्र में काम कर रहे हैं।

उक्त स्नातकों की सेवा, त्याग और लगन की भावना ने बिहार की जनता पर विशेष प्रभाव पैदा किया है। उनकी तत्परता ने लोगों को मन्त्रमुग्ध कर दिया है। इस लिये और स्नातक कार्यकर्ताओं की यहां बराबर मांग हो रही है। कुछ अन्य स्नातकों के शीघ्र ही यहां आने की आशा भी है।

कार्यक्षेत्र में आकर काम करनेवाले स्नातकों के कार्य के साथ साथ गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के उस त्याग को नहीं भुलाया जा सकता, जो उन्होंने अपने भोजन-वस्त्र का खर्च काटकर दुःखी बिहार को सैंकड़ों रुपया भेजने के लिये किया है। गुरुकुल कांगड़ी ही नहीं, किन्तु उसकी सभी शाखाओं के ब्रह्मचारियों ने इसी प्रकार का त्याग किया है। गुरुकुल के स्नातकों और ब्रह्मचारियों ने इस प्रकार यह बता दिया कि देश में कहीं भी कोई संकट उपस्थित होने पर उसमें हाथ बटाने में वे पीछे नहीं रहते हैं। आर्यसमाज के लिये क्या यह कुछ कम

गौरव की बात है ? वह इस पर जितना भी गर्व करे थोड़ा है।

[उपर्युक्त लेख एक गुरुकुल-प्रेमी का लिखा हुआ है। कई पाठकों को इस में प्रशंसा का अतिरेक मालूम पड़ेगा। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उधर गुरुकुल के स्नातक कार्यकर्त्ताओं की विशेष माँग हो गई है। क्योंकि वहाँ के लोगों से श्री पं० सत्यदेव जी विद्यालङ्कार द्वारा मुझे कई पत्र और तार मिले हैं जिनमें गुरुकुलीय कार्यकर्त्ताओं को तुरन्त माँगा गया है। यह माँग गुरुकुल के स्नातकों की सेवा तत्परता देख कर ही हुई होगी, उस माँग के अनुसार गांधी-सेवाश्रम के प्रख्यात कार्यकर्त्ता श्री पं० पूर्णचन्द्र जी विद्यालङ्कार तथा आदर्श सेवक श्री डॉ० रामकृष्ण जी बिहार पहुँच चुके हैं। अनिलकुमार भी वहाँ पहुँच गये हैं और उन्होंने सीतामढी केन्द्र में कार्य आरम्भ कर दिया है। पर वहाँ अब भी उत्तम कार्यकर्त्ता माँगे जा रहे हैं। अतः प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता पं० दीनदयालजी सिद्धान्तालङ्कार (शास्त्री) तथा नवस्नातक पं० सत्यपालजी विद्यालङ्कार भी पहुँच गये हैं।]

—सम्पादक

निशीथ-गीत

देख नील गगन बीच इन्दु-बाल आये,
शुभ्र किरण-जाल सकल विश्व में बिछाये।

विमल चन्द्रिका दुकूल, सुभग सजे सरित कूल,
रजत-सिन्धु चहुँ अकूल, मानो जगमगाये।

नगन झपक तारिकायें, मौन मधुर मुस्किरायें,
खेल रही दायें बायें, सजन को रिझायें।

हर्ष मगन बालवीर, निकल आये तज कुटीर,
धूलि नचत पुलिन नीर, बाँसुरी बजाये।

आज विश्व स्नेह-तरल, सकल जीव प्रीति-विकल,
पुर, निकुञ्ज, ताल, अचल, प्रेम-जल नहाये।

दिव्य स्वप्न सदृश लोक, तज विराग भेद शोक.
बन्धु-मिलन में न रोक, कोई हृदय आये।

सोच विगत सुख-प्रसंग, हृदय लीन प्रेम-रंग.
हो न मधुर स्वप्न-भंग, कोई मत जगाये।

—प्रियहम

अलंकार

[लेखक—तरंगित हृदय]

लोग अपने आप को क्यों सजाते सँवारते रहते हैं? अपने आप को नाना प्रकार के गहनों, भूषणों, अलंकारों द्वारा क्यों शोभित करना चाहते हैं? इसी लिये चूँकि वे अपने आप में सजे हुए नहीं होते, चूँकि वे स्वयं भूषणरूप नहीं होते। भला, जो स्वयं अलंकृत होवे उसे बाहर के अलंकार की क्या ज़रूरत? क्या कोई सूर्य को हीरे मोतियों से सजाने की आवश्यकता देखता है? क्या सुवर्ण को चमकाने के लिये किसी दूसरे भूषण की ज़रूरत होती है? क्या कस्तूरी को किसी इत्र से सुगन्धित करने की आवश्यकता पड़ती है? सचमुच अलंकार को कभी अलंकार की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि अलंकार तो दूसरों को अलंकृत करता है, वह जहाँ विद्यमान होता है उसे ही अपने सौन्दर्य से सुशोभित करता रहता है।

*   *   *

और इन अपने बनावटी शृंगारों से मनुष्य सचमुच सज जाते हैं, यह भी कहना कठिन है। कम से कम इन में से किसी भी शृंगार पर सब देखनेवाले एक मत होते हों यह तो नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य की रुचि ही भिन्न भिन्न होती है। बहुत कुछ तो देश काल के रीति-रिवाज शोभा अशोभा के समझे जाने में कारण बनते हैं। अँगरेज़ी ढंग में आगे के बालों को बनाना शोभाजनक होता है, पर पठान लोग पीछे के बालों को सजाते हैं। भारत के कई प्रान्तों की स्त्रियाँ अभी तक नाक, कान, गला, हाथ, पैर सब को गहनों से लाद कर समझती हैं कि उन की सुन्दरता बढ़ गई है, पर हम आप को यह निरा जंगलीपन मालूम पड़ता है। छोटे बच्चे अपने घर को सजाने के लिये चारों दिवारों को चित्रों, रंगीन कपड़ों और रंग-बिरंगे कागज़ों से भर देना आवश्यक समझते हैं, पर उन्नत रुचिवाले बड़े होकर वे दो-चार चित्रों को ही ढंग से लगा कर अपने घर को सुशोभित कर लेते हैं। किसी को दाढ़ी बढ़ा कर शोभित होना पसन्द होता है, तो दूसरों को दाढ़ी-मूँछ मुँड़ा कर रहना सौन्दर्य्य-जनक लगता है। एक को जो बनावट अच्छी लगती है, दूसरे को वही बनावट घृणास्पद लगती है। इसलिये मनुष्य जब अपने को सजा कर निकलता है तो वह मन में बेशक समझता है कि मेरे इस शृंगार पर सब संसार मोहित हो रहा होगा, असल में बहुतों का तो उधर ज़रा भी ध्यान नहीं जाता और कुछ को उसकी वह सजावट बुरी, हटाक पैदा करनेवाली लगती है।

बात यह कि मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुरूप, प्रचलित अवस्थाओं के अनुकूल और अपनी ही समझ के अनुसार अपनी सजावट करता है और कर सकता है। वह अन्य सभी को कैसे भली लग सकती है? गहरे उतरें तो हम देखेंगे कि जिस मनुष्य में जैसी कमी होती है, जिस प्रकार की उसकी

वासना होती है वैसी ही वस्तु उसके लिये आकर्षक होती है और उसी के अनुरूप अपनी सजावट करना उसे प्यारा लगता है। इस प्रकार असल में मनुष्य अपनी सजावट करके अपने आपको ही संतुष्ट करता है, यह तो उसका भ्रम होता है कि उस से कोई और या सभी देखने वाला संसार संतुष्ट हो रहा है।

* * *

नहीं, यह कहना भी ठीक नहीं है कि मनुष्य अपनी ही संतुष्टि के लिये अपने को सजाता वा अलंकृत करता है। बेशक एक मनुष्य की की गई सजावट सब को रुचिकर न होने पर वह किसी अपने प्यारे को रिझाने के लिये, अपने प्रेमभाजन को संतुष्ट करने के लिये ही यथोचित सँवार संस्कार करता है और उस प्यारे की संतुष्टि में आत्मसंतुष्टि पाता है। यह और बात है कि मनुष्य का वह प्रेम-भाजन कौन होता है। पर वह जिसे भी प्यारा समझता है उस की ही प्रसन्नता के लिये उस के अनुसार अपने को सुशोभित रखना चाहता है।

ओह! देखो यह सारा ही संसार अपने अपने प्यारे को रिझाने में कैसा लगा हुआ है? व्याख्याता लोग आलंकारिक भाषा बोलते हुए और लोगों को रुचिकर बातें सुनाते हुए अपने श्रोताओं को रिझा रहे हैं। अखबारवाले ग्राहकों की रुचि के अनुसार अपने अखबार को सजाकर और उनकी रुचि की बातें लिख कर ग्राहकों को संतुष्ट कर रहे हैं। नौकर अपने अपने मालिकों के इशारे पर तदनुकूल वेषभूषा के साथ अभीष्ट नाच नाचते हुए सफल नौकरी बजा रहे हैं। सरकारपरस्त लोग कोट, पैंट, कालर, नैकटाई लगा कर विदेशी और विलायती साज में सज कर अपने विदेशी प्रभुओं को रिझाने का अनथक परिश्रम कर रहे हैं। पैसे के उपासक जिस तरह दो पैसे बचें वैसा ही—चाहे वह अँगरेजी हो या लीडरी का, चाहे गेरुआ हो या पंडिताई का—वेश भर कर "लक्ष्मी" देवी को प्रसन्न कर लेने का दाव लगा रहे हैं। मतलब यह कि सब लोग अपने सब साज इसी लिये सजा रहे हैं जिस से वे अपने अभीष्ट देव को प्रसन्न कर सकें।

पर ज़रा उधर भी देखो, ये दूसरे प्रकार के लोग भी अपने अभीष्ट देव को ही प्रसन्न करने का यत्न कर रहे हैं और उसके लिये अपने निराले साज सजा रहे हैं, अपने आप को दिव्य अलंकारों से भूषित कर रहे हैं। देखो, ये मातृभूमि के उपासक भारत-जननी की आराधना के लिये घर-बार छोड़ कर ऐश-आराम हराम करके "त्यागमय तपस्या" के अमूल्य भूषण से अपने को सुशोभित कर रहे हैं। ये स्वाधीनता के पुजारी जेल के कष्ट तो क्या रुधिर और प्राण भी देते हुए "आत्म बलिदान" के जगमोहन अलंकार से कैसे सुभूषित हो रहे हैं? ये धर्म के सेवक धर्मधारा-द्वारा जगत् की ज्ञान-पिपासा बुझाते हुए सत्य-भंडार के अमर अम्लान रत्नों से कैसे शोभायमान हो रहे हैं। और इन भगवद् भक्तों की शोभा का कोई क्या वर्णन करे जो प्रभु-भक्ति में झूमते हुए दुनिया में बादशाह की तरह बेखटके घूमते हुए सर्वत्र हरिनाम गुँजाते फिरते हैं।

पर इनके इन दिव्य गुणों को दुनिया में अलंकार नहीं कहा जाता। सचमुच इनके ये दिव्य गुण कृत्रिम शोभा के लिये बाहर से लगाए हुए कोई अलंकार नहीं होते, किन्तु इनके अन्दर उपजे हुए इनके ही अंग प्रत्यंग होते हैं। अतः ये इन से अलंकृत होते हैं इस की जगह यों कहना चाहिये कि ये इनके कारण अलंकार-रूप हो जाते हैं। ओह, देखो इन अलंकार-रूप पुरुषों के कारण आज यह भारत अपनी अद्भुत् शान में चमकने लगा है। मरुस्थल बने धर्महीन भारत

में फिर सच्ची धार्मिकता के हरे वृक्ष लहलहाने लगे हैं। पश्चिमी-ज्ञान के बोलबाले में फिर कहीं कहीं वेदध्वनि सुनाई देने लगी है। विदेशी संस्कृति के बड़े संतापकारी शोषक ग्रीष्म में फिर कुछ "भारती खादी" की सुरसरिता बहने लगी है और भारतवासी अब विदेशी कपड़ों की जगह खद्दर से सजने लगे हैं। एवं दासता की मनोवृत्ति के द्योतक दुःखद दृश्यों के बीच में कहीं कहीं नील आकाश में तिरंगी राष्ट्रपताका फहराने लगी है और पश्चिमी सभ्यता के भोग-विलासमय दम घोटनेवाले दुर्गन्धित वायुमण्डल में कहीं कहीं संयम, तपस्या और ब्रह्मचर्य की पावन पवन चलने लगी है। इस प्रकार भारत का नष्ट हुआ पुराना सौन्दर्य अब फिर शोभा पाने लगा है। भारतीय संस्कृति के पुराने अलङ्कार आज भारत के लिये फिर नये से नये अलङ्कार बन कर प्रकट होने लगे हैं। ओह! नये भारत की शान! देखो, आनेवाले भव्य भारत की शान, भुवन मनमोहिनी निराली शान!

* * *

हे मेरे आराध्य देव! अब मैंने सच्चे अलङ्कार को समझ लिया है। अभी तक तुझे न जान कर मैंने भी बहुत से बनावटी शृङ्गार किये, तेरी भूल में किसी अन्य की आराधना करते हुए मैं बहुतेरे अस्वाभाविक बनाव शृङ्गार में पड़ा रहा। परन्तु धोखे खा खा कर और आत्मनाश कर कर के अब मैंने समझ लिया है कि स्वाभाविक अलङ्कार ही सजने लायक अलङ्कार है, सच्चा अलङ्कार है। इसलिये अब मैंने अपने शरीर को तेरी प्रकृति की गोद में सौंप दिया है और अपने आत्मा को तुझ परमात्मा को समर्पित कर दिया है। प्रकृतिमाता मेरे शरीर को सहज तपा जैसा बना देगी उसी में मेरे शरीर का अधिक से अधिक सौन्दर्य होगा, तुम देव मेरी आत्मा में जिन गुणों और शक्तियों को विकसित कर दोगे, उन्हीं गुणों में शक्तियों में मैं इस संसार में अधिक से अधिक शोभित होऊँगा। इसी तरह मेरी बड़ी से बड़ी शोभा होगी, सच्ची शोभा बनेगी।

हे सृजनहार! तू ने जो कुछ बनाया है वह सब अलङ्कार है। तेरी सृष्टि का सब से पहिला परमोज्वल अलङ्कार यह आकाश में देदीप्यमान दीखनेवाला आदित्य है। इस के बाद भी पृथ्वी, वन, पर्वत मनुष्य आदि जो कुछ तू ने रचा है, जो कुछ तेरी स्वाभाविक नैसर्गिक रचना है, वह सब भी अलङ्कार है। इस तरह तेरे रचे हम सब मनुष्य अलङ्कार हैं। मैं भी तेरा बनाया अलङ्कार हूँ। पर तेरे इस आलङ्कारिक संसार में भंग तब पड़ता है जब कि मनुष्य सकाम होकर इस नैसर्गिकता के विरुद्ध कोई अपनी रचनाएँ करता है, अपने मिथ्या अलङ्कार बनाता है। ऐसे ✓मनुष्यरचित कृत्रिम अलङ्कार वास्तव में अलंकार नहीं होते, वे विकार होते हैं। इसी लिये उन्हें सुधारने के लिए जिस वस्तु की ज़रूरत रहती है, उसे 'संस्कार' कहते हैं। इस प्रकार मैंने अच्छी तरह समझ लिया है कि मुझे अपने अलंकारपन को सुरक्षित रखने के लिये निरन्तर विकारों के विरोध करने की और संस्कारों के स्वीकार करते रहने की आवश्यकता है। यदि मेरा शरीर निर्विकार नीरोग स्वस्थ होता है तो इसे किसी कृत्रिम अलंकार की ज़रूरत नहीं होती, यह स्वयं अलंकार रूप होता है। यदि मेरा मन निर्विकार स्वस्थ पवित्र होता है तो वह अपने मानसिक अलंकारों से स्वयमेव चमकता है। यदि मेरा आत्मा शुद्ध जागृत होता है तो यह संसार-भर के सब अलंकारों का स्रोत हो जाता है। इसलिये हे देव! मैं अब यही चाहता हूँ कि तुम मुझ में विकारों को निरन्तर विनष्ट करते रहो और सुसंस्कारों की धारा मुझ में अनवरत बहाते रहो। तभी मैं तुम्हारे प्रदान किये अपने अलंकारपन को सुरक्षित रख सकूँगा, तभी मैं तुम्हारा बनाया सुन्दर अलंकार बना रह सकूँगा।

हे परम शिव ! मेरी नाभि में बसनेवाली पार्वती, मेरी हेमवती शक्ति, तुझे रिझाने के लिये न-जाने कब से तपस्या कर रही है। तपस्या इसलिये कर रही है चूँकि उसने जान लिया है कि तू 'अरूपहार्य' है, तू एकमात्र तपस्या से ही रीझ सकता है। जब से उसने देखा है कि वह कामदेव जो कि सारा दुनिया को नचा रहा है तेरे तीसरे नेत्र के सामने पहुँचते ही राख हो जाता है, तब से उसने समझ लिया है कि संसार का कोई भी शृङ्गार-सँवार तुझे रिझा नहीं सकता. तुझे प्रसन्न करने के लिये तो दूसरे ही प्रकार के सँवार-संस्कार की आवश्यकता हैं। इसलिये मेरी वाणी ने अब तेरी प्रसन्नता पाने के लिये अपने सब अलंकार उतार कर फेंक दिये हैं, चूँकि उसने देख लिया है कि हृदय से निकली हुई ही वाणी, वह चाहे टूटी-फूटी क्यों न हो, तुझे पहुँचती है और अहार्दिक वाणी वह चाहे सब अलंकारों से मंडित क्यों न हो, बिल्कुल निष्फल रहती है। मेरे अन्तःकरण ने भी तुझे प्रसन्न करने के लिये अब अपने सब ज्ञानाडम्बर छोड़ दिये हैं और सब ज्ञान भुला दिया है, चूँकि उसने देख लिया है कि एकमात्र सच्ची भावना ही तेरे दरबार में स्वीकृत होती है और सब शास्त्रों के प्रमाणों से अलंकृत भी पाण्डित्य वहाँ किसी काम नहीं आता। इसी तरह मेरे आत्मा ने तुझे प्राप्त करने के लिये अब अपने सब आत्मिक सिद्धियों के चमत्कार, धूल में मिला दिये हैं, चूँकि, बड़ी से बड़ी विभूतियाँ सचमुच बच्चों के खेल से बढ़ कर और कुछ नहीं हैं, और तुझे पाने के लिये जो कुछ दरकार है वह तो आत्मसमर्पण है, परिपूर्ण आत्मसमर्पण है। यही एकमात्र तुझे रिझाने की पुकार है, यही इस संसार में मेरा दिव्य अलंकार है।

का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः, कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।*

* "सुन्दर वचनों से हम तेरा क्या अलकार कर सकते हैं ? हे इन्द्र ! वह समय कब आवेगा जब कि हम तुझे अपने आप को दे देंगे, पूर्ण आत्मसमर्पण कर देंगे ?" ऋ० ७-२९-६

यह है जीवन मूल, ऐ मदमाते फूल !

ऐ मदमाते फूल !
डाली पकड़ कर झूल—कहीं तोड़ न देना।
खिलने और खिलाने आया;
परिमल-सुधा पिलाने आया;
इसे न जाना भूल ॥
ऐ मदमाते फूल !
जो मचलेगा ललचायेगा;
आखिर धरती पर आयेगा।
फिर लोटेगा धूल ॥
ऐ मदमाते फूल !
मन्द पवन के सँग झूलेगा;
तुझे देख जग भी फूलेगा।
फल आयेंगे—लोग कहेंगे,
यह है जीवन मूल ॥
ऐ मदमाते फूल !

—'मराल'

जप

[ले०—अभय]

एक भाई से जप के सम्बन्ध में वार्तालाप करने का अवसर हुआ। 'अलंकार' के उन पाठकों के लिये, जिन्हें ऐसी बातों में दिलचस्पी हो, मैं उसे प्रश्नोत्तर रूप में लेखबद्ध किये देता हूँ। क्योंकि ऐसे प्रश्न प्रायः लोग पूछा करते हैं।

प्रश्न—तो फिर जप करना आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने का सर्वोत्तम प्रकार है?

उत्तर—नहीं, मैं ऐसा नहीं कहता। एक अवस्था विशेष में (और वह अवस्था बहुत से लोगों की हुआ करती है जब कि) जप करना बड़ा लाभदायक होता है। पर जप जी लगाकर करना चाहिए और स्वाभाविक रूप से करना चाहिए।

प्रश्न—जप में जी कैसे लगे? एक ही मन्त्र को, वाक्य को या नाम को बराबर एक रस बोलते जाना यह तो सचमुच बड़ा सूखा काम है।

उत्तर—इसलिये मैंने 'स्वाभाविक रूप से कहना चाहिये' यह कहा है। स्वाभाविक जप सूखा या एक रस नहीं होता, उसमें तो अगली अगली बार उसके बोलने में अधिक अधिक रस आता है। एक बार विद्यार्थी अवस्था की बात है कि एकान्त में स्वामी रामतीर्थ की पुस्तक पढ़ते हुए मुझे एक वाक्य इतना सुन्दर लगा कि मैंने पुस्तक बन्द कर दी और आँख मींचकर उस वाक्य को बार बार दोहराता गया। मुझे याद आता है कि वह वाक्य मैंने पचास बार से अधिक दोहराया होगा। बोलने में इतना आनन्द आता था कि मैं उसे अवश होकर फिर फिर उच्चारण करता जाता था। इसका मतलब यह है कि उस वाक्य का मुझ में स्वाभाविक जप होने लगा। वास्तव में जप मन्त्र, वाक्य या नाम इतना सुन्दर, इतना आनन्द दायी, इतना जीवन रस बहानेवाला होना चाहिए कि उसे बार बार बोलने को स्वयं जी करे। माघ कवि का प्रसिद्ध वाक्य है—

तदेव रूपं रमणीयतायाः।
पुनः पुन र्यन्नवतामुपैति॥

अर्थात् रमणीयता या सौन्दर्य की यही विशेषता है कि वह फिर फिर नया होता जाता है। सच्चा सौन्दर्य कभी एकरस या सूखा नहीं होता जब वह ऐसा होजाता है तो वह सौन्दर्य नहीं रहता। इसी तरह जप का विषय, अर्थात् प्रभु नाम का सौन्दर्य या मन्त्र का अद्भुत अर्थ जब तक इतना सुन्दर नहीं होता कि वह प्रति क्षण नया नया होता जाये तब तक स्वाभाविक जप नहीं हो सकता। जैसे गीता सुनता हुआ अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है—

भूयः कथय तृप्तिर्हि
शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।

वैसे जप करनेवाला चाहता है कि वह जिस प्रिय नाम, प्रिय वाक्य को अपने मन द्वारा उच्चारण होता हुआ सुन रहा है उसे लगातार सुनता ही जावे, उसे सुनता हुआ वह कभी तृप्त नहीं होता। अगला अगला ओम् नाम, अगला अगला गायत्री मन्त्र उसे नया नया आनन्द, जीवन और स्फूर्ति देता हुआ जाता है। इसी लिये यह भी ठीक है कि जब कोई वाक्य या नाम अपने में पूरी तरह बस जाता है, रम जाता है तो फिर उसके वाचिक जाप की आवश्यकता नहीं रहती। अस्तु।

पर यदि तुमको अभी अपने में इतना आनन्द नहीं आता जितना कि मेरे कथनानुसार स्वाभाविक जप में आना चाहिये तो भी इस आशा से और केवल इसी आशा से जाप जारी रखना चाहिये कि कुछ समय बाद इसमें अवश्य ही ऐसा आनन्द आने लगेगा। जैसे हमें सब गोरे योरोपियन लोग एक जैसे, एक ही आकृति वाले एक रस दिखाई देते हैं, किन्तु हम में से जिनका उन लोगों में अच्छा परिचय हो जाता है उन्हें तो प्रत्येक योरोपियन अपनी भिन्न भिन्न आकृति और प्रकृतिवाला दीखने लगता है उसी तरह जप विषय में प्रवेश हो जाने पर उसकी एकरसता या सूखा पन जाता है।

प्रश्न—किसका जप करना चाहिये ?

उत्तर—मेरे पहले कथन से स्पष्ट है कि जप उस मन्त्र, नाम या वाक्य का करना चाहिये जिस के जपने से (अर्थ भावन से) नया नया आनन्द, नया नया जीवन मिलना अनुभव होवे। परमेश्वर के उस नाम का जप करना चाहिये जो नाम तुम्हें सबसे अधिक प्यारा लगता है, जिसे तुम बार बार बोलते जाओ पर तृप्ति न होवे उसी के जपने में लाभ होगा।

प्रश्न—आप किसका जप करते हैं ?

उ०—मैंने 'ओंकार' का बहुत जाप किया है। गायत्री मन्त्र के विषय में यह भी कह सकता हूँ कि इस के जप से मैंने बड़ा लाभ पाया है। एवं राम नाम भी मैंने जपा है और अब भी जप लेता हूँ। कभी कभी नारायण आदि अन्य प्रभु नाम भी पुकारने लगता हूँ।

प्र०—मैं कौन सा नाम जपूँ ?

उ०—इस का उत्तर तो मैं दे ही चुका हूँ। पर यदि तुम मुझ से ही पूछना चाहो तो मैं कह दूँगा कि तुम अभी गायत्री जपो, आगे कुछ और जपने को बताना आवश्यक होगा तो फिर बतलाऊँगा।

एक बात सुनाता हूँ। गुरुकुल में एक डच (Dutch) हॉलैण्ड-निवासी सज्जन कई वर्ष रहे थे। उन्होंने अपना नाम उपेन्द्र रख लिया था। वे बड़े ईश्वरभक्त थे। वे जब एक बार मुझसे योग सीखने की इच्छा से मिले तो मैंने उन्हें एक प्रकार का प्राणायाम बताते हुए कहा कि श्वास रोकते हुए इतनी वार मन में 'ओम्, ओम्' जपिये। इस पर वे बोले कि मैं इस का अर्थ जानता हूँ (I Know its meaning)। मैंने पूछा—क्या ? उन्होंने उत्तर दिया—"इस का अर्थ है परमेश्वर, किन्तु मुझे परमेश्वर का "अल्लाह' नाम बड़ा प्रिय लगता है।" मुझे आश्चर्य हुआ कि इस योरोपियन को 'अल्लाह' शब्द क्योंकर प्रिय हो गया। मैंने कारण पूछा तो वे बताने लगे 'दुनिया-भर में मैं पैदल घूमा हूँ। जब मैं अरब में फिरता था तो वहाँ जो प्रातः और रात्रि

के समय मस्जिदों में प्रायः मुल्लाओं की अज़ाँ की ध्वनि हुआ करती थी, उसमें भक्ति पूर्वक गम्भीर स्वर से बोला गया 'अल्लाह' शब्द मेरे हृदय में असर कर गया है। इस शब्द से मुझे एक दम परमेश्वर का ध्यान आ जाता है।" उनकी यह बात सुन कर मैं समझ गया और शर्मिन्दा हुआ कि हमारे मुखों से बोला गया 'ओं' शब्द इन उपेन्द्र जी के हृदय पर असर नहीं कर सका है। उन्होंने यह भी कहा कि आप के (गुरुकुल के) ब्रह्मचारी जो हवन करने बैठते हैं तो उस से यह नहीं लगता है कि वे कोई धार्मिक कृत्य कर रहे हैं। अस्तु। यह बात सुनाने का मेरा तात्पर्य्य यह है कि दूसरे से बताए गए मन्त्र व नाम के जपने में भी कुछ वैशिष्ट्य होता है यह मैं मानता हूँ, पर ऐसा मन्त्रदाता, या नामोपदेष्टा वही हो सकता है जिसके कि मुख से उच्चारण किये शब्द सीधे हृदय पर प्रभाव करने वाले हों, परमेश्वर अर्थ को जागृत करानेवाले होंगे। पुराने ऋषियों के दिये 'ओं' शब्द में यह महत्त्व था (यद्यपि इस समय आर्य-समाज में तो मुझे कोई महानुभाव नहीं मालूम होते जो इतने अधिकार से ओं की दीक्षा दे सकते हों)। जो भी कुछ हो, यही भावना है कि जिसके कारण मुझे अपनी तरफ़ से (गुरु के तौर पर) किसी जप को बताने में इतना सँकोच होता है। मैं तो अभी तुम में यह भाव दृढ़ करना चाहता हूँ कि परमेश्वर के सब नाम एक बराबर हैं जहाँ तक कि वे परमेश्वर वस्तु को उपस्थित करने में समर्थ हैं। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। कहते हैं कि राम-कृष्ण परमहंस ने, राम, रहीम, विष्णु, शिव, अल्लाह, गॉड, मुहम्मद, ईसा आदि सब मतों के ईश्वरवाचक शब्दों को जप जप कर इतना सम कर लिया था कि ये शब्द समान रूप से उन के लिये परमेश्वर को स्मरण करानेवाले हो गये थे। यदि तुम यह बात समझते हो तो कुछ कठिनाई नहीं रहती। फिर तो जो नाम तुम्हें सब से अधिक प्रिय होवे सब से अधिक उद्‌बोधक होवे उसी का जपना तुम्हें श्रेयस्कर होगा। साधारणतया एक हिन्दू के लिये "ओ३म्," "प्रभु" आदि ऐसा नाम होगा और मुसलमान के लिये "अल्लाह," "खुदा" आदि वह नाम होगा।

प्र०—ठीक है, अभी मैं गायत्री जप करता रहूँगा। गायत्री का अर्थ जो आप ने बताया है (वैदिक-विनय में स्पष्ट किया है) उसी के अनुसार भावना करता हुआ जप करूँगा। प्रत्येक गायत्री जप के साथ मुझ में "वरेण्य भर्गः" आ रहा है यह अनुभव करूँगा। (कुछ ठहर कर) "यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि" यह जो गीता में लिखा है, इस का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—इस का मतलब मैं जो कुछ समझता हूँ वह कहता हूँ। यह तो स्पष्ट है कि इस वाक्य का तात्पर्य जप को सर्व श्रेष्ठ यज्ञ बताने का है। 'यज्ञ' उन सर्व श्रेष्ठ कर्मों का नाम है जिन द्वारा मनुष्य परमेश्वर से ठीक सम्बन्ध मे जुड़ा रहता है। इन कर्मों में जप सर्वश्रेष्ठ इस लिये है क्योंकि यह इस का स्वाभाविक उपाय है। परमेश्वर से हमारा सम्बन्ध मन द्वारा जुड़ता है। और मन स्वभावतः चञ्चल है। मन की इस स्वाभाविक चञ्चलता का सहारा ले कर मन को जीतना जप द्वारा ही होता है। जप करने में जो लगातार एक गायत्री के बाद दूसरी गायत्री बोली जाती है उस से प्रत्येक गायत्री की समाप्ति पर मन को आराम मिलता जाता है, उस का चञ्चलता का स्वभाव पूरा होता रहता है, पर साथ ही जो बार बार एक नया नया गायत्री का

संस्कार पड़ता जाता है उस से एकाग्रता या ध्यान का प्रयोजन भी पूरा होता जाता है। जप नामक साधन की यही विशेषता है। इसी लिये जप की बड़ी महिमा है।

प्रश्न—योगदर्शन में प्रणव जप का जो फल लिखा है अर्थात् आत्मज्ञान और विघ्न-विनाश, इतना भारी फल क्या केवल जपने से सम्भव है ?

उ०—बिलकुल संभव है। उस में मैं अक्षरशः विश्वास करता हूँ। यह तो जानते ही हो कि जपका अर्थ वहाँ 'तदर्थभावना' बताया है। इस में क्या आश्चर्य की बात है कि परमेश्वर वाचक शब्द द्वारा लगातार परमेश्वर अर्थ की भावना करने से वह आत्मा अपनी अन्दर की चेतना में प्रकाशित हो जाता है। यह समझने में भी मुश्किल नहीं होनी चाहिये कि व्याधि (बीमारी), स्त्यान (मन का भारीपन), संशय आदि सब विघ्न दूर हो जाते हैं। क्योंकि परमेश्वर सम है, निर्विकार हैं, ज्ञानस्वरूप है, इस लिये उस के नाम जपन द्वारा बार बार इस का अर्थ भावन करने से शरीर का धातु वैषम्य (व्याधि), अन्य विकार तथा भ्रमज्ञान आदि सब मनोविकार निवृत्त होना स्वाभाविक है। वास्तव मे योगमार्ग पर चलने वाले लोगों की बहुत सी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ और बाधाएँ दूर हो जावें, यदि वे निरन्तर प्रणव जप को जारी रखें। यहां "प्रणव" शब्द से मैं आवश्यकतया "ओं" को ही नही लेता हूँ। कोई भी प्रभु की "प्रकृष्ट स्तुति" प्रणव है। ऋषियों ने यह प्रकृष्ट स्तुति 'ओं' में प्राप्त की थी अतः ओंकार मे ही प्रणव शब्द रूढ़ हो गया है। परन्तु प्रणवजप का उपर्युक्त फल प्रभु की अन्य प्रकृष्ट स्तुतियों से भी प्राप्त हो सकता है और प्राप्त होता है, इस में कुछ सन्देह नहीं है। एवं प्रभुनाम जपने से रोग, आलस्य, संशय आदि भी निवृत्त हो जाते हैं यह कोई अन्धविश्वास की बात नहीं है, किन्तु पूर्णतया वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) बात है।

प्र०—क्या जप का विधान वेद में हैं ? वेद में तो जप का वर्णन नहीं दीखता।

उ०—नहीं, वेद में जप का—स्वाभाविक और सच्चे जप का बड़ा सुन्दर और बहुत २ वर्णन है। यह और बात है कि जप धातु का प्रयोग वेद में न हो या बहुत कम हो। परन्तु परमेश्वर को पुकारना, बार २ पुकारना, निरन्तर उस का नाम लेना आदि वर्णन बहुत है। जप करना इसी का तो नाम है। वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में जप का वर्णन देखो—

'नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।' अथर्व०

सूर्योदय से पहिले उषाकाल से भी पहिले मैं नाम द्वारा तेरे नाम को बार २ पुकारता हूँ।

त्वा अवसे जोहवीति। ऋ० ७ ३८-६

("भग" को) रक्षा के लिये बार २ पुकारता है।

मनामहे चारु देवस्य नाम। ऋ० १-२४-२

उस देव के सुन्दर नाम को हम लेते हैं।

ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्। ६-४७-११

बहुतों से पुकारे गये सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को मैं पुकारता हूँ।

मर्त्ता अमर्तस्य ते भूरि नाम मनामहे। ऋ० ८-११-५

मरणशील मनुष्य तुझ न मरने वाले का नाम बहुत २ लेते हैं।

सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि।

तेरे स्वयश नाम को मैं सदा बोलता रहता हूँ।

प्र०—क्या जप माला से करना चाहिये ?

उ०—यद्यपि स्वाभाविक जप में गणना की आवश्यकता नहीं है, तो भी जप को स्वाभाविक

बनाने के लिये और इस को इष्ट लाभ तक पहुँचाने के लिये जप को नियमित रूप से करना आवश्यक है। और नियमित रूप देने के लिये जप की काल, संख्या आदि से गणना करना आवश्यक है। काल से जैसे दो घण्टे जप करना है, संख्या से जैसे एक लाख जप करना है। इस तरह का कोई नियम बिना किये जप साधन नहीं चलता है। प्रायः काल को गणना की अपेक्षा जप संख्या की गणना करना इस लिये अच्छा होता है चूँकि जपसंख्या नियत होने से उतने जप करना और मन लगाना आवश्यक हो जाता है। मैं ऐसा किया करता था कि जिस जप में मन पूरा नहीं लगा, भटक गया उस को नहीं गिना अर्थात् माला के अगले मनके को हाथ नहीं लगाया, उसी मनके को पकड़े रखा। ऐसा करने से मन का लगाना भी आवश्यक हो जाता था। जैसे यज्ञ भावना से नित्य सूत कातने वाले के लिये आध घण्टा कातने की अपेक्षा १५० तार कातने का नियम बनाना अधिक सूत निकालने की दृष्टि से अच्छा है इसी तरह अधिक जप कर लेने के लिये माला से गिन कर जपना अच्छा है। पर बढ़िया सूत कातने के लिये या अधिक ध्यान लगाने के लिये कुछ समय तक काल का नियत कर लेना अच्छा है। मैं आज कल ऐसा करता हूँ कि दोनों समय सौ २ जप तो गिन कर करता हूँ, उसके बाद स्वच्छन्दता से करता हूँ; कम से कम आध घण्टा इस में अवश्य लगे इस का भी ध्यान रखता हूँ। अस्तु, मतलब यह है कि जपसाधना के समय में माला या घड़ी आदि की सहायता लेना बड़ा उपयोगी होता है यद्यपि जब जप सिद्ध (स्वाभाविक) हो जावे तो इन की सहायता की जरूरत नहीं रहती।

राग विहाग

रचयिता — पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार

सो मोहे पीर भली ॥ ध्रुव ॥
ऋतु वसन्त आयो माली की कैंची खूब चली।
देह चीर अंकुर निकसत हैं झटकैं फूल अली॥
पर मैं फूली फली ॥ १ ॥
रवि-किरणों की आँच लगे से कट-कट देह गली।
हरियाली पर चहुँदिसि छाई नदियाँ बह निकली॥
हिम की मैं हूँ डली ॥ २ ॥
मलयाचल पर फणधरों ने विषधारा उगली।
जड़ें कटीं फिर चली कुल्हाड़ी कट कट देह जली॥
सुरभित हाट गली ॥ ३ ॥

वैरागी का प्रेम

[श्री चन्द्रगुप्तजी विद्यालंकार, सम्पादक 'विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला']

किसी ने वैरागी की कुटीर का दरवाज़ा खटखटाया—"खट-खट-खट !"

साँझ हो चुकी थी। सरदियों का मौसम था। सूरज डूबने के साथ-ही-साथ जमना नदी के संकुचित वक्षःस्थल पर से घना कुहरा उठ कर शहर-भर पर व्याप्त होता चला जा रहा था। मथुरा शहर में उन दिनों बिजली नहीं थी। साँझ होते-न-होते सड़कों पर आवागमन बहुत कम हो जाता था। सड़कें और गलियाँ अँधेरी ही बनी रहती थीं। लोग घरों में तेल का दीपक बाल कर थोड़ा-बहुत उजेला कर लेते थे।

इस कुटिया में भी इसी तरह का एक दीया जल रहा था। उसके पास ही, कुशासन पर एक वृद्ध और दुबले-पतले व्यक्ति कम्बल ओढ़ कर बैठे थे। यही इस कुटिया के स्वामी प्रतीत होते थे। उनसे कुछ ही दूरी पर एक नौजवान विद्यार्थी चूल्हे के पास बैठा था। इस चूल्हे पर एक बरतन रक्खा था। दरवाज़े पर आहट पाकर पहले तो वृद्ध सज्जन ने समझा कि यह आवाज़ किसी साथ के मकान पर की जा रही है। मगर थोड़ी ही देर बाद, जब दरवाज़ा दुबारा खटखटाया गया, तो उन्होंने आवाज़ दी—"कौन है ?"

नवयुवक विद्यार्थी अभी तक अपने ही में मस्त था। अब वृद्ध महाशय की आवाज़ सुनकर उसने पूछा—"क्या है गुरुजी ?"

गुरुजी ने कहा—"रामनाथ, दरवाज़े पर कोई है। जाकर देखो तो, कौन है।"

रामनाथ उठ खड़ा हुआ; यह बड़बड़ाते हुए कि इस वक़्त कौन मनहूस तंग करने आया है। दरवाज़ा खोल कर उसने पूछा—"कौन है ?"

बाहर, अन्धकार ही में से बड़ी मधुर और गम्भीर स्वर में किसी ने कहा—"मैं हूँ, दयानन्द; एक संन्यासी-विद्यार्थी।"

रामनाथ की निगाह में इस तरह के संन्यासी-विद्यार्थी वास्तव में निखट्टू और मुफ़्तखोर साधु-मात्र ही हुआ करते थे। और उन्हें वह अपनी कुटिया के द्वार ही से भगा दिया करता था। मगर आज इस संन्यासी-विद्यार्थी के स्वर में जो गम्भीरता थी, उसकी बदौलत रामनाथ, अंधकार के कारण देख न पाने पर भी उसे दुत्कार न सका। रामनाथ अभी अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय नहीं कर पाया था कि वह संन्यासी-विद्यार्थी सीढ़ियाँ चढ़ कर कुटिया के अन्दर आ गया। रामनाथ ने अब उसे अच्छी तरह, बिलकुल नज़दीक से देखा, तो चौंक गया। भरा हुआ और सुन्दर शरीर, गौर वर्ण, लम्बा क़द, बरफ़ की तरह स्वच्छ आँखें और मुँह पर अबोध बच्चों की-सी पवित्रता। अपने सहपाठियों में रामनाथ अधिक बोलनेवाला मशहूर था, मगर इस वक़्त इस अद्भुत विद्यार्थी-संन्यासी को देखकर जैसे उसकी ज़बान पर ताला पड़ गया। इसी वक़्त गुरुजी ने पुनः आवाज़ दी—"रामनाथ! कौन आया है ?"

रामनाथ कुछ अस्त-व्यस्त-सा हो गया था। उसने बिलकुल नासमझी के साथ उत्तर दिया—"मालूम नहीं गुरुजी! देखने से तो सन्यासी-सा प्रतीत होता है।"

इसी समय दयानन्द ने अपना सिर बूढ़े गुरु के चरणों पर जा झुकाया और कहा—"मेरा नाम दयानन्द है। मैं आपकी सेवा में शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा से आया हूँ।"

वृद्ध गुरु ने कहा—"कुछ पहले भी पढ़े हो?"

"जी हाँ। व्याकरण, निघण्टु आदि पढ़ा हूँ।"

वृद्ध संन्यासी ने इस नए शिष्य की परीक्षा ली। इस नवयुवक शिष्य से बातचीत करते-करते न-जाने किस कारण स्वामी विरजानन्द के पोपले, झुर्रीदार मुँह पर मुसकराहट की आनन्दमयी आभा-सी दौड़ गई।

[२]

मथुरा शहर की गली-गली, घाट-घाट सभी जगह एक नौजवान साधु की चरचा है। इस साधु का चेहरा सेव के समान सुडौल और कन्धारी अनार के समान लाल है। सरदी हो, गरमी हो—गेरवे रंग की एक धोती को छोड़ कर और कोई कपड़ा उसके शरीर पर दिखाई नहीं देता। जमना नदी के ठीक किनारे पर, एक छोटे-से मकान में, उसका निवास स्थान है। दिन-रात जी लगा कर पढ़ना उसका काम है। दिन-भर में केवल दो बार ही वह बाज़ार में से होकर घाट की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। उस समय पीतल का एक बड़ा कलश उसके कन्धे पर रहता है। उसकी नज़र सदैव नीचे की ओर झुकी रहती है। कभी किसी ने उसे इधर-उधर ताकते हुए नहीं देखा।

मथुरा की कुल-वधुएँ घाट से पानी ले जाते हुए इस साधु को विस्मय और श्रद्धा के साथ देखती हैं। उनमें कानाफूँसी शुरू हो जाती है। एक पूछती है—"बहन, यह कौन है?"

दूसरी कहती है—"यह उस अन्धे गुरु का चेला है।"

तीसरी बताने लगती—"यह उस, सामने के लक्ष्मीनारायण के मन्दिर की कोठरी में रहता है। दिन-भर पढ़ता है। कभी किसी से बातचीत नहीं करता। उस राजजोतशी अमरनाथ के घर यह रोटी खाता है। गोवर्धनलाल सर्राफ़ उसे हर महीने चार आने तेल के लिये देता है और पत्थरवाला हरदेव इसे दूध पिलाता है। सुना है, इसका बाप एक सरकारी अफ़सर था। घर से भाग आया है और साधु बनकर शास्तर पढ़ रहा है। लोग कहते हैं, जबसे यह आया है, उस अन्धे गुरु की ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहा। देखो न, बेचारा उसके लिए मेहनत भी तो कितनी करता है। सरदी हो, गरमी हो, आँधी हो, वर्षा हो—यह कभी अपने काम में ढील नहीं करेगा।"

पहली पूछती है—"अरे, तुम इसके सम्बन्ध में इतना सब कहाँ से जान गई?"

वह जवाब देती है—"तू तो यहाँ अभी नई ही आई है न बहू! मथुरा-भर में इस साधु की चरचा है। चाहे किसी बच्चे तक से सुन लो।"

—इसी तरह अपने गुरु की देख-रेख में दयानन्द की शिक्षा-दीक्षा चल रही है। कौन जानता है कि इस नौजवान की झुकी हुई, विनम्र आँखों का तेज एक दिन इस विशाल देश के बड़े-बड़े पाखण्डी लाखों-करोड़ों की तादाद में मिलकर भी सहार नहीं सकेंगे।

[३]

आज पाठशाला में छुट्टी थी। गुरुजी के घर पानी पहुँचा कर जब वह संन्यासी-विद्यार्थी अपनी कोठरी में आया, तो अन्दर उसका जी न लगा। सुबह के करीब दस बजे होंगे। गरमियों का मौसम था। इस समय भी सूरज आग बरस रहा था। सब तरफ़ निर्जीव सन्नाटा-सा छाया था। कहीं शोर-गुल सुनाई न देता था, लोग जैसे काम करते करते

ऊब गए हों। दयानन्द अपनी कोठरी से बाहर आया। उसने देखा, सामने, क्षीण कलेवरा जमना नदी के सूखे वक्षःस्थल की रेती पर से जैसे गरम-गरम भाफ़ उठ रही है। उसके पार दूर तक खेत फैले हुए हैं और उनके ऊपर आसमान का रंग पीला-सा होकर झिलमिल-झिलमिल कर रहा है। दयानन्द ने यह देखा। दो-चार मिनट तक बिलकुल ख़ाली खड़े रहकर मूर्तिमान् सन्नाटे के इस नीरस रूप को देखा। इसके बाद वह साथ ही के एक पेड़ की छाया में जा बैठा और शीघ्र ही आँखें बन्द करके ध्यान-मग्न हो गया।

मालूम नहीं, वह कितनी देर तक इस दशा में बैठा रहा होगा कि अचानक उसे अपने पैरों पर गीला-गीला कोमल-सा स्पर्श अनुभव हुआ। दयानन्द की आँखें स्वयं खुल गईं, ध्यान टूट गया। उसने देखा कि एक सुन्दर-सी युवती उसके चरणों पर आदर-पूर्वक सिर झुकाये हुए है। दयानन्द सहम गया, उसने शीघ्रता से अपना पैर खींचते हुए कहा—"यह क्या कर रही हो माँ!"

युवती ने कहा—"कुछ नहीं साधुजी! आपका आशीर्वाद चाहिए।"

दयानन्द कोई जवाब न दे सका। अपने अत्यधिक निकट से उसे गीले केशपाशों की भीनी-भीनी-सी सुगन्ध आ रही थी। यह गन्ध उसके लिये अननुभूतपूर्व थी। एक क्षण तक किंकर्तव्य विमूढ़ की तरह बैठे रहने के बाद वह सहसा उठ खड़ा हुआ और उसने कहा—"माताजी, आप कृपया यहाँ से चले जाइए। मुझे ध्यान करने दीजिए।"

वह सुन्दरी उठ खड़ी हुई और धीरे-धीरे एक तरफ़ को चली गई।

दयानन्द फिर से ध्यान लगाने बैठा। एक प्राणायाम करके उसने अपनी बिखरी हुई चित्त-वृत्तियों को एकाग्र करने का प्रयत्न किया। समाधि फिर से लग गई। मगर यह क्या? अपने पैरों पर अब भी उसे कोमल से स्पर्श की अनुभूति क्यों हो रही है। दयानन्द ने एक बार और हवा को अपने फेंफड़ों में जमा किया और फिर उसे ज़ोर से बाहर निकाल दिया। समाधि फिर से लग गई। मगर शीघ्र ही पुनः उसे अपने अत्यधिक निकट से उसी अनाघ्रातपूर्व भीनी-भीनी गन्ध की अनुभूति-सी होने लगी। यह बात क्या है? दयानन्द का तपस्वी हृदय उद्विग्न हो गया। उसने आँखें खोल दीं और वह उठकर उसी पेड़ की एकान्त छाया में धीरे धीरे टहलने लगा। सहसा उसकी आँखों में आँसू भर आए। उसने सोचा—"ओह, इस ज़रा-सी बात ने मुझे इतना उद्विग्न क्यों कर दिया।

इसके बाद वह कोठरी में चला गया और ताज़े ख़रीदे हुए महाभाष्य की नई कापी खोलकर उसका सातवाँ आह्निक पढ़ने लगा। यह ग्रन्थ उसे अपनी सम्पूर्ण पुस्तकों में सबसे अधिक प्रिय था। हाल ही में शहर के अनेक भद्र नागरिकों ने चन्दा करके यह बड़ी किताब उसे ख़रीद दी थी। मगर आज महाभाष्य भी उसके उदास चित्त को प्रसन्न न कर सका। दयानन्द ने एक गहरा श्वास लिया और फिर दो-चार मिनटों तक ख़ाली नज़र से जमना की क्षीण-सी धारा की तरफ़ देखता रहा। इसके बाद वह सहसा उठ खड़ा हुआ; जैसे उसने किसी महान् शक्ति की पुकार सुनी हो। उसकी उदास आँखों मे शीघ्र ही दृढ़-निश्चय की चमक दिखाई देने लगी स्वयं अपने ही से धीरे से उसने कहा—"सावधान! उधर खाई है। अगर आगे बढ़े तो तुम्हारी हड्डी-पसली का भी पता नहीं चलेगा।···दयानन्द, इसका प्रायश्चित्त करना होगा।

अभी तक तुम अपने मन पर पूरा क़ाबू नहीं पा सके।"

थोड़ी देर बाद वह बाहर निकला। अपनी कोठरी पर उसने ताला लगा दिया और उस गरम दोपहरी में ही, नंगे पाँव वह जमना का रेतीला पाट पार करने लगा। क्रमशः जमना की उथली धारा को चीर कर वह दूसरे पार के खेतों में जा पहुँचा। कुछ दूरी पर झाड़-झंखाड़ों का एक विरल-सा जंगल था। दयानन्द उसी में प्रविष्ट होकर दुनिया की नज़रों से ओझल हो गया।

[४]

गुरुजी ने घबराहट-भरी स्वर में आवाज़ दी—"रामनाथ ! रामनाथ !!"

कुछ दूरी पर पन्द्रह-बीस शिष्य बेतरतीब के आसनों पर बैठे अपना-अपना पाठ याद कर रहे थे। जैसे बरसात में मेंडक गा रहे हों। गुरुजी की आवाज़ सुनकर सब लोग चुप हो गये और उस शिष्य मण्डली में से रामनाथ ने आवाज़ दी—"आया गुरुजी !"

गुरुजी ने कहा—"नहीं, आने की ज़रूरत नहीं है। बताओ, दयानन्द आया, कि नहीं ?"

रामनाथ ने जवाब दिया—"नहीं जी, वह अभी तो नहीं आया।"

गुरुजी ने कहा—"उसकी कोठरी में जाकर देख तो आओ; कहीं बेचारा बीमार न हो गया हो।"

रामनाथ ने;कुछ रुककर कहा—"गुरुजी, कल से लेकर आज इस वक्त तक आप तीन बार मुझे वहाँ भेज चुके हैं, इस तरह बार-बार वहाँ जाने से क्या लाभ ?"

गुरुजी को जैसे कुछ लज्जा-सी प्रतीत हुई। उन्होंने धीरे से कुछ कठोर-सी आवाज़ में कहा—"नालायक न-जाने कहाँ चला गया। अच्छा, तुम लोग अपना पाठ याद करो।"

पाठ याद करने की आवाज़ें फिर से आने लगीं; जैसे चलती हुई चक्की कुछ देर के लिए ठहर जाय और फिर से चलने लगे। सहसा एक लड़के ने पूछा—"गुरुजी, वृत्र और असुर का यौगिक अर्थ क्या है ?"

गुरुजी ने अपने सदा के अभ्यास से कहा—दयानन्द से पूछ लो !"

मगर अगले ही क्षण उन्हें ध्यान हो आया कि "दयानन्द तो दो दिनों से यहाँ आया नहीं। प्रज्ञा-चक्षु और दुर्बलकाय संन्यासी विरजानन्द के मुँह से बलात् एक गहरा श्वास निकल गया और उन्होंने कहा—"इस वक्त नहीं; कल पूछ लेना। अभी पिछली उपनिषद् को देखना शुरू कर दो।"

इसके बाद वह आप-ही-आप कहने लगे—"मैंने कहा था न रामनाथ, कि इन साधुओं को कभी अपना शिष्य नहीं बनाना चाहिए। नालायक टिकते तो हैं ही नहीं। जिधर को जी आया उधर को चल दिये !"

पाठशाला-भर में सन्नाटा छा गया। सब शिष्य हैरान थे कि पिछले दो दिनों से गुरुजी को हो क्या गया है। इन दो दिनों में उन्होंने न किसी को नया पाठ ही पढ़ाया था और न उन्होंने हँस कर बात ही की थी।

शिष्य मण्डली अपना अपना पाठ याद कर ही रही थी कि गुरुजी ने फिर से कहा—"रामनाथ, ज्योतिषी अमरनाथ के घर तो तुम कल हो ही आए थे. अब ज़रा गोवर्धनलाल से भी पूछ लेना, कहीं दयानन्द उसके यहाँ तो नहीं है ? इस वक्त जी न हो तो शाम को ही चले जाना। मगर पूछ ज़रूर आना। ज़रूरत हो तो मुझे भी साथ

ले चलना। .....वह इतना गैरज़िम्मेवार तो नहीं था।

रामनाथ को यह सब एक मुफ़्त की आफ़त प्रतीत होती थी। उसने बड़े अनमनेपन से कहा—"अच्छा गुरुजी!"

गुरुजी फिर से अपनी चिन्ता में मग्न हो गए। थोड़ी देर बाद वह आप-ही-आप फिर से कहने लगे—"चला गया है तो अच्छा ही हुआ। उसके मारे नाक में दम था। सवाल-पर-सवाल करता जाता था। ढीठ भी तो कितना था। उस दिन मैंने कूड़ा जमा करने की बात पर उसे कितना पीटा था, मगर उसने 'आह' तक नहीं की।...ऐसा ज़िद्दी था।"

सायंकाल के उस अस्पष्ट अन्धकार में लड़कों ने हैरान हो कर देखा कि गुरुजी की आभाहीन आँखों से मोती के समान उजले दो आँसू निकले और उनके सूखे कपोलों को भिगोते हुए नीचे की तरफ़ खिसक गए।

[५]

एक दिन और निकल गया। उससे अगले दिन की बात है। प्रातःकाल का समय था। गुरुजी की ड्योढ़ी में इस समय रामनाथ को छोड़ कर और कोई उपस्थित नहीं था। गुरुजी कुछ उदास से होकर अपने आसन पर बैठे थे कि उन्हें दयानन्द के पैरों की चिरपरिचित आवाज़ सुनाई दी। गुरुजी को रोमांच हो आया। सहसा इसी समय उन्हें सुनाई दिया। रामनाथ कह रहा था—"ओहो, दयानन्द! तुम इतने दिनों तक कहाँ थे।"

दयानन्द का चेहरा इस समय कमज़ोर और पीला-सा दिखाई दे रहा था। यद्यपि उसकी आँखों में तप और निश्चय की चमक दिखाई दे रही थी। उसने रामनाथ के सवाल का कोई जवाब नहीं दिया, और सीधा जाकर गुरुजी के चरणों पर अपना सिर रख दिया था।

गुरुजी ने सोच रक्खा था कि दयानन्द आएगा तो उससे बात भी नहीं करूँगा। मगर अब खुद-बखुद ही उनके मुरझाए से चेहरे पर .खुशी की चमक आ गई और उन्होंने बड़ी कोमलता से पूछा—"इतने दिन कहाँ रहे बेटा?"

दयानन्द ने कहा—"गुरुजी, एक कारण से मैंने यह अनुभव किया था कि मुझे अपने मन पर पूरा नियन्त्रण रखने के लिये तपस्या और साधना करने की ज़रूरत है, इसलिए इन पिछले तीन दिनों में मैं पूर्ण उपवास करके, आबादी से दूर साधना में लगा रहा।"

इसके बाद दयानन्द ने उस रोज़ की संपूर्ण घटना भी कह सुनाई। बूढ़े गुरुजी ने यह सब सुना और उनका हृदय गद्-गद् हो गया। दयानन्द के सिर पर वात्सल्य और आशीर्वाद-भरा हाथ फेर कर उन्होंने रामनाथ को आवाज़ दी—"रामनाथ, देखो तो, भात तैयार हो गया हो तो वह मक्खन के साथ दयानन्द के लिए परोस देना।"

['अलंकार' के सहृदय पाठकों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि हिन्दी-साहित्य के उदीयमान लब्ध-प्रतिष्ठ कहानी-लेखक श्री पं० चन्द्रगुप्तजी विद्यालकार ने 'अलंकार' के कहानी-विभाग का सम्पादन भार लेना स्वीकार किया है।

'अलंकार' के प्रत्येक अंक में प्रायः दो कहानियाँ देते रहने का हमारा विचार है, साथ ही हिन्दी-वाङ्मय के कहानी-साहित्य को उन्नत तथा आकर्षक बनाने के लिए एक नयी मौलिक योजना की गई है।

इस योजना के अनुसार सामयिक पत्र-पत्रिकाओ तथा ग्रन्थ-मालाओ मे प्रकाशित कहानियो, गल्पों, नाटकों तथा उपन्यासों की तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक समालोचना प्रकाशित की जायगी। अनुभवी विद्वान् लेखकों ने इस योजना को सफल बनाने के लिए सहयोग देने का वचन दिया है।

इस योजना से हिन्दी वाङ्मय के अमर्यादित तथा उच्छृखल-रूप मे, बरसाती बाढ की तरह प्रकाशित होनेवाले कहानी-साहित्य को निर्मल तथा जीवनसंचारी बनाने का यत्न किया जायगा। —सम्पादक]

हँसी की पंखड़ियाँ

[रचयिता—श्री प्रो० वंशीधर जी विद्यालङ्कार उस्मानिया युनिवर्सिटी औरंगाबाद]

यह कविता चतुर्दश पदी है। जैसे अंग्रेज़ी में सॉनट(Sonnet) लिखा जाता है वैसे ही यह लिखी गई है। कविता को प्रवाह में पढ़ना चाहिए।

अभी अभी बस इतने में ही,
नन्ही नन्ही इस गुलाब की–,

मृदुतम पङ्खड़ियों ने अपना–,
मुँह खोला सुन्दर सपने–सा।

जिन पर पड़ती हैं सूरज की,
किरणें भी मृदु नव कुसुमों सी,

शान्त पवन ! तू छूना इन को,
धीमे से कुछ सोता–सा हो।

कहीं न ऐसा हो–कोमलता–,
तेरी बन जाए कठोरता,

बिखर पड़ें धरती पर जिस से,
मृदुल हँसी की पङ्खड़ियाँ वे,

हँसी सिखाने आई हैं जो,
इस रोती दुखिया वसुधा को॥

———

Ramchand
Ramchandr

सत्याग्रह व्यक्तिगत और सामूहिक

लेखक
श्री हरिभाऊजी उपाध्याय

बहुतेरे लोग समझते हैं कि व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह में केवल मात्रा का ही भेद है—दिये अलग अलग जलते हैं तब तक व्यक्तिगत है और हज़ारों दिये एक साथ जलने लग गए तो वही सामूहिक हो गया। किन्तु मेरी समझ से केवल इतना ही समझ लेना काफ़ी नहीं है। हमें यह बात न भुला देनी चाहिए कि व्यक्तिगत सत्याग्रह जहाँ गुण पर विशेष ध्यान देता है तहाँ सामूहिक में संख्याबल प्रधान है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें गुण-बल वाञ्छनीय नहीं है। उसका तो अर्थ सिर्फ़ इतना ही है कि कुछ व्यक्तियों में जिस गुण-बल की आशा रक्खी जा सकती है, वह सामूहिक में सहसा सम्भवनीय नहीं है। व्यक्तिगत सत्याग्रह की विशेषता या प्रभावोत्पादकता उसकी शुद्धता और उज्वलता में ही है, जहाँ कि सामूहिक में संख्या-बल में। निःसन्देह दोनों के प्रभाव में भी अन्तर होगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह, शुद्ध-उज्वल होने के कारण, सात्विक और निर्मल स्फूर्ति हृदय में पैदा करेगा—जिसके प्रति वह किया गया है उसमें भी, तथा आसपास के वायुमण्डल में भी। वह प्रेरणा और पथ-दर्शन का काम देगा; किन्तु सामूहिक अपने संख्याबल से आपके काम को ही बन्द कर देगा, आपकी गति को ही, आप के यन्त्र या तन्त्र को ही रोक देगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रभाव सीधा मनुष्य के हृदय पर पड़ेगा, वह उच्च भावनाओं और उच्च विचारों के क्षेत्र में विचरने लगेगा, और उच्च मनोवृत्ति से अपना निर्णय करेगा। इससे भिन्न, सामूहिक सत्याग्रह मुकाबिले वाले के सामने अपने हानि-लाभ का चित्र खड़ा कर देगा, उसके मनमें यह तुलना होने लगेगी कि इसकी मांग को पूरा कर देने में भलाई है, या अपनी बात पर डटे रहने में। यदि सामूहिक सत्याग्रह काफ़ी ज़ोरदार है तो उसे यही निर्णय कर लेना होगा कि आपकी मांग पूरी कर दें। व्यक्तिगत सत्याग्रह अपनी निर्मल, उज्वल, निर्धूम ज्योति से वायुमण्डल को प्रदीप्त करता है, तहाँ सामूहिक की एकत्र आग चारों ओर अपनी लपटें फैलाती हुई एक प्रचण्ड ज्वाला निर्माण करती है, जिसमें बड़े बड़े भयंकर और विषैले जन्तु भी स्वाहा हो जाते हैं और सारा वायुमण्डल तपने लगता है। यदि समाज सुसंस्कृत है तो व्यक्तिगत सत्याग्रह काफ़ी और शीघ्र परिणाम दायी हो सकता है; किन्तु यदि समाज हानि-लाभ की ही भाषा समझता और बोलता है, तो सामूहिक सत्याग्रह ही वहाँ अधिक और जल्दी परिणाम ला सकता है। सामूहिक सत्याग्रह में क्रान्तिकारिणी शक्ति है। किन्तु यह न मान लेना चाहिए कि सामूहिक सत्याग्रह के संचालकों से भी वही गुण-बल न चाहा जाता हो, जो व्यक्तिगत सत्याग्रही से चाहा जाता है। जब तक व्यक्तिगत सत्याग्रह की परीक्षा में उत्तीर्ण संयोजक या संचालक न हों, तब तक सामूहिक सत्याग्रह चलाया ही नहीं जा सकता।

सत्याग्रह-युद्ध एक पूर्ण युद्ध-कला है, और वह विधि-वत् ही होना चाहिए। उसका पूरा शास्त्र अभी बन नहीं पाया है, और न बन ही सकेगा। क्योंकि सत्य

नित्य नवीन विकास पानेवाली वस्तु है, इसलिए सत्याग्रह का शास्त्र कभी पूर्ण नहीं होगा, वह भी नित्य नया विकास पावेगा। फिर भी उसके स्थूल नियम और कसौटियाँ तो स्थिर होती जायँगी, जैसे जैसे भिन्न भिन्न प्रयोगों के फलाफल पर विचार हो कर निर्णय बँधते जायँगे। मनुष्य की अपनी अपूर्णता भी सत्याग्रह-शास्त्र को पूर्ण न होने देगी। और इसमें कुछ हानि का भी डर न रखना चाहिए। सत्याग्रह में सत्य की शोध तो जारी रहती ही है अर्थात् एक परिणाम के अनुभव के आधार पर दूसरा प्रयोग किया और उसके परिणाम पर तीसरा। इसी तरह जब तक एक वैज्ञानिक की तरह सत्याग्रही की सत्यशोधक-वृत्ति जागृत और उद्यत है तब तक हानि का कोई डर नहीं है। क्योंकि सत्याग्रह का मूल बल आन्तरिक वृत्ति पर जितना अवलम्बित है उतना बाहरी नियमोपनियम पर नहीं।

परिवर्त्तन

[रचयिता—श्री० योगेन्द्रनाथ "काञ्चन"]

सुख-दुःख का भाग्य विधाता—
है क्षण भर का परिवर्त्तन,
सखे ! एक इशारे पर उसके,
बन लघु करता जग-नर्त्तन ॥१॥

जब लम्बी जीवन सरिता का—
वेग रुका सा जाता है;
बन सेतु, उस पल परिवर्त्तन ही,
आगे को ढुलकाता है ॥२॥

सञ्चित करता शक्ति स्रोत की—
पुण्यमयी वह धारा है;
कितनों ही को परिवर्त्तन ने—
लाखों बार उबारा है ॥३॥

मेरे सुन्दर जीवन का वह—
एक बना ध्रुव तारा है;
हे परिवर्त्तन ! कहो कौन सा—
तुम्हें समर्पण प्यारा है ॥४॥

भारत में राष्ट्रीयता का विकास

(कमालपाशा के अनुभव)

[ले०—श्रीयुत भीमसेन विद्यालंकार]

आज हमारे देश में भिन्न भिन्न सभ्यताओं तथा राष्ट्रीयता का संघर्ष जारी है। कुछ मुसलमान भाई अरबीय सभ्यता की रक्षा के नाम पर भारतीय राष्ट्रीयता को ठुकरा रहे हैं। युरोपियन लोग तथा ईसाई-लोग अपनी सभ्यता तथा आचार-विचार का प्रचार करने में तत्पर हैं और इस आवेश में आवश्यकता होने पर भारतीय राष्ट्रीयता को ठेस पहुँचाने में भी संकोच नहीं करते। इन दोनों समुदायों के आक्रमणकारी व्यवहार को देखकर हिंदुसंगठन तथा सिक्ख-सम्प्रदाय के नेता लोग भी, राष्ट्रीयता की अपेक्षा साम्प्रदायिक हितों की रक्षा करना विशेष रूप से आवश्यक समझते हैं। आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज जैसी संस्थाएँ, अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत व्यापक तथा सार्वभौम बनाने के लिए, भारतीय राष्ट्रीयता की व्यावहारिक राजनैतिक समस्याओं से पृथक् रहना आवश्यक समझती हैं। आजकल के आर्यसमाज के नेता आर्यधर्म को विश्वधर्म बनाने के लिए, अँगरेज़ जाति को भी अपना अंग बनाने की आशा से, भारत की स्वतंत्र राष्ट्रीयता को प्रबल बनाने वाले आन्दोलनों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना उचित नहीं समझते। देश की राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए संचालित राजनैतिक आन्दोलन को अपने कार्यक्षेत्र से बाहर समझते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मसमाज भी श्री० रवीन्द्र-नाथ ठाकुर के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलनों में तटस्थ रहना उचित समझता है। इसके इलावा इन दिनों रूस के "अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संगठन" के अनुकरण से भारत में भी एक गिरोह पैदा हो गया है जो संसार भर के मज़दूरों को एक सूत्र में संगठित करने के लिए कांग्रेस-जैसी राष्ट्रीय संस्था से सम्बन्ध जोड़ना हानिकर समझता है। यह समस्या केवल भारतवर्ष के सामने पेश नहीं हुई। दूसरे स्वतन्त्र देशों को भी समय समय पर ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ा है।

भारतवर्ष की दृष्टि से इस सम्बन्ध में टर्की का उदाहरण विशेष रूप से अनुकरणीय है। जिस प्रकार आज भारतवर्ष में मुसलमान भाई अरेबिक सभ्यता तथा पान-इस्लामिज़्म के नाम पर भारतीय राष्ट्रीयता को ठुकरा रहे हैं, और दूसरी तरफ़ युरोपियन जातियाँ, और ईसाई चर्च भारत मे अपना राजनैतिक तथा व्यापारी जाल बिछा रहे हैं, इसी प्रकार टर्की मे भी खिलाफ़त तथा खलीफ़ा के नाम पर, अरबी सभ्यता के आचार-विचार, सभ्यता तथा साहित्य का दौरदौरा था। टर्की के युवकहृदयों को उल्लसित करनेवाला न कोई राष्ट्रीय साहित्य था, और न कोई उच्च राष्ट्रीय आदर्श। अरबों का आचार-विचार टर्की के तरुणों के स्वाभाविक विकास को रोक रहा था। युरोपियन-जातियों ने टर्की के सुलतान खलीफ़ा को खिलाफ़त की रक्षा का प्रलोभन देकर, एशियाई मुसलिम-राष्ट्रों को नियन्त्रण में रखने की आशा दिला कर, अपने हाथ का कठपुतली बनाया हुआ था। आम-जनता अरबी-सभ्यता-प्रधान इस्लामी आचार-विचारों

और रीति-रिवाजों में फँसी हुई अपने अस्तित्व को भूल चुकी थी। टर्की का शासक-वर्ग खलीफ़ा तथा खिलाफ़त के शानदार नाम के जादू में फँसे हुए सदा एशियायी मुसलमानी राष्ट्रों की ओर दृष्टि रखते थे। इन कारणोंसे टर्कीका अपना अस्तित्व मिट चुका था। परन्तु १९१६ ई० में एशियाई मुसलिम राष्ट्रों के, खलीफ़ा के विरुद्ध दूसरी ईसाई शक्तियों का साथ देने पर, टर्की के नवयुवकों के सामने खिलाफ़त तथा पान-इस्लामिज़्म की कलई खुल गई। संसार के मुसलमान टर्की के खलीफ़ा को अपना सुलतान मानते थे। उनका कर्तव्य था, कि खलीफ़ा या टर्की के सुलतान का साथ देते, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस विश्वासघात ने तरुण टर्की के हृदय में पान-इस्लामिज़्म तथा अरैबिक सभ्यता के लिए द्वेष तथा घृणा के भाव पैदा कर दिए। कमालपाशा के नेतृत्व में उन्होंने इन दोनों का अन्त करने का निश्चय किया। स्मर्ना तथा कौन्सैण्टीनोपल के मैदानों में ग्रीक सेनाओं को पराजित किया। लगते हाथ खलीफ़ा को गद्दीच्युत किया और राष्ट्र में, टर्किश राष्ट्रीयता को विकसित तथा प्रभावशाली बनाने के लिए स्वतन्त्र टर्किशसभ्यता की आधारशिला रखी। परिवर्तित अवस्थाओं तथा चारों-ओर की परिस्थिति को दृष्टि में रखकर, टर्की की जनता के रहनसहन तथा आचार-विचार के दृष्टि-विन्दुओं में क्रान्ति पैदा की। जनता को अनुभव कराया कि धर्म तथा परमात्मा पर किसी समुदाय-विशेष तथा देश विशेष का एकाधिकार नहीं है। हरेक देश तथा जाति अपनी अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों मे धर्म तथा परमात्मा का स्मरण कर सकती है। धर्म तथा परमात्म-सम्बन्धी विचार हरेक देश तथा जातिके लिए समान रूप से, निर्माण किए गए हैं। हरेक देश व मनुष्य-समुदाय में इनकी पूजा हो सकती है। इस भावना ने कमालपाशा को टर्किश सभ्यता का निर्माण करने के लिए प्रेरित किया। कमालपाशा ने इस आदर्श को पूर्ण करने के लिए निम्नलिखित योजनाएँ स्वदेश में जारी कीं।

(१) टर्की में 'धर्म-सत्तात्मक-शासन-तन्त्र'(थियोक्रैसी) के स्थान पर लोकसत्तात्मक शासनतन्त्र कायम किया। खलीफ़ा को गद्दी-च्युत कर, लोकसभाद्वारा निर्वाचित व्यक्ति को राष्ट्रपति नियत किया।

(२) चर्च तथा राष्ट्र को पृथक् पृथक् किया गया। राष्ट्रीय तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी व्यवस्थाओं में चर्च तथा कुरान के फतवों को प्रामाणिक मानना बन्द किया गया।

(३) स्विट्ज़र्लैण्ड से क़ानूनशास्त्रियों को बुलाकर टर्की के लिए (Civil laws) नागरिकनियम बनवाए गए, और लोकसभाद्वारा स्वीकृत कराकर, राष्ट्र में जारी किए गए। इस्लामी विवाह-प्रथा, इस्लामी जायदाद-सम्बन्धी नियमों और बहुपत्नीत्व-जैसी सामाजिक संस्थाओं को नष्ट कर, टर्की की आवश्यकता के अनुसार नए नियम बनाए गए और एक-पत्नीव्रत तथा स्त्रियों को समानाधिकार देने की व्यवस्था चालू की।

(४) इटली के क़ानूनी-पण्डितों की सहायता से दण्डविधान (Criminal law) तैयार कराया गया। चोरी आदि के लिए कुरान की आज्ञाओं के अनुसार दण्ड देना बन्द कर इस दण्डविधान के अनुसार दण्ड देने की प्रथा जारी की गई।

(५) जर्मनी के विद्वानों की सहायता से युद्ध, व्यापार तथा सैनिक जीवन के सम्बन्ध में नए नियम बनाए गए।

(६) राष्ट्र में पूर्ण-धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा की गई। धर्म को वैयक्तिक-विश्वास के रूप में स्वीकार किया गया। टर्की के शिक्षणालयों में वेद आदि भिन्नधर्मीय साहित्य के भी पढ़ने-पढ़ाने की सुविधा की गई।

(७) कुरान के कारण टर्की में अरबी-लिपि को धर्म-लिपि का स्थान प्राप्त था। अरबी-लिपि की जटिलता के कारण ९० फ़ीसदी तुर्क अशिक्षित थे। उनके पड़ोसी राष्ट्रों में ६०फ़ीसदी नागरिक शिक्षित थे। कमालपाशा ने इस कमी को अनुभव किया और एक वर्ष के अन्दर अन्दर राष्ट्र के सारे कार्यों को रोमनलिपि में जारी करने की आज्ञा दी। कमालपाशा स्वयं पाठशाला में रोमनलिपि सीखने लगा। एक वर्ष बाद निश्चित दिन से राष्ट्र के सब कारोबार रोमनलिपि में होने लगे।

(८) टर्की की अपनी कोई लिपि नहीं थी। इस लिये उन्होंने अरबी के मुक़ाबले में सरल रोमनलिपि को अपनाया। परन्तु भाषा के सम्बन्ध में किसी यूरोपियन भाषा का अनुकरण नहीं किया। टर्किश भाषा को पुनरुज्जीवित तथा समृद्ध करने का आन्दोलन शुरू किया गया। अब तक टर्की में अरबी राजभाषा थी। इसलिए सारा सरकारी कारोबार इसी में होता था। परन्तु राष्ट्रीय भावनाओं वाले नवयुवकों के लिये अरबीभाषा में कारोबार करना अस्वाभाविक तथा अपमान-जनक था। टर्किशभाषा तथा टर्की साहित्य की उन्नति के लिये तुर्कों के मूल-आदि-निवास स्थान में प्रतिनिधिमंडल भेजकर टर्की के शब्दकोष का निर्माण कराया गया। १५००० हज़ार अध्यापकों को टर्की के अप्रचलित शब्दों को पुनरुज्जीवित तथा पुनःप्रचलित करने, और नवीन शब्द निर्माण करने के काम पर नियुक्त किया गया। नए-नए साहित्यिक शब्द बनाए गए। परस्पर की बोलचाल में ग़ैर-तुर्की या अरबी-शब्दों का व्यवहार करना असभ्यता का चिह्न माना जाने लगा। मंत्रिमंडल में "एक घंटे में कौन कम-से-कम विदेशी-शब्दों का प्रयोग करता है" कि स्पर्धा होने लगी। टर्की के सरकारी गजट में, हर-रोज़ पाँच नए तुर्की-शब्द प्रकाशित किये जाते थे और राष्ट्र को उनका विशेषरूप से व्यवहार करने की प्रेरणा की जाती थी। विदेशी-भाषा के शब्द स्वीकार करने के सम्बन्ध में कमालपाशा ने घोषणा की कि जिन अर्थों या वस्तुओं के लिये टर्की भाषा में शब्द नहीं, वह विदेशी भाषा से लिये जायँ; परन्तु जिनके लिये टर्की में शब्द हों उनके लिये टर्की-भाषा के शब्दों का ही प्रयोग किया जाय। इस आन्दोलन से टर्की-भाषा कुछ समय में ही जीवित-जागृत भाषा बन गई, और तरुण तुर्कों के हृदयोद्गारों से अलंकृत होने लगी।

(९) कुरान का तुर्की-भाषा में अनुवाद कराया गया। 'अल्लाह' शब्द का बहिष्कार किया गया। परमात्मा टर्की की भाषा भी समझता है, इसलिये अल्लाह के स्थान पर 'तारी' शब्द का प्रयोग करने की आज्ञा दी गई। संसार-भर की मसजिदों के प्रातःकाल अजाँन में अरबी की आयतों के पढ़ने का नियम है। कमालपाशा ने अरबी-आयतों के स्थान पर तुर्की-भाषा की आयतों का व्यवहार जारी किया।

(१०) क़ानून-द्वारा, हीनतासूचक 'फैजटोपी' का पहनना अपराध करार दिया गया। इस पर अशिक्षित तुर्कों ने आन्दोलन किया परन्तु निश्चित दिन जिसने फैजटोपी नहीं छोड़ी, उसकी टोपी छीन ली गई।

(११) अरब में स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित नाच को दुराचार मानते हैं, परन्तु तुर्कों ने स्थान-स्थान

पर विशालाकार सार्वजनिक नृत्यशालायें बनवाईं। स्वयं कमालपाशा इन नृत्यशालाओं में सम्मिलित हुआ। क़ानून द्वारा स्त्रियों को पर्दा छोड़ने के लिये बाधित किया।

(१२) कमालपाशा ने अपने निरीक्षण में पैग़म्बर मुहम्मद साहब का जीवन-चरित्र लिखाया। यह चरित्र ऐतिहासिकदृष्टि से लिखा गया है। इसमें मुहम्मद साहब को अरबी राष्ट्र-निर्माता, क्रान्तिकारी धर्मवीर, और इस्लामधर्म के संस्थापक के रूप में चित्रित किया गया है; पैगम्बर या देवदूत के रूप में नहीं। टर्की के विद्यालयों में मुहम्मद साहब का यही जीवन-चरित्र पढ़ाया जाता है।

इन सुधारों के प्रचलित होने पर विरोध का होना स्वाभाविक था। परन्तु कमालपाशा ने इस विरोध का खड्गहस्त होकर मुक़ाबला किया। घोषणा की गयी कि टर्की में निमाज़ तुर्कीभाषा में पढ़ी जायगी। जनता मसजिद में इकट्ठी हुई। ब्रुस नाम के पुरोहित को तुर्की-भाषा में निमाज़ पढ़ने के लिये नियत किया गया। उसने 'अल्लाह' के स्थान पर 'तानरी' शब्द पुकारा। धर्मान्ध जनता क्षुब्ध होगई। राष्ट्र में अशान्ति फैल गई। स्थान स्थान पर दंगे शुरू हो गये। कमालपाशा ने सख्ती से विद्रोहियों का दमन किया। विद्रोहियों को फाँसी का दण्ड दिया गया। इसी दौर में एक षड्यंत्र में टर्की के बड़े-बड़े सरदार पकड़े गये। उनमें कमाल का बाल-सखा अरीफराही भी था। कमालपाशा ने सब को फाँसी का दण्ड दिया और आप स्त्री-पुरुषों की सम्मिलित नाट्यशाला में सम्मिलित होने चला गया।

इस प्रकार दृढ़ता तथा स्वतन्त्र मनोवृत्ति से, कमालपाशा ने अपने राष्ट्र को विदेशी संस्कृति के चंगुल से मुक्त किया।

आज भारत मे सभ्यताओं तथा राष्ट्रीयता का भयंकर संघर्ष जारी है। देश-सेवा का कार्य करनेवालों को चाहिए कि वह भारत में भारतीय सभ्यता—भारतीय परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुकूल आचार-विचार, रहन-सहन तथा साहित्य का निर्माण तथा प्रचार करें। भिन्न भिन्न सभ्यताओं तथा सार्वभौम आदर्शोंके पुजारियों को इस बात के लिये बाधित करें कि वह अपने जीवन को भारतीयता के रंग में रँगे और उन्हें भारतीय स्वतंत्रताके लिये व्यवहारोपयोगी बनाएँ। इन सब भिन्न-भिन्न सभ्यताओं के संमिश्रण से बनी हुई सभ्यता ही सच्ची राष्ट्रीयता को विकसित कर सकती है। (१) धर्म सत्तात्मक एकतन्त्री शासनपद्धति के स्थान पर लोकतन्त्र-शासन स्थापित करना चाहिए (२) हिन्दुस्तानी भाषा में हिन्दुस्तानी-साहित्य का निर्माण करना चाहिए। विदेशी सभ्यताओं का परित्याग करना चाहिए। हिन्दुस्तानियों द्वारा निर्माण की गई लिपि को ही अपनाना चाहिए। इस प्रकार से, भारतीय सभ्यता के रंग में रँगी हुई राष्ट्रीयता ही, भारत की राजनैतिक समस्याओं को हल कर सकती है। तभी भारत संसार के सभ्य राष्ट्रों की श्रेणी में आत्माभिमान तथा गौरव के साथ सिर ऊँचा कर सकेगा।

देवनागरी-लिपि भारतीय राष्ट्रीय एकता का मूल-मंत्र है।

ग़रीब

चिंता प्रभु को सब लोगों की भले रहे, परन्तु विशेष चिंता होती है उसे ग़रीबों की। और लोग प्रभु के भी हैं, ग़रीब प्रभु के ही हैं। अन्यों का आधार भी अन्य होता है, किंतु ग़रीबों का तो आधार ग़रीब-निवाज़ ही होता है। समुद्र के बीचोबीच जहाज़ के मस्तूल से उड़े हुए पंछी को मस्तूल के सिवा और कहाँ कौन आश्रय ? उससे दूर होकर वह कहाँ रहे ? ग़रीबों का चित्त प्रभु से छुटे भी तो किससे लगे ? 'देव'-'लेव' से ही तो दुनियादारी चल रही है। 'लेव' न हो, तो 'देव' किस के लिए ? 'देव' ग़रीबों के बीच में पहुँचकर उसका 'लेव' बन जाता है। इसलिए ग़रीब प्रभु के कहलाते हैं, प्रभु ग़रीवों का कहलाता है। ग़रीब का यही वैभव देखकर कुन्ती ने उस समय ग़रीबी माँगी, जब उससे प्रभु ने वर मांगने को कहा। कहनेवाले कह सकते हैं, कि प्रभु देता था कटोरी में; पर अभागिन ने मांगा दोने में! यह ताना अनुभव-मार ताना है। फूटी कटोरी से साबित दोना सौ दर्जे अच्छा।

शायद कोई 'तर्कालु' बीच में ही पूछ बैठे कि, साबित कटोरी तो सब से अच्छी ? मैं साफ़ कहूँगा—नहीं, भाई! पानी पीने का जह तक ताल्लुक है, वहां तक तो साबित द्रोण और साबित कटोरी दोनों एक-से—दोनों बराबर। और ज़रा तीखी आँखों से देखें, तो वह धात की कटोरी घात की चीज़ बन जाती है। कटोरी की छाती में एक और ही धुकधुकी लगी रहती है—'मुझे कोई चुरा तो नहीं ले जायगा ?' दोने के पास इस भय का होना असम्भव है; अत: वह निर्भय है।

फिर कटोरी और साबित का योग ही दुर्मिल होता है। रामदास के शब्दों में, जो बड़ा सो चोर। ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े हैं, कि आदमी बड़ा हो और उस पर प्रभु फ़िदा हो। क़रीब-क़रीब ऐसे उदाहरण हैं ही नहीं। और जो कहीं और कभी दीख पड़ें, तो ऐसे कि जन्म का बड़ा, किंतु बड़प्पन का टाट उलटकर—अत्यन्त दीन होकर—भगवान के शरण पड़ा हुआ।

हरिजन-सेवक] श्री विनोवाजी, वर्धा

* * *

गौरीशंकर से भी ऊँचा !!!

और यह कौन नहीं जानता कि वह डेढ़ पसली का बूढ़ा हिमगिरि के उत्तुङ्ग गौरीशंकर शिखर से भी अधिक ऊँचा है। उसकी हर-हर अदाओं में एक मोहकता है, एक आकर्षण है, एक महानता है। गान्धी का पन्थ अटपटा है। उस का व्यक्तित्व दुरूह है। उसके विचार और कर्म प्रेरणा-मूलक हैं। उसकी

अपनी शैली है। वहां तर्क और बुद्धि की गति नहीं है। जैसा कि हम कह चुके हैं, वह तर्क नहीं है, वह बुद्धि नहीं है, वह शास्त्र नहीं है, वह तत्वज्ञान का कोई सम्प्रदाय नहीं है। वह तो साधना है, साक्षात्कार है, अनहद अन्तर्नाद है और लोकोत्तर ऊर्ध्व गति है। इस लिये उसके कर्म केवल तर्कवाद के सिद्धान्तों से नहीं नापे जा सकते। हिमालयवत् भूधराकार उस की भूलें, भूलें शुमार की गईं, सिर्फ़ इसलिए कि उसने स्वयं अपने कार्यों को भूलों के नाम से सम्बोधित किया है।

साधारण तौर पर देखने से तो मालूम पड़ता है कि गांधी अच्छा नेता नहीं है। यह क्या कि लड़ाई छेड़ी और बन्द कर दी? और यह भी कैसा नेता कि वस्तुस्थिति को समझता ही नहीं है? लोग हिंसा कर बैठे और लड़ाई बन्द! लोग—यानी कार्यकर्त्ता गण सत्याग्रह का तत्व नहीं समझ पाये तो लड़ाई बन्द! इस तरह अगर लड़ाई बन्द होती गई तो हम तो लड़ चुके! और फिर अगर महात्मा गान्धी इतनी-देर में वास्तविक परिस्थिति समझ पाते हैं तो फिर उन पर विश्वास कैसे किया जा सकता है? लोग अक्सर इस तरह की बातें कह देते हैं। जो लोग इस प्रकार सोचते हैं उन्हें याद रखना चाहिये कि हमारे देश को एक ऐसी विभूति से पाला पड़ा है जो मानव-समाज को नारायण-समाज में परिवर्त्तित करने का स्वप्न देखता और तदर्थ अपने जीवन के सब काम करता है। जिन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिनकी हिये की खुल जाती हैं, उनकी बातों पर विचार करने के लिए आलोचकों को भी अपनी अन्दर की आंखें खोल लेनी चाहिए।

पर, गान्धी का यह निर्णय बड़ा भयानक भी है। एक जगह पर उसने लिखा है—'विशुद्ध सत्याग्रह का दोनों—आतङ्कवादी और सरकार—के हृदयों पर प्रभाव पड़ना चाहिए। इस सिद्धान्त की सत्यता की जांच करने के लिए यह आवश्यक है कि सत्याग्रह, एक समय पर, केवल एकही सुपात्र व्यक्ति तक सीमित रखा जाय। अभी तक यह अग्नि-परीक्षा की ही नहीं गई है। अब परीक्षा की जानी चाहिए।' इन वाक्यों में गांधी ने एक बड़े रौद्र रूप-मय भैरव सत्य को रख दिया है। जब हमने ये वाक्य पढ़े, तभी हमारे मन में यह प्रश्न उठा कि क्या गांधी अपने प्राणों की बाजी लगा कर, और इस प्रकार शुद्ध सत्याग्रह का उदाहरण उपस्थित करके, सरकारी अफ़सरों और आतङ्कवादियों के हृदयों को परिवर्तित करने का भीषण प्रयत्न करने जा रहा है? हमें तो उसके वाक्य बहुत चिन्ता में डाले हुए हैं। क्या वह अपने प्राणों पर खेल जायगा? क्या वह स्वयं विशुद्ध निर्मल सत्याग्रह को चरमता तक पहुँचा कर महा-यात्रा करेगा? इन विचारों से हृदय दहलने लगता है। हम गांधी के देशवासी होने के योग्य नहीं है। वह लगन, वह निष्ठा, वह सतत चटपटी, वह सतर्कता और वह जागरूकता कहां है? और हम गांधी के शव पर चढ़कर स्वराज्य नहीं चाहते। हम उसके नेतृत्व में अपनी ध्येय-प्राप्ति करना चाहते हैं। इस लिए हम उस महापुरुष से प्रार्थी हैं कि यदि उक्त पंक्तियों के लिखते समय उसके मन में कोई ऐसा भैरव विचार रहा भी हो तो वह उसे कदापि कार्यरूप में परिणत न करे। अगर गांधी मरता है तो फिर कौन जन-समूह जीवित रहा कहा जा सकता है?

क्या वह नहीं जानता कि वही हमारी धरोहर है? उसके एक एक शब्द हमारे सदृश जड़ जीवों को उत्प्राणित और उद्यमित कर देते हैं। उसकी गम्भीर कण्ठ-ध्वनि आज भी देश के आकाश में हिलोरें पैदा कर देती है। उसके नवजीवन सन्देश ने देश को अमृतत्व का ज्ञान कराया है।

आज भी उसमें यह शक्ति है कि उसके अंगुलि-निर्देश-मात्र से सहस्त्रों नर-नारी गतिमय बनजाते हैं।

जहां वह भैरव और रुद्र का भयंकर और प्रलयंकर का रूप है वहीं वह लालित्य और सौष्ठव का, शंकर और मंगलकर का भी प्रतिरूप है। कलाओं की प्रत्येक दिशा में उसकी गति है। वह ऐसा जादूगर मूर्तिकार है कि उसने हमारे सदृश प्रस्तर-खण्डों में भी प्राण फूँक दिये। वह ऐसा नर्त्तक है कि उसने दुनिया के एक पंचमांश को अपनी अद्‌भुत ताल पर नचा दिया। वह ऐसा कवि है कि उसने जड़ शब्दों को भी धन्य कर दिया है। वह उत्कट कलावित्, विकट नट, उद्‌भट सूत्रधार, एवं अटपट रहस्यवादी हमको क्षण क्षण में जीवनदायिनी कला की अलख-झलक अपलक झांकी दिखाता रहता है। आज उसने जिस महानता, विशालता, परिस्थिति-दर्शन, समर्थता, त्याग, तपस्या और आत्मनिमज्जन का परिचय दिया है, उससे देश अवश्यमेव बहुत आगे बढ़ जायगा। सत्याग्रह को इस समय स्थगित करके महात्मा ने देश का अनन्त उपकार किया है। पर; हम उसके प्राणों के मोल स्वराज्य भी नहीं चाहते। 'किं नो राज्येन गोविन्द ? भोगैः ? किं जीवितेन वा ?

प्रताप] बालकृष्ण शर्म्मा

* * *

वर्णाश्रमधर्म हिन्दू-संस्कृति की शान है

मनु ने हरेक मनुष्य के लिये जीवन के चार भाग नियत किये हैं। हर भाग के कर्तव्य भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार समाज के व्यक्तियों की योग्यता को देख कर वह चार भागों में विभक्त किया गया। बहुत से लोगों का कर्तव्य तो केवल सेवा ही नियत किया गया। उस से अगला दर्जा धन कमानेवालों का आया। तीसरा दर्जा शक्तिशाली लोगों का जो शासन करें और चौथा ब्राह्मणों का जिन का काम ज्ञान-प्रसार था। ब्राह्मण की स्थिति समाज में प्रकाश फैलानेवाले दीपक के समान थी। वे पाप और अपराध से ऊपर थे इस लिये उन को कोई दण्ड न दिया जाता था। यहाँ तक कहा जाता है कि यदि किसी गाँव में आग लग जाय तो सब से पहले ब्राह्मण को बचाना आवश्यक है। ये सब क़ानून इसलिये नहीं बनाए गये थे कि मनु ब्राह्मणों के साथ रियायत करना चाहते थे बल्कि इस लिये कि ब्राह्मण सचमुच सुपरमैन के दर्जे तक पहुँच चुके थे। ब्राह्मण पिरामिड की उस शानदार चोटी के समान था जिस पर आँधियाँ और बादल आते हैं; परन्तु वह सब को अपनी निराली-शान के साथ सहन करता है और साथ ही अपनी चमक दिखाता रहता है। इस पिरामिड की नींव बहुत विस्तृत थी। इस संस्थान को वर्णाश्रमधर्म नाम दिया गया। यह संस्थान हिन्दू-संस्कृति का प्राण है। उसकी शान है।

सरस्वती] भाई परमानन्द, एम्० ए०

* * *

सच्चे सेवक की भावना

आज राष्ट्रभाषा के भीतर से जिस राष्ट्र का उत्थान अपेक्षित है, वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों आदि किसी भारतीय जाति अथवा धर्म का राज्य नहीं; उस के आराध्य राम या कृष्ण नहीं— विशेषतः उन रूपों में जिन का अधिकांशजनों में आज तक समादर रहा है। जिस प्रकृति ने हिन्दुओं के प्राचीन हाथीचिङ्घाड़-सम्मेलन का एक-एक तार सहस्रों संघातों से कूट कूट कर अलग कर दिया है, वही उसकी बनी रस्सी से स्वार्थमुग्ध पशुओं के बांधने की ओर पुनः पुनः

इंगित भी कर रही है। अब इन कूटे हुए तारों में ब्राह्मण तार और क्षत्रिय तार चुन चुन कर रस्सी बटना अस्वभाविक है और मूर्खता भी। तारों को गुण धर्म-समता को समझने वाला ऐसा नहीं कर सकता। यह समय का व्यर्थ व्यय होगा। यही भावना राष्ट्र-भाषा के सच्चे सेवक की होनी चाहिये।

सरस्वती] सूर्यकान्त त्रिपाठी

* * *

अमरीका का वृद्ध युवक

आमतौर से वृद्ध लोग अपनी युवावस्था की शारीरिक बल की बातें सुनाया करते हैं परन्तु अमरीका निवासी स्टीफन. ए-क्लार्क ने ७०वीं वर्ष-गाँठ मनाते हुए कहा कि आज मैं ६० वर्ष की आयु की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हूँ। ६०वर्ष की उमर में ३० साल की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य अनुभव करता था। यद्यपि अमरीका में यंत्रयुग का ज़ोर है परन्तु मि० क्लार्क अब भी लोहार का काम करता है।

एक अमरीकन मि० क्लार्क को मिलने गया। मिलने पर मि० क्लार्क ने निम्न-लिखित बल प्रयोग दिखाया। एक बारह इंच लम्बी ३ सून की लोहे की शलाका ली। और दोनों हाथों के ज़ोर से उस शलाका को घोड़े के नाल की आकार का बना दिया। एक दूसरी शलाका ५ फीट लम्बी ५ सून की ली। उस के ठीक बीच में रबड़ का एक छल्ला अटकाया। उस स्थान से शलाका को मुँह से पकड़ा। आए हुए दर्शक के देखते २ मस्तक पर उस को ले गया और ताम्बे की तार की भान्ति उसे टेढ़ा करके फेंक दिया।

दर्शक को वजन उठाने का खेल दिखाने के लिये अपने १६ साल के पोते को बुलाया, उसे अपने कन्धे पर बैठाया। और एक ५ फ़ोट लम्बा दण्डा अपने दोनों हाथों से पकड़ा और उसके दोनों हिस्सों पर २५, २५ वर्ष के दो नवयुवकों को बैठाया। स्वयं शरीर सीधा कर तीनों मनुष्यों को मनुष्याकृतित्रिभुज की शक्ल में लेकर खड़ा हो गया। तीनों मनुष्यों का बोझ मिला कर ४७० पौण्ड था। इतनी वृद्धावस्था में इस शक्ति का संचय कैसे किया। इसकी कथा उस वृद्ध पुरुष ने इस प्रकार सुनाई है—

"अगस्त १८६२ ई० में मेरा जन्म इंडियाना स्थान में हुआ। उसी वर्ष युद्ध में मेरे बड़े सम्बन्धी मारे गये थे। माँ को बच्चों का तथा खेती का बोझ उठाना पड़ा। १० साल की उमर में मुझे एक तरखान के पास शागिर्द बनाकर बैठाया। वह मेरे साथ सख्ती से पेश आता था। कारीगर इतना सख्त काम कराता कि मेरी जगह और कोई होता तो वह मर ही जाता। परन्तु इससे धीरे धीरे मेरी सहन-शक्ति बढ़ने लगी। मैं कुश्ती बॉक्सिङ्ग के खेलों में भी शामिल होने लगा। २० साल की उमर में मैं लोहार बन गया।

"इस के बाद १८९६ ई० में मैंने पोलिस में नोकरी की। ६ साल तक बदमाशों को सफलता-पूर्वक पकड़ने में नामवरी हासिल की। इस के बाद मैं फिर अपने लोहार के धंधे में लग गया।

"इस शारीरिक सामर्थ्य का मुख्य कारण नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करना है।

"मैं नशा-तम्बाकू को कभी नहीं छूता नियम पूर्वक भोजन करता हूँ और नियम पूर्वक सोता हूँ। कभी बुरी संगत में नहीं बैठता। तुम शायद ख्याल करो कि कच्चा मांस खाने से मैं इतना शक्तिशाली बना हूँ, यह भी ठीक नहीं। यद्यपि मैंने मांस न खाने की प्रतिज्ञा नहीं की परन्तु मैं नहीं के बराबर ही खाता हूँ। मधु, सब प्रकार का अनाज, ताज़े फल, कच्ची भाजी, दूध, तथा कभी २ चाय का भी सेवन करता हूँ। पानी दिल भर कर पीता हूँ। इस के इलावा भूख रख कर भोजन करता हूँ। और ६ घण्टों से ज़्यादा सोता नहीं।"

(केसरी)

प्रश्न है—क्या करूँ ?

[ले०—*श्री जैनेन्द्रकुमार*]

मुझ पर बहुतों की कृपा है। इस के लिये मैं परमात्मा और उन सबका कृतज्ञ हूँ। पर उन सब को सन्तुष्ट कर पाऊँ, ऐसा मुझ से नहीं बनता। तब सोचता हूँ, क्या करूँ ? हितैषियों की कृपा और सद्भाव से वञ्चित मैं अपने को नहीं बनाना चाहता। लेकिन यदि मैं आज्ञा-पालन करने में असमर्थ सिद्ध होता हूँ तो क्या मैं उनसे आशा कर सकता हूँ कि वे मुझ से अपनी आज्ञा का पालन नहीं माँगेंगे ? क्या मैं आशा करूँ कि उनसे असहमत रहूँ फिर भी वे मुझ पर कृपालु रहेंगे ?

\+ + +

काम के लिये मेज़ पर बैठा ही था कि एक सज्जन आये। कई बार मैंने सभाओं में उन्हें देखा था। अच्छे वक्ता थे, स्थानीय सनातनधर्म-संस्था के स्तम्भ थे। मेरा उनका यह परिचय नवीन था।

उन्होंने कहा—'उस दिन मैंने आपका भाषण सुना। सोचा, मैं आपसे मिल लूँगा। आप तो सनातनधर्म के सिद्धान्तों को माननेवाले मालूम होते हैं। फिर शिखा-सूत्र क्यों धारण नहीं करते ? आज क्या ज़रूरत नहीं है कि मालूम हो कि कौन मुसलमान है और कौन हिन्दू ?

मैंने कहा—'क्या इसी के लिये आपने कष्ट उठाया ? शिखा सूत्र नहीं है, यह जानता हूँ। पर, इस कारण अच्छा बनने में मुझ में कुछ अक्षमता रहती है, ऐसा बोध मुझे नहीं है। लेकिन, कहिये मैं और आपकी क्या सेवा करूँ ? ठण्डाई मँगाऊँ ?'

बोले—'भारतवर्ष में हिन्दू हैं, नहीं तो अहिन्दू हैं। व्यक्ति को तय कर लेना होगा कि वह क्या है ? शिखा सूत्र, हिन्दू-अहिन्दू के बीच की रेखा है। आप उससे उदासीन नहीं रह सकते।

किन्तु मुझ में तत्-सम्बन्धी विशेष जागृति नहीं हुई। मैंने चाहा कि बताइये मेरे लिये क्या आज्ञा है, सेवा के लिये मैं प्रस्तुत हूँ। चोटी की बहस के मामले में मैं हारता हूँ। क्या यह सम्भव हो सकेगा कि वह मुझे अपने अनुसार ही रहने देवें ?

पर उनका भी मत स्पष्ट था। बिना शिखा-सूत्र मैं भ्रष्ट रहूँगा, म्लेच्छ रहूँगा। फिर नरक में ही मुझे ठौर होगा और वह मेरे सम्बन्ध में निराश नहीं हैं। मुझ पर स्नेह रखते हैं। कैसे अपनी आँखों के सामने वह यह सहन करें कि मैं नरक के योग्य रहूँ। उनके प्रेम का तक़ाज़ा है कि वह मेरा उद्धार करें।

अब, क्या उनकी चिन्ता और प्रेम के लिये मैं उनका ऋणी न रहूँ ? किन्तु करूँ क्या ? मैंने कहा—महाराज, क्या और कुछ मेरे लिये सेवा नहीं बता सकते, जो मुझ से हो सकेगी ?

वह अत्यन्त निस्वार्थ सदाशय थे। मेरा उपकार ही चाहते थे। पैसा उन्हें दरकार न था। मेरी श्रद्धा उन पर अटूट थी। पर अपने से इंकार कर दूँ, इतना असत्य मुझसे न हो सका और प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में मैंने उनसे यही चाहा कि वह मुझे मुझ पर ही छोड़ दें।

मैंने अन्त में पाया, वह रुष्ट हो गये हैं। मेरे यहाँ का जलपान उन्हें स्वीकार न हुआ, और वह मुझे तज कर चले गये।

तब मैं अपने काम में लगने को झुका।

\+ + +

कुछ देर बाद एक और महाशय आये, बात-चीत आरम्भ करके बोले—'तो क्या आप आर्य समाजी नहीं हैं?'

मैंने कहा'—हूँ तो नहीं, पर कहिए।'

कहने लगे—'बड़े खेद की बात है।'

'मैंने माना, खेद की बात हो सकती है। पर मुझसे और कोई सेवा लेने की आज्ञा कृपया मुझे नहीं देंगे?

पर वह सबसे पहले यह चाहते थे कि बहस करके मैं उन्हें बतला सकूँ कि समझदार होकर मैं किस प्रकार आर्य-समाजी होने से बच सकता हूँ। हाँ,—उन्होंने कहा—ज़िद का इलाज उनके पास नहीं है। पर यह निश्चय है कि यदि आर्य-धर्मी मैं नहीं बन सकता तो अब से मेरी समझदारी पर उन्हें शंका पैदा होगी।

मेरे लिये अपनी समझदारी पर अहङ्कार का मौक़ा नहीं है। पर अपनी अज्ञानता को जानकर भी अपने ही प्रति विरुद्ध और विरुद्धाचारी बनूँ, इतना दम्भ मुझमें नहीं है।

आर्य-समाज-धर्म कल्याणकर है, सत्य है और जो-कुछ भी वह कह सकें, सब है। उनके वक्तव्य में मेरे लिये आपत्ति का तनिक भी अवकाश नहीं है। पर अपनी असमर्थता का मैं क्या बना सकता हूँ? निवेदन करने को मेरे पास अपनी लाचारी ही थी। और मैंने कहा, एक कम आर्य-समाजी भी रहा, तो जितना दुनिया का नुक़सान होगा, उसके प्रति वह सहनशील रहें, क्योंकि वह नुक़सान बहुत नहीं होगा।

पर उन्होंने भी मुझ पर तरस नहीं किया, रोष ही किया। और जब मेरे सम्बन्ध में निरे-निराश होकर वह चले गये तब मैं भी तनिक खिन्न हुआ, और फिर मेज़ पर झुका—

\+ + ÷

एक जैन-विद्वान् की कृपादृष्टि कुछ दिनोंसे मुझ पर थी। कुछ देर बाद वह पधारे। उन्हें भरोसा था कि मैं जैन हूँ, और अभव्य नहीं हूँ। वह चाहते थे कि मैं जैनत्व में प्रगाढ़ता प्राप्त करूँ।

मैंने बताया कि मैं नहीं जानता कि मैं कितना जैन हूँ। क्या उन्होंने कभी मुझे अपने को जैन कहते पाया है?

किन्तु यही उनका बिन्दु था। जैनधर्म ही तो धर्म है, और वह मुझे धारण रखना होगा। और गौरव के साथ प्रगट करते रहना होगा कि मैं जैन हूँ।

मैंने जानना चाहा कि वैसा करने में अशक्त होऊँ तो फिर उनके पास मेरे लिये कहाँ जगह है? उन्होंने बताया कि जो जैन नहीं वह अजैन है; अर्थात्, मिथ्यात्वी है। जब तक वह नरतन मे है तब तक वह उसे कलंकित ही करना है। इस योनि से छूटकर फिर उसे नरक अथवा तिर्यग् योनि में ही स्थान मिलेगा।

नरक में जाने, अथवा तिर्यग्योनि से डर कर, क्या मैं आज अपने साथ झूठा आचरण करूँ? मैंने यही पण्डितजी से कहा—'नरक आयेगा तो झूठ बोलकर उससे मैं अपने को कैसे बचा लूँ?' यह कहकर इस बारे में मैंने उनसे क्षमा चाही।

किन्तु उन्हें मेरा अपकार किसी भाँति स्वीकार न था। मानव देह पाकर मैं उसे जैनधर्म के अमृत

से वञ्चित रक्खूँ, यह पण्डितजी कभी न होने देंगे। प्रेम के ताडन के अधिकार को भी वह क्यों न मेरे ऊपर बरतें और मुझे सन्मार्ग पर लावें ? मैंने चाहा कि वह अवश्य ऐसा करें, किन्तु, मैंने कहा कि, यदि मैं अन्त तक असुधार्य ही रहा, तो भी अपना स्नेह वह मुझ पर से कृपया न उठा लें।

चर्चा ख़ासी देर तक चली। पर अपने भाग्य को क्या करूँ ? वह बेहद गर्म होकर मेरे यहाँ से विदा होकर गये।

और, मैं फिर मेज़ पर झुका—

\+ + +

उस दिन जान पड़ता है, काम होना ही न था। उसी रोज़ एक मुसलमान महरबान भी आये; ईसाई पिता भी आ गए। भोजन के समय को लांघकर मैं उनके साथ ही बैठा रहा। उन सब की शुभाकांक्षा का मूल्य मैं जानता हूँ। उनकी कृपा को मैं अपने बस कभी खो नहीं सकता। मैंने उनको कहा कि वे मेरे पूज्य हैं। मेरे प्रति अपने में वे क्षमाभाव शेष रहने दें। यदि उनकी आज्ञा को ज्यों-का-त्यों पालने में असमर्थ हूँ तो भी उनका ऋणी हूँ। उनके वक्तव्यों में मुझे आपत्ति की अथवा आलोचना की गुंजाइश नहीं है। न समझें, मैं मुसलमान होने का, या ईसाई होने का इच्छुक नहीं हूँ। पर कुछ कहलाया जाऊँ और वही कहलाया जाऊँ, इसका आकर्षण मुझे नहीं है। पर, इस कारण वह मुझे अपने से दूर बिल्कुल न मान लें।

\+ + +

पर वे लोग भी अतिशय अप्रसन्न होकर ही यहाँ से गए। और फिर मैं मेज़ पर झुका—

लेकिन, अब मेज़ पर झुक कर क्या करना है। बारह बज चुके हैं। मैं नहीं जानता कि मुझे हक़ है कि मैं उन सब की सदभिलाषाओं को वापिस कर दूँ। लेकिन क्या करूँ, यह और भी नहीं जानता।

ख़ैर, क्योंकि बारह बज गए हैं, इससे मुझे इजाज़त दीजिये कि मैं भोजन पाऊँ।

स्नातक-बन्धुओं से

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि स्नातक-मण्डल ने निश्चय किया है कि 'अलंकार' के साथ साथ परिशिष्ट-रूप में प्रति तीसरे मास 'कुलबन्धु' नाम से कुछ पृष्ठ सब स्नातक भाइयों के पास भेजे जाया करें। इस 'कुलबन्धु' त्रैमासिक में स्नातकों के अपने निजू समाचार हुआ करेंगे। अतः सब स्नातक भाइओं से प्रार्थना है कि वे मुझे अपने समाचार निम्न पते पर भेजने की कृपा करते रहें।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

मन्त्री, स्नातक-मण्डल,

विश्व-साहित्य-ग्रन्थमाला,

मैक्लेगन रोड, लाहौर।

अन्वेषण

(श्रीयुत उदयशंकर जी भट्ट)

अरे, झुटमुटा हुआ चाहता है न तनिक भी देरी
उस झुरमुट से बढ़ी आ रही दल बल साज अँधेरी

आँखें पथरा गईं हृदय की तुम्हें खोजते मेरी
अन्तस्तल के कंकालों में होती हेरा-फेरी

दुखियों के आँसू में केवल तुम्हीं छलछला आते
सुना यही उनसे जो तुम पर पागल प्रान गवाँते

किन्तु न उनकी कसकों में तड़पन में तुमको देखा
अट्टहास में दुख ताण्डव के मिली न कोई रेखा

किन्तु नहीं तुम कहाँ मिले हो बोलो कहाँ मिलोगे
जीवन के मीठे सपनों की हँसकर भेंट न लोगे ?

रोज रुपहली रातों में तारों से तुमको पूछा।
हिमकर से, दिनकर से उत्तर पाया नीरस छूँछा,

रोते हुए मेघ से पूछा, हँसती हुई उषा से,
फूलों से, कलियों से पूछा, मन्दस्मयी दिशा से,

प्रातः पथ पर हृदय लुटाता भोले जग का स्वामी
अल्हड़पन की रूप सुधा पी शैशव मिला अकामी

उसके स्मित आनन पर तेरी पड़ी हुई थी छाया
परछाईं पर छाईं पाईं तेरा पता न पाया

अरे, झुटमुटा हुआ चाहता है न तनिक भी देरी।
उस झुरमुट से उठी आ रही दल बल साज अँधेरी

विस्मृति-सागर में यौवन के ज्वर ने मुझे धकेला
कहीं किनारे का न पता है मैं आपड़ा अकेला

गर्भजाल से मुट्ठी में यह हृदय समेटे आया
बिखरा यहीं चला जाऊँगा काया उड़ती छाया

आओ, मैं हारा तुम जीते आँख मिचौनी होली
अब तो हँसकर आगे आओ करो न और ठठोली

अरे, झुटमुटा हुआ चाहता है न तनिक भी देरी
उस झुरमुट से बढ़ी आ रही दल-बल साज अँधेरी

हमारे राष्ट्रीय शिक्षणालय

(१) गुरुकुल काँगड़ी

आचार्य देवशर्माजी की गुरुकुल-काँगड़ी से विदाई

[गुरुकुलोत्सव के बाद जब आचार्य देव शर्माजी ने गुरुकुल का कार्य छोड़ा तो उन्होने यद्यपि रिवाजी अभिनन्दनपत्र नहीं लिया परन्तु उनके अन्तिम वचन सुनने के लिए इकट्ठे हुए सब ब्रह्मचारियों को उन्होने जो शिक्षाप्रद भाषण किया वह निम्नलिखित है]

प्रिय ब्रह्मचारियो !

पहिले तो मुझे तुमसे उस बात के लिये क्षमा माँगनी है जिसे इस तरह कहा जाता है कि मैंने तुम से अभिनन्दन पत्र लेना नहीं स्वीकार किया। असल में मैंने केवल अभिनन्दन पत्र की बेजान रस्म में पड़ने से इनकार किया है। तुममें जो कुछ मेरे प्रति प्रेम है वह मुझे पहुँच गया है। केवल उसकी अभिव्यक्ति को उस ढंग से होने को मैंने नापसन्द किया है। जितना सूखा मैं दीखता हूँ उतना सूखा मैं नहीं हूँ। मैं काफ़ी रसीला और प्रेम करनेवाला हूँ। मैं स्वभावतः भावुक भी हूँ। तो भी मैंने अपने पुराने जन्मों की परम्परासहित इस जन्म के ३६ वर्षों तक इस संसार में रह कर जो कुछ सीखा है उसका एक बहुमूल्य पाठ यह है कि प्रेम में जब आसक्ति आ जाती है तो प्रेम अपने प्रयोजन को नष्ट कर देता है। प्रेम यदि आसक्त हुये बिना फैलता बढ़ता जाय तभी वह अपने प्रयोजन को पूर्ण करता है। इसलिये अनासक्त-सा देख कर यह न समझो कि मैं प्रेम से शून्य हूँ। मैंने तुम्हारे प्रेम को अपने हृदय में खूब अच्छी तरह सँभाल करके रखा है, मैं उसे यूँ ही प्रकाशित कर खर्च नहीं कर देना चाहता। परमेश्वर चाहेंगे तो यह संगृहीत प्रेम क्रिया-शक्ति में परिवर्तित होकर तुम्हारी कुछ सेवा में व्यय होगा। यही बात मैं तुमसे चाहता हूं। इसीलिये मैंने अभिनन्दन-पत्र लेने की निर्जीव रस्म के अदा किये जाने को पसंद नहीं किया। एक काग़ज़ पर यह लिख कर दे ही दिया जाया करता है कि आप ऐसे हैं, आप वैसे हैं। पर मैं तो चाहता हूँ कि यदि तुम्हें मुझ से प्रेम है तो उसे सँभाले रक्खो। उसे समय पर सक्रिय जीवित रूप में प्रकट करो। इस रस्म को मैं निर्जीव इसलिये भी कहता हूँ चूँकि अभिनन्दन-पत्र में केवल बड़ाई की जाती है, निन्दा नहीं की जाती। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुममें बहुत-से मुझ से उतना प्रेम नहीं रखते हैं जितना कि दिये जाने वाले अभिनन्दन-पत्र में दिखाया जाता। बल्कि कुछ तो शायद मन मन में कह देते होंगे कि अच्छा हुआ कि देवशर्मा आचार्य हट गया। जिसने समय समय पर तुम्हारी बहुत-सी इच्छाओं को रोका है, उसके प्रति ऐसे भाव होना तुम्हारे लिये स्वाभाविक है। वैसे तो सदा सबका कल्याण करने वाले परमेश्वर के भी दुनिया में थोड़े ही भक्त होते हैं, तो हमारे जैसे मनुष्य जो कि (न जानते या जानते हुए

अहित भी कर देते हैं उनसे किसी की अप्रीति न होवे यह कैसे संभव है। इसलिये मैं कहता हूँ कि मेरी बड़ाई का अभिनन्दन-पत्र देना एक निर्जीव रस्म होती। इस समय मेरा ठीक अभिनन्दन हो रहा है। तुम्हारा प्रेम यथोचित रूप में मुझे पहुँच रहा है। असल में प्रत्येक मनुष्य अपने बनाये संसार में रहता है। इस लिये तुम सबने देवशर्मा की अपनी अपनी कल्पना कर रक्खी है, उसी अपने रूप में तुम मुझे देखते रहे हो और इस समय देख रहे हो। मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि प्रत्येक ब्रह्मचारी आज मुझे अपने अपने प्रेम के अनुसार अपने भावों से रँगा हुआ, अपने अपने ढंग से सजाया हुआ मौन अभिनन्दन पत्र दे रहा है और मैं उसे प्रेम-युक्त होकर स्वीकार कर रहा हूँ। इसलिये कोई यह न माने कि मैंने तुम्हारा अभिनन्दन-पत्र नहीं स्वीकार किया। मैंने तुम्हारा जीता जागता अभिनन्दन-पत्र ले लिया है। मेरे इन भावों को जानते हुए मैं आशा करता हूँ कि मुझे वे क्षमा करेंगे जो मेरे अभिनन्दन-पत्र न लेने के कारण दुःखी हुए हैं।

अब रही विदाई! हरेक मनुष्य किसी दर्शन (Philosophy) के साथ इस संसार में रहता है। मैं जिस भाव से संसार में बसता हूँ उसके अनुसार मुझे तो यह लगता है कि परमात्मा ने मेरे विकास के लिये दो वर्ष तक तुमसे आचार्य सम्बन्ध से जोड़े रखना था। वह अब पूरा हो गया। इससे तुम्हारा कुछ भला हुआ हो तो तुम जानो। मैं फिर कहता हूँ कि मैं प्रेमी जीव हूँ। यह गुरुकुल से प्रेम ही है जिसके कारण मैं दूसरे काम में लग कर भी कुल की सेवा के लिये आ गया था। शायद यह बात मैंने पहिले कभी नहीं कही, आज इस पवित्र समय में सुनाता हूँ। जब मैं एकान्त में एक वर्ष रहा हूँ तो वहाँ भी स्वामी श्रद्धानन्दजी की मृत्यु की महत्त्वपूर्ण खबर मुझे पहुँच गई। उस रात्रि एक स्पष्ट स्वप्न में मैंने देखा कि श्रद्धानन्दजी मुझे गंगा के किनारे घुमते हुए गुरुकुल का आचार्य बनने को कह रहे हैं। उस स्वप्न को मैं प्रेम का ही परिणाम समझता हूँ। अतः जब मैंने आचार्य बनना स्वीकार किया तो मन में यह भी था कि मैं पूज्य कुलपिता जी की आज्ञा-पालन कर रहा हूँ। गुरुकुल से मुझे प्रेम तो इतना है कि मुझे किसी महात्मा ने कहा है कि मेरे मर जाने के बाद भी मानसिक शरीर में रहते हुए मेरा मानसिक तौर से गुरुकुल से संबन्ध जुड़ा रहेगा। तो ऐसे प्रेमी आदमी की गुरुकुल से जुदाई क्या होगी? गान्धीजी ने भी मुझे लिखा है कि अब गुरुकुल से निर्मल आध्यात्मिक सम्बन्ध बनाए रखना। उनके 'आध्यात्मिक संबन्ध' इस शब्द से मुझे ऊपर की दो बातें याद आ गई हैं। गुरुकुल से तो परमेश्वर चाहेगा तो संबन्ध बना ही रहेगा, पर यदि तुम—तुम्हारी आत्माएँ—चाहेंगी तो तुम से भी सम्बन्ध बना रहेगा। पर एक बात के लिए मैं तुम्हें सावधान किए देता हूँ वैसे तो सदा ही इस नियम का पालन करना चाहिए कि दूसरे के विषय में सुनी बुरी बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि मेरे विषय में भी तुम इसे बरतोगे तो मैं सहज ही में तुम्हारा प्रेम-पात्र बना रहूँगा। यह बात मुझे इसलिए याद आ गई है कि मुझे अनुभव है कि स्वामी श्रद्धानन्द तक के चले जाने के बाद उनके विषय की ग़लत अश्रद्धा-जनक बात सुनकर हमें उनके प्रति अश्रद्धा होने लगी थी। अस्तु, कहने का

मतलब यह है कि तुम भी प्रेम में बाधा न आने देना, तो सब ठीक रहेगा। विदाई की कोई बात नहीं है। प्रेम-सम्बन्ध के लिए देश और काल की भी दूरी, दूरी नहीं होती।

तुम जाते समय मेरे अन्तिम वचन सुनने के लिए इकट्ठे हुए हो। कहता तो मैं तुम्हें बहुत रहा हूँ। कोई बात कहने को छोड़ी नहीं है। उन्हें तुम स्वयं दुहरा सकते हो, और आगे भी तुम्हारे हित की कोई बात कहने को मन में आवेगी और कहना संभव होगा तो उसे कहने से चूकूँगा नहीं। तो फिर इस समय और क्या कहूँ? इस विशेष अवसर पर तुम कुछ विशेष भाव से बैठे हो इसलिए एक बात अन्तिम बात के तौर पर कहे जाता हूँ।

परन्तु उसके कहने से पूर्व मैं एक और बात इसलिए कह देता हूँ चूँकि इस समय यहाँ तुम्हारे नए पूज्य आचार्यजी भी उपस्थित हैं। मान्य पण्डितजी बहुत सी बातों में मुझ से ऊँचे हैं। अँगरेज़ी की योग्यता में और विशेषतः उसके लिखने की योग्यता में मेरी उनसे कुछ तुलना नहीं है। मैं अँगरेज़ी के एक-दो वाक्य भी बोलते व लिखते अशुद्धि-भय से डरता हूँ। आप का विविध प्रकार का अध्ययन मुझसे बहुत अधिक है। अध्ययन की दृष्टि से तो शायद मैं आचार्य (Principal) बनने योग्य ही न था। और सबसे बढ़कर आप में जो निर्णायक बुद्धि, सूक्ष्म विवेचन बुद्धि, मैंने सदा सब अवसरों पर देखी है वह मेरे लिए आश्चर्यकर और उनके प्रति सन्मान पैदा करनेवाली है। इसी तरह उनके और गुण गिना सकता हूँ। तो भी मैंने उनसे कहा है कि मेरे चले जाने पर गुरुकुल में राष्ट्रीयता की रक्षा करने की ज़िम्मेवारी उन पर विशेषतया आ पड़ी है। राष्ट्रीय भावों में उत्साहन देने वाले लोग एक के बाद एक चले गए हैं। देवराज जी सेठी गए, मास्टर विश्वम्भर सहाय जी गए और अब मैं भी जा रहा हूँ। आचार्य रामदेव जी भी जा चुके हैं। अतः तुम्हें ध्यान रखना चाहिए कि गुरुकुल में राष्ट्रीयता के भाव नष्ट न हो जावें। वर्तमान काल में राष्ट्रीयता के द्योतक खद्दर, राष्ट्रीय-झण्डा आदि वस्तु कम न होने पावें। धर्ममय राष्ट्रीयता रखने वाले कोई सज्जन गुरुकुल में आवें तो तुम उनसे सदा लाभ उठाते रहना। मैं राष्ट्रीयता की उपासना करने को तुम्हें इसलिए कहता हूँ कि मैं देखता हूँ कि आज-कल आत्म-विकास करने का यह सबसे स्वाभाविक उपाय है। इस गुलाम देश में उत्पन्न हुए हम, स्वाधीन होने का यत्न करते हुए ही आत्मोन्नति पा सकते हैं। देश-भक्ति के मार्ग से ही हमें सुगमतया परमेश्वर-भक्ति को समझ सकते हैं। भारत की सच्ची स्वाधीनता में ही भारतवासियों को परमेश्वर मिल सकता है। अस्तु, यह तो मैंने तुम्हें नवीन आचार्य जी की उपस्थिति के कारण कह दिया, पर मेरा जाते समय जो तुम्हें कहना है वह कुछ और है। तुम जानते हो कि मैंने गुरुकुल में यह प्रथा डालनी चाही थी कि तुम बड़े ब्रह्मचारी अपने जूठे बरतन अपने आप माँज लिया करो। इसके लिए मैंने काफ़ी तपस्या की है। मैं जाते समय चाहता हूँ कि तुम इस प्रथा को अपने यहाँ डालो। ख़ाली बरतन माँजने में कुछ नहीं रखा है। किन्तु इस क्रिया के पीछे जो एक भाव है वह बहुत बड़ा है। उस भाव के बिना गुरुकुल की उन्नति रुक

गई है। अतः मैं इस बात पर इतना ज़ोर देता हूँ। गुरुकुल में बाहिर का कॉलिजपन आ रहा है, सादगी तपस्या आदि गुरुकुलीयता घट रही है इस बात का बहुत-से लोग अनुभव करते हैं और कर रहे हैं। विशेषतया गुरुकुल के उस पार से इस पार आ जाने ने भी गुरुकुल की इस विशेषता के कम करने में सहायता की है। इसलिए इस तपस्या और सादगी में आगे बढ़ने के लिए मैं सबसे प्रथम कार्य तुममें अपने वर्तन स्वयं माँजने की प्रथा डालना देखता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि तुम जाते समय इस बात को पूरा करोगे, मेरा इस तरह सच्चा अभिनन्दन करोगे। मैं तुम्हें मरने के लिए कहता रहा हूँ—अपनी सब इच्छाओं को पूरी तरह मार कर गुरु को समर्पण करने की बात कहता रहा हूँ, पर यह मैंने तुम्हें तभी कहा है जब कि मैं स्वयं अपने आप को मारना खूब जानता हूँ और विशेषतया इस विषय में मैं अपने को कितना मारता रहा हूँ, यह तुम से छिपा न होगा। तो क्या तुम मेरी इस अन्तिम इच्छा को—गुरुकुल से मरते समय की अभिलाषा को (Will को) नहीं पूरा करोगे?

परमेश्वर मुझे तुम सब के प्रेम को सँभालने की शक्ति देवें!

आचार्य देवशर्मा जी के इस भाषण के पश्चात् वर्तमान आचार्य पं० चमूपति जी ने कहा मैं न जाने कितने दिन आचार्य हूँ' पं० देवशर्मा जी के विषय में" My envy and despair' कह कर उनकी प्रशंसा की और ब्रह्मचारियों को उनका आदेश मानने का उपदेश किया।

गुरुकुल कांगड़ी के समाचार

गत मास साहित्य परिषद् की तरफ से गुरुकुल में श्री पं० शुकदेवबिहारी मिश्र, प्रधान बद्रीदास जी तथा केमिकल वर्क्स के श्री विश्वंभर नाथ जी के उत्तम व्याख्यान हुए।

वाग्वर्धिनी सभा की तरफ से श्री० पं० नरदेव जी शास्त्री के सभापतित्व में गुरुकुलीय त्रयोदश 'राष्ट्रीय महासभा' (congress) का वार्षिक अधिवेशन दो दिन तक हुआ। मृत्युओं पर शोक प्रकाशन आदि के आरंभिक चार प्रस्ताव सभापति की तरफ से होने के बाद कौंसिल प्रवेश के बारे में वर्किङ्ग कमेटी के अधीन स्वराज्य पार्टी के खड़े करने का प्रस्ताव पेश हुआ। उस पर स्वयं कांग्रेस ही उम्मीदवार खड़े करे ऐसा एक संशोधन पेश हुआ। वाद-विवाद के पश्चात् संशोधन और प्रस्ताव दोनों ही अस्वीकृत हो गये। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस के रचनात्मक कार्य को सर्व सम्मति से स्वीकृत किया गया। सत्याग्रह-आन्दोलन को स्थगित करने का प्रस्ताव बहुत लंबी गरमागरम बहस के बाद १७ पक्ष और १६ विपक्ष की राय से स्वीकृत हुआ। बम्बई के मजदूरों से सहानुभूति आदि के एक दो अन्य प्रस्ताव भी हुए।

गत मास ब्रह्मचारियों को श्री० स्वा०सत्यानन्द जी महाराज के प्रवचन सुनने का तथा श्री मंजर अली सोख़्ता जी से परिचय पाने का अवसर मिला।

क्रीडा—इस वर्ष ब्रह्मचारी कुश्ती तथा तैरने में विशेष उत्साह से भाग ले रहे हैं। २० मई को सदा की भाँति जो 'पंचपुरी तैरी साम्मुख्य' हुआ

उसमें ब्र० चन्द्रगुप्त त्रयोदश, श्री पं० वासुदेव जी विद्यालंकार तथा ब्र० भगवद्दत्त १४ दश ने क्रमशः पहिले तीन पारितोषिक प्राप्त किये। छोटे ब्रह्मचारिओं में ब्र० रामचन्द्र चतुर्थ श्रेणी, ब्र० अमरनाथ तृतीय श्रेणी को सर्वोत्तम तैरने के पुरस्कार दिये गये। छोटे ब्रह्मचारी प्रातः काल लाठी, भाला, गतका, लेजिम का अभ्यास करते हैं तथा सायंकाल तैरने का आनन्द प्राप्त करते हैं।

ऋतु—गर्मी काफी है, पर गंगास्नान और प्रायः वर्षा होती रहने से कष्टप्रद नहीं है।

——

(२)

काशी-विद्यापीठ बनारस के समाचार

सन् ३२ का आंदोलन प्रारंभ होते ही काशी विद्यापीठ सरकार द्वारा अधिकृत कर लिया गया था। तब से आचार्य नरेन्द्र देव जी, पीठस्थविर बीरबल जी तथा उपा० रामशरण जी आदि सब कार्यकर्त्ता बहुत से छात्रों सहित आन्दोलन में लगे रहे। विहार का भूकंप आने पर विद्यापीठ के मकान भूकंप पीडितों को शरण देने के लिये दे दिये गये थे। अब सत्याग्रह स्थगित हो जाने पर काशी विद्यापीठ से पाबन्दियां हटा लेने के परिणाम स्वरूप ११ जून को सरकार ने उसकी इमारत वापिस करदी है। विद्यापीठ की प्रबन्ध कारिणी सभा ने २६ जून की बैठक में निर्णय किया है कि १७ जुलाई से विद्यापीठ की श्रेणियां बाकायदा प्रारम्भ होजायगी।

(३)

बिहार-विद्यापीठ के समाचार

विहार विद्यापीठ का स्थान (जो सदाकत आश्रम नाम से अधिक प्रसिद्ध है) भी अभी तक सरकार के कब्ज़े में था। जून मास में वह भी वापिस किया जा चुका है।

महाविद्यालय-ज्वालापुर का जयन्ती समारोह

महाविद्यालय सभा ज्वालापुर ने यह निश्चय किया है कि महाविद्यालय की जयन्ती आगामी वर्ष मनाई जावे। इस कार्य को सफल बनाने के लिये कई उपसमितिएँ बनाई गई हैं, और आशा पड़ती है कि यह कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न होगा। निःशुल्क शिक्षा के प्रेमी प्राचीन संस्कृत विद्या के अनुरागियों का कर्तव्य है कि वे इस कार्य में महाविद्यालय के अधिकारियों का हाथ बटावें। इस महाविद्यालय को स्थापित हुए छब्बीस वर्ष हो गये। इतनी अवधि में महाविद्यालय ने विपरीत परिस्थितियों में भी जो कुछ लोकोपकार का काम किया है, जिस प्रकार भी सैकड़ों निर्धन किन्तु होनहार छात्रजनों का उपकार किया है, वह सर्वसाधारण को विदित ही है। महाविद्यालय के स्नातकों व उपाधिधारी विद्वानों पर विशेष उत्तरदायित्व आ पड़ा है। महाविद्यालय के सभासदों की परीक्षा का भी यही समय है। महाविद्यालय सभा ने ७२०००) बहत्तर हज़ार रुपया एकत्रित करना निश्चित किया है इस की पूर्णता तथा जयन्ती की सफलता महाविद्यालय के हितैषियों के प्रेम एवं जयन्ती की सफलता पर ही निर्भर है।

विद्याभास्कर **विश्वनाथ शास्त्री**
मुख्याधिष्ठाता
महाविद्यालय, ज्वालापुर

शङ्करदत्त शर्मा
मंत्री सभा

संपादकीय

सत्याग्रह का संहरण—

जब हमने गांधी जी से अलंकार के प्रथम अंक के लिये संदेश मँगाया था तो हम इसके लिये तैय्यार थे कि वे चाहें अपने संदेश में यह कह देवें कि अख़-बार बहुत से निकलते हैं तुम एक और 'अलंकार' निकाल कर क्या करोगे। परन्तु उन्होने अपना संदेश सत्याग्रह के स्थगित करने के संबन्ध में भेजा जो कि 'अलंकार' के प्रारम्भ में छपा हुआ है। /इस संदेश द्वारा गांधी जी चाहते हैं कि हम सब लोग यह समझें—अनुभव करें कि गान्धीजी ने जो पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने के लिये किये जाने वाले सत्याग्रह को अब अपने में ही सीमित कर लिया है यह उनका कार्य पूर्णतया धार्मिक है, उच्च धर्म भाव से प्रेरित होकर किया गया है।

सचमुच सत्याग्रह की असली शक्ति को, आध्या-त्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिये ही गान्धी जी ने ऐसा किया है। जैसे कि कूर्म (कछुआ) अपने अङ्गों को अपने में समेट लेता है, संहरण कर लेता है; वैसे ही गांधीजी ने बाहर फैले हुए सत्या-ग्रह-व्यापार को अपने अन्दर समेट लिया है। सत्याग्रह के प्रवर्तक इस महात्मा ने पहिले कुछ लोगों को सत्याग्रही बनाया और पीछे तो सभी जनता में सत्याग्रह की धूम मचवा दी। किन्तु गत आन्दोलन में जब उन्होंने देखा कि सरकारी दमन की घोरता के सामने आम जनता का सत्याग्रह विकृत रूप धारण कर रहा है तो पूना में उन्होंने उसे समेट कर वैयक्तिक सत्याग्रह रहने दिया, पर अब उस में भी यथेष्ट निर्मलता न देखी तो उसे भी समेट कर केवल अपने में रहने दिया जैसे कि आत्मा अपनी सब जागृत वृत्तियों को समेट उन्हें मन में ही परिमित कर स्वप्नावस्था या मनोमय स्थिति में आ जाता है और फिर उन्हें भी समेट कर सुषुप्तावस्था या समाधि-स्थिति में आ जाता है, एवं आत्मिक बल पाने के लिये यह अन्तर्मुखी गति आवश्यक है। आध्यात्मिक हथियार को पैना करने का यही तरीका है। जैसे कि हिंसात्मक लड़ाई में तलवार की धार को तेज़ करने की या गोला बारूद को सूखा और ज़ोरदार बनाने की आवश्यकता होती है, वैसे ही इस अहिंसात्मक लड़ाई में अपने आत्मिक हथियार को ज़बर्दस्त बनाने के लिये यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, यह अन्तर्लीन होना आवश्यक हुआ है। इस समय आवश्यकता है कि सत्याग्रह की विशुद्ध शक्ति एक ही स्थान से घनीभूत होकर निकले।

—

अब हमें क्या करना चाहिए—

तो अब हमें क्या करना चाहिये? यदि हम यह समझ गये हैं कि गान्धी जी ने यह सत्याग्रह का संहरण धार्मिक भाव से किया है, यदि हम

अनुभव करते हैं कि सत्याग्रह का महात्मा जी में ही केन्द्रित होना इस आध्यात्मिक अस्त्र की प्रबल शक्ति को प्रकट करने के लिये किया गया है तो अब हम स्वयं अपने को सच्चा धार्मिक बनाने का प्रयत्न करेंगे, अपने हृदयों को विशुद्ध करने में लगेंगे। वह महात्मा अगस्त मास में जिस दिव्य महास्त्र को अकेला चलायेगा उसके अनुकूल वातावरण को अपने देश में उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न करेंगे। हम अपने जीवन की गहराई में जितने पवित्र होंगे उतना ही हम गान्धी के इस अद्भुत नेतृत्व के योग्य बनेंगे। शायद कई हंसेंगे कि मैं राजनैतिक विषय में यह क्या बेहूदा बातें कह रहा हूँ, पर यह बिलकुल ठीक है कि हम लोग दुःखित भारत माता के बन्धनों को छुड़ाने के लिये आतुर होकर जितना अपने राग द्वेषों की मलिनता को छोड़ेंगे, लड़ाई झगड़ों से ऊपर उठेंगे, पवित्र हृदय से मातृभूमि की सच्ची सेवा के लिये जागेंगे उतना ही हम गान्धीजी के महास्त्र प्रयोग में सहायता करेंगे, सत्याग्रह के दिव्य शस्त्र की शक्ति को बढ़ायेंगे। यदि अगले इन एक दो महीनों में ही हम विदेशी कपड की जगह पवित्र खादी पहिन कर, अस्पृश्यता के पाप से हाथ धोकर और हिन्दु-मुस्लिम एकता की प्रेम-गङ्गा मे स्नान करके अगस्त में होने वाले देवदर्शन योग्य दिव्य दृश्य को देखने में केवल साक्षी बने रहेंगे तो इतने से ही महात्मा गान्धी का अकेला सत्याग्रह हमे स्वराज्य दिला देगा, माँ को बन्धन मुक्त करा देगा। इस लिये हमें यह फिक्र नहीं है कि गान्धी जी अगस्त में कहीं प्राणों की बाजी तो नहीं लगा देंगे, हमे फिक्र यह है कि तब फिर कहीं हम अयोग्य तो सिद्ध नहीं होंगे। गाँधी तो अब भी मरे हुए हैं, यदि हम उनका इतना भी अनुसरण नहीं कर सकते; और तब भी मरे हुए हैं। इस लिये इस आत्मशुद्धि की लड़ाई में हमे निरन्तर जो कुछ करना है वह है अपने को अधिक अधिक पवित्र करना, अपने को अधिक अधिक ऊँचा उठाना। इसी मे हमारा जीवन है, अमर जीवन है। इसी में स्वराज्य—पूर्ण स्वराज्य—छिपा हुआ है। क्या हम इतना करेंगे?

—

सभी कांग्रेस वाले हैं—

१८ मई की बात है कि जब डेरागाज़ी खाँ पहुँचने के लिये मैं गाज़ीघाट स्टेशन से उतर ताँगे पर बैठने लगा तो ताँगे पर बैठे एक सज्जन जो कि स्पष्टतया सरकारी नौकर थे मुझे सिर नंगा और शायद केवल धोती कुड़ता पहिने देखकर पूछने लगे कि "क्या आप आर्यसमाजी हैं? व्याख्यान करने जा रहे हैं?" मैंने कहा, "मैं हूँ तो आर्यसमाजी, पर व्याख्यान दूँगा या नहीं यह और बात है।" यह कहकर मैंने अपने खद्दर के कपड़ों की तरफ उनका ध्यान खींचते हुए फिर पूछा, "आपने मुझसे यह क्यों नहीं पूछा—क्या आप काँग्रेसी हैं?" इस पर उन्होंने जो उत्तर दिया वह मुझे बहुत प्यारा लगा। वे बोले 'अब तो हम सभी काँग्रेस वाले हैं। अब सारा हिन्दोस्तान काँग्रेसी हो गया है, इस लिये कांग्रेस की जुदा ज़रूरत नहीं रही। इसीलिये महात्मा गांधी ने कांग्रेस बन्द कर दी हैं।" मैंने दिल मे कहा 'हे परमेश्वर! यह बात अक्षरशः सत्य हो जाती तो कितना अच्छा था। पर इतना तो सच है ही कि इस समय कांग्रेस के प्रेमी अवश्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं। इन दो वर्षों की लड़ाई का यह परिणाम तो स्वाभाविक था। काँग्रेस को इतने अधिक लोगों ने अपना लिया है कि अब कांग्रेस मे इस के उद्देश्य को मानने वाले इस के अंगभूत होकर विविध प्रकार के लोग आ गये हैं। इसी लिये अब धारासभाओं में जाने वाला दल भी काँग्रेस का

एक जीवित जागृत अङ्ग बन गया है। ज्यों ज्यों कांग्रेस बढ़ती जायगी, इस का सदस्य प्रत्येक नर नारी होने लगेगा, त्यों त्यों कांग्रेस राष्ट्र संचालन के सभी प्रकार के कार्य करने वाली पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्गों वाली संस्था हो जायगी।

—

असली कार्य—

पर सामूहिक सत्याग्रह स्थगित हो जाने से अब कांग्रेस का मुख्य कार्य धारासभाओं में जाना नहीं हो गया है। महात्मा गान्धी, जवाहर लाल नेहरु, अब्दुलगफ्फार खां, सरदार पटेल जिस कांग्रेस कार्य में लगेंगे वह तो देश को, आम जनता को, ग्रामवासियों को तैयार करना है अर्थात् कांग्रेस का रचनात्मक कार्य करना है। रचनात्मक कार्य करना यद्यपि बड़ा कठिन है, घोर तपस्या चाहता है, असीम धैर्य की अपेक्षा करता है पर यही स्वराज्य की जड़ जमाने वाला है, वास्तविक स्वाधीनता को दिलाने वाला एक मात्र कार्य है। अतः जिन्हों ने सचमुच देश की सेवा में ही लगे रहना है उन्हें अब इसी कार्य में लग जाना चाहिये। इस समय जब कि सत्याग्रह बन्द है, जब कि हम ने सत्याग्रह नहीं करना है किन्तु अकेले सत्याग्रही गान्धी जी की मदद करनी है तब हमें जिस तपस्या में बैठना चाहिये वह रचनात्मक कार्यों में अपने को खपा देने की तपस्या है। हमें ध्यान रखना चाहिये कि यह बिलकुल सच है कि यदि हम सब इस तपस्या में सच्चे दिल से लग जाएँगे तो अगस्त में महात्मा गान्धी को कोई ऐसी विकट तपस्या करने की जरूरत नहीं रहेगी जिसे स्मरण कर कर हमारा हृदय घबराता है, जिस से इस अनमोल रत्न के भारत से उठ जाने की आशङ्का है। इस लिये, आइये! भारत के सुपूतो! आइये अब हम आज से रचनात्मक कार्य्यों में अपने आप को पूरी तरह समर्पित कर देवें। इस समय यही असली कार्य है।

—

म० गान्धीजी का गुरुकुल से प्रेम—

श्री पं० धर्मवीर जी वेदालंकार श्रद्धानन्द ट्रस्ट की तरफ से विहार में सेवा कार्य कर रहे थे। गत गुरुकुलोत्सव के दिनों में वे नवस्नातकों के लिये संदेश लेने के लिये सीतामढ़ी में पूज्य महात्मा जी से मिले। उस प्रसंग में पं० धर्मवीर जो लिखते हैं 'महात्मा जी गुरुकुल के विद्यार्थिओं के त्याग से बहुत संतुष्ट थे और उन्हों ने दो तीन स्थानों पर इस त्याग की चर्चा भी की है"। इस से यह पता लगता है कि पूज्य महात्मा जी की गुरुकुल पर कितनी कृपा दृष्टि है। परन्तु कुछ दिनों बाद मुझे वरहज से श्रीमान्य बाबा राघव दास जी का एक पत्र मिला जिस से पता लगा कि पू० महात्मा जी की गुरुकुल पर आशा दृष्टि भी लगी रहती है। पत्र का निम्न उद्धरण अपनी कहानी स्वयं कह देगा।

"मैं आसाम भ्रमण में राष्ट्र भाषा प्रसार कार्य से पू० वापू जी के साथ में था। गोहाटी में राष्ट्र भाषा प्रेमी भाइओं की एक बैठक पू० वापू जी के संरक्षकता में हुई थी। वहां यह निश्चय हुआ कि एक बहन और एक भाई को (आसाम प्रान्त के) हिन्दी प्रान्त में हिन्दी की उच्च शिक्षा के लिये भेजा जाय।

"पू० वापू जी की इच्छा है कि आपके गुरुकुल में इस आसामी युवक के हिन्दी पढ़ाने का प्रबन्ध हो तो बहुत अच्छा होगा।

'बहिन के बारे में मैं ने श्रीमती विद्यावती सेठ जी को लिखा है।"

स्पष्ट है कि हिन्दी की उच्च शिक्षा के लिये गांधी जी ने गुरुकुल को स्मरण किया है, आसामी युवक की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध गुरुकुल कर देगा यह आशा लगायी है तथा आसामी बहिन को हिन्दी की उच्च शिक्षा दिलाने के लिये कन्या गुरुकुल देहरादून की मान्या आचार्या विद्यावती को पत्र लिखवाया है। क्या यह गुरुकुलों का सौभाग्य नहीं है?

—

राष्ट्र-भाषा प्रचार के लिये स्नातकों की आवश्यकता

ऊपर की टिप्पणी लिखी जा रही थी कि इस सम्बन्ध में एक और पत्र पूज्य गांधी जी का मिला जो निम्न लिखित है।

"भाई अभय

गुरुकुल कांगड़ी में ऐसे त्यागी भाषा प्रेमी विद्यार्थी नहीं मिल सकते हैं जो भाषा प्रचार को कम से कम पांच वर्ष दें? उद्देश यह है कि ऐसे प्रचारकों के मार्फत आसाम इत्यादि प्रान्तों में भाषा शिक्षणालय चलाये जांय। सेवकों को मामूली वेतन दिया जायगा। ऐसे यदि तैय्यार हों तो उनका परिचय बाबा राघव दास को कराया जाय। राघव दास जी इस कार्य को बना रहे हैं।"

गांधी जी के इस पत्र के साथ मान्य बाबा राघवदास जी का पत्र आया है। बाबा जी जी युक्त प्रान्त में एक अग्रगण्य नेता हैं। आप बड़े त्यागी और तपस्वी है। यद्यपि आप गोरखपुर ज़िले में अपना मुख्य स्थान रखते हैं, परन्तु वैसे समस्त प्रान्त में ही पूजे जाते हैं। राजनैतिक कार्य के अतिरिक्त आप ने हिन्दी का बहुत कार्य किया है। आजकल आप अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ़ से प्रचार मंत्री हैं और बड़े उद्योग से आसाम, उड़ीसा, बंगाल तथा सिंध प्रान्त में भी हिन्दी प्रचार का कार्य संगठित करना चाहते हैं। उन्हें यह देख कर दुःख होता है कि उपर्युक्त आसाम आदि प्रान्तों में जहां कि मद्रास प्रान्त की अपेक्षा राष्ट्र भाषा प्रचार करना बड़ा आसान है वहां भी यह कार्य इसी लिये नहीं हो रहा है क्योंकि इस कार्य के लिये कार्य कर्त्ता नहीं मिलते हैं। गांधी जी को यह बात बहुत खटकती है कि दक्षिण भारत के द्राविडियन भाषा-भाषी तो बड़े उत्साह से राष्ट्र भाषा सीखें और उसका प्रचार करें और इधर आर्य भाषा भाषी प्रान्तो में ही प्रचारक हिन्दी भाषा भाषी-प्रान्तो से न मिलें।" अतः गांधी जी ने सुझाया है कि त्यागवृत्ति (Missionary Spirit) से काम करने वाले प्रचारकों को तैय्यार किया जावे और हिन्दी भाषा की प्रमुख संस्थाओं का ध्यान इस तरफ़ आकर्षित किया जावे। इसी लिये गांधी जी ने उपर्युक्त पत्र लिखा है।

मैं गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक बन्धुओं से तथा अन्य गुरुकुलों व राष्ट्र विद्यापीठों के स्नातक बन्धुओं से भी प्रार्थना करता हूं कि वे इस काम को पूरा करने के लिये आगे बढ़ें। पूज्य गांधी जी ने जो हम से आशा की है उसे पूरा करें। जो भी कोई भाई इसके लिये उद्यत हों वे मुझे सूचित करने की कृपा करें। उन्हें आसाम और उड़ीसा बंगाल तथा सिंध प्रान्तों में से उनकी इच्छानुसार किसी प्रान्त में हिन्दी (राष्ट्र भाषा) का प्रचार करना होगा। हिन्दी भाषा का प्रेम ही इस पुण्य कार्य में लगने का प्रेरक कारण होना चाहिये, वृत्ति कमाना नहीं। गांधी जी ने लिखा ही है कि उन्हें अभी मामूली वेतन ही दिया जासकेगा। इस सम्बन्ध में बाबा राघव दास जी लिखते हैं "फिर भी जो सहायता इस समय दी जासकेगी वह

भोजन तथा १०, १२ रुपये जेब खर्च के लिये । इन प्रान्तों में पैसे नहीं हैं। बाहर से पैसों का प्रबन्ध करना है। इस लिये यह कठिनाई है।' ऐसे प्रचारक ५ वर्ष में कुछ कार्य दिखा सकेंगे, इस लिये पूज्य गांधी जी को पांच वर्ष तक कार्य करने का आग्रह है। अतः कम से कम ५ वर्ष लगाने का संकल्प करके जाना चाहिये।

अभी जो मद्रास का हिन्दी प्रचारक यात्री दल उत्तर भारत में आया था उस से हमें शिक्षा और उत्साह ग्रहण करना चाहिये तथा आसाम, उड़ीसा बंगाल सिंध आदि प्रान्तों में हिन्दी को स्थापित कर देना चाहिये। क्या राष्ट्र भाषा की यह पुकार सुनी न जायगी? —

चौथे वर्ष का छटा अंक—

"पाठक देखेंगे कि यद्यपि 'अलंकार' का यह पहिले वर्ष का प्रथम अंक है तो भी पहिले पृष्ठ पर 'वर्ष ४' और 'संख्या ६' लिखा गया है। बात यह है, शायद बहुत से पाठकों को यह मालूम न होगा, कि यह मासिक पत्र कई वर्ष हुए 'अलंकार' इसी नाम से गुरुकुलकांगड़ी के सुयोग्य स्नातक तथा स्नातक मंडल के प्रधान, श्री युत पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार के संपादकत्व में चार वर्ष और पांच महीने तक निकलता रहा था। अब गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों की इच्छा से इसे फिर कुछ भिन्न रूप में और बड़े आकार में निकालने का प्रारम्भ किया गया है। इस लिये यह ठीक ही है कि यह अलंकार का चौथे वर्ष का छटा अंक है।

—

हिन्दी संदेश के ग्राहकों से—

जैसा कि 'हिन्दी संदेश' के गत अंक में सूचित किया गया था, आप के सन्मुख यह आपका मासिक पत्र नये नाम और नये रंग ढंग से प्रस्तुत है। आशा है आप भी इसका नये उत्साह से स्वागत करेंगे। आप को हिन्दी संदेश इस वर्ष की पांचवीं संख्या तक पहुँच चुका है, यह छटा अंक 'अलंकार' यह नाम बदल कर पहुँच रहा है। सौभाग्य से यह नाम परिवर्तन या अलंकार का पुनः प्रकाशन ऐसे समय हुआ है जिस से अंक की संख्या नहीं बिगड़ी है, मिल गई है। दोनों तरह से, हिन्दी संदेश की क्रमिक संख्या के अनुसार तथा पुराने अलंकार की क्रमिक संख्या के अनुसार, यह छठा ही अंक होता है। पर हिन्दी संदेश के ग्राहकों की दृष्टि से जो ज्येष्ठ (जून) का अंक उन्हें नहीं मिला है उसकी पूर्ति एक महीने में दुगने पृष्ठों का विशेषांक निकाल कर, कर दी जावेगी, ऐसा हमने निश्चय किया है। इस नये आयोजन करने में जो उन्हें एक महीने के अंक की देरी हो गई है उसकी पूर्ति इसी तरह की जा सकती है। परन्तु आशा है इस नये आयोजन द्वारा नाम परिवर्तन के साथ साथ जो इस मासिक की पृष्ठ संख्या बढ़ गयी है, क्षेत्र विस्तृत हो गया है, तथा अन्य उन्नतियाँ हो गई है इसे वे बहुत पसंद करेंगे। हमें आशा है कि वे इसे इतना पसंद करेंगे कि 'अलंकार' रूप में परिवर्तित इस मासिक के ग्राहक वे अपने अन्य मित्रों को बनाने की भी इच्छा करने लगेंगे"। —

क्षमा प्रार्थना—

यह अंक देरी से प्रकाशित हो रहा है। सब नये आयोजन करने में देरी हो जाना स्वाभाविक है। शायद प्रत्येक नये निकलने वाले पत्र के लिये ऐसी देरी हो जाना अनिवार्य होता है। अतः आशा है इस देरी के लिये पाठक हमें क्षमा करेंगे।

इस देरी के कारण 'अलंकार' का दूसरा अंक पाठकों के पास १५, २० दिन बाद ही पहुँच जावेगा। 'अलंकार' प्रत्येक सौर महीने के आरम्भ में (अंग्रेज़ी महीने के मध्य में) प्रकाशित हुआ करेगा। अतः हम आशा करते हैं कि पाठकों की सेवा में हम इस अलंकार' को प्रत्येक सौर महीने के प्रारम्भिक ५, ६ दिनों में (अंग्रेज़ी महीने के तीसरे सप्ताह में) अवश्य पहुँचा सका करेंगे।

नवयुग प्रेस, लाहौर में भीमसेन विद्यालंकार मुद्रक तथा प्रकाशक द्वारा मुद्रित होकर 'अलंकार'-कार्यालय,

पृष्ठ

सरदार वल्लभभाई पटेल

"स्वतन्त्रता केवल बलिदान से प्राप्त हो सकती है, आज देश में जो जागृति एवं उत्साह दृष्टिगोचर होता है वह बलिदान की ही वजह से है, हमारे बलिदान में जो कसर रही है उसे हम पूरा करेंगे।"

माता कस्तूरा बाई गांधी
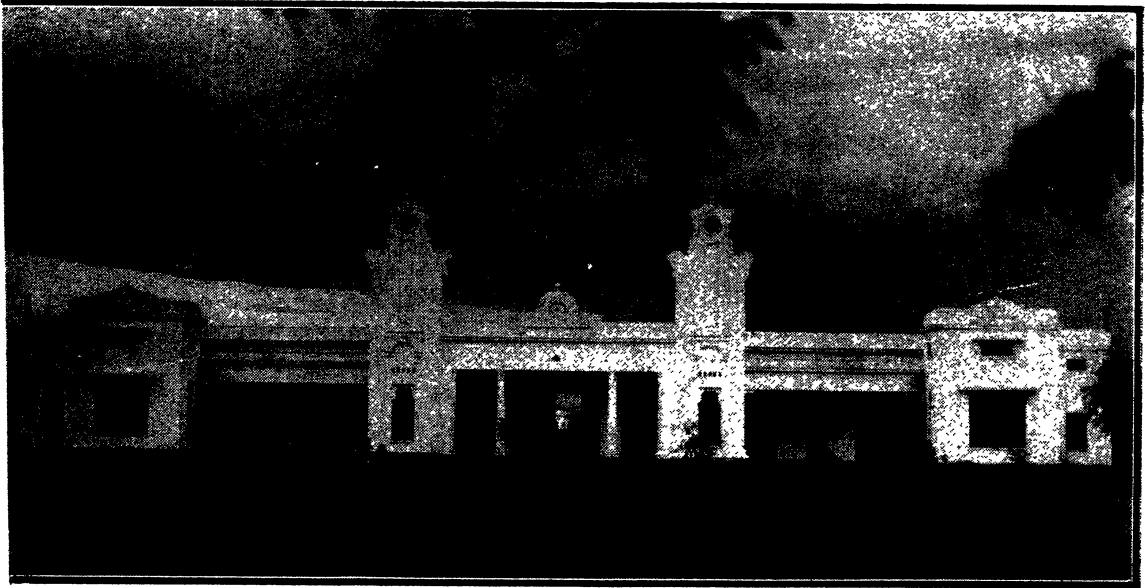
गुलाब देवी ट्यूबरकलर (तपदिक) हस्पताल माडलटाउन (नया लाहौर)।

[जिसका उद्घाटन १७ जुलाई को महात्मा गांधीजी ने किया।]

हविषा विधेम

[ले०—'अभय']

श्रीयुत चतुर्वेदी बनारसीदासजी ने एप्रिल के 'विशाल भारत' में एक बड़ा सुन्दर लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने यह प्रतिपादन किया था कि वर्त्तमान समय में हमें साहित्य ग्राम-जनता के लिये तैयार करना चाहिये। ऐसा ही भाव हम प्रकट करना चाहते थे, इतने में हमें मालूम हुआ कि 'कस्मै देवाय' नाम से इस प्रकार का लेख श्री चतुर्वेदीजी की प्रभावशालिनी लेखनी से निकल चुका है। हम ने 'विशाल भारत' मँगाकर इस लेख को संपूर्ण पढ़ा। हमने देखा है कि इस लेख से तो हम सर्वथा सहमत हैं; पर इसके साथ कुछ और लिखे जाने की ज़रूरत है। यदि चतुर्वेदीजी हमारे इस लेख को पढ़ने का अवसर पायेंगे, तो वे देखेंगे कि हमारे इस लेख में न केवल उनके वक्तव्य का पूरा पक्ष-पोषण हुआ है, किन्तु उसके बाद और जो कुछ लिखा जाना वे पसन्द करते, वह भी लिखा गया है। चतुर्वेदीजी ने अपने लेख में पाठकों को साहित्य के ध्येय का दिग्दर्शन कराया है, पर हम इस लेख में ध्येय को पूरा करने के साधन की तरफ पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं। अतः, चतुर्वेदीजी ने अपने भाव को प्रकट करने के लिए शीर्षक के तौर पर जिस सुन्दर वेद-वचन को चुना है, वह है 'कस्मै देवाय'; पर हम इसी वेद-मन्त्र में इसी सम्बन्ध में साधन को बतानेवाला जो अगला ही वाक्य है, अतएव जो हमें अधिक प्रिय है, उस "हविषा विधेम" की चर्चा करना आवश्यक समझते हैं।

'अलंकार' के पूर्व अंक में हमने 'किस लिए'-शीर्षक से इस पत्र का उद्देश्य दिखलाया था। असल में हम उसी की एक विशेष बात के स्पष्टीकरण में अब यह अपना दूसरा लेख लिख रहे हैं, यद्यपि श्री चतुर्वेदीजी के लेख से मेल मिल जाने के कारण यह लेख हम उनके लेख की ही भाषा में लिख रहे हैं।

अच्छा, तो यह सर्वथा ठीक है कि हमने साहित्य-द्वारा जिस देव का पूजन करना है वह जनता-जनार्दन है। परन्तु फिर प्रश्न होता है कि इसका पूजन हम कैसे करें? इसका एक शब्द में उत्तर है, 'हविषा' अर्थात्, हवन-द्वारा, आत्म-बलिदान-द्वारा, त्याग-द्वारा। श्री बनारसीदासजी के 'कस्मै देवाय' पर ख़ासी चर्चा छिड़ी है। आलोचनाएँ हुई हैं और उनका उत्तर भी दिया गया है। उस उत्तर से हम कोई असहमत नहीं हैं; किन्तु यह अवश्य समझते हैं कि यदि साहित्य के ध्येय को बताने के साथ-साथ उसके इस साधन की चर्चा भी हो जाती, तो शायद बहुत-सी आलोचना अनावश्यक हो जाती। देव को पहिचानने के साथ-साथ उसके आराधन की विधि जान लेने की इच्छा स्वाभाविक है। बल्कि हमें तो देव के पहिचानने की भी इतनी चिन्ता नहीं है जितनी उसके पूजन-साधन की शुद्धता की चिन्ता है। अपनी-अपनी मनोवृत्ति होती है। हमारी मनोवृत्ति साधन के ठीक होने पर अधिक ज़ोर देती है। हम तो यहाँ तक विश्वास रखते हैं, यदि 'हविः' ठीक होगी, सच्ची 'हवि' होगी, तो वह स्वयमेव सच्चे देव को ही पहुँचेगी। हम अपने आशय को और स्पष्ट करेंगे।

ऐसा करने में हम श्री बनारसीदासजी के कथ

का खण्डन नहीं करते हैं कि हम तो सट्टेबाज़ी करनेवाले सेठजी के लिये व मुवक्किलों को दिन-रात ठगनेवाले वकील साहिब के लिए भी साहित्य उत्पन्न करेंगे। बेशक, हम उनके लिए चटपटी साहित्यिक चाट नहीं बनाएँगे। हम उनकी भी सेवा करेंगे। और हम जानते हैं चाट खिलाने में उनकी सेवा नहीं है। अतः हम उनके लिए भी उनके योग्य स्वास्थ्य-प्रद और पुष्टिदायक साहित्य बनावेंगे। पर उनके योग्य साहित्य वे ही बना सकते हैं, जिन्होंने तपस्या की है, इन न सुननेवालों को भी अपनी आवाज़ वे ही सुना सकते हैं जो कि आत्म-बलिदान-पूर्वक बोल रहे हैं अर्थात् जिनका बोला-लिखा साहित्य 'हविः' रूप है। हां, हम डिप्टी साहिब व तहसीलदारी के उम्मीदवार ला० अवधबिहारीलाल के लिए भी हलका साहित्य (light literature) पैदा करेंगे, परन्तु वह हलका साहित्य ऐसा होगा कि वह उनमें अपनी वर्तमान अवस्था के प्रति प्रबल ग्लानि पैदा कर देगा। स्पष्ट है कि ऐसा साहित्य पैदा करने के लिए तेज की आवश्यकता है, जो कि आत्म-बलिदानमय जीवन से ही उत्पन्न हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान अवस्थाओं में हमें बहुत-सा साहित्य मूक, पीड़ित ग़रीब ग्रामीण जनता के हित की दृष्टि से बनाना होगा। हमें न केवल उन तक साहित्य द्वारा अपनी पहुँच करनी होगी; किन्तु बहुत बार उनकी तरफ़ से भी हम को बोलना पड़ेगा। परन्तु उनकी इन सब सच्ची सेवा के लिए हमें उपर्युक्त प्रकार के तेज की सदा आवश्यकता रहेगी। नहीं तो इन ग़रीब ग्रामीणों के लिये भी (ज्यों-ज्यों वे पढ़ते जायेंगे) उनके अनुकूल 'घासलेटी'-साहित्य पैदा करने में क्या देरी लगेगी? वर्तमान पतनकारी साहित्य ही धीरे-धीरे बढ़कर उन्हें क्यों न सुलभ हो जायगा? इसलिए हम जिस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं, वह यह है कि साहित्य 'हवि' रूप होना चाहिए, वह आत्म-बलिदानमय जीवन से उत्पन्न हुआ होना चाहिए। यदि साहित्य के रचयिता ऐसे हविष्मान् लोग होंगे, तो वे जिसके लिये भी—चाहे रमल्ला किसान व चेता कहार के लिए या बाबूजी व सेठजी के लिए—साहित्य पैदा करेंगे, उसके लिए स्वास्थ्य-प्रद ही साहित्य पैदा करेंगे। वे जहाँ दलितों और अत्याचार-पीड़ितों को 'कवि-वर' की वाणी में कहेंगे "भला एक बार मुहूर्त-भर के लिए सिर उठा कर खड़े तो हो जाओ; जिसके भय से तुम डर रहे हो, वह अन्यायी तुमसे कहीं अधिक डरपोक है; ज्योंही तुम जाग पड़ोगे, वह भाग खड़ा होगा; ज्योंही तुम उसके सामने खड़े होगे, वह रास्ते के कुत्ते की नाईं संकोच और त्रास में मिल जायगा। देवता उसके विमुख हैं.........", वहाँ वे वेश्यागामी राजा को भी दयानन्द की तरह सुनावेंगे 'तुम सिंह होकर कुत्तियों के पीछे फिरते हो' या काशी-विश्वविद्यालय के उद्घाटन उत्सव पर सजे बैठे राजा-महाराजाओं को गान्धी की तरह इस ग़रीब देश में ऐसी प्रदर्शनी करने के लिए फटकार बताएँगे, या अत्याचारियों को वेद के शब्दों में (अथ० ५-१८-सूक्त) 'कल होनेवाले उनके विनाश का' चित्र खींच कर सचेत करेंगे। इसलिए मुख्य बात यह नहीं है कि साहित्य दीनों या शाहों के लिए तैयार किया जावे, किन्तु यह है कि साहित्य हविरूप होवे, तेजस्वी होवे।

तिलक महाराज को जाननेवाले लोग यह बताते हैं कि उनका भाषण इतना भद्दा होता था कि यदि लोगों को यह मालूम न होता कि यह तिलक महाराज बोल रहे हैं, तो वे उनके व्याख्यान को सुनना कभी पसन्द न करते। फिर भी तिलक के

साहित्य ने जितना महाराष्ट्र के ग्रामीणों तक को तथा सारे भारत को जगाया है, उसका हज़ारवाँ भाग भी उस समय के किसी साहित्यिक ने नहीं जगाया। गांधी को लेखक या वक्ता कहना कठिन है, किन्तु गांधी-साहित्य ने भारत में ही नहीं किन्तु कई जगह विदेशों में भी जितनी काया-पलट की है, वह किसी और ने नहीं की। इसका कारण वही उनका हविष्मान् होना है। हमें शब्दों से झगड़ा नहीं। बेशक, द्विवेदीजी व विद्यार्थीजी को साहित्यिक न कहा जावे, किन्तु इसमें शक नहीं कि इन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में काफ़ी सहायता की है और इसका कारण हमारी समझ मे इनके जीवन की स्वाभाविकता और तपस्या है।

हम साहित्य को 'वाणी' शब्द से पहचानते हैं। 'वाणी' में लिखना, बोलना, गाना, कविता करना ही नहीं आ जाता ; परन्तु क्रिया करना या जीवन-द्वारा प्रभावित करना भी आ जाता है। क्रियामयी वाणी सबसे अधिक प्रबल वाणी है। मौन होकर क्रिया करना कभी इतना प्रभावोत्पादक होता है, जितना कि सैकड़ों लेख और हज़ारों भाषण नहीं हो सकते। तो यह क्रिया, यह जीवन साहित्य क्यों नहीं है ? वाणी क्यों नहीं है ? हम जानते हैं कि पुराने कवि लोग यथार्थ आचरण और तपश्चरण के बाद जो थोड़ा-सा बोलते थे; वही जगत् के लिए बहुत होता था। हम तो अब भी देखते हैं कि आत्म-त्यागमय जीवन से स्वभावतः निकले साहित्य में जो साहित्य-रस होता है, जो सौन्दर्य्य होता है, वह अन्य कहीं नहीं होता। हम मानते हैं—

हविष्मन्तो अलंकृतः। ऋग्० १–१४–५॥

'जो हविष्मान् हैं वे शोभित होते है'।

यों कहना चाहिए—"जिन्होंने सिर पर कफ़न बाँध रखा है, सिर को काट कर हथेली पर रखा हुआ है, वे ही सजे हुए हैं, वे ही अलंकृत हैं।"

'अलंकार' का जो मूल मन्त्र है उसे पाठकों ने पहिले अंक से ही प्रारम्भ में लिखा हुआ देखा होगा। वह है—

का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः, कदा ते नूनं मघवन् दाशेम।

ऋ० ७–२९–२॥

'हम सुन्दर वचनों से तेरा क्या अलंकार कर सकते हैं ? हे इन्द्र ! वह दिन कब आवेगा जब कि हम अपने आप को तुझे दे देंगे, पूर्ण आत्म समर्पण कर देंगे।' वर्तमान प्रकरण के अनुसार हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

"हे जनता-रूपी इन्द्र ! हम सुन्दर वचनों से, सुन्दर रसीले साहित्य से, क्या तेरी शोभा बढ़ा सकते हैं ? हम तो अब आत्म-बलिदान की वाणी से बोलना चाहते हैं, वह समय कब आवेगा ?"

वास्तव में आत्म-बलिदान में जो आनन्द-रस है, जो सौन्दर्य्य है, वह और कहीं नहीं है। इस लिए हम वेद के 'हविः'-शब्द पर मुग्ध हैं। बार बार 'हविषा विधेम' बोलना हमें बड़ा प्यारा लगता है। यही कारण है कि हम 'अलंकार' के लेखकों और कवियों से कहते रहे हैं और अब सार्वजनिक रूप से कहना चाहते हैं कि जब आपको हार्दिक उमंग हो तब लिखा कीजिए, जब कोई अग्नि अन्दर से ज़ोर कर रही हो और वह वाणी-रूप में बाहर निकलना चाहती हो, तब लिखा कीजिए'। कम से कम, ऐसे ही लेखों से 'अलंकार' अलंकृत होगा। आत्म-बलिदान की अग्नि से प्रगट हुई, तपस्या-पूर्वक निकली हुई रचनाओं के प्रकाशित करने से ही 'अलंकार' का उद्देश्य पूरा होगा।

वाणी अग्नि है और अग्नि को बढ़ाने व प्रदीप्त करने का साधन हविष्प्रदान है। तो यदि हम वाणी को, साहित्य को सचमुच तेजस्वी, शक्ति-युक्त और

कार्य्यसाधक बनाना चाहते हैं, तो हमें इसके लिए उचित साधन ही वर्तना चाहिए, अर्थात् सतत आत्म-हवन और स्वार्थ-त्याग के जीवन द्वारा अपनी वाणी को प्रदीप्त करते हुए ही बोलना व साहित्य उत्पन्न करना चाहिए। इसलिये आओ, भारत के लेखको ! कविओ ! गल्पकारो ! कलाकारो ! उपदेशको ! गायको ! आओ, आज से हम हवि-द्वारा, त्याग-मूलक साहित्य-द्वारा, तपोमयी वाणी-द्वारा ही (जनता-जनार्दन देव का) पूजन करें।

"हविषा विधेम"

अवतरण

मेरा प्रवास, एकान्त धाम,
मेरे जीवन का चिर-विराम।
सब को करता हूँ आज सान्त,
मेरे अर्पित हैं शत प्रणाम॥

×

परिचय क्या दूँ—मैं विश्व ख्यात,
मैं चिर-निर्मल कमनीय गात।
मैं हूँ अमूर्त, मैं मूर्त रूप,
मैं कण कण में सौन्दर्य व्याप्त॥

×

मैं मुकुट भव्य, मणि-पुष्प-हार,
करता नृप-मस्तक पर बिहार।
मैं अमित रूप, सब रंक भूप,
मुझ पर हैं पल भर में निसार॥

×

मैंने जीवन में एक बार,
चञ्चल नूपुर का रूप धार।
लेकर सीता का चरण-स्पर्श,
पाया था निर्मल-नव-निखार॥

×

मैं अँगराज का श्रवण-फूल,
बन कर प्रमुदित था फूल-फूल।
फिर दान यज्ञ का साक्षिरूप,
मैं सहचर था बन दशन-शूल॥

×

वह महादान! वह वह दिव्य त्याग!!
वह मृत्यु-काल का अतुल याग!!!
करके उसकी फिर तनिक याद,
हे सुप्त विश्व! तू जाग जाग॥

×

तू भी उठ तन्द्रित भारत बाल!
अन्तर की निधियाँ देख-भाल।
पुरखा जिस के यतिवर दधीचि,
शिवि हरिश्चन्द्र से महीपाल॥

×

जिनका विलास था महायोग,
जिनका 'प्रदान' था दिव्य-भोग।
सुन कर होते हैं चकित चित्त,
जिनकी गाथा को आज लोग॥

×

जीवन क्या?—अर्पण महान,
लुण्ठित होना पर है न दान।
कर ले संचित, हो ले समर्थ,
फिर दे परहित, है यही शान॥

—'सव्यसाची'

हिन्दी-भाषी नवयुवक तथा राष्ट्र-भाषा-प्रचार-कार्य

[श्री बाबा राघवदासजी प्रचार-मन्त्री, अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन]

भारतीय राष्ट्र के सभी नेता मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार कर रहे हैं कि हिन्दी भाषा ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है। इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए महात्मा गान्धी-जैसे सर्वश्रेष्ठ नेता प्राणपन से प्रयत्न कर रहे हैं।

दक्षिण-भारत के राष्ट्र-भाषा-प्रेमी लाखों भाई-बहनों ने अपनी मातृभाषा द्राविड़ी—आर्यभाषा से भिन्न होते हुए भी हिन्दी-भाषा को अपनाकर अद्भुत लगन तथा उत्साह का परिचय दिया है।

राष्ट्र-भाषा-प्रचार-कार्य में सैकड़ों द्राविड़ी भाई-बहन नियमित रूप से अपना समय लगा कर तथा संगठित रूप से काम करके हम उत्तर-हिन्दुस्तानी हिन्दी-भाषिओं के सामने प्रचार-कार्य का एक सुन्दर नमूना रख रहे हैं।

इधर सुदूर दक्षिण-भारत में तो इस प्रकार राष्ट्र-भाषा का प्रसार हो पर उत्तर-हिन्दुस्तान के आस-पास के प्रान्तों में जहाँ हिन्दी-भाषा बोली नहीं जाती हिन्दी-भाषा-भाषिओं की ओर से इन प्रांतों में कुछ उल्लेखनीय प्रचार-कार्य नहीं हो रहा है। उनकी यह उदासीनता सभी राष्ट्र-भाषा-प्रेमियों को खटकती है। महात्मा गांधीजी ने भी ३-४ बार मुझसे इस उदासीनता का ज़िक्र किया था।

चाहिए तो यह था कि हिन्दी-भाषी प्रान्त—हिन्द प्रान्त, बिहार, महाकौशल अपनी ओर से स्वार्थ-त्यागी, परिश्रमी, उत्साही प्रचारक भारत के हिन्दी-भिन्न-भाषा-भाषी सभी प्रान्तों में भेजकर राष्ट्र-भाषा का प्रचार-कार्य करते, पर सौभाग्य से दक्षिण-भारत के भाई बहनों ने दक्षिण-भारत का राष्ट्रभाषा-प्रचार-कार्य अपने हाथों में लेकर हिन्दी-भाषा-भाषी भाइयों का बोझ बहुत कुछ हलका कर दिया है। (हिन्दी प्रान्त इसके लिए दक्षिणी भाइयों के सदैव कृतज्ञ रहेंगे)।

इस लिए आसाम, उत्कल और सिन्ध आदि प्रान्तों में राष्ट्र-भाषा का प्रचार-कार्य हिन्दी प्रान्त के उत्साही नवयुवकों को स्वेच्छा से अपने हाथ में लेना चाहिए।

हिन्दी-भाषा-प्रचार में अप्रत्यक्ष-रूप से हिन्दी-साहित्य-सेविओं को आर्थिक लाभ भी है। अभी कलकत्ते में मैं गया था, तब हिन्दी-पुस्तक-एजन्सी के स्वामी श्रीयुत बैजनाथजी केडिया ने कहा था—'इधर मद्रास-प्रान्त में (दक्षिण-भारत में) हिन्दी-पुस्तकों की माँग विशेष-रूप से है। आनेवाली दस चिट्ठियों में औसतन ३ चिट्ठियाँ दक्षिण-भारत की रहती हैं।' इससे पाठक अनुमान कर सकेंगे कि राष्ट्रभाषा-प्रचार में हिन्दी-भाषियों का स्वार्थ भी सिद्ध होता है। साथ ही हिन्दी-भाषी-भारत के विभिन्न प्रान्तों में जाकर इस बहाने से भारतीय स्थिति का अध्ययन भी कर सकते हैं।

जैसे सवेरे का भूला सायं को घर आ जाय तो वह भूला नहीं कहा जाता। उसी प्रकार अब भी हिन्दी-भाषी, उत्साही भाई-बहन, उत्कल, आसाम, बंगाल प्रान्तों में जाकर राष्ट्र-भाषा का प्रचार करेंगे, तो भारतीय राष्ट्र का बहुत बड़ा काम हो जाएगा।

महात्मा गांधीजी ने कराची-कांग्रेस में कहा

था कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रत्येक सदस्य को कम-से-कम हिन्दी-भाषा उतनी अवश्य जाननी चाहिए, जिससे वह कमेटी में होनेवाले वाद-विवाद को आसानी से समझ सके। इस कारण उत्कल और आसाम में महात्मा गांधीजी के साथ भ्रमण करने का मुझे जो अवसर मिला, उस समय मैंने देखा कि प्रमुख कांग्रेस-कर्मी राष्ट्र-भाषा सीखने के लिए उत्साही हैं। पर उसका उचित प्रबन्ध न होने से वे लाचार हैं।

इसलिए हिन्दी-भाषा-भाषी युवकों को चाहिए कि वे स्वयं कर्तव्यकर्म (मिशनरी-स्पिरिट) से प्रेरित होकर (विशेषतः आसाम और उत्कल में, चूँकि महात्मा गांधीजी का कहना है कि ये दोनों प्रान्त ऐसे हैं, जहाँ धन की बहुत कमी है, इस लिए उत्साही भाइयों को इन प्रान्तों में विशेष ध्यान देना चाहिए) इस अत्यन्त आवश्यक महान् कार्य में शीघ्र-से-शीघ्र हाथ बँटाने की कृपा करें।

क्या मेरी यह विनति राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं के संचालक तथा छात्र सुनने की कृपा कर भारतीय राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधनेवाली राष्ट्र-भाषा का प्रचार करने में अग्रसर होंगे?

पलना

[रचयिता श्री पं० चमूपति एम. ए.]

रहा प्रेम का पलना झूल ॥ टेक ॥

चिति की किरणों के झूले में।
करती झिलमिल तन की धूल ॥
रहा प्रेम का पलना झूल ॥१॥

नस नस से, नाड़ी नाड़ी से।
उठी तान सुख मंगल मूल ॥
रहा प्रेम का पलना झूल ॥२॥

ज्योति राग है राग ज्योति है।
हिलते तार अहो! अनुकूल ॥
रहा प्रेम का पलना झूल ॥३॥

(सामवेद के एक मन्त्र के आधार पर)

मनुष्य का विकास-क्रम

[ले०—श्री डॉ० रामकृष्णजी, एम.बी.बी.एस.]

अवस्था-विशेष में मनुष्य सोचता है कि यह पेट की भूख-प्यास, यह बाह्य-प्रकृति की शीतोष्णता, यह अन्तः प्रकृति की काम-प्रेरणा, इन्होंने ही उसे परेशान कर रखा है। कम-से-कम पेट को भोजन और तन को कपड़ा जुटाए बिना तो किसी प्रकार छुटकारा नहीं। इनके कारण ही उसे काया-क्लेश भोगने होते हैं, नींद हराम करनी होती है, अपमान और दासताएँ भोगनी होती हैं—जीवन एक संग्राम-संघर्ष बना हुआ है। यदि ये आवश्यकताएँ साथ में न लगी होतीं, और यदि लगी ही होतीं, तो इनकी तृप्ति के साधन जल-वायु की भाँति सर्वत्र सुलभ होते तो कैसे सुख-चैन से गुज़रती, कोई झगड़ा-झंझट ही न होता, यह संसार नंदन-कानन बन गया होता।

> डॉक्टर रामकृष्णजी एक छिपे हुए, उच्च कोटि के आध्यात्मिक पुरुष हैं। आप पहिले गुरुकुल कॉंगड़ी में उपाध्याय थे, फिर कुछ वर्ष जेल-यात्रा मे रहे हैं, इस समय बिहार में कार्य कर रहे है। स्वभाव से आप बालक की तरह सरल हैं, पर बुद्धि से विचार की गंभीर गहराई मे पैठने वाले ज्ञानी हैं। प्रस्तुत लेख मे पाठक देखेंगे कि आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ मनुष्य किस क्रम में से गुजरता है; और अपनी स्थिति को पहिचान कर लाभ उठावेंगे।—'अभय'

समय आता है कि इन शारीरिक आवश्यकताओं के निवारण के साधन मनुष्य के लिए सुलभ हो जाते हैं; किंतु जिस सुख-चैन की वह आस लगाए बैठा था, वह और दूर खिसक जाता है। अब केवल इतने ही में उसे कोई आनन्द प्राप्त नहीं होता। अब उसके प्राण की इच्छाएँ जाग पड़ी हैं और अपने भोग जुटाने के लिए उसे प्रेरित करती हैं। वे अपना मोहिनी रूप धारण किये उसके सामने प्रकट होती हैं, और वह विषयान्ध बन उनके पीछे दौड़ पड़ता है। अब वह स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट भोजन बढ़िया-से-बढ़िया वस्त्र, निवास-स्थान, तथा अन्यान्य विषय-भोग की सामग्रियाँ चाहता है। इन्द्रियों को जो-कुछ सुखद और सुन्दर प्रतीत होता है वह उसे आकर्षित करता है। वह सोचता है कि कैसा आनन्दमय जीवन है उनका, जिन्हें ये सब सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ सुलभ हैं—सच पूछो तो जीवन उन्हीं

का है—उन्हें तो इस मर्त्यलोक में देव-दुर्लभ भोग प्राप्य हैं। वह इनके लिए तरसता है, वह इनकी प्राप्ति के लिए भटकता है—अन्तहीन दुख-क्लेश भोगता है। कभी किसी, कभी किसी विषय-भोग की माया मरीचिका से लुभाया हुआ, उसकी ही प्राप्ति में परमानन्द मानता हुआ वह कैसे कैसे बीहड़ों, झाड़-झंखाड़ों और दलदल में जा फँसता है।

समय आता है कि मनुष्य को विषय-भोग-मात्र में कुछ रस नहीं मिलता, उससे घिरे रहने पर भी अतृप्ति बनी ही रहती है, वह एक गहरे और अधिक सत्य अनुभव के लिए तरसता है। हे संसार के सम्पन्नो! वह कैसी शून्यता है जो तुम अपने हृदय की गहराई में अनुभव करते हो, वह क्या है, जो तुम्हारे ऐश्वर्य-भोग की समस्त सामग्री को एक हृदयहीन विडम्बना में परिणत कर देता है और तुमको उस सबके बीच एकाकी बंदी? यह तुम्हारा हृदय है, जो जागृत होकर अपना आहार माँगता है। क्या तुम समझते हो कि तुम उसे इस मिथ्या-माया द्वारा शांत कर सकोगे? वह तो इस सबकी निरर्थकता, थोथापन जानता है। वह तो तरसता है सहृदयता के लिए, सहानुभूति के लिए, प्रेम के लिए, जीवित-जागृत प्राणी के लिए, जड़-वाह्य दिखावे के लिए नहीं।

इस प्रकार जब हृदय के सोए-पड़े भाव जाग कर व्यक्तित्व की बागडोर सँभालते हैं, तब मनुष्य एक नये, तरल, परिवर्तनशील रूप में प्रकट होता है। कभी तो माया-मोह का पुतला बना हुआ अपने बंधु-बांधवों को हृदय से चिपटाए रहता है; कभी दया-करुणा के वशीभूत हो सर्वस्व-दान भी कर देता है, श्रद्धा-विश्वास की अतिशयता के कारण सब-कुछ मानने को तैयार हो जाता है; कभी वीरता के आवेश में अत्यन्त विकट काम कर गुज़रता है; और कभी मान-प्रतिष्ठा, यश-कीर्ति के लिए लालायित होता है; कभी कभी अपना जीवन अश्रुमय बना लेता है। भावुकता की प्रेरणा द्वारा वह अपनी निजी आवश्यकताओं और भोग की इच्छाओं को दमन करना सीखता है, और अपने-आपको तथा संसार को एक अपेक्षाकृत अधिक सत्य-रूप में देखता है। शृङ्गार, वीर, करुणा इत्यादि भावों की प्रेरणा से तथा इनकी तृप्ति के लिए वह समाज की ओर खिंचता है, अपने को उसके अनुकूल बनाता है, तथा उसमें भाँति-भाँति की प्रथाएँ और रीति-रिवाज प्रचलित करता है। और समाज में इनकी तृप्ति के अवसर और साधनों से सन्तुष्ट न होकर वह कल्पना-देश में घुस जाता है और साहित्य तथा ललित-कलाओं द्वारा अपनी भाव-प्रबल आत्मा को विकसित तथा संतुष्ट करने का प्रयत्न करता है।

जब मनुष्य को भावुकता को पग-पग पर ठेस लगती है, जब अपनी और अपने प्यारों की रोग-व्याधि, जरा-मृत्यु के हाथों दुर्दशा होते देखकर उसका हृदय दुख-शोक से परिपूर्ण हो जाता है; जब परिस्थिति और मनुष्यों द्वारा उसकी भावुकता का भवन धराशायी कर दिया जाता है, और जब इस सब के परिणाम-स्वरूप वह अपने-आपको इस विश्व-प्रपंच, संसार-पहेली, से मुठभेड़ करते पाता है और इस विषम समस्या का हल सोचने के लिए बाधित तब मनुष्य एक नए रूप में दर्शन देता है। अब वह अपने चारों ओर आँख खोलकर देखता है और सोचता है कि यह है क्या? अब वह जानना चाहता है कि क्या करने से, किस प्रकार जीवन व्यतीत करने से वह सुख-शांति पा सकता है? इस अवस्था में मनुष्य के मन-बुद्धि जागृत हो जाते हैं, और वह व्यक्तित्व की बागडोर अपने हाथ में ले लेता है। इस अवस्था में वह

प्रधानतया एक जिज्ञासु है, धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक है।

इस विशाल व्यापक-जटिल-दुरूह-प्रश्न-रूप संसार के उत्तर-स्वरूप ही जागृत-मन-बुद्धि-मनुष्य अन्तहीन मत-मतान्तरों, धर्म-पंथों, पौराणिक कथाओं, कर्म-काण्डों, आचार-शास्त्रों, नियम-विधानों, विधि-निषेधों, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, देव-दानवों, की सृष्टि करता है; अनगिनत वाद-विवाद, तर्कनाएँ, शास्त्रार्थ और माथा-पच्चियाँ करता है और अन्ततः जब बुद्धि पैनी और विशुद्ध होने लगती है, तब प्रकृति के अटल अचूक नियमों का पता लगता है, विज्ञानों की नींव डालता है, मत-सिद्धान्त घड़ता है, दर्शन और तत्वज्ञान की पद्धतियाँ खड़ी करता है। अब वह अपना उत्तरदायित्व समझ कर अपने-आपको वश में रखना सीखता है और धर्माधर्म विचार द्वारा अपना कर्तव्य निश्चित करने और तदनुसार आचरण करने में प्रयत्नशील रहता है। अब वह एक विचारशील और सदाचारी व्यक्ति होने का दावा करता है। अब उसका जीवन नपा-तुला, कटा-छँटा हो जाता है। वह किसी मानसिक सिद्धान्त को नैतिक मान-दंड के रूप में स्वीकार करता है और उसी से ही अपने प्रत्येक आचरण के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करता हुआ फूंक-फूंक कर पांव धरता है।

क्रमशः इन-इन रूपों में अपने आपको जानता हुआ अपने भीतर गहरा-और-गहरा प्रविष्ट होता हुआ, वस्तुमात्र के सत्य के अधिक निकट आता हुआ, अन्त में मनुष्य अपने-आपको स्थूल शरीर, प्राण, चित्त और मन-बुद्धि-विशेष में निवास करने वाले, इन पर आश्रित, किन्तु फिर भी इनसे पृथक् अहंभाव के रूप में जानता है। इस समस्त विकास क्रिया द्वारा पुष्ट होता हुआ अहंभाव अब अपनी स्वतन्त्र मांग पेश करता है। वह देखा चाहता है अपने-आपको सबसे बड़ा, सबसे ऊँचा और सबसे श्रेष्ठ; सबसे सुन्दर, चतुर, कुशल, बुद्धिमान्; सबसे प्रबल, सबका स्वामी, और सबका प्यारा—एक शब्द में—परम। किन्तु अत्यन्त दुःख सहित वह पाता है अपने-आपको एक क्षुद्र, परिमित, शरीर-आबद्ध, शरीर-निर्भर, व्याधि-जरा-मृत्यु-ग्रस्त, अल्प शक्ति-विशिष्ट प्राणी; कोटि-कोटि जीवों में से एक साधारण जीव, अपार अथाह महासागर में एक बिंदु-मात्र, देश-काल के अनन्त विस्तार में एक क्षण-भंगुर बुलबुला, कल्पनातीत अनन्तता में खोया हुआ, उसके भार से कुचला हुआ; कार्य-कारण परम्परा में बुरी तरह जकड़ा हुआ, नियति-यदृच्छा का खिलवाड़।

वस्तु-स्थिति और महत्वाकांक्षा के बीच की इस विस्तीर्ण और अतल-खाई को वह पाटना चाहता है अभिमान-अहङ्कार की अनन्त रचनाओं द्वारा। इनको अपने ऊपर ओढ़ कर इनके द्वारा वस्तु-स्थिति को ढाँप कर वह अपने को और औरों को विश्वास कराना चाहता है कि वह सच-मुच ही परम है। इस विषम वस्तु-स्थिति से तनिक भी न घबराता हुआ वह बल, धन, भू-स्वामित्व, वैभव-ऐश्वर्य, सौन्दर्य, पाण्डित्य, सदाचार, धर्म, सभ्यता-संस्कृति के दृष्टि-बिन्दुओं से सर्वोत्कृष्टत्व सम्पादन करने का प्राण-पण से प्रयत्न करता है; और फिर इसके बल-बूते पर अपने आपको सच-मुच ही औरों से बड़ा, ऊँचा, श्रेष्ठ, विशिष्ट, शुद्ध-पवित्र, दिव्य मान बैठता है।

जब मनुष्य पाता है कि मन-द्वारा प्राप्त निष्कर्ष और मत-सिद्धान्त तो परस्पर विरोधी पड़ते हैं और एक दूसरे को काट डालते हैं, और उसकी विश्लेषणात्मक प्रणाली संसार-समस्या को सुल-

झाना तो दूर उलटे उसे कहीं अधिक उलझा हुआ और जटिल बना देती है; जब उसके कर्तव्याकर्तव्य के निर्णायक मानदण्डों के फ़ेल हो जाने के कारण वह किंकर्तव्य-विमूढ़ रह जाता है और परस्पर विरोधी कर्तव्यों के उठ खड़े होने से उसका हृदय एक संग्राम—संघर्ष—क्षेत्र में परिणत हो जाता है; जब उसकी अभिमान अहंकार की रचनाएँ वस्तु-स्थिति से टकरा कर चकनाचूर होकर झड़ पड़ती हैं और उसकी क्षुद्रता नंगी हो जाती है; तब उसे विचार पैदा होता है कि हो न हो यह संसार और इसकी इच्छाएँ और आशाएँ एक भुलावा, एक छलना ही है, एक माया-मरीचिका है जो नाना रूप धारण कर उसे कहाँ-कहाँ भटकाती फिरती है; एक दुस्स्वप्न, एक विषम यन्त्र है जिसमें फँसा-फँसा वह अन्तहीन दुःख-क्लेश भोग रहा है।

इस प्रकार जब यह संसार उसकी दृष्टि में एक अविद्या, अज्ञान, मिथ्या-माया, प्रपंच, भव-सागर का रूप धारण कर लेता है और वह स्वयं उसमें बुरी तरह फँसा हुआ दुःखी जीव; तब वह इससे छुटकारा पाने, कम-से-कम अपने लिये इसका अंत कर देने, इस बुलबुले को फोड़ देने और इस प्रकार इसके बन्धन का भी अंत कर देने के लिए उत्कण्ठित होता है। वह सोचता है कि संसार की ओर, प्रवृत्ति की ओर जाने से ही वह इसके बंधन में फँस जाता है, और अब संसार से विमुख, निवृत्ति की ओर जाने से ही वह इसके बन्धन से मुक्त हो सकेगा। वह सोचता है कि उसकी इच्छा-आशाएँ ही उसे संसार के हाथ में पकड़ा देती हैं, इसलिये इनका पूरी शक्ति से दमन करना चाहिए। ऐसा समझ कर वह अपने शरीर की आवश्यकताओं की अवहेलना करता है, प्राण की इच्छाओं का परित्याग करता है हृदय की कोमल वृत्तियों का दमन करता है, मन-बुद्धि के निष्कर्षों को अस्वीकार करता है, अहंभाव को संसार-त्यागी बनाता है—इस प्रकार अपने पहले के स्वरूप को दमन कर, जीवन स्रोत को सुखाकर इस सबसे परे वह जो कुछ है उसे जानना और उसमें प्रतिष्ठित होना चाहता है।

जब मनुष्य पाता है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति *के संघर्ष के कारण उसका जीवन घोर अशांति-*पूर्ण बना हुआ है; कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के अणु-अणु में व्याप्त जीवन-इच्छा वास्तव में दुर्दमनीय है और कभी हार न स्वीकार करेगी ; कि उसकी निवृत्ति की इच्छा ही उसकी प्रबलतम प्रवृत्ति बनी हुई इस संघर्ष को जारी रख रही है; कि प्रवृत्ति और निवृत्ति वास्तव में एक ही शक्ति के दो रूप हैं जो इस द्वन्द्व के रूप में प्रकट होकर और उसको उसमें लपेट कर सदा के लिये उसे भवबन्धन में फँसाये रखना चाहती हैं, तब वह प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों का परित्याग करता है, दोनों के द्वन्द्व के बीच उदासीन-निर्लिप्त रहता है, न संसार की ओर दौड़ता है और न संसार से भागता है, सर्वथा सम और शान्त रहना सीखता है।

इस प्रकार मनुष्य जब अपने मन में उदय होने वाले राग-द्वेष, आयोजन-प्रयोजन, विद्या-अविद्या, पाप-पुण्य, चित्त-वृत्ति-मात्र से न तो द्वेष करता है और न यही इच्छा रखता है कि उनका निवारण हो जाय, किन्तु उनको उत्-आसीन रह कर देखता है, तब उसे पता चलता है कि उसने तो अज्ञान-वश हो उन्हें अपने ऊपर ओढ़ लिया था, उनकी उत्पत्ति, स्थिति, लय का उत्तरदायित्व स्वीकार कर अपने को अशांत और दुःखी बना रखा था। वास्तव में तो वे प्रकृति के गुण हैं और उसी में उत्पन्न और लीन होते हैं, प्रकृति अपनी संसार-लीला जारी

रखने के लिये पुरुष के सन्मुख उनका प्रदर्शन करती रहती है। वास्तव में उसका उनसे कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु यदि वह उनसे राग अथवा द्वेष रखता है तो वह उनके बन्धन में फँस जाता है—उनसे एकाकार अथवा विमुख हो अपना-आपा खो बैठता है और भटकना तथा दुःख भोगता है। प्रकृति अपनी लीला कर रही है, करने दो। इससे उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उसे तो सदा केवल इतना याद रखना चाहिये कि वह इस सब से परे, इस सबसे अछूता है। गीता के शब्दों में ऐसा बनना चाहिए—

> प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोह मेव च पाण्डव।
> न द्वेष्टि सप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
> उदासीन वदासीनो गुर्णैर्यो न विचाल्यते ।
> गुणा वतर्न्त इत्येव योवतिष्ठति नेङ्गते ॥

ऐसा बन जाने से वह एक अभूत-पूर्व शांति अनुभव करता है—वह शांति जिसे कैसी भी वाह्य अशांति विचलित नहीं कर सकती। वह पाता है जैसे उसके समस्त पाप-ताप विलीन हो गये हैं, जैसे कुछ पाने और कुछ करने को उसे शेष ही न रह गया हो, जैसे उसके सीमाबन्धन एक स्वप्न की बात हों। वह पाता है अपने-आपको एक विशुद्ध साक्षी के रूप में विश्व-प्रकृति को निर्लिप्त रह कर देखता हुआ।

क्या यही मनुष्य के विकास की चरम सीमा है?—यह अवस्था जब कि वह निर्लेप पुरुष के रूप से प्रकृति में अपना प्रतिबिम्ब निहारता रहता है। जो जानते हैं वे बताते हैं कि वह इससे भी आगे बढ़कर अपने आपको प्रकृति के अनुमन्ता, भर्ता और भोक्ता के रूप में जानता है, और तब ही वह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँचता है। अनुमन्ता रूप से यह अनुभव करता है कि विश्व-प्रकृति जो-कुछ कर रही है उसकी अनुमति से कर रही है। भर्ता रूप से यह अनुभव करता है कि वह केवल अनुमति देकर ही चुपचाप नहीं बैठा है, किन्तु उसकी प्रत्येक गति-विधि को धारण करता है। भोक्ता रूप से यह अनुभव करता है कि उसके आनन्द के लिये ही प्रकृति यह विश्वलीला कर रही है। किन्तु यह तो जो जाने, सो जाने, हम तो बहुत पहिले से अनधिकार-भूमि में घुस आए हैं, इसलिये इससे लौट पड़ें।

√ हमारी नपुंसकता का मुख्य कारण, आत्मशक्ति में अविश्वास है। इस अविश्वास के कारण ही जनता में निराशा पैदा होती है। इस अविश्वास के कारण ही विचार और आचार में भेद होता है और किसी उद्देश्य के लिये निरन्तर श्रम नहीं किया जाता।

\+　　+　　+　　+

राष्ट्र-भक्ति हमारा धर्म है।

\+　　+　　+　　+

मनुष्य-मात्र से प्रेम करना—परस्पर के हित-विरोध तथा भेद-भाव को नष्ट करना विश्व-प्रेम है।

—मेजिनी

तपस्वी जाफर सादिक़

[अनु०—विनोदचन्द्र विद्यालंकार 'ध्रुव']

['मुस्लिम महात्माओं' गुजराती में एक बड़ी उत्तम पुस्तक है। मूलत: यह पुस्तक अरबी की है। अरबी में इसका नाम 'तजकरत् उल औलिया' अथवा 'अनवारुल अत्क़िया' है। इस सुन्दर पुस्तक का अनुवाद बंगाली में भी 'तापसमाला' के नाम से हुआ है। इसमें उन मुसलमान महात्माओं की कहानियाँ हैं जो कि मुसलमानों में ऊँचे दर्जे के सन्त और दिव्य जीवन वाले अद्भुत पुरुष हुये हैं। गुरुकुल के एक गुजराती स्नातक श्री पं० विनोदचन्द्रजी विद्यालंकार की प्रेमपूर्ण सहायता से हम आशा करते हैं कि इन महात्माओं की शिक्षापूर्ण जीवन कथाओं का रसास्वादन समय समय पर 'अलंकार' के पाठकों को कराते रहेंगे।—सम्पादक]

तपस्वी जाफर सादिक़, इस्लाम-धर्म के प्रचारक हज़रत मुहम्मद साहब के दौहित्र थे।

'तजकर तुल औलिया'-नामक ग्रन्थ का लेखक उनकी प्रशंसा करता हुआ लिखता है कि "जाफर सादिक़ सन्त-समाज के शिरोमणि थे। सम्पूर्ण जन-समाज उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धाभाव रखता था। वे धर्म-पथ के सच्चे नेता, एकेश्वरवादियों के गुरु इस्लाम-सम्प्रदाय के आचार्य, प्रभु-भक्तों में अग्रगण्य, महातपस्वी, परम-प्रेमी और महावैरागी थे। वे धर्मशास्त्रों के व्याख्यान करने में अत्यधिक निपुण थे।"

उनके समय में मन्सूर-नामक एक पुरुष अरब स्थान का ख़लीफ़ा था। सादिक़ की यशोगाथा सुनकर उसके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। एक दिन उसने अपने प्रधान को आज्ञा दी कि "जाइए तथा सादिक़ को यहाँ ले आइए।" इस आज्ञा से प्रधान को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वे बोले कि आप यह क्या कहते हैं? जो मनुष्य एक निर्जन स्थान में रहता है, जो अपना समस्त समय तपस्या में व्यतीत करता है, जिसे सांसारिक भोगों में कोई प्रयोजन नहीं है, उसके लिये यह आज्ञा!"

यह बात सुनकर ख़लीफ़ा बहुत नाराज़ होकर बोला कि "आपको उसे यहाँ लाना ही पड़ेगा।" प्रधान ने ख़लीफ़ा को इस अनुचित काम करने से रोकने के अनेक प्रयत्न किये; किन्तु कोई फल न निकला। अन्त में लाचार होकर वह सादिक़ को लेने गया। ख़लीफ़ा ने अपने अंग-रक्षकों को कह रखा था कि "जब सादिक़ यहाँ पर उपस्थित होवे और जब मैं अपने मस्तक का मुकुट उतारूँ, उसी क्षण तुम उसका मस्तक धड़ से अलग कर देना।"

कुछ दिनों के बाद ख़लीफ़ा की इच्छानुसार सादिक़ वहाँ आये। उस समय मन्सूर उनकी आव-भगत करने के लिये आगे गया और स्वागत-वचन कहकर उसने तपस्वी को उच्चासन पर बिठलाया और स्वयं नम्रता-पूर्वक उनके सामने ही बैठा रहा। इस दृश्य को देख कर ख़लीफ़ा के सेवक आश्चर्य चकित रह गये। कुछ समय पश्चात् मन्सूर ने सादिक़ से पूछा कि "आपको किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं है?"

सादिक़ ने उत्तर दिया कि "माँगना तो यही है कि दूसरी बार मुझे यहाँ बुलाकर तुम मेरे तप में विघ्न न डालना।"

तपस्वी जाफर सादिक़ की इस माँग को मन्सूर ने स्वीकृत किया और उनको सम्मान-पूर्वक विदा किया। तपस्वी को विदा करने के उपरान्त मन्सूर का सारा शरीर काँपने लगा और वह मूर्छित होकर गिर पड़ा। लोगों का कथन है कि वह तीन दिन तक अचेतनावस्था में पड़ा रहा था। जब उसकी मूर्छा भंग हुई, तब मन्त्री ने उसकी इस अवस्था का कारण पूछा। मन्सूर ने उत्तर दिया कि "जब सादिक़ मेरे पास आये तब मैंने देखा कि उनके साथ एक भयङ्कर सर्प था। वह सर्प अपने फण को फैलाकर मुझे सूचित कर रहा था कि 'यदि तूने सादिक़ को दुःख दिया तो मैं तुझे काट खाऊँगा।' इस सर्प के भय से मैं क्या बोला था, इसका भी मुझे ज्ञान नहीं है। मैंने उनसे क्षमा माँगी और उनके जाने के बाद मैं अचेत हो गया, केवल इतना ही मुझे ज्ञान है।"

*　　*　　*

एक दिन तपस्वी दाउद ताई महात्मा सादिक़ के पास आकर बोले कि "हे प्रभु की प्रेरणाप्राप्त पैग़म्बर साहेब के सुसन्तान! मेरा अन्तःकरण-वासनाओं से मलिन हो गया है, इसलिए कृपा करके मुझे उपदेश दीजिए।" यह बात सुनकर सादिक़ ने कहा कि "तपस्वी दाउद! तुम एक वीतराग महात्मा-रूप से विख्यात हो, तुमको मेरे उपदेश की क्या आवश्यकता है?"

यह सुनकर दाउद बोले कि "हे पैग़म्बर के प्रख्यात वंशधर! आप सर्वश्रेष्ठ हैं; इसलिए आप उपदेश दे ही सकते हैं।"

सादिक़ ने उत्तर दिया कि "हे दाउद! मुझे स्वयं अपने लिए ही सन्देह है कि क़यामत के दिन मेरे मातामह (मुहम्मद साहेब) मेरी तरफ़ संकेत करके कहेंगे कि "तूने किस लिए मेरा अनुसरण नहीं किया? वंश-परम्परा के कारण कोई उपदेशक नहीं बन सकता; यह तो सदाचार-परायण व्यक्ति हो कर सकता है।"

यह सुनकर दाउद का अन्तःकरण भर आया। वे रो पड़े। कुछ काल पश्चात् वे बोले कि "हे प्रभो, पैग़म्बर साहेब के पवित्र रक्त-कण जिसके शरीर में हैं, जिसका चरित्र धर्माचार्यों के लिए एक आदर्श है, जिसके मातामह स्वयं मुहम्मद साहेब हैं, जिसकी जननी परम धर्म-परायण है, ऐसे महामान्य तपस्वी सादिक़ ही जब अपने चरित्र पर इतने अधिक अभिमान-शून्य हों, तो अन्य पुरुषों की क्या सामर्थ्य है कि वे अपने आचरण का अभिमान करें।"

*　　*　　*

एक बार तपस्वी सादिक़ अपने साथियों से कहने लगे कि "चलो, आज हम परस्पर यह निर्णय करें कि हममें से जो कोई मुक्ति-लाभ करे वह क़यामत के दिन अन्य साथियों के पापों के लिए क्षमा-प्रार्थना करे।" यह सुनकर सादिक़ के मित्रों ने कहा कि "आपको हमारी प्रार्थना की क्या आवश्यकता है। आपके मातामह ही संसार की सिफ़ारिश करेंगे, वे आपको तो कदापि न भूलेंगे।" सादिक़ ने उत्तर दिया कि "मैं अपने चरित्र के विषय में इतना अधिक लज्जित हूँ कि क़यामत के दिन मैं अपने मातामह की तरफ़ दृष्टि-पात भी न कर सकूँगा।"

*　　*　　*

एक बार तपस्वी सादिक़ को उत्तम वस्त्र धारण किए हुए देखकर किसी ने कहा कि "आप पैग़म्बर साहेब के वंशज हैं, आपको ऐसे वस्त्र शोभा नहीं देते।" ये वचन सुनकर सादिक़ ने बोलने वाले का हाथ पकड़कर उत्तम वस्त्रों के नीचे पहने हुए मोटे वस्त्र दिखलाये और कहा कि "ये ऊपर के वस्त्र लोगों के लिए हैं और नीचे के वस्त्र ईश्वर के लिए हैं।"

एक बार किसी ने सादिक़ से कहा कि "आप एक उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं अतः आपके लिए यह अभिमान की बात है।" सादिक़ ने तुरन्त उत्तर दिया कि "मैं इस बात पर अभिमान न करूँगा, परन्तु इसमें अपना अहोभाग्य समझूँगा कि मैं ऐसे उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ।" जब मनुष्य अपने अभिमान का त्याग करता है तब उसमें ईश्वर का दिव्य प्रकाश आता है। मनुष्य को कभी भी अपने कुल तथा जाति का अभिमान नहीं रखना चाहिए; परन्तु ईश्वर की महिमा में, अपनी प्रतिष्ठा तथा अभिमान को मिटा देने में ही, अपना गौरव समझना चाहिए।

* * *

किसी समय एक मनुष्य के एक हज़ार रुपये खो गये। अनजाने में सादिक़ को पकड़ लिया। सादिक़ ने पूछा कि तुम्हारे कितने रुपये खोये गए हैं। उसने कहा कि एक हज़ार। सादिक़ उसको घर ले गये और १०००) गिन कर दे दिए। कुछ दिनों बाद उस मनुष्य को किसी अन्य स्थान से अपने रुपये मिल गये, तब वह सादिक़ के पास आया और लज्जित होकर कहने लगा, "बन्धु, मैंने भूल की है। आपने मेरे रुपये नहीं लिये थे। मुझे मेरे रुपये मिल गये हैं। इसलिये कृपया अब यह रुपये वापिस ले लीजिये।

सादिक़ ने उत्तर दिया—"मैं दी हुई वस्तु वापिस नहीं लेता हूँ।" अब उस मनुष्य को पता लगा कि यह तो तपस्वी सादिक़ है।

* * *

एक बार तपस्वी सादिक़ उच्च स्वर से ईश्वर का नाम उच्चारण करते हुए जा रहे थे। उनके पीछे एक और मनुष्य हे खुदा! हे परवरदिगार!! इस प्रकार बोलता हुआ जा रहा था। सादिक़ बोले कि "हे खुदा! आज तो पहनने तथा ओढ़ने के लिए कुछ भी नहीं है।" ईश्वर कृपा से उसी समय उनको नूतन वस्त्र प्राप्त हो गये। यह देखकर उनके पीछे आनेवाले पुरुष ने कहा कि "ईश्वर के नामोच्चारण में तो मैं भी आपके साथ था, अतः आपके जीर्ण-वस्त्र मुझे मिलने चाहिये; इसलिये मुझे अपने जीर्ण वस्त्र दे दीजिये।" यह बात तपस्वी सादिक़ को उचित प्रतीत हुई, इसलिये उन्होंने अपने वस्त्र उसको दे दिये।

* * *

एक मनुष्य ने तपस्वी सादिक़ के पास आकर कहा कि मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूँ, आप उसे मुझे प्रत्यक्ष रूप से दिखलाइये।" सादिक़ ने कहा कि परमेश्वर ने मूसा के प्रति जो फ़रमान निकाला है क्या तुमने वह नहीं सुना? परमेश्वर ने कहा है कि 'तुम मुझे न देख सकोगे' क्या यह बात तुम भूल गये? उस मनुष्य ने कहा कि ठीक है परन्तु इस समय तो पैग़म्बर साहब का धर्म-युग है। मूसा का समय तो चला गया। तब सादिक़ ने अपने साथियों से कहा कि 'इस मनुष्य को बाँध कर नदी में डाल दो।

तपस्वी की आज्ञानुसार साथियों ने उसे बाँधा, और नदी के जल में डाल दिया। कुछ क्षण के बाद उसको बाहर निकाल लिया; तब उस मनुष्य ने मन में सोचा कि मैंने इनके सामने तर्क किया है, अतः मेरी यह अवस्था की गई है। उसने कहा "हे पैग़म्बर साहब के वंशज! मुझे क्षमा करो।" सादिक़ ने पुनः साथियों को आज्ञा दी कि "इसको फिर पानी में डुबाओ। साथियों ने ऐसा ही किया। इस प्रकार अनेक बार डुबाकर उसे जल से बाहर निकाला। प्रत्येक बार वह क्षमा-याचना करता था। अन्त में जब उसे अत्यन्त गहरे जल में डालने की आज्ञा हुई, तब तो वह जीवन से निराश हो गया। उसे प्रतीत हुआ कि यहाँ मेरी कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है। उस समय उसने उच्चस्वर से प्रभु

का नाम लेना शुरू किया। प्रभु का नाम सुनकर सादिक ने साथियों से कहा कि "अब इसे छोड़ दो।" थोड़ी देर बाद उस मनुष्य के स्वस्थ होने पर सादिक़ ने उसे पूछा कि क्या तुमने ईश्वर देखा?"

उस मनुष्य ने उत्तर दिया कि "जब तक मैं दूसरों के सहारे पर था, तब तक मुझ पर आवरण पड़ा था; परन्तु जब मैंने केवल एक ईश्वर को ही आधार माना और उसके लिये व्याकुल हो गया; तब मेरे हृदय-कपाट खुल गये, हृदय में भगवान् के दर्शन हुए और मेरी अशान्ति दूर हुई।

सादिक़ ने कहा "ठीक है। जब तक तू मुझे याद करके आवाज़ करता था, तब तक तू असत्य वादी था, किन्तु अब तेरा हृदय-द्वार खुल गया है। इसे कभी बन्द न होने देना, इसकी सावधानी से रक्षा करना। मनुष्य को सदा दूसरों का आश्रय छोड़कर भगवान् का ही सहारा लेना चाहिए।"

महात्मा सादिक़ के उपदेश-वचन

१—जिस पाप को आरम्भ करने में भगवान् का भय लगता है और जिस पाप के अन्त में भगवान् के समीप क्षमा-प्रार्थना की जाती है, वह पाप भी साधक को ईश्वर के पास ले जाता है। परन्तु जिस तपस्या के आरम्भ में अहंभाव और अन्त में "मैंने तप किया" ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है, ऐसी तपश्चर्या भी साधक को कोसों दूर रखती है।

२—अहंकारी साधक साधक नहीं है, अभिमानी है। प्रभु की प्रार्थना करनेवाला पापी साधकों की श्रेणी में रखने योग्य है।

३—कृतज्ञ धनवान् की अपेक्षा सहनशील ऋषि श्रेष्ठ है। क्योंकि धनवान् का मन लक्ष्मी में फँसा रहता है, और तपस्वी ऋषि का मन ईश्वरापेक्ष होता है।

४—बिना पश्चात्ताप के सत्य-साधना का आरम्भ नहीं होता, अतः पश्चात्ताप साधना का प्रथम सोपान है।

५—पश्चात्ताप के विचार भी ईश्वर-स्मरण में अन्तराय रूप हैं। स्मरण के समय सम्पूर्ण विचारों को दूर करना चाहिए, ताकि स्वयं प्रभु ही सम्पूर्ण इष्ट वस्तुओं का स्थान ग्रहण करे।

६—ईश्वर कहता है कि "मैं अपनी स्वाभाविक करुणा से मनुष्य को उसकी इच्छा से भी अधिक देता हूँ।"

७—जो केवल जीवन-निर्वाह के लिये ही नीति-पूर्वक व्यवहार करता है, वही ईश्वर की महिमा समझ सकता है। परन्तु जो ईश्वर के लिये ही जीवन-निर्वाह करता है, वह तो ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

८—अमावस्या की घनघोर अन्धकारमयी रात्री में काले पत्थर पर चलनेवाली चिऊँटी की तरह ईश्वर मानव-हृदय में गूढ़-रूप से अवस्थित है।

९—जब मनुष्य को लोग 'उन्मत्त' अथवा 'मस्त' कह कर पुकारेंगे, तभी सत्य ज्ञान का उदय होगा। मनुष्य को यदि ज्ञानवान् शत्रु मिला हो तो उसे अपना सद्भाग्य समझना चाहिए।

निम्न चार प्रकार के मनुष्यों से सदा सावधान रहना चाहिये—

(१) असत्यवादी (२) मूर्ख (३) लोभी (४) नीच हृदयवाला।

प्रेम का पात्र

[ले०—तरंगित हृदय]

इस संसार में प्रेम ही एक सार वस्तु है। इस बड़े भारी ईश्वरीय कला-भवन में यह जो असंख्यों जीव-रूपी चक्र अपने अहङ्कार के अक्ष पर प्रतिक्षण वेग से फिर रहे हैं, उनकी रगड़ से पैदा आग से यह संसार-कला-भवन न-जाने कब का राख हो चुका होता, यदि इसमें प्रेम की स्निग्धता* के अनवरत मिलते रहने का समुचित प्रबन्ध न होता। वास्तव में हरएक जीव के हृदय में प्रेम का स्रोत भी विद्यमान है। जहाँ अप्रेम (स्वार्थ, द्वेष) बखेरने वाली, जुदा करनेवाली और नाश करनेवाली शक्ति है, वहाँ प्रेम (यज्ञ, संगठन) जोड़नेवाली, एक करनेवाली और जीवन पैदा करनेवाली शक्ति है। इसलिए मैं कहता हूँ कि इस संसार में प्रेम ही एक सार वस्तु है।

∴

पर इस प्रेम का प्रयोजन क्या है? प्रत्येक मनुष्य के हृदय-मन्दिर में जो यह प्रेम का दीपक जल रहा है, वह किस प्यारे को प्रकाशित करने के लिए अखण्ड जल रहा है? जीव-भ्रमर इस जगत् कमल पर फिरता हुआ इसके प्रेम-रस को चख चख कर जो इस मधु का निरन्तर संग्रह कर रहा है, वह अन्त में किसे समर्पित करने के लिए कर रहा है? प्रेम कर-करके हमने कहाँ पहुँचना है? किसे पाना है? एक शब्द में प्रेम का पात्र कौन है? हम जीवों के प्रेम का पूर्ण और परम पात्र कौन है?

∴

वैसे तो संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है—बुरी-से-बुरी, त्याज्य-से-त्याज्य कौन-सी वस्तु है—जिसे कि मनुष्य ने अपने प्रेम का पात्र नहीं बनाया है। अनगिनत लोग रूप, रस आदि इन्द्रिय के विषयों में अपना प्रेम रखते हैं, बहुत से स्त्री-पुत्र को ही प्रेम करने की चीज़ समझते हैं, कोई पैसे के पीछे पागल बने फिर रहे हैं, दूसरे मान पाने के लिए मतवाले हो रहे हैं, किन्हीं को दूसरों के सताने में मज़ा आता है, कोई मोह, अज्ञान में पड़े रहना चाहते हैं, किन्हीं को गुलामी प्यारी हो गई, ऊँट को काँटे चबाना ही भाता है, शूकर विष्ठा को देखकर आनन्द से खाने के लिए दौड़ता है। तो जीव ने प्रेम का पात्र किस वस्तु को नहीं बनाया है? पर, क्या प्रेम-जैसी पवित्र वस्तु इन्हीं पात्रों में रखने

---

* स्नेह का अर्थ तैल भी होता है और प्रेम भी।

के लिए मिली है ? क्या प्रत्येक प्राणी में प्रभु-द्वारा दिये गये प्रेम-प्रसाद का यही प्रयोजन है ?

∴

ऐ धन-दौलत के पीछे दौड़नेवालो ! तुम्हें कौन समझावे कि धन मनुष्य-प्रेम का आश्रय पाने योग्य वस्तु नहीं है। जब तुम्हारे रुपयों के जमा रखनेवाले बैंक 'फ़ेल' हो जाते हैं या दादा परदादाओं से संचित तुम्हारा धन-राशि को चोर उठा ले जाते हैं या व्यापार में घाटा हो जाता है, तब बेशक तुम्हारा 'हार्ट फ़ेल' हो जाता है या तुम रोने-चीखने लगते हो या अधमरे हो जाते हो। पर उन घटनाओं से भी तुममें बिरले ही होते हैं, जो धन के प्रेम के अपात्र होने के पाठ को पढ़ लेते हैं। प्रायः तुम फिर धीरे-धीरे माया के ही जोड़ने में लग जाते हो। तुम कितनी देर में इस पाठ को पढ़ोगे ? कितनी बार धक्के खाकर इस सचाई को सीखोगे ?

ऐ संसार के प्रेमीजनो ! तुम्हें कौन बताए कि ये संसार को भंगुर वस्तुएँ तुम्हारे प्रेम का पात्र होने के योग्य नहीं। जब तुम्हारी प्यारी स्त्री का देहान्त हो जाता है तो तुम दहाड़ें मार कर रोते हो, जब तुम्हारे प्राण-प्यारे सखा की प्रेम-रज्जु को (जिसे कि जितना खींचा गया था वह उतनी ही बढ़ती और दृढ़ होती गई थी) क्रूर काल एक क्षण में सदा के लिये काट डालता है, तो तुम्हारी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है, धरती तुम्हारे पैरों के तले से निकल जाती है। नहीं नहीं, ये क्षण-भंगुर विषय-सुख तुम्हें प्रतिदिन धोखा देते हैं और तुम प्रतिदिन दुःख विह्वल और क्लेश-पीड़ित होते रहते हो। पर फिर भी तुम अपने इन प्रेम-पात्रों की भंगुरता को नहीं अनुभव करते। तुम फिर मिट्टी के इन भंगुर भाण्डों में ही बूँद-बूँद करके प्रेमामृत को संचित करने में लग जाते हो। ये फूटनेवाले पात्र फिर-फिर फूट जाते हैं और तुम रोने लग जाते हो, पर यह नहीं सीख लेते कि इस अमूल्य प्रेमामृत को तुम्हें किसी दृढ़, विस्तृत, अविनश्वर पात्र में ही रखना चाहिये।

∴

जब तक मैंने प्रेम को संकुचित रखा, इसे विनश्वर पदार्थों में रख कर इस का आनन्द लेना चाहा तब तक यह मुझे सुख देने की जगह दाह और पश्चात्ताप के घोर दुःख में डालता रहा; किन्तु जबसे मैंने इसे फैला दिया, स्थिर, विस्तृत व्यापक वस्तुओं में आश्रित कर दिया तब से यह मेरे लिए अवर्णनीय शान्ति और सुख का स्रोत हो गया।

जब तक मैंने स्वार्थवश मधु-सार (Saccharine) से अपने मुख को ही मीठा करना चाहा, तब तक वह मुझे कड़वा लगता रहा, किन्तु जब मैंने सबके लिए इसे मटके-भर पानी में घोल दिया, तो यह सारा ही पानी मेरे और अन्य सबके लिए मीठा शरबत हो गया।

जब तक मैं प्रेम की अग्नि को अपने लिये जलाता रहा, तब तक यह जल-जल कर मुझे ही जलाती रही, किन्तु जब मैंने इसे सबके लिए जला कर फैला दिया, तो यह निर्मल ज्योति बनकर मेरे और सबके लिए जीवन, प्रकाश और सुख का साधन हो गई।

जब तक मैंने स्वार्थ के हाथों से प्रेम के बोझ को उठाना चाहा, तब तक मैं परेशान रहा; एक प्रेम-भार को उठाने का प्रयत्न किया, तो दूसरा गिर गया; किन्तु जब मैंने दोनों हाथों को फैलाकर उनसे पर-सेवा के विस्तीर्ण पात्र को पकड़ लिया, तो इस तरह मैंने हज़ारों भाई बहिनों के प्रेम को उसमें सुख से सँभाल लिया।

∴

विस्तृत प्रेम देखना चाहो तो उन भाई-बहिनों को देख लो जिन्होंने देश के लिए अपने क्षुद्र घर-बार छोड़ दिए हैं, जिन्होंने अपने प्रेम को देश-भर में फैला दिया है, अर्थात् अपनी जननी भारत माता को पहिचान लिया है और काश्मीर से कन्याकुमारी तक के प्रदेश को अपना घर समझ लिया है। ये जो सैकड़ों-हज़ारों लोग देश के लिए हँसते-हँसते मरे व जेल गये हैं, उनमें यह महान् शक्ति विस्तृत प्रेम ने ही उत्पन्न की है। जब कर्त्तारसिंह को फांसी का हुकुम हुआ और उसके सम्बन्धियों ने चाहा कि 'दया' करके इसकी फाँसी की सज़ा कालेपानी में बदल दी जाय, तो उसने कहा, 'नहीं, मैं यह घाटे का सौदा नहीं करूँगा।' यह घाटे का सौदा क्यों है? उसी के शब्दों में सुनिये कि "कालेपानी में १६ बरस बेकार सड़ने की अपेक्षा अभी फांसी चढ़ जाना इसलिए अच्छा है चूँकि अभी मर कर तो मैं इन १६ बरस में फिर भारत-माता की सेवा करने योग्य जवान हो जाऊँगा"। फाँसी चढ़ने की आज्ञा सुनकर बंगाली युवक ख़ुशी के मारे तोल में बढ़ गया था, यह भी हमने सुन रखा है। ओह, जहाँ कि मरना भी खेल हो जाता है, उस ऊँचाई में उठा देने की शक्ति विस्तृत प्रेम में ही होती है। लाजपतराय, तिलक, देशबन्धु, मोतीलाल, श्रद्धानन्द, पटेल, जवाहरलाल, गांधी हमारी अपेक्षा सैकड़ों दर्जा अधिक ऐश-आराम का जीवन बिता सकते थे, यदि वे ऐश-आराम को ही प्रेम की चीज़ समझते होते, फिर भी जो वे देश के लिए मरे हैं या देश के लिए बार-बार जेल जायें और फ़क़ीरी का जीवन बिता रहे हैं, तो यह किसी ऊँचे प्रेम में मतवाले हो कर ही कर रहे हैं। इन्होंने अपने प्रेम का पात्र एक स्थिर गम्भीर और बहुत बड़ी वस्तु को बनाया है। हम न-जाने कितनी बार मर चुके हैं और मर जायँगे; पर यह भारतवर्ष ज़िन्दा है और ज़िन्दा रहेगा। उसी अमर-भारत में इन देशभक्तों ने अपने प्रेम को निहित किया है, अमर किया है।

∴

और विस्तृत प्रेम देखना चाहो, तो उन लोगों को देखो, जिन्होंने अपना प्रेम सम्पूर्ण विश्व में फैला दिया है; उन संन्यासी-महात्माओं को देखो, जिन्होंने सचमुच वसुधा को कुटुम्ब बना लिया है। नहीं नहीं, तुम तो ज़रा बालक हक़ीक़तराय को ही याद करो, जिसने मरना स्वीकार किया, किन्तु धर्म का अपमान नहीं सहा; गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों की याद करो जिन्होंने ज़िन्दा दीवार में चुना जाना स्वीकार किया, पर अन्याय को नहीं सहा; सत्य-हरिश्चन्द्र की याद करो, जिसने राजपाट छोड़ दिया, किन्तु सत्य को नहीं तजा; सुक़रात को याद करो; जिसने ज़हर का प्याला पिया, किन्तु झूठ को न स्वीकार किया। क्या तुम उन महानुभावों को नहीं जानते, जिन्होंने ज़िन्दा अपने शरीर को इस लिए चिरवाया कि इससे शरीर-विज्ञान को सचाई प्राप्त हो सके, जिन्होंने अपने आप पर परीक्षण करके इसलिये प्राण तक दे दिए कि इससे आने वाले मनुष्य-समाज का सत्य-ज्ञान द्वारा उपकार हो सके। इन महानुभावों में जो ये अलौकिक शक्तियें प्रगट हुई हैं, यह और कुछ नहीं हैं, यह प्रेम की ही अद्भुत शक्तियें हैं। जो मनुष्य अपने प्रेम को जितनी उच्च, महान् और शक्तिशाली वस्तु में आश्रित करता है, उस मनुष्य में उतना ही उच्च, महान् और शक्तिशाली सामर्थ्य प्रगट होता है। यह सब प्रेम-शक्ति का ही खेल है।

∴

देश-प्रेम, विश्व-प्रेम, सत्य-प्रेम आदि से परे जो प्रभु-प्रेम है, उसकी कहानी मैं पामर कैसे कहूँ?

यदि कभी किसी सच्चे भक्त के दर्शन तुम्हें हो जायँगे, तो उसकी वाणी क्या, उसकी आँखों में दिखाई देनेवाला अमर नशा ही तुम्हें उस अमर-प्रेम की कहानी सुना देगा। शायद तुम्हें नचा देगा, हिला देगा। मरते समय ऋषि दयानन्द ने गुरुदत्त को हिला दिया। गुरुदत्त कहते हैं कि मरते समय ऋषि के मुख पर ऐसा आनन्द था जैसे कि चिर-बिछुड़े सखा के यकायक मिलने पर आनन्द होता है। सचमुच प्रभु प्रेम के मुक़ाबिले में और किसी वस्तु में आनन्द नहीं, किसी वस्तु में रस नहीं।

"कबिरा आया फिर गया, फीका है संसार।"

तुम्हें चाहे बेशक अभी तक संसार के विषयों की मलिनताओं में रस आता होगा, पर सच यह है कि सब संसार फीका है; माधुर्य एक-मात्र उस प्रभु में ही है। उसी को पाने के लिए प्रत्येक प्राणी में ठहरा हुआ प्रेम विह्वल होकर प्रतीक्षा कर रहा है। उसे ही न पा लेने से सब बेचैनी है। यही मनुष्य-प्रेम का पूर्ण-पात्र है, परम-पात्र है। ऐसा पूर्ण-पात्र है कि उसे पाकर मनुष्य का प्रेम सर्व-व्यापक हो जाता है और ऐसे मनुष्य के लिये संसार में कोई वस्तु अप्रिय नहीं रहती। ऐसा परम-पात्र है कि इसका कभी भंग नहीं हो सकता, विनाश नहीं हो सकता, यह पात्र नित्य है, सनातन है, इसमें अपने प्रेम-पीयूष को रखकर बन्धन मुक्त हुए पुरुष अनन्त काल तक प्रभु-प्रेम का रसा-स्वादन करते हैं।

∴

ऐ नयी-नयी चीज़ों से प्रेम लगानेवालो! प्रेम की उमंग में बहे जानेवालो! ज़रा ठहरो, ठहर कर देखो, देखो कि तुम्हारा प्रेम किधर जा रहा है, तुम्हारा मन शूकर-पशु की तरह अध्रुव विषय-मलिनताओं में रम रहा है या मनुष्य-मनुष्य की तरह निःस्वार्थ सेवा-जैसी ध्रुव वस्तुओं में। सच्चे प्रेम की पहिचान यह है कि उसके लिये प्रेमी सर्वस्व समर्पण करने को तैयार रहता है। अतः नाम के प्रेम और सच्चे प्रेम की परीक्षा बलिदान का समय आने पर हो जाती है।

प्रेम न बाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय।
जे को पै की चाह है, सीस देहि लै जाय॥

इस परख से तुम भी देखो कि तुम्हारा सच्चा प्रेम कहाँ है? महात्मा गांधी कहते हैं कि वे सत्य के लिए हिमालय से छलांग मारने को तैयार हैं। सोचो कि क्या कोई वस्तु तुम्हें भी ऐसी प्रिय है, जिसके लिए तुम मरने को तैयार हो; यदि नहीं, तो तुम मौत से मारे रहोगे। सोचो कि क्या कोई वस्तु ऐसी है, जिसके लिये तुम सब क्लेशों को सहने को तैयार हो; यदि नहीं, तो तुम अभी क्लेशों से सताये रहोगे। प्रकृति के धक्के ही धीरे-धीरे तुम्हें अध्रुवों की जगह ध्रुव वस्तुओं से प्रेम करना सिखावेंगे। पर धन्य हैं वे धक्के जो कि मनुष्य को सच्चे प्रेम की राह दिखा देते हैं; धन्य है वह घड़ी जब कि ये आँख खोलनेवाले धक्के किसी मनुष्य को लगते हैं और धन्य हैं वे मनुष्य जो कि इन सचेत करनेवाले धक्कों के पात्र बनते हैं। पर यदि तुम इन धन्य-धक्कों के भी पात्र नहीं हो, तो भी कोई बात नहीं, तुम ठहरो, अभी ठहरो, अभी तुम्हारे सौभाग्य का समय नहीं आया है, यही कहा जा सकता है।
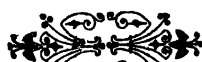
गुरुकुल-विद्यालय सोनगढ़

[ले०—प्रतिष्ठित स्नातक पं० सूर्यकान्त वेदालंकार]

काठियावाड़ में सोनगढ़-प्रदेश अपनी अच्छी आबोहवा के लिए प्रसिद्ध है। काठियावाड़ के क्षय के बीमार यहीं के स्वास्थ्यकर स्थान (Sanitorium) में स्वास्थ्य-लाभ करने के उद्देश्य से आते हैं। इसी स्वास्थ्य-प्रद वातावरण से घिरे पुण्यस्थल में महर्षि दयानन्द की तपस्या और साधनाओं का मूर्त-रूप गुरुकुल भी विद्यमान है।

आर्य-कुमार-महासभा बड़ौदा की संरक्षकता में दानवीर स्वर्गीय सेठ श्री मनसुखलाल छगनलालजी के दान द्वारा आज लगभग पाँच वर्ष पहिले १६८५ विक्रमी संवत् माघ बदी १४ अर्थात् शिवरात्रि के शुभदिन वैदिक संस्कृति, सामाजिक एवं नागरिक शिक्षा के प्रचार को लक्ष्य में रखकर इस की स्थापना की गई थी। इतने छोटे जीवन काल ही में जिस अदम्य उत्साह और अनुपम-भावना के साथ इस संस्था ने अपनी चौमुखी उन्नति की है, उसे देखकर अनायास ही मुँह से निकल पड़ता है कि "निकट भविष्य में अर्वाचीन भारत की अँगुलियों पर गिनी जाने वाली सच्ची शिक्षा-संस्थाओं में इसकी भी गर्व-पूर्वक गिनती की जायगी।"

आज-कल यहाँ आठ श्रेणियाँ हैं, जिनमें लगभग २०० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। विद्यार्थियों को व्याकरण, धर्म-शिक्षा, साहित्य, इतिहास, अँगरेज़ी, गुजराती, गणित एवं भूगोल इत्यादिक विषयों के उचित ज्ञान के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला, व्यायाम तथा शिल्प का भी विशेष अभ्यास कराया जाता है। इससे जहाँ विद्यार्थियों के लिये बौद्धिक विकास का मार्ग खुल जाता है, वहाँ वे अपने शरीरों को सुघड़ बनाने और अपनी अन्तः मनोवृत्तियों को सूक्ष्म और एकाग्र करने की तरफ़ भी प्रवृत्त होते हैं। इस दृष्टि से विकासवाद के सिद्धान्तानुसार गुरुकुल सोनगढ़ की शिक्षणशैली को गुरुकुल शिक्षणशैली का संस्कृत-रूप कहा जा सकता है। अन्य किसी भी गुरुकुल में संगीत और चित्रकला का अभ्यास नियमित रूप से नहीं कराया जाता। इनके अभ्यास के बिना, वस्तुतः शिक्षा अधूरी ही रहती है। गुरुकुल सोनगढ़ ने संगीत और चित्रकला को अपनी शिक्षा-पद्धति का अंश बनाकर गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली को और अधिक परिमार्जित और पूर्ण बनाने की कोशिश की है। भारतीय शिक्षणालयों के विकास के इतिहास में जो स्थान काँगड़ी के विश्वविद्यालय को प्राप्त है, निस्सन्देह वही स्थान गुरुकुलों के विकास के इतिहास में गुरुकुल सोनगढ़ को प्राप्त होना चाहिए।

१८५८ के बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के विश्वविद्यालय, लॉर्ड मैकॉले की स्कीम के अनुसार प्राचीन भारतीय संस्कृति के विनाश तथा भारतीयों में मानसिक-दासता एवं निष्क्रियता की मनोवृत्ति को पैदा करने के लिए खोले गये थे। १८८२ में पंजाब-विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ प्राच्य-विभाग (Oriental Faculty) खुला, जो भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से शिक्षा के इतिहास में विकास का पहिला क़दम था। किन्तु तब तक भी शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी होने से राष्ट्रीयता

की भावना के मार्ग में, जो कि शिक्षा का सच्चा ध्येय है, एक बड़ी भारी बाधा मौजूद थी। १९०२ ई०

ब्रह्मचारी संगीत सीख रहे हैं।

में गुरुकुल-विश्वविद्यालय काँगड़ी की स्थापना के साथ इस कमी की पूर्ति हुई। यद्यपि १६०२ ई० के बंग-भंग-आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप National council of education का बंगाल में जन्म हुआ। इसके अनन्तर प्रेममहाविद्यालय-जैसी औद्योगिक-संस्था का जन्म हुआ। और महात्माजी के सत्याग्रह-आन्दोलन के कारण राष्ट्रीय विद्यापीठों का भी जन्म हुआ, परन्तु गुरुकुल काँगड़ी के बाद उत्पन्न हुए, ये शुद्ध राष्ट्रीय शिक्षणालय वर्तमान विदेशी शासन से निरन्तर संघर्ष में आते रहने के कारण स्थायी रूप से शिक्षा-संबन्धी उन्नत-शिक्षा की तरफ़ क़दम नहीं उठा सके, ऐसा कहा जा सकता है। अतः गुरुकुल-विश्वविद्यालय काँगड़ी की शिक्षणशैली की कुछेक कमियों की पूर्ति गुरुकुल सोनगढ़ की स्थापना के ही साथ हुई। इस प्रकार गुरुकुल-विद्यालय सोनगढ़ को भारतीय शिक्षणालयों का अब तक का विकसित रूप कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

संगीत और चित्रकला के अतिरिक्त शिल्प और उद्योग में भी इसने राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं के सामने एक आदर्श स्थापित किया है। वस्तुतः आधुनिक युग में संसार की वे सम्पूर्ण शिक्षा-संस्थायें, जिनसे विद्याभ्यास करके बाहर आने के बाद भी विद्यार्थियों का भावी जीवन पहेली ही बना रहता है और जिनका शिक्षण उनके अगले जीवन के लिये भौतिक पहलू की दृष्टि से एकदम अनुपयोगी साबित होता है, अकृतकार्य समझी जा रही हैं। इसी कारण इस समय प्रत्येक राष्ट्र अपने विश्वविद्यालयों में क्रियात्मक विज्ञान (Applied Sciences) तथा शिल्प आदि के शिक्षण का विशेष महत्त्व दे रहा है। तीसरी गोलमेज़-परिषद् से लौट कर भारत आने के बाद १९३२ के बनारस विश्वविद्यालय के दीक्षान्ताभिभाषण में महामना मालवीयजी ने हिन्दू-विश्वविद्यालय में Applied

व्यायामशाला का एक दृश्य।

Science एवं शिल्प के शिक्षण के नाम से ही ५ करोड़ रुपये की जनता से अपील की थी। उनका

कहना था कि यूरोप की बड़ी-बड़ी विश्वविख्यात शिक्षासंस्थाओं की सफलता उनके क्रियात्मक विज्ञान और शिल्प के शिक्षण का ही परिणाम है। वस्तुतः भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों में भी जब तक उपर्युक्त विषयों का शिक्षण-क्रम जारी न कर दिया जायगा, तबतक यहाँ की बढ़ती बेकारी और आर्थिक समस्या का कोई हल भी नहीं निकलेगा। प्रेज़ीडेण्ट रूज़वेल्ट का १९३३ का बेकारी-विधान (Unemployment Plan) दुनिया के अन्य स्वाधीन राष्ट्रों की बेकारी की समस्या को किसी हद तक सुलझाने में मार्ग-प्रदर्शक हो सकता है, मगर पराधीन हिन्दुस्तान की बेकारी की समस्या तब तक नहीं सुलझ सकती, जब तक उसके शिक्षणालयों के पाठ्यक्रम में क्रियात्मिक विज्ञान और शिल्प का नियमित रूप से प्रवेश न करा दिया जाय। गुरुकुल-विद्यालय सोनगढ़ ने इस दिशा में भी क़दम उठा कर बहुत-सा उपयोगी किन्तु परिश्रम-साध्य परीक्षण करना चाहा है।
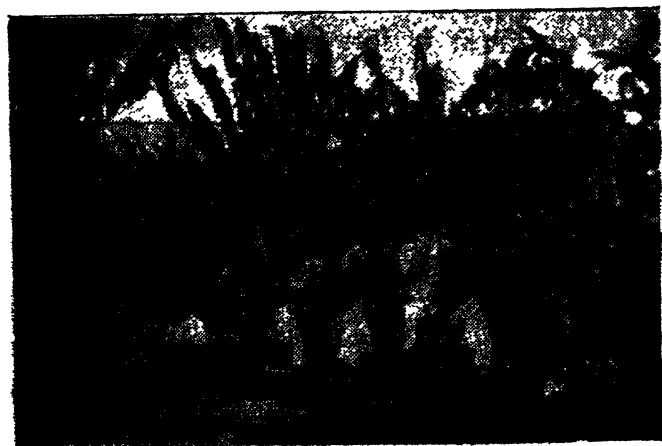
संगीत-शिक्षा का एक अन्य दृश्य।

इस समय यद्यपि श्रेणियों के कम होने से, संगीत-चित्रकला तथा शिल्प पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सके हैं तथापि कुछ वर्षों में जैसे-जैसे संस्था अपने स्वाभाविक और इसी लिये विकसित स्वरूप को प्राप्त करती जायगी, वैसे ही यह भी आशा की जा सकती है कि इनका भी पूर्ण-विकास होता जायगा। गुरुकुल काँगड़ी के पाँच सुयोग्य स्नातकों तथा अन्य अनेक समर्थ अध्यापकों की सहायता से आचार्य चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति विद्यार्थियों की शिक्षा को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये अपनी सम्पूर्ण-शक्ति से उद्योग कर रहे हैं।

शिक्षा के अतिरिक्त यहाँ का आन्तरिक प्रबन्ध भी सामान्यतया उत्तम ही है। बाह्य-प्रबन्ध में धनाभाव के कारण कुछ शिथिलता सी प्रतीत होती है। संस्था के मुख्याधिष्ठाता श्री चतुर्भाईजी आजकल इसी लिये चन्दे पर अफ्रीका गये हुए हैं। हमारी आर्य-जनता का भी फ़र्ज़ है कि वह भी इस पवित्र संस्था की धनादि से सहायता करे।

अन्त में चेतावनी के तौर पर यह लिख कर लेख समाप्त करता हूँ कि प्रगतिशील संस्थाओं से जितनी शीघ्रता से उन्नति की आशा की जा सकती है उतनी ही और उससे भी अधिक शीघ्रता से उनकी अवनति की भी आशा की जा सकती है। तेज़ गाड़ी को ठीक रास्ते से निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने में जितनी देर लगती है, मार्गभ्रष्ट होने पर अनिर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने में भी उतनी ही देर पर्याप्त होती है। परमात्मा करे कि गुरुकुल सोनगढ़-जैसी उन्नतिशील संस्था पर यह बात न घटे।

प्रत्येक संस्था की अपनी महत्वाकांक्षायें होती हैं। उनकी वेदी पर उनके संस्थापक अपने जीवन की आहुति देकर भी उन्हें पूरा करना चाहते हैं। किन्तु इस लक्ष्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आकांक्षाओं के समयानुकूल होने पर ही संस्था तथा उसके संस्थापकों के

यश के साथ-साथ संसार का भी भला होता है, जो इससे विपरीत अवस्था में नहीं हो सकता। गुरुकुल सोनगढ़ के अधिकारी इसे आर्य-विश्वविद्यालय (Aryan University) बनाने को ऊँची उड़ान ले सकते हैं। किन्तु आधुनिक विश्वविद्यालयों की अनुपयोगिता को अनुभव करते हुए यह कहना अविचार-पूर्ण न होगा कि यह उनकी बड़ी भारी भूल होगी—अच्छा हो यदि वे अपने समूचे परिश्रम और धन को, जो उन्हें उसे विश्वविद्यालय का (form) रूप देने में व्यय करना होगा, इसे शुद्ध व्यावसायिक और व्यापारिक महा-विद्यालय (Industrial Commercial College) बनाने में खर्च करें। गुरुकुल-विश्वविद्यालय काँगड़ी तथा गुरुकुल-महाविद्यालय (भावी) सोनगढ़ का यह सम्बन्ध और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। गुरुकुल सोनगढ़ के अधिकारी-परीक्षा-उत्तीर्ण और साथही आर्ट या वेद-विद्यालय में पढ़ने की इच्छा रखनेवाले विद्यार्थी काँगड़ी चले जाया करें तथा वहाँ के शिल्प और व्यवसाय में आने की इच्छा रखनेवाले विद्यार्थी सोनगढ़ आया करें। इससे जहाँ धन का अपव्यय न होगा वहाँ व्यावसायिक एवं व्यापारिक शिक्षण के कारण विद्यार्थियों की भावी जीवन की आर्थिक समस्या का हल भी सहज ही में हो जायगा। सोनगढ़ में शिल्प-महाविद्यालय का खुलना इसलिये अधिक उपयोगी भी होगा क्योंकि यहाँ पहिले से यह विषय विद्यार्थियों को सिखाया जाता है।

मुझे पूर्ण-आशा है कि गुरुकुल सोनगढ़ के अधिकारी इस तरफ़ खूब सोच-विचार कर ही क़दम उठायेंगे और इतने वर्षों के प्रयत्न के बावजूद भी जिस कार्य को काँगड़ी के वेद या साधारण-महाविद्यालय के स्नातक पूर्णतया नहीं कर सके, उसी कार्य को वैदिक व्यापारी और वैदिक व्यवसायी अधिक सफलता और खूबी के साथ कर सकेंगे। परमात्मा इस संस्था को शक्ति और उत्साह प्रदान करें ताकि यह उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर हो सके।

[गुजरात में एक और गुरुकुल है, गुरुकुल सूपा। यह भी एक सुव्यवस्थित और उन्नति-शाली संस्था है। यह दशवीं श्रेणी तक पहुँच चुका है, इसके ब्रह्मचारी इस वर्ष अधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण कर गुरुकुल काँगड़ी के महाविद्यालय में आये हैं। सुना है कि सूपा-गुरुकुल के संचालक भी अपना महाविद्यालय विभाग वहीं खोलने का विचार कर रहे हैं। आशा है वे भी इसमें जल्दी नहीं करेंगे। इसमें सन्देह नहीं है कि यदि वे महाविद्यालय विभाग खोलें तो वेद महाविद्यालय या साहित्यिक महाविद्यालय खोलने की जगह उन्हें उद्योग (Industrial) महाविद्यालय खोलना चाहिये। इसी में सबका लाभ है।—संपादक]

कोरा पुस्तकी ज्ञान भारत के शिक्षित युवकों को असमर्थ तथा नपुंसक बना रहा है। पुस्तकी ज्ञान के साथ साथ दस्तकारी तथा व्यवसायिक शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिए। इस राष्ट्रीय माँग को पूरा करने वाले शिक्षणालय ही राष्ट्रीय शिक्षणालय हैं।

१. आज्ञा-पालन

[ले०—श्री० सा० देवनाथजी विद्यालंकार]

विद्यार्थियों के साथ रहनेवाले प्रत्येक शिक्षक को यह अनुभव होता है कि विद्यार्थी भिन्न भिन्न परिस्थितियों में अपनी शारीरिक व मानसिक दुर्बलताओं को दूर करने का पूरा प्रयत्न करे और उसका योग्य पथ-प्रदर्शक बने तभी शिक्षण-क्षेत्र में आवश्यक परिवर्तन हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

इस लेखमाला के अन्दर भिन्न भिन्न प्रसंगों में होनेवाली विद्यार्थियों की शारीरिक व मानसिक दुर्बलता का उल्लेख किया जायगा, तथा उन प्रसंगों में शिक्षक को किस सावधानी से व्यवहार करना चाहिये जिससे विद्यार्थी को पूरा लाभ हो, इन बातों का भी थोड़ा-बहुत उल्लेख किया जायगा।

बहुत बार जिन आदतों को शिक्षक बहुत बुरा समझता है। वे वास्तव में विद्यार्थी की निज बुरी आदतें नहीं होतीं परन्तु वे संयोग, वातावरण, गलत-नियंत्रण व उनकी शारीरिक व मानसिक दुर्बलता का ही परिणाम होती हैं, ऐसी परिस्थिति में वातावरण को शुद्ध रखना, शारीरिक व मानसिक दुर्बलता को दूर करना शिक्षक का परम कर्तव्य है। पहिले हम आज्ञा-पालन पर विचार करते हैं।

विद्यार्थी को आज्ञा-पालक तो होना ही चाहिये, शिक्षक जो भी आज्ञा दें उसका बिना ननु-नच किये पालन करना उसका कर्तव्य है, ऐसे विचार रखने वाले शिक्षक अब भी मौजूद हैं। आज्ञा-पालन क्या है? विद्यार्थी में यह गुण कैसे और किस तरह उत्पन्न किया जा सकता है--यदि इन बातों को शिक्षक ठीक प्रकार से जानता हो, तो शिक्षकों की क्रूरता—कठोर नियंत्रण के परिणाम-स्वरूप जो एक प्रकार की गुलामवृत्ति विद्यार्थी में पाई जाती है, वह तो रहे ही नहीं।

आज्ञा-पालन वास्तव में बहुत अच्छा सद्‌गुण है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि वह कैसा हो? उसका स्वरूप कैसा हो? स्कूल व पाठशालाओं में इसके भिन्न भिन्न स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। कोई विद्यार्थी अपने शिक्षक की आज्ञा-पालन कर रहा होता है, तो कोई खुशामद के कारण; कोई शिक्षक का प्रिय बनने के के लिये, तो कोई अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए। कोई विद्यार्थी बिना विवेक व विचार के आज्ञा-पालन में ही अपना कर्तव्य समझते हैं। स्कूल में शायद ही कोई विद्यार्थी ऐसा हो जो आज्ञा-पालन के आन्तरिक भाव को समझता हुआ प्रेम, श्रद्धा और सद्‌भाव से प्रेरित होकर और अपनी ज़िम्मेदारी को समझ कर शिक्षक की आज्ञा का पालन करता हो। इसकी मुख्य ज़िम्मेवारी शिक्षक के माथे पर है, क्योंकि शिक्षक आज्ञा-पालन के आन्तरिक भाव को समझने की बुद्धि के

विकसित करने का मौका विद्यार्थी को नहीं देता है। वह विद्यार्थी से मूक-आज्ञा-पालन की आशा रखता है। कई शिक्षक तो यहां तक कहने का साहस कर बैठते हैं कि विद्यार्थी अपनी वृत्तियों को क़ाबू में रखना तभी सीख सकते हैं जब कि वे अपनी वृत्ति-इच्छा को गुरु की इच्छा के आधीन कर देवें अर्थात् गुरु की आज्ञा के अनुसार ही सब काम करें यही आज्ञा-पालन है। इसके परिणाम-स्वरूप विद्यार्थी में मानसिक निर्बलता आ जाती है वह पराधीन हो जाता है। सभी बातों में वह शिक्षक का मुँह जोहता है यहां तक कि किसी कठिन अवसर पर स्वयं विचार कर किसी निर्णय पर पहुँचने की शक्ति भी उसमें नहीं रहती जिस प्रकार गुलाम बिना विचार किए मालिक के हुक्म को मानता है उसी प्रकार शिष्य भी शिक्षक के हुक्म के आधीन रहता है। शिक्षक भी यहाँ तक धृष्ट हो जाता है कि यदि विद्यार्थी उसकी आज्ञा को न पाले, तो वह दंड देता है अथवा दंड का भय दिखाता है—इसका परिणाम स्पष्ट है। इस प्रकार का भय दंड द्वारा कराया गया आज्ञा-पालन तो विद्यार्थी में गुलामी को जन्म देता है यह एक प्रकार की गुलामी ही है। जिस प्रकार एक गुलाम अपने मालिक के, कुत्ता लात के, और घोड़ा चाबुक के वश में रहता है, इसी प्रकार विद्यार्थी शिक्षक के आधीन रहता है। जिस समय यह अंकुश दूर हो जाता है, उस समय आज्ञा-पालकता नामक गुण भी उड़ जाता है; विद्यार्थी लुच्चा, ढोंगी और खल बन जाता है।

कई स्कूलों में विद्यार्थियों को आज्ञा-पालक बनाने के लिए सैनिक-क़वायद सिखाई जाती है। व्यवस्था, एकत्र-कार्य, ध्यान आदि बातों को सिखाने के लिये यदि स्कूलों में सैनिक-क़वायद सिखाई जाती होती तो ठीक था, परन्तु मालूम होता है कि इस विचार को भुला दिया गया है। मैं एक स्कूल में गया; वहाँ एक शिक्षक विद्यार्थियों को सैनिक क़वायद सिखा रहे थे मैंने उनसे पूछा—महाशय! आप लोग स्कूल में सैनिक-क़वायद क्यों सिखाते हैं? उन्होंने तुरन्त ही जवाब दिया "विद्यार्थियों को आज्ञा-पालन की शिक्षा देने के लिए।" इन उपर्युक्त कारणों से जिन स्कूलों में सैनिक-क़वायद सिखाई जाती हो वहाँ विद्यार्थियों को गुलाम बनाने के सिवाय और क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। ऐसी सैनिक-क़वायद से विद्यार्थी गुलाम बन जाता है अथवा उद्धत और उच्छृङ्खल।

छोटे विद्यार्थियों में सामान्यतया सदसद्-विवेक बुद्धि बहुत कम परिमाण में होती है, यदि उनको अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के अनुसार आचरण करने की छूट दी जाय तो हानि होने की सम्भावना रहती है। सम्भव है कि विद्यार्थी अपनी मानसिक व शारीरिक दुर्बलता-वश बुरे मार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाय। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह तो कहना ही पड़ेगा कि विद्यार्थी को किसी हद तक शिक्षक के निर्णय पर भरोसा तो रखना ही होगा और कई ऐसी बातों में, जहाँ विद्यार्थी की बुद्धि कुछ भी काम नहीं कर सकती, वहाँ शिक्षक के आधीन रह कर काम करना श्रेयस्कर है। ऐसी अवस्था में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि विद्यार्थी आज्ञा-पालक तो बने परन्तु गुलाम नहीं। विद्यार्थी शिक्षक की आज्ञा पालता हो परन्तु पराधीन होकर नहीं। विद्यार्थी शिक्षक के वशवर्ती रहे परन्तु अपनी स्वतन्त्रता खो करके नहीं। विद्यार्थी शिक्षक की आज्ञा को मानता हो, परन्तु विवेक से, सोच समझ कर। प्रश्न है—यह कैसे हो?

प्रेम का प्रभाव अचिन्तनीय है। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रेम के वश में न होता

हो, तो फिर विद्यार्थी का क्या कहना ? जो शिक्षक प्रेम रूपी अद्भुत बूटी का प्रयोग करता हो, उसका तो विद्यार्थी पर जादू का-सा असर होता है। जहाँ प्रेम है वहीं सब कुछ है। शिक्षक विद्यार्थी को सच्चे दिल से चाहता हो, तो विद्यार्थी का भी शिक्षक के प्रति सच्चा प्रेम हो जाता है। इसी प्रेम के वश में होकर विद्यार्थी आज्ञाशील बनता है। अपने पर प्रेम रखनेवाले ही की आज्ञा के वशवर्ती रहने में तो विद्यार्थी अपना गौरव अनुभव करता है। विद्यार्थी बालक होता है, इसलिये उसमें अज्ञानता और निर्बलता होनी स्वाभाविक है। जहाँ उसको मार्ग नहीं सूझता वहाँ वह दूसरे की बुद्धि व दूसरे के ज्ञान का आश्रय खोजता है। यदि इस प्रकार का आश्रय अपने स्नेही की तरफ़ से मिलता है, तो उसको अपने स्नेही की बुद्धि व ज्ञान का सच्चा लाभ मिल जाता है। इस कारण वह आज्ञा-पालक रहता हुआ भी अपने विकासक्रम में बढ़ता ही जाता है। इसी कारण शिक्षक की सबसे बड़ी योग्यता तो उसका प्रेमी-स्नेही होना है। जिस शिक्षक में प्रेम नहीं, वह शिक्षक होने के योग्य नहीं। विद्यार्थी के ऊपर प्रेम रखनेवाला शिक्षक ही उसे सच्चे मार्ग पर ले जा सकता है। विद्यार्थियों की भूलों को सुधारने के लिये अथवा उनकी निर्बलताओं व कमियों को दूर करने के लिये जहाँ सभी प्रकार के उपाय निष्फल साबित होते हैं, वहाँ प्रेमी शिक्षक को एक छोटी सी आज्ञा ही सफल सिद्ध होती है। जहां विद्यार्थी मण्डल एक खोटे रास्ते पर चला जा रहा होता है, वहाँ पर शिक्षक की प्रेम-भरी वाणी उन्हें सन्मार्ग पर डाल देती है। जहाँ पर आज्ञापालन स्वेच्छया और प्रेम के वशवर्ती होकर किया जाता हो वह आज्ञा पालनेवाला विद्यार्थी निर्बल नहीं होता, परन्तु सबल हो जाता है। प्रेम के वश में होकर विद्यार्थी अपनी भूल को तुरन्त समझ लेता है, और वह शिक्षक की आज्ञा मानने में अपना गौरव समझता है। इस प्रकार का आज्ञा-पालन भय व लालच से उत्पन्न नहीं किया जा सकता है, परन्तु इसके लिये तो सच्चे प्रेम की आवश्यकता है। इस प्रकार के आज्ञा पालने में तो विद्यार्थी अपने अधिकारों को बढ़े हुए पाता है; इसलिये वह आज्ञा को स्वेच्छया पालन करता है। इस प्रकार का आज्ञा-पालन तो विद्यार्थी का आभूषण है।

विद्यार्थी सच्चे अर्थों में आज्ञा-पालक हो, इस के लिये और भी बातें आवश्यक हैं। प्रेम के साथ उन बातों का संयोग होने से ही विद्यार्थी आज्ञा-पालक हो सकता है। पहिली है—शिक्षक का चारित्र्य।

शिक्षक में जो अच्छी या बुरी आदतें होती हैं और वह जिस प्रकार का जीवन गुज़ारता है, उन सबका विद्यार्थी के मन पर गहरा असर पड़ता है। इस कारण से शिक्षक का अपना खानगी और बाह्य जीवन जितना अधिक नीतियुक्त और विशुद्ध होगा, उतना ही नीतिमय और विशुद्ध जीवन विद्यार्थी का होना सम्भव है। कहा जाता है कि बालक तो स्नेह-प्रेम का भूखा होता है। वह प्रेम में बँध जाता है, वही उसका पोषक द्रव्य है। और सत्य—सत्य की तरफ़ तो प्रत्येक व्यक्ति आकृष्ट होता है तो फिर विशुद्ध-जीवन बितानेवाले प्रेमी शिक्षक की तरफ़ बालक आकृष्ट हो तो इसमें नवीनता क्या ? ऐसे शिक्षक की आज्ञा पालने के लिये वह हमेशा तैयार रहता है और ऐसे शिक्षक की आज्ञा पालनेवाला हमेशा गौरव के उच्च शिखर पर चढ़ता जाता है।

दूसरी बात स्कूल के वातावरण की है। स्कूल का वातावरण ही ऐसा होना चाहिये कि विद्यार्थी

शिक्षक की उचित आज्ञा-पालन करने में अपने को हीन न समझने लगता हो। स्कूल के नियमादि कठोर होते हुए भी उदारता से प्रेरित होने चाहिए। सबसे बड़ी बात यह है कि जिन नियमों को शिक्षक विद्यार्थी से पालन करवाना चाहता हो, उनका पालन पहिले उसे स्वयं करना चाहिए। नियम बनानेवाला और उसको केवल पालन करवाने वाला शिक्षक विद्यार्थी को आज्ञा-पालक कभी नहीं बना सकता है। विद्यार्थी उस से विमुख हो जाता है, जिस शिक्षक के प्रति विद्यार्थी का प्रेम व स्नेह न हो, वह आज्ञा-पालन जैसे सूक्ष्म गुण को विद्यार्थी में कैसे पैदा कर सकता है ? सच्चा शिक्षक तो अपने व्यक्तित्व व चारित्र्य के प्रभाव से ही ऐसा वातावरण बना देता है जिसमें विद्यार्थी शिक्षक की आज्ञा मानने में अपने को गौरवशाली अनुभव करने लगता है। [एक गुजराती प्रबन्ध से]

संध्या-काल का पथिक

[रचयिता—साहित्याचार्य श्री वागीश्वरजी विद्यालङ्कार]

चले तुम पथिक किधर की ठान, दिवस का दूर नहीं अवसान ॥
सिन्धु में गिर कर क्षितिज समीप, व्योम का बुझ है चुका प्रदीप।
उठ रहा धीरे से अंधेर, फैलता उसके धूम समान ॥१॥
छोड़ कर अपना अपना काम, विश्व है लेने को विश्राम।
पक्षि-गण निजनीड़ों की ओर, चल दिये कर शिशुओं का ध्यान ॥२॥
हृदय में कैसी उठी उमंग, नहीं है साथी कोई संग।
दूर तक नहीं ज्योति का लेश, मार्ग है वन में से सुनसान ॥३॥
थक गए तुम तो अहो नितान्त, मचलता पद पद पर पद श्रान्त।
ले रहो हो सुदीर्घ निःश्वास, पहुँचना अभी दूर के स्थान ॥४॥
दिवस का आ पहुँचा है अन्त, मार्ग है सन्मुख पड़ा अनन्त।
नहीं है मेरा प्यारा पास, तभी तो करता हूँ प्रस्थान ॥५॥
ठहर कर स्वयं मार्ग के बीच, रहे हो मेरा अंचल खींच।
व्योम का हुआ रूप विकराल, तभी तो करता हूँ प्रस्थान ॥६॥
विरह ने किया हृदय का दाह, दिख गई उससे मुझ को राह।
तड़पते मेरे व्याकुल प्राण, तभी तो करता हूँ प्रस्थान ॥७॥
उठ रही आँधी-का परवाह, प्रबल है उससे मेरी चाह।
शीघ्र जा पहुँचूं उसके पास, तभी तो करता हूँ प्रस्थान ॥८॥

गान्धी-सेवाश्रम, हरद्वार

का

ग्राम-सेवक-शिक्षणालय

हमारे गान्धी-सेवाश्रम, हरद्वार का ग्राम-सेवा का कार्य कुछ वर्षों से रुड़की तहसील में चल रहा है। हमारे कार्य को देखकर दूसरे अनेक लोगों के हृदय में भी ग्राम-सेवा के कार्य करने की इच्छा उत्पन्न हुई। परिणाम-स्वरूप गान्धी-सेवाश्रम के कार्यकर्ताओं की माँग दूर-दूर स्थानों से आने लगी। हम ने यह अनुभव किया कि अपने कार्यकर्ताओं को वहाँ भेजने की अपेक्षा वहाँ के स्थानीय कार्य-कर्ताओं को शिक्षित कर देना ज़्यादह अच्छा है। धीरे-धीरे शिक्षित (Trained) ग्राम-सेवकों की माँग बढ़ती गई। यह माँग अब इतनी बढ़ गई है कि हमने शीघ्र-से-शीघ्र ग्राम-सेवक-शिक्षणालय खोलने का विचार कर लिया है। इस शिक्षणालय के लिये निम्नलिखित योजना प्रस्तुत की गई है। इस योजना के अनुसार छः मास की शिक्षा का प्रबन्ध किया जायगा। इसमें लगभग ४ महीने तो आश्रम के शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त करनी होगी तथा २ महीने व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये आश्रम के किसी ग्राम-केन्द्र में कार्य करना पड़ेगा।

शिक्षार्थियों से पढ़ने, रहने आदि का कोई शुल्क नहीं लिया जायगा। शेष भोजन आदि का व्यय १०) रु० मासिक से अधिक नहीं होगा। प्रयत्न यह किया जायगा कि १०) रु० से कम में ही यह व्यय पूरा हो जाय। शिक्षार्थियों को अपना बिस्तर, खद्दर के कपड़े, आवश्यक बर्तन (थाली, कटोरा, लोटा) साथ लाना चाहिए।

यह शिक्षणालय श्रावण पूर्णिमा (रक्षा-बन्धन का दिन) तदनुसार २४ अगस्त १९३४ को प्रारम्भ हो जायगा। शिक्षार्थियों के प्रार्थना-पत्र पहली अगस्त तक आ जाने चाहिए। प्रार्थना-पत्र में अपना पूरा परिचय देने का प्रयत्न करना चाहिए। पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पते से करना चाहिए:—

मन्त्री, गान्धी-सेवाश्रम,
डाकखाना—गुरुकुल कांड़ी, ज़िला सहारनपुर।

गांधी-सेवाश्रम के ग्राम-सेवक-शिक्षणालय

का

शिक्षाक्रम

बौद्धिक तथा सैद्धान्तिक

(१) वर्तमान जगत्

(क) जर्मन महासमर के बाद योरुप और अमेरिका तथा इनकी समस्याओं का साधारण अवलोकन। ६ व्याख्यान

(ख) साम्राज्यवाद और एशिया की जागृति का इतिहास। १२ व्याख्यान

(ग) क्रान्तियों का इतिहास

रूस............६ व्याख्यान

तुर्की............३ ,,

मिश्र ... .३ ,,

आयर्लैंड............३ ,,

चीन............३ ,,

(घ) संसार की वर्तमान विचार धारा :—

साम्यवाद.................. ५ व्याख्यान

फ़ैसिज़्म.................. २ ,,

प्रजातन्त्रवाद। इसके गुण और दोष २ ,,

(२) वर्तमान भारत

(क) वर्तमान भारत का इतिहास (अङ्गरेज़ों के आगमन काल से आज तक) इसमें सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक इतिहास का समावेश होगा और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का सविस्तर विवेचन किया जायगा। ३६ व्याख्यान

(ख) भारतीय शासन पद्धति, स्वराज्य का स्वरूप। १२ व्याख्यान

(ग) अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त, भारतीय समाज का आर्थिक संगठन, भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास, भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था का अध्ययन तथा भारतीय आर्थिक समस्याएँ। ३६ व्याख्यान

(३) भारत के वर्तमान गाँव

(क) गाँव का प्रारम्भिक रूप, इतिहास और वर्तमान संगठन। ६ व्याख्यान

(ख) भूमि विधान का साधारण ज्ञान, प्राप्तीय मालगुज़ारी और लगान-सम्बन्धी क़ानून।

गाँवों की आर्थिक अवस्था, सहोद्योग-आन्दोलन, स्थानीय स्वायत्त-शासन, ग्राम-पञ्चायत। १८ व्याख्यान

(ग) ग्राम्य-जीवन और उसकी समस्याएँ। १२ ,,

(घ) घरेलू सहायक तथा स्वतन्त्र उद्योग-धंधे, खद्दर का अर्थशास्त्र तथा खादी-उत्पत्ति का संगठन। ३० व्याख्यान

(ङ) भारतीय संस्कृति के अनुसार। १८ व्याख्यान

१. ग्राम के बच्चों और प्रौढ़ स्त्री पुरुषों की शिक्षा का स्वरूप।

२. ग्राम की सामाजिक कुरीतियों का सुधार।

३. ग्राम के लोगों की सामूहिक तथा वैयक्तिक, स्वास्थ्य-सुधार तथा सफ़ाई।

(च) आदर्श ग्राम की कल्पना। ६ व्याख्यान

(४) राज-शास्त्र

राष्ट्र की प्राचीन तथा अर्वाचीन कल्पनाएँ तथा सिद्धान्त। ६ व्याख्यान

(५) नागरिक-शास्त्र

मनुष्य के अधिकार तथा कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र तथा मानव-जाति के प्रति कर्तव्य।

६ व्याख्यान

(६) युद्ध पद्धति

(क) हिंसात्मक और अहिंसात्मक युद्ध पद्धति का विवेचनात्मक अध्ययन। २४ व्याख्यान

(ख) महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह-पद्धति का पूर्ण-ज्ञान और उसका इतिहास।

१८ व्याख्यान

(७) भारतीय संस्कृति तथा सर्व-धर्म-समन्वय

६ व्याख्यान

क्रियात्मक तथा व्यावहारिक

(१) खद्दर की उत्पत्ति

वस्त्र-सम्बन्धी स्वावलम्बन के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए ठीक प्रकार के बिनौलों के प्रकार, कपास की उत्पत्ति तथा पहचान सफ़ाई, ओटाई, धुनाई, बारीक कताई और बिनाई की क्रियाओं के साथ खद्दर की उत्पत्ति तथा तरक्की और आवश्यक औज़ारों के निर्माण तथा मरम्मत का ज्ञान। ३घण्टे रोज़

(२) कृषि-सुधार

(क) कृषि-सम्बन्धी खादों, तरीक़ों और औज़ारों का साधारण ज्ञान और प्रयोग।

(ख) पशु-पालन तथा चारे की समस्या। १ घण्टा रोज़

(३) सामाजिक सेवा

(क) बच्चों और प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों के लिये दिन और रात्रि-पाठशाला का परिचालन। १२ व्याख्यान

(ख) जनता के नैतिक उत्थान के लिये रामायण आदि सद्ग्रन्थों की कथा, जन-शिक्षा के उपयोगी समाचार तथा अन्य हितकर बातों को बताते हुए प्रवचन, एवं भजन-कीर्तन करना। ३ व्याख्यान

(ग) अछूतपन को दूर करने तथा मादक-द्रव्य-निषेध सम्बन्धी प्रचार। ६ व्याख्यान

(घ) शारीरिक व्यायाम और खेल-कूद द्वारा स्वास्थ्य-सुधार, मन-बहलाव तथा संगठन (विशेष रूप से बानर-सेना संगठन)। ६ व्याख्यान

(ङ) ग्राम के सामूहिक जीवन को हितकारी मार्ग पर सुपरिचालित करने के लिये ग्राम-सभा-संगठन तथा संचालन। ६ व्याख्यान

(च) ग्राम के मुहल्ले की सफ़ाई, कूड़े आदि का उचित प्रबन्ध तथा ग्राम-निवासियों को वैयक्तिक सफ़ाई के लिये प्रेरित करना। ९ व्याख्यान

(छ) गाँवों में जागृति पैदा करने के लिये प्रभात-फेरी का संगठन। ३ ,,

(ज) ग्राम-सभा द्वारा स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार। ६ ,,

(झ) ग्राम में विदेशी कपड़े की फेरी करनेवाले, साँगी, जुआरी, दुश्चरित्र व्यक्तियों तथा गाँव को नुक़सान पहुँचानेवाले अन्य प्रभावों से ग्राम की रक्षा करना। ६ व्याख्यान

(ञ) ग्रामों में जीवन-सुधार-सभा द्वारा नव-युवकों का संगठन तथा उनको चरित्रवान् रखने का प्रयत्न करना। ६ व्याख्यान

(ट) आग बुझाने तथा डूबने, जलने, चोट लगने आदि अन्य आकस्मिक विपत्ति के समय लोक-सेवक के कर्तव्य-सम्बन्धी-शिक्षण। १२ व्याख्यान

(ठ) प्रथमोपचार तथा छोटे-छोटे रोगों का इलाज। २४ ,,

(ड) जन-समूह नियन्त्रण—भीड़ को बैठाने, रोकने, आने-जाने देने, जुलूस निकालने आदि की शिक्षा। ३ व्याख्यान

(ढ) ग्राम के जीवन में नया उत्साह भरने के लिये महीने में एक दिन नियत करके नुमाइश, चर्खा दङ्गल, खेल-कूद, सामूहिक सफ़ाई, सम्मेलन आदि के द्वारा उस दिन को उत्सव रूप में मनाना। ३ व्याख्यान

(ण) त्यौहारों को शुद्ध तथा जीवनदायी रूप देना। ६ ,,

(४) राष्ट्रीय झण्डा

(क) झण्डे का महत्व (ख) झण्डा फहराना, उतारना और उसकी रक्षा। (ग) झण्डा गान ३ व्याख्यान

(५) ईश-प्रार्थना

प्रातः और सायं प्रार्थना प्रतिदिन

शिक्षार्थियों की दैनिक-चर्या

शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त करनेवालों को आश्रम-जीवन व्यतीत करना तथा आश्रम के नियमों का पालन करना पड़ेगा। इसके अनुसार आश्रमवासियों को हर एक काम अपने हाथ से करना आवश्यक है।

इस योजना को क्रियात्मक रूप देने के लिये ग्राम-सेवकों को जो दिन-चर्या अपने कार्यक्षेत्र में करनी पड़ेगी; इसको व्यवहार्य्य बनाने के लिये शिक्षणालय में भी उसको इसी प्रकार की एक दैनिकचर्य्या के अनुसार जीवन बिताना आवश्यक होगा।

दिनचर्य्या नीचे दी जाती है :—

प्रातः ४½ बजे से ५ तक.......... प्रार्थना।

५ ,, से ७ तक... ....प्रातःकृत्य, सफ़ाई तथा प्रातराश (नाश्ता)।

७ ,, से १० तक...........शिक्षणालय में पढ़ाई।

१० ,, से १ तक...........भोजन और विश्राम।

१ ,, से ४ तक...........शिक्षणालय में खादी-कार्य सीखना।

४ ,, से ५ तक...........खेती कार्य (खेती-सम्बन्धी व्याख्यान सहित)।

५ ,, से ६ तक.......... खेल, सामूहिक व्यायाम तथा सायंकृत्य।

६ ,, से ८¼ तक... ....सायं-भोजन, भ्रमण।

८¼ ,, से ९ तक...........सायं-प्रार्थना तथा प्रवचन।

९ ,, से ४½ तक... ....शयन।

योग के सर्वोत्कृष्ट साधन

(बौद्धागम के अनुसार)

[श्री आचार्य नरेन्द्रदेवजी, काशी-विद्यापीठ]

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यह चार चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ हैं। इन को 'ब्रह्म विहार'[1] कहते हैं, चित्त-विशुद्धि के यह उत्तम साधन हैं। जीवों के प्रति किस प्रकार सम्यक् व्यवहार करना चाहिये ? इस का भी यह निदर्शन हैं। जो योगी इन चार ब्रह्म विहारों की भावना करता है उसकी सम्यक् प्रतिपत्ति होती है। वह सब प्राणियों के हित-सुख की कामना करता है। वह दूसरों के दुःखों को दूर करने की चेष्टा करता है। जो सम्पन्न हैं उनको देख कर वह प्रसन्न होता है। उन से ईर्ष्या नहीं करता। सब प्राणियों के प्रति उसका सम-भाव होता है, किसीके साथ वह पक्षपात नहीं करता। संक्षेप में, इन चार भावनाओं द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त के मलों का क्षालन होता है, योग के अन्य परिकर्म केवल आत्म-हित के साधन हैं किन्तु यह चार ब्रह्म-विहार पर-हित के भी साधन हैं।

आर्य-धर्म के ग्रन्थों में इन्हें 'अप्रामाण्य' या 'अप्रमाण'[2] भी कहा है क्योंकि इनकी इयत्ता नहीं है। अपरिमाण जीव इन भावनाओं के आलम्बन होते हैं।

जीवों के प्रति स्नेह और सुहृद् भाव प्रवर्तित करना मैत्री है। मैत्री की प्रवृत्ति परहित-साधन के लिये है, जीवों का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना, द्वेष और द्रोह का परित्याग इस के लक्षण हैं। मैत्री भावना की सम्यक् निष्पत्ति से द्वेष का उपशम होता है। राग इस का आसन्न-शत्रु है, राग के उत्पन्न होने से इस भावना का नाश होता है। मैत्री की प्रवृत्ति जीवों के शील आदि गुण-ग्रहण-वश होती है। राग भी गुण देखकर प्रलोभित होता है। इस प्रकार राग और मैत्री की समानशीलता है। इस लिये कभी-कभी राग मैत्रीवत् प्रतीयमान हो प्रवंचना करता है। स्मृति का किंचिन्मात्र भी लोप होने से राग मैत्री को अपनीत कर आलम्बन में प्रवेश करता है। इसलिये यदि विवेक और सावधानी से भावना न की जाय तो चित्त के रागा-रूढ़ होने का भय रहता है। हम को सदा स्मरण रखना चाहिये कि मैत्री का सौहार्द तृष्णावश नहीं होता, किन्तु जीवों की हितसाधना के लिये होता है। राग, लोभ और मोह के वश होता है किन्तु मैत्री का स्नेह मोहवश नहीं होता किन्तु ज्ञान-पूर्वक होता है। मैत्री का स्वभाव अद्वेष[3] है और यह अलोभ युक्त होती है।

पराए दुःख को देख कर सत्पुरुषों के हृदय

---

१. 'ब्रह्म' श्रेष्ठ को कहते हैं। जैसे ब्रह्मचक्र, ब्रह्मवर्ण, ब्रह्मपथ, बुद्ध को 'उत्तम-ब्रह्म' कहते हैं। जिस का श्रेष्ठ आचार है वह ब्रह्मचारी है।

जिस प्रकार ब्रह्म की स्थिति निर्दोष है उसी प्रकार इन चार भावनाओं से युक्त योगी की स्थिति भी 'नीवरण' (= योग के अन्तराय) आदि दोषों से रहित होती है।

२. अप्रमाणानि चत्वारि—अभिधर्म कोश ८।२९ ॥

३. मैत्र्यद्वेषः—आर्यधर्म-कोश ८। २९ ॥ योग सूत्र के टीका-कार मैत्री का अर्थ 'सौहार्द' करते हैं, मेधातिथि के अनुसार मैत्री, द्वेष का अभाव है, सुहृत्स्नेह नहीं है।

का जो कम्पन होता है उसे 'करुणा' कहते हैं, करुणा की प्रवृत्ति जीवों के दुःख का अपनयन करने के लिये होती है, दूसरों के दुःख को देखकर साधु-पुरुष का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है। वह दूसरों के दुःख को सहन नहीं कर सकता, जो करुणाशील पुरुष है वह दूसरों की विहिंसा नहीं करता। करुणा-भावना की सम्यक् निष्पत्ति से विहिंसा का उपशम होता है।

शोक की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है। शोक-दौर्मनस्य इस भावना का निकट-शत्रु है। 'मुदिता' का लक्षण हर्ष है। जो मुदिता की भावना करता है वह दूसरों को सम्पन्न देख कर हर्ष करता है। उन से ईर्ष्या या द्वेष नहीं करता। दूसरों की सम्पत्ति, पुण्य और गुणोत्कर्ष को देखकर उस को असूया और अप्रीति नहीं उत्पन्न होती। मुदिता-भावना की निष्पत्ति से अरति का उपशम होता है। पर यह प्रीति संसारी पुरुष की प्रीति नहीं है। पृथग्जनोचित प्रीतिवश जो हर्ष का उद्वेग होता है उस से इस भावना का नाश होता है। मुदिता-भावना में हर्ष का जो उत्पाद होता है उस का शान्त प्रवाह होता है। वह उद्वेग और क्षोभ से रहित होता है।

जीवों के प्रति उदास निवृत्ति 'उपेक्षा' है। 'उपेक्षा' की भावना करने वाला योगी जीवों के प्रति सम-भाव रखता है, वह प्रिय, अप्रिय में कोई भेद नहीं करता, सब के प्रति उसकी उदासीन-वृत्ति होती है। वह प्रतिकूल और अप्रतिकूल इन दोनों आकारों का ग्रहण नहीं करता। इसी लिये उपेक्षा-भावना की निष्पत्ति होने से विहिंसा और अनुनय दोनों का उपशम होता है। उपेक्षा-भावना द्वारा इस ज्ञान का उदय होता है कि मनुष्य कर्म के अधीन है, कर्मानुसार ही वह सुख से सम्पन्न होता है, या दुःख से मुक्त होता है या प्राप्त सम्पत्ति से च्युत नहीं होता। यही ज्ञान इस भावना का आसन्न-कारण है। मैत्री आदि प्रथम तीन भावनाओं द्वारा जो विविध प्रवृत्ति होती थी उसका इस ज्ञान द्वारा प्रतिषेध होता है। पृथग्जनोचित अज्ञानवश उपेक्षा की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है।

यह चारों ब्रह्म-विहार समान-रूप से ज्ञान और सुगति के देनेवाले हैं।

मैत्री-भाव भावना का विशेष-कार्य द्वेष (व्यापाद) का प्रतिघात करना है, करुणा-भावना का विशेष कार्य विहिंसा का प्रतिघात करना है, मुदिता-भावना का विशेष-कार्य अरति, अप्रीति का नाश करना है और उपेक्षा-भावना का विशेष कार्य राग का प्रतिघात करना है।

प्रत्येक भावना के दो शत्रु हैं—(१) समीपवर्ती (२) दूरवर्ती, मैत्री भावना का समीपवर्ती शत्रु राग है। राग की मैत्री से समानता है। व्यापाद उसका दूरवर्ती शत्रु है। दोनों एक दूसरे के प्रति-कूल हैं। दोनों एक साथ नहीं रह सकते, व्यापाद का नाश करके ही मैत्री की प्रवृत्ति होती है। करुणा-भावना का समीपवर्ती शत्रु शोक-दौर्मनस्य है। जिन जीवों को भोगादि विपत्ति देखकर चित्त करुणा से आर्द्र हो जाता है उन्हीं के विषय में तन्निमित्त-शोक भी उत्पन्न हो सकता है। यह शोक-दौर्मनस्य पृथग्जनोचित है। जो संसारी पुरुष हैं वह इष्ट प्रिय मनोरम और कमनीय रूप की अप्राप्ति से और प्राप्त-सम्पत्ति के नाश से उद्विग्न और शोका-कुल हो जाते हैं। जिस प्रकार दुःख के दर्शन से करुणा उत्पन्न होती है उसी प्रकार शोक भी उत्पन्न होता है। शोक करुणा-भावना का आसन्न शत्रु है। विहिंसा दूरवर्ती शत्रु है। दोनों से भावना की रक्षा करनी चाहिये।

पृथग्जनोचित-सौमनस्य मुदिता-भावना का समीपवर्ती शत्रु है। जिन जीवों की भोगसम्पत्ति देखकर मुदिता की प्रवृत्ति होती है उन्हीं के विषय में तन्निमित्त पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न हो सकता है। वह इष्ट-प्रिय मनोरम और कमनीय-रूपों के लाभ से संसारी पुरुष की तरह प्रसन्न हो जाता है। जिस प्रकार सम्पत्ति-दर्शन से मुदिता की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न होता है। यह सौमनस्य मुदिता का आसन्न-शत्रु है। अरति, अप्रीति दूरवर्ती-शत्रु हैं। दोनों से भावना को सुरक्षित रखना चाहिये।

अज्ञान-सम्मोह प्रवर्तित उपेक्षा उपेक्षा-भावना का आसन्न-शत्रु है। मूढ़ और अज्ञपुरुष जिसने क्लेशों को नहीं जीता है, जिसने सब क्लेशों के मूल-भूत सम्मोह के दोष को नहीं जाना है और जिसने शास्त्र का मनन नहीं किया है वह रूपों को देखकर उपेक्षा-भाव प्रदर्शित कर सकता है। पर इस सम्मोह पूर्वक उपेक्षा द्वारा क्लेशों का अति-क्रमण नहीं कर सकता। जिस प्रकार उपेक्षा-भावना गुण-दोष का विचार न कर केवल उदासीन वृत्ति का अवलम्बन करती है उसी प्रकार अज्ञानोपेक्षा जीवों के गुण-दोष का विचार न कर केवल उपेक्षा-वश प्रवृत्त होती है। यही दोनों की समानता है। इसलिये यह अज्ञानोपेक्षा उपेक्षा-भावना का आसन्न-शत्रु है। यह अज्ञानोपेक्षा पृथग्जनोचित है। राग और द्वेष इस भावना के दूरवर्ती शत्रु हैं। दोनों से भावना-चित्त की रक्षा करनी चाहिये।

सब कुशल-कर्म इच्छा-मूलक हैं। इसलिये चारों ब्रह्मविहार के आदि में इच्छा है, नविरण (योग के अन्तराय) आदि क्लेशों का परित्याग मध्य में है और अर्पण-समाधि पर्यवसान में है। एक जीव या अनेक प्रज्ञप्ति रूप से इन भावनाओं के आलम्बन हैं। आलम्बन की वृद्धि क्रमशः होती है। पहिले एक आवास के जीवों के प्रति भावना की जाती है। अनुक्रम से आलम्बन की वृद्धि कर एक ग्राम, एक जन-पद, एक राज्य, एक दिशा, एक चक्रवाल के जीवों के प्रति भावना होती है।

सब क्लेश, द्वेष, मोह, राग पाक्षिक हैं। इनसे चित्त को विशुद्ध करने के लिये यह चार ब्रह्मविहार उत्तम उपाय हैं। जीवों के प्रति कुशल-चित्त की चार ही वृत्तियाँ हैं—दूसरों का हितसाधन करना, उनके दुःख का अपनयन करना, उनकी सम्पन्न अवस्था देखकर प्रसन्न होना और सब प्राणियों के प्रति पक्षपात-रहित और समदर्शी होना। इसी लिये ब्रह्मविहारों की संख्या चार हैं जो योगी इन चारों की भावना चाहता है उसे पहिले मैत्री-भावना द्वारा जीवों का हित करना चाहिये; तदनन्तर दुःख से अभिभूत जीवों की प्रार्थना सुनकर करुणा-भावना द्वारा उनके दुःख का अपनयन करना चाहिये; तदनन्तर दुःखी लोगों की सम्पन्न-अवस्था देखकर मुदिता-भावना द्वारा प्रमुदित होना चाहिये और तत्पश्चात् कर्त्तव्य के अभाव में उपेक्षा-भावना द्वारा उदासीन-वृत्ति का अवलम्बन करना चाहिये। इसी क्रम से इन भावनाओं की प्रवृत्ति होती है अन्यथा नहीं।

यद्यपि चारों ब्रह्मविहार अप्रमाण हैं तथापि पहिले तीन केवल प्रथम तीन ध्यानों का उत्पाद करते हैं और चौथा ब्रह्म विहार अन्तिम ध्यान का ही उत्पाद करता है। इसका कारण यह है कि मैत्री, करुणा और मुदिता दौर्मनस्य संभूत व्यापाद, विहिंसा और अरति के प्रतिपक्ष होने के कारण सौमनस्य-रहित नहीं होती। सौमनस्य-सहित होने के कारण इनमें सौमनस्य विरहित उपेक्षासहगत चतुर्थ ध्यान का उत्पाद नहीं हो सकता। उपेक्षा-वेदना से

संयुक्त होने के कारण केवल उपेक्षा ब्रह्मविहार में अन्तिम ध्यान का लाभ होता है।

मैत्री-भावना

जो योगी मैत्री की भावना करना चाहता है उसे एकान्त स्थान में सुखासीन हो भावना करनी चाहिये। आरम्भ में द्वेष के दोष और शान्ति के गुण की प्रत्यवेक्षा करनी चाहिये। शान्ति से बढ़कर कोई तप नहीं है। भगवान् बुद्ध ने शान्ति की यह कहकर प्रशंसा की है कि शान्ति ही निर्वाण है। मैत्री भावना के आरम्भ में सर्वप्रथम अप्रिय पुरुष, अतिप्रिय पुरुष, मध्यस्थ पुरुष और शत्रु को उद्दिष्ट कर मैत्री की भावना न करनी चाहिये।

जो अपने को अप्रिय है उसे प्रिय-स्थान में स्थापित किये बिना मैत्री-भावना की सिद्धि नहीं होती और आरम्भ में द्वेषवश ऐसा करना कठिन है। जो अपने को अत्यन्त प्रिय है, जिसके स्वल्प-दुःख में भी चित्त व्याकुल हो जाता है उसको मध्यस्थ स्थान में स्थापित किये बिना मैत्री-भावना की सिद्धि नहीं होती। किन्तु भावना के आरम्भ में रागवश ऐसा करना कठिन है। जो अपने को न प्रिय है, न अप्रिय अर्थात् जिसके प्रति हमारी वृत्ति उदासीन है उसको पूजा-स्थान और प्रिय-स्थान में स्थापित किये बिना मैत्री-भावना की सिद्धि नहीं होती किन्तु भावना के आरम्भ में चित्त की उदासीन वृत्ति के कारण ऐसा करना कठिन है। आरंभ में शत्रु का स्मरण करने से क्रोध उत्पन्न होता है। इसलिये शत्रु को आलम्बन बनाकर मैत्री-भावना का आरम्भ न करना चाहिये। स्त्री को पुरुष के प्रति, और पुरुष को स्त्री के प्रति विशेषता के साथ मैत्री-भावना कदापि न करनी चाहिये। इससे राग उत्पन्न होता है और राग समाधि में अन्तराय है। मृत पुरुष के प्रति भी मैत्री-भावना न करनी चाहिये। क्योंकि इससे समाधि का लाभ नहीं होता। मैत्री-भावना के लिये यह अयोग्य स्थान है। जिसके साथ प्रयोग में हित करने की संभावना हो उसी को उद्दिष्ट कर मैत्री-भावना करनी युक्त है मृत पुरुष के साथ उपकार नहीं किया जा सकता।

इस लिये सर्व-प्रथम अप्रिय आदि पुरुष को आलम्बन बना मैत्री-भावना का आरम्भ न करना चाहिये, आरम्भ में सब से पहिले अपने को उद्दिष्ट कर मैत्री की भावना करनी चाहिये।

योगी को बारम्बार अपने विषय में यह चिन्तना करनी चाहिये कि मैं सुखी होऊँ, मैं किसी के प्रति वैर-भाव या हिंसा-भाव न रक्खूँ और दुःख-रहित हो काल-यापन करूँ। यह सच है कि इस प्रकार सहस्र वर्ष पर्यंत भावना करने से भी अर्पणासमाधि का लाभ नहीं होता, किन्तु इस प्रकार की भावना से इतना लाभ अवश्य होता है कि योगी अपने को साक्षी कर के कह सकता है कि जिस प्रकार मैं अपने सुख की इच्छा करता हूँ उसी प्रकार अन्य जीव भी सुख की कामना करते हैं और जिस प्रकार मुझे दुःख और मरण अप्रिय हैं उसी प्रकार अन्य जीव भी दुःख और मृत्यु की इच्छा नहीं करते। जब योगी को इस का अनुभव होता है कि मेरे समान सब जीव अपना सुख चाहते हैं। तब वह दूसरों को अपनी तरह सुख पहुँचाना चाहता है। भगवान् कहते हैं कि प्रत्येक को अपने प्रति सब से अधिक प्रेम होता है। इस लिये जो अपने हित-सुख की इच्छा करता है उसे दूसरों की हिंसा न करनी चाहिये। योगी यदि भावना की सुख-सिद्धि चाहता है तो उसे इस के पश्चात् आचार्य या आचार्य-तुल्य किसी दूसरे ऐसे पुरुष का आलम्बन ले कर भावना करनी चाहिये जो उस को प्रिय हो और जिस के प्रति

वह आदर-भाव रखता हो। योगी को उस के शील आदि गुणों का स्मरण कर यह भावना करनी चाहिये कि यह सत्पुरुष सुखी हो, इस को दुःख न सतावें, इस प्रकार के पुरुष को उद्दिष्ट कर भावना करने से योगी कृतकार्य होता है और उसे सुख पूर्वक समाधि का लाभ होता है। पर योगी को इतने पर सन्तोष न करना चाहिये।

उसे तदनन्तर क्रम से अतिप्रिय-पुरुष, मध्यस्थ पुरुष और शत्रु के प्रति मैत्री-भावना करनी चाहिये। कर्मानुसार भावना करने से भावना उत्तरोत्तर सुगम होती जाती है।

मैत्री-भावना चार विभाग में की जाती है—आत्मा, प्रिय, मध्यस्थ और शत्रु। पूज्य-पुरुष की भावना करने के अनन्तर ध्यान-चित्त को दूसरे विभाग में उपनीत करना चाहिये। चित्त को मृदु और कर्मण्य बना कर अति प्रिय पुरुष के प्रति अतिप्रिय-भाव को दबा कर प्रिय-भावमात्र में चित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। भावना के इस विभाग में उत्कर्ष प्राप्त कर मध्यस्थ के प्रति अपने उदासीन भाव को दबा कर प्रिय-भाव को उपस्थापित करना चाहिये। इस विभाग में भी व्युत्पन्न हो कर शत्रु के प्रति वैर-भाव का परित्याग कर मध्यस्थ भाव उपस्थापित कर प्रिय-भाव का उत्पादन करते हुए मैत्री की भावना संपन्न करनी चाहिये। जिस के कोई शत्रु नहीं है या जो ऐसा उदार और क्षमाशील है कि अपकार करने वाले के प्रति भी वैर-भाव नहीं रखता उस के लिये शत्रु को आलम्बन बना कर मैत्री की भावना करने का विधान नहीं है। यह विधान केवल उसी के लिये है, जिस के शत्रु हैं।

शत्रु के प्रति मैत्री की भावना करते समय यदि शत्रु द्वारा किये हुए अपराधों का स्मरण हो जाय और इस कारण चित्त में द्वेष-भाव उत्पन्न हो तो प्रिय-पुरुष आदि पूर्व-आलम्बनों में से जिस किसी पुरुष के प्रति मैत्री-ध्यान निरन्तर समापन्न हुआ हो उसके प्रति निरन्तर मैत्री की भावना करने से द्वेष-भाव का निराकरण करना चाहिये, यदि ऐसा करने से भी द्वेषभाव का उपशम न हो तो उसे बुद्ध-वचनों का स्मरण कर अपने को गर्हित करना चाहिये।

भगवान् कहते हैं—हे भिक्षु! यदि चोर और गुप्तचर आरे से तुम्हारे अंग-अंग भी काट डालें तब भी तुम्हें क्रोध न करना चाहिये। ऐसा करने वाला भगवान् के आदेश का उल्लंघन करता है, भगवान् का आदेश है कि पाप का आचरण न करना चाहिये।

यदि तुम्हारे ऊपर कोई क्रोध करे तो उस पर क्रुद्ध न होना चाहिये। जो क्रुद्ध के प्रति क्रोध नहीं करता वही संग्राम में विजयी होता है। वह अपना और पराया, दोनों का हित-सुख चाहता है। इस लिये दूसरे को कुपित जान कर शान्त हो जाता है, शत्रु की सदा यही कामना रहती है कि मेरा प्रतिपक्षी दुःख का अनुभव करे, उस को यश और सुख-सम्पत्ति का लाभ न हो, उस का कोई मित्र न हो और मरने के बाद उस को स्वर्ग की प्राप्ति न हो, जो पुरुष क्रोध से अभिभूत हो जाता है उस का मुख-विकृत हो जाता है। क्रोध से अभिभूत होने के कारण वह 'मनसा, वाचा, कर्मणा' पाप का आचरण करता है और कर्म विपाकवश दुर्गति को प्राप्त होता है। इस तरह क्रोध कर के वह अपने शत्रु की इच्छा को ही पूरा करता है। भगवान् का आदेश है कि पाप का आचरण न करना चाहिये, भगवान् के इन वचनों को स्मरण कर योगी को अपने मन को

प्रदुष्ट न होने देना चाहिये। यदि इस से भी क्रोध शान्त न हो तो योगी को अपने उस आचरण का स्मरण करना चाहिये जो संयत और शुद्ध हो और जिस के स्मरण करने से चित्त का संप्रसाद हो, इस प्रकार आघात का निवारण करना चाहिये।

किसी का शारीरिक आचरण संयत होता है। किन्तु वाणी और मन का आचरण संयत नहीं होता। संयतकाय से जब वह अपने अनेक कृत्य सम्पादित करता है तो उसका संयत-भाव सबको विदित हो जाता है। ऐसे योगी को अपने वाणी और मन के आचरण की चिन्ता न कर केवल शरीर के संयत-भाव का स्मरण करना चाहिये। किसी का वाग्व्यवहार संयत और शान्त होता है। वह सब का स्वागत करता है, सबके साथ मैत्री करता है और मिष्ट-भाषी, सरल और उदार होता है। ऐसे योगी को केवल अपनी वाणी के शान्त व्यवहार का स्मरण करना चाहिये। किसी योगी का मानसिक आचरण शान्त होता है, वह श्रद्धा पूर्वक शान्तचित्त से धर्म श्रवण करता है ऐसे योगी को केवल उपशान्त चित्त का स्मरण करना चाहिये। मनोवाक्कायकर्म में से जिसका एक भी आचरण असंयत होता है वह महान् दुःख का भागी होता है। उसे बहुकाल पर्यन्त नरक में निवास करना पड़ता है। वह कृपा का पात्र है, जिसके तीनों कर्म संयत होते है उसके लिये मैत्री भावना दुष्कर नहीं है।

[आगामी अंक में समाप्य]

जीवन !

[रचयिता—श्री मनमोहन, एम्० ए०, एल-एल० बी०]

[१]

यही नहीं जीवन-परिभाष—
यही निरन्तर सुख का क्लेष,
यही ध्येय-दर्शन अनिमेष।
यही मुक्ति यही शांति-शिथिलता,
यही हाँ मृण्मय जीवन-शेष।
यही नहीं जीवन सश्लेष,
यही नहीं दुःख, खोज, निराश॥

[२]

पाने को जीवन का पार—
चाहिएँ जीवन, आग, अशान्ति,
आशा तृष्णा की श्रम-श्रान्ति।
जग-स्वादन वैभव-अभिवादन,
उत्सुकता, उत्कण्ठा, क्रान्ति।
श्रम-भेदन की गूढ़ भ्रान्ति,
सुख-दुःख का जीवित व्यवहार॥

[३]

बने रहें यौवन के पार—
सौ जीवन की दाहक दाव,
जीव-शिखा का दाहन-चाव।
रस-नीरसता, तृषा-तृषार्तता,
आत्मा ये दारुण-दुख-द्राव।
खिले-से रिसते ज्योतित घाव,
बने रहें जीवन का सार॥

यूरोप में राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव

[ले०—श्री प्रोफ़ेसर सत्यकेतुजी विद्यालंकार]

मनुष्यों में यह प्रवृत्ति शुरू से चली आती है कि वे समूह बना कर रहें। जो लोग एक नसल के हों, जिनका धर्म एक हो, जो एक भाषा बोलते हैं, जिनके रीति-रिवाज एक जैसे हों, जो एक स्थान पर निवास करते हों और जिनके आर्थिक व राजनैतिक हित एक समान हों, उनमें एकानुभूति का होना सर्वथा स्वाभाविक है। पुराने समयों में इसी प्रवृत्ति के कारण जातियों (ट्राइब्स) का संगठन हुआ था। वर्तमान समय में इसी प्रवृत्ति के कारण राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ है। राष्ट्रीयता जाति का ही विकसित और विस्तृत रूप है। पुराने समय का जातिवाद (ट्राइबइज़्म) ही आजकल राष्ट्रीयता कहाता है। दोनों का स्वरूप एक दूसरे से मिलता-जुलता है।

इतिहास के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल का जातिवाद आज से हज़ारों वर्ष पूर्व नष्ट हो गया था। राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव अठारहवीं सदी में शुरू हुआ। इस प्रकार बीच के हज़ारों वर्षों में जातिवाद और राष्ट्रीयता दोनों से ही मनुष्य-जाति शून्य रही। इस काल में मनुष्य जाति के विविध संगठनों ने कौन-से रूप धारण किये, इसकी विवेचना करने का न यहां अवकाश है और न इसकी आवश्यकता ही है। इतना लिख देना पर्याप्त है कि मध्यकालीन इतिहास में जातिवाद व राष्ट्रीयता का कोई स्थान नहीं था। अठारहवीं सदी तक यूरोप के विविध राज्य सन्धि विग्रह करते हुए अपनी प्रजा की इच्छा की ज़रा भी परवाह नहीं करते थे। राज्यों का निर्माण करते हुए जाति, धर्म, भाषा आदि का ज़रा भी ध्यान नहीं रखा जाता था। जो राजा जिस प्रदेश को जीत सकता था, जीत कर अपने राज्य में मिला लेता था। उसे यह सोचने की कोई आवश्यकता न होती थी कि उस प्रदेश के निवासी धर्म, भाषा आदि की दृष्टि से उसके अपने राज्य के निवासियों से मिलते हैं वा नहीं। जनता किस राज्य में रहना चाहती है। उसकी क्या इच्छा है, इन प्रश्नों पर विचार करने की उस समय किसी को भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। लुई १४ वां चाहता था कि आस्ट्रियन नीदरलैंड को जीत कर फ्रांस में शामिल कर ले, यद्यपि उसके अधिकांश निवासी फ्लेमिश भाषा बोलते थे। महान् फ्रेडरिक का प्रयत्न था कि पोल लोग भी उसके आधीन हो जावें और जर्मन प्रजा के समान राजभक्ति से उसके राज्य में निवास करें। आस्ट्रिया की कोशिश थी कि लौम्बार्डी को जीत कर अपने आधीन कर ले, यद्यपि वहां के निवासी इटालियन थे। बीसवीं सदी में ये बातें बड़ी अद्‌भुत तथा अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं, पर उस समय के लोग इन्हें सर्वथा स्वाभाविक समझते थे। इनमें उन्हें कोई भी अनौचित्य नज़र नहीं आता था। उस समय वैवाहिक सम्बन्धों, वसीयतनामों और विरासत के नियमों से राज्यों की सीमा में परिवर्तन आते रहते थे। चार्ल्स पञ्चम एक विशाल साम्राज्य का स्वामी हो गया था, क्योंकि वैवाहिक सम्बन्धों के कारण बहुत से राज्य उसकी आधीनता में आ गये थे। स्पेन, नीदरलैंड, आस्ट्रिया और इटली का एक

सम्राट् के आधीन रहना उस समय ज़रा भी अद्भुत प्रतीत नहीं होता था। टस्कनी लोरेन के ड्यूक के आधीन है व मेडिसी के राजवंश के। इससे वहाँ के निवासियों को क्या प्रयोजन था? लोकमत व जनता की इच्छा का उस समय के राजनीतिक परिवर्तनों पर कोई प्रभाव नहीं होता था। वस्तुतः लोकमत व जनता की इच्छा-नामक कोई पदार्थ तब तक उत्पन्न ही नहीं हुआ था। राजा ईश्वर के प्रतिनिधि समझे जाते थे। मनुष्यों को क्या हक़ था कि वे दैवीय इच्छा में आशंका करें। जो कोई भी स्वामी हो, उसके आधीन रहना उसका धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। जिस प्रकार पशुओं के रेवड़ को उनका मालिक किसी दूसरे को बेच सकता है, दान कर सकता है व विरासत में दे सकता है। उसी प्रकार उस समय प्रजासहित राज्य को राजा लोग बेच सकते थे, दान कर सकते थे, व विरासत में किसी दूसरे को दे सकते थे। इस अवस्था का कारण क्या था? इसका कारण यह था कि अठारहवीं सदी तक यूरोप में राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

फ्रांस की राज्यक्रांति से जहाँ यूरोप में लोक-सत्ता-वाद की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ, वहाँ साथ ही राष्ट्रीयता का भी प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों प्रवृत्तियाँ परस्पर सम्बद्ध तथा एक दूसरे पर आश्रित हैं। यदि एक राजा व कुलीन श्रेणी के स्थान पर सर्व-साधारण-जनता ने शासन का कार्य करना है, तो यह आवश्यक है कि वह जनता एक प्रकार की हो। यह सम्भव नहीं है कि एक दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रकार के मनुष्य एक साथ मिल कर अपने सामूहिक हितों के लिये सम्मिलित प्रयत्न करें। जो लोग भाषा, धर्म, रीति-रिवाज़, नसल आदि की दृष्टि से एक जैसे हों, जिनके आर्थिक व राजनीतिक हित एक समान हों, वे ही परस्पर मिलकर अपना सामूहिक हित-साधन कर सकते हैं। लोकमत शासन के लिये यह ज़रूरी है कि लोगों में एकानुभूति उत्पन्न हो चुकी हो। इसी लिये जहाँ फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने लोक-सत्ता-वाद को जन्म दिया, वहाँ साथ ही राष्ट्रीयता का भी प्रारम्भ किया।

पर यह नहीं समझना चाहिए, कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति से पूर्व यूरोप में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव था। चौदहवीं शताब्दी से ही पश्चिमीय यूरोप के कुछ देशों में ऐसे कारण कार्य कर रहे थे, जिनसे राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भूत होना आवश्यक था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने इस प्रवृत्ति को बहुत शक्ति प्रदान की और लोक-सत्ता-वाद की लहर के साथ मिल जाने से इसका सफल हो सकना बहुत सुगम हो गया। पर यह स्पष्ट है कि इससे पहले भी राष्ट्रीयता की भावना धीरे-धीरे विकसित हो रही थी।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति से पूर्व जो प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीयता को जन्म देने के लिए कार्य कर रही थीं, उनका यहाँ संक्षेप से निर्देश करना उपयोगी होगा। पहले प्रायः सम्पूर्ण यूरोप में लैटिन-भाषा का प्रचार था। विद्वान् लोग लैटिन में लिखते-पढ़ते थे। सर्व-साधारण-जनता की भाषा से विद्वानों को घृणा होती थी। वे लोक-भाषायें बहुत पिछड़ी हुई दशा में थीं। पर चौदहवीं सदी से धीरे-धीरे इन लोक-भाषाओं की भी उन्नति शुरू हुई। उनमें साहित्य उत्पन्न होने लगा, पुस्तकें लिखी जाने लगीं। जर्मन, फ्रेञ्च, इङ्गलिश आदि लोक-भाषाओं की उन्नति से उन को बोलनेवाले लोगों में परस्पर एकानुभूति उत्पन्न होनी शुरू हुई। छापेख़ाने के आविष्कार से यह प्रवृत्ति और भी बढ़ी। छापेख़ाने के कारण

पुस्तकें अधिक संख्या में और सस्ते मूल्य में मिलने लगीं। इससे लोक-भाषाओं के प्रचार और उन्नति में बहुत सहायता मिली। बारूद के आविष्कार से सामन्त-पद्धति (Feudal System) को बहुत धक्का लगा। शक्तिशाली राजाओं ने सामन्तों की शक्ति को नष्ट कर उन्हें अपनी आधीनता में लाना प्रारम्भ किया। सामन्त-पद्धति में सर्व-साधारण-जनता की दृष्टि अपने सामन्त तक ही परिमित थी। उसके उच्च कुल की मर्यादाओं की रक्षा करना और उसके लिए अपने तन-मन-धन को न्योछावर कर देना ही उनका परम कर्तव्य होता था। सामन्त-पद्धति के विनाश ने तथा शक्तिशाली एकतन्त्र-केन्द्रीय-शासन के विकास से जनता की दृष्टि विशाल होनी शुरू हुई, और उन्होंने यह अनुभव करना प्रारम्भ किया कि हमारा देश सामन्त की जागीर तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसकी अपेक्षा बहुत विशाल तथा विस्तृत है। इसी प्रकार पहले प्रायः सम्पूर्ण यूरोप पर पोप का धार्मिक आधिपत्य था। यूरोप एक विशाल धर्म-राज्य था, जिसका अधिपति रोम का पोप होता था। इस धार्मिक एकता के कारण विविध यूरोपियन जातियों में राष्ट्रीयता की भावना का उत्पन्न हो सकना कठिन था। पर पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों की धार्मिक सुधारणा से यूरोप की यह धार्मिक एकता नष्ट हो गई। कुछ राज्य पोप के भक्त बने रहे, कुछ ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर अपने पृथक् चर्चों की स्थापना की। पोप के विद्रोही ये चर्च प्रायः राज्य के आधीन होते थे और इनसे भी राष्ट्रीयता की भावना को विकसित होने में बहुत सहायता मिली। इसी तरह, व्यापार और व्यवसाय की उन्नति से जनता में जो सम्पत्ति की वृद्धि हो रही थी, वह भी राष्ट्रीयता के विकास में सहायक थी। व्यापार और व्यवसाय की उन्नति से मध्य श्रेणी के साहसी लोग बहुत अमीर होते जाते थे और इस प्रकार एक नवीन उच्च श्रेणी का विकास हो रहा था, जिसे पूँजीपति श्रेणी कहते हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक था कि ये पूँजीपति लोग धीरे-धीरे राजा और राजकीय नीति पर भी प्रभाव डालने लगें। अपने स्वार्थ के उद्देश्य से ये लोग राजकीय नीति का इस ढंग से सञ्चालन करने का प्रयत्न करते थे, जिससे ये अन्य राज्यों के पूँजीपतियों के मुक़ाबले में अपना उत्कर्ष कर सकें। इसी से विविध राज्यों की पृथक् व्यापारिक नीतियों का विकास हुआ और राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति अधिक अधिक बलवती होती गई। साथ ही, बहुत से कवि और लेखक भी इस समय में ऐसे उत्पन्न हुए, जिन्होंने देशभक्ति और राष्ट्रीय-भावना के प्रचार में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया। लोक-भाषाओं की उन्नति से इन कवियों व लेखकों को समान-भाषा बोलने वाले लोगों में अपने भावों को प्रचलित करने का सुवर्णावसर मिल गया था और इसी से राष्ट्रीयता की भावना को बहुत बल मिल रहा था।

अठारहवीं सदी तक ये सब प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे अपना कार्य कर रही थीं। इनके कारण इङ्गलैण्ड, फ्रांस और स्पेन और पोर्तुगाल-जैसे पश्चिमीय यूरोप के कुछ देशों में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति पर्याप्त अंश तक विकसित हो चुकी थी। इन देशों के निवासी अनुभव करते थे कि हम एक राष्ट्र के निवासी हैं। इङ्गलैण्ड के लोगों को अभिमान था कि वे इङ्गलिश लोग हैं। इसी प्रकार की भावना फ्रेञ्च, स्पेनिश और पोर्तुगीज़ लोगों में थी। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि इन राज्यों की राजनीति भी राष्ट्रीयता के सिद्धांत पर आश्रित थी। इनकी राजनीति में अभी राष्ट्रीयता की अपेक्षा राजवंश के अपने स्वार्थों तथा

महत्वाकांक्षाओं को अधिक महत्त्व दिया जाता था। राष्ट्रीयता की भावना अभी जनता में विकसित हुई थी और वह भी बहुत अपूर्ण दशा में। यूरोप के अन्य देशों में तो अभी राष्ट्रीयता का बीजारोपण भी नहीं हुआ था। इटली में नौ राज्य थे। वहाँ के निवासी अपने को इटालियन न समझ कर उन विभिन्न देशों के निवासी समझते थे। यही दशा जर्मनी की थी। उसमें तीन सौ से अधिक छोटे-छोटे राज्य और इनके निवासी जर्मन होते हुए भी आपस में एकानुभूति नहीं रखते थे। रूस के विशाल साम्राज्य में बहुत सी जातियों का निवास था। उनमें राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न ही कैसे हो सकती थी? यही दशा आस्ट्रिया और तुर्की साम्राज्य की थी।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के साथ अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में राष्ट्रीयता की लहर का प्रबलता के साथ प्रारम्भ हुआ। फ्रांस के क्रान्तिकारी 'समानता, स्वाधीनता और भ्रातृभाव' की भावनाओं का डंके की चोट के साथ प्रचार कर रहे थे। वे कहते थे, राजा का एकतन्त्र शासन समाप्त होना चाहिए, कुलीन श्रेणी के विशेषाधिकारों का अन्त होना चाहिये और उनके स्थान पर स्थापित होना चाहिए सर्व-साधारण-जनता का शासन। पर सर्व-साधारण जनता का अभिप्राय क्या है? क्या किसी राज्य में संसार-भर की सर्व-साधारण-जनता का शासन स्थापित हो सकता है? नहीं। जनता उसे कहते हैं जिसमें भाषा, धर्म, रीति-रिवाज़ आदि की एकता हो और जिसके राजनीतिक, आर्थिक व अन्य सामूहिक हित एक सदृश हों। फ्रांस की जनता में क्रान्ति से पूर्व ही राष्ट्रीय एकानुभूति उत्पन्न हो चुकी थी। राज्यक्रान्ति ने उसे बहुत प्रबल रूप दे दिया। इसी लिये जब लुई १६ वाँ पेरिस से भाग निकला, तो लोग कहने लगे—"अच्छी बात है, राजा भाग गया तो क्या हुआ, राष्ट्र तो विद्यमान है।" रूसो कहा करता था—'राज्य जनता से बनता है।' सर्व-साधारण-जनता ने जब 'स्टेट्स जनरल' का नवीन नामकरण-संस्कार किया, तो उन्होंने उसका नाम 'राष्ट्रीय महासभा' रखा। राज्यक्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जब जनता ने मनुष्यों के स्वयंसिद्ध-अधिकारों की उद्घोषणा की, तो उसमें कहा कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति 'जनता में निहित है।' फ्रांस के विविध प्रदेशों के लोग अभिमान के साथ कहने लगे 'हम इस इस प्रान्त के निवासी नहीं हैं, हम तो फ्रेञ्च लोग हैं।' सारा फ्रांस राष्ट्रीयता के जय-जय-कारों से गूँजने लगा। राज्यक्रान्ति द्वारा लोक-सत्ता-वाद के साथ-साथ राष्ट्रीयता भी फ्रांस में उत्पन्न हो गई थी। यूरोप के विविध शक्तिशाली राज्य जब क्रान्ति की ज्वालाओं को शान्त करने के लिये एक साथ फ्रांस पर टूट पड़े, तो इसी राष्ट्रीयता की भावना ने उनका मुक़ाबला किया। प्रशिया, आस्ट्रिया, ब्रिटेन और रूस की सम्मिलित शक्ति फ्रांस को परास्त नहीं कर सकी, यद्यपि उसके अपने निवासियों का बड़ा भाग आक्रान्ताओं की सहायता कर रहा था। इसका कारण यही है कि फ्रांस में राष्ट्रीयता उत्पन्न हो चुकी थी, उसके भूखे-नंगे कमज़ोर सिपाही यूरोप-भर की सधी हुई और सम्पन्न सेनाओं के साथ लड़ रहे थे। इनके हृदयों में राष्ट्रीयता की आग धधक रही थी, जिसके कारण उनमें अद्भुत-शक्ति का संचार हो गया था। राष्ट्रीयता की भावना के कारण फ्रांस न केवल आत्म-रक्षा में समर्थ हुआ, पर उसके क्रान्तिकारी सैनिकों ने अन्य देशों पर आक्रमण कर उन्हें अपने आधीन भी कर लिया। आगे चलकर नैपोलियन को जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई, उसका कारण भी यही

राष्ट्रीय भावना थी। फ्रांस के क्रान्तिकारी कहते थे, हम पादाक्रान्त जनता को अत्याचारियों के पंजे से मुक्त कराने के लिये आक्रमण कर रहे हैं। जिस देश को वे जीत लेते थे, उसकी व्यवस्था करने के लिये वे वहाँ के निवासियों की भी सम्मति लेते थे। उन्होंने अपने नमूने पर हालैण्ड, इटली, स्विट्ज़रलैण्ड आदि में अनेक रिपब्लिकों की स्थापना की। पीछे से नैपोलियन ने इस नीति में परिवर्तन कर दिया। वह जहाँ स्वयं राष्ट्रपति से सम्राट् बन गया, वहाँ उसने फ्रांस के आधीन विविध रिपब्लिकों में भी राजतन्त्र शासन का प्रारम्भ किया। नैपोलियन के पिछले युद्ध जनता के अधिकारों की रक्षा व राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने के लिये नहीं लड़े गये, अपितु जिस प्रकार सिकन्दर, सीज़र व महमूद-ग़ज़नवी ने अपनी वैयक्तिक-महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये युद्ध किये थे, उसी प्रकार नैपोलियन ने भी शुरू किये। स्पेन, रूस आदि पर किये गये उसके आक्रमण महमूद ग़ज़नवी के हमलों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं थे। पर उन्नीसवीं सदी के इस प्रारम्भिक भाग में राष्ट्रीयता की लहर शुरू हो चुकी थी। इटली, स्पेन, जर्मनी और रूस में राष्ट्रीय-भावना अपना कार्य कर रही थी। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने ही पहले-पहले इन देशों में राष्ट्रीयता के सन्देश को पहुँचाया था। पर अब नैपोलियन इस भावना की सर्वथा उपेक्षा कर, इन देशों पर एक विदेशी के समान राज्य करने का प्रयत्न कर रहा था। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय भावना इन देशों में प्रचण्ड रूप धारण करने लगी। विविध विचारक और कवि जहाँ इसे प्रचलित करने में सहायक हो रहे थे, वहाँ राजनीतिक नेता अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये इस भावना का पूरा लाभ उठा रहे थे। जर्मनी को लीजिये। वहाँ कान्ट, हीगल, शिलर, और गैटे-जैसे विद्वान् और कवि जहाँ जनता के सम्मुख राष्ट्रीयता का आदर्श पेश कर रहे थे, वहाँ स्टाइन-जैसा राजनीतिज्ञ इस भावना का लाभ उठाकर अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील था। यही दशा स्पेन और इटली की थी। नैपोलियन के साम्राज्य के नष्ट हो जाने में सहसा बड़ा हेतु यही है कि राष्ट्रीय भावना उसके विरुद्ध उद्बुद्ध हो गई थी। स्पेन-जैसे राज्य को पूर्णतया कुचल डालना नैपोलियन के लिये क्या कठिन था? पर स्पेन की उद्बुद्ध-जाति को कुचल कर उसकी राष्ट्रीय भावना को नष्ट कर सकना नैपोलियन के लिये सचमुच असम्भव था। अन्त मे नैपोलियन जिस युद्ध में परास्त हो फ्रांस छोड़ने के लिये विवश हुआ। उसे 'सब राष्ट्रों का युद्ध' कहा जाता है। वस्तुतः वह सब राष्ट्रों का युद्ध था, क्योंकि उसमें नैपोलियन को परास्त करने के लिये राजा व कुलीन श्रेणियों के लोग ही एकत्र नहीं हुए थे। अपितु विविध देशों की सम्मिलित राष्ट्रीय शक्ति ने नैपोलियन को परास्त करने मे सफलता प्राप्त की थी।

नैपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप का पुनः निर्माण करने के लिये वीएना में प्रायः सभी यूरोपियन देशों के राजनीतिज्ञ एकत्रित हुए। यदि ये लोग राष्ट्रीय भावना की सत्ता को स्वीकृत कर उसे अपनी दृष्टि में रखते और उसके अनुसार विविध देशों का भाग्य-निर्णय करते, तो उन्नीसवीं सदी के बहुत से युद्ध न होने पाते। वीएना की काँग्रेस ने राष्ट्रीय भावना की सर्वथा उपेक्षा कर केवल राजवंशों के अधिकारों पर ध्यान दिया। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति को सफलता प्राप्त करने के लिये बहुत अधिक संघर्ष करना पड़ा। समय की गति की उपेक्षा कर १८१५

ई० में वीएना की कांग्रेस में जो कुछ किया गया था, उसी को पलटने के लिये उन्नीसवीं सदी की प्रधान शक्ति लगी रही। १८१५ ई० के बाद राष्ट्रीय-भावना निरन्तर बलवती होती गई। लोग अनुभव करने लगे कि जिस तरह प्रत्येक मनुष्य किसी-न किसी परिवार के साथ सम्बद्ध होकर उससे विशेषतया प्रेम करता है, उसी तरह किसी-न-किसी राष्ट्र से सम्बद्ध हो उसे विशेषतया प्रेम करना भी आवश्यक है। मनुष्य पहिले धर्म के लिये बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने के लिये तैयार रहते थे। अब धर्म का स्थान राष्ट्रीयता ने ले लिया। राष्ट्रीयता के लिये लोग अपना तन, मन, और धन स्वाहा करने के लिये उद्यत हो गये। राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति किस प्रकार यूरोप के विभिन्न देशों में सफलता को प्राप्त हुई। इसका वर्णन हम नहीं करेंगे। पर यहाँ यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि राष्ट्रीय भावना ने आज सम्पूर्ण संसार को व्याप्त किया हुआ है, वह आधुनिक इतिहास की उपज है।*

*जर्मनी का नाजिज़्म तथा इटली का फैसिज़्म इसी राष्ट्रीयता के रूपान्तर हैं। इनका वर्णन आगामी लेखों में किया जायगा। —सम्पादक

बिहार में खादी-विद्यालय की स्थापना

ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं को रुई ओटने-धुनने और सूत कातने के विषय में नये ढंग से शिक्षा देने के लिए गत १ ली जून को बिहार-सेंट्रल-रिलीफ़-कमेटी की चर्खा-उपसमिति की संरक्षकता में मधुबनी में इस विषय की एक संस्था खोली गई है। इस संस्था के प्रधान श्रीयुत मथुरादास-पुरुषोत्तमजी बनाये गये हैं और उनकी सहायता के लिये ९ शिक्षक नियुक्त किए गये हैं। ये लोग विद्यार्थियों को रुई ओटना, साफ़ करना, धुनना, सूत कातना, तारों की परीक्षा करना, सूत को मजबूत और बराबर करना, भिन्न-भिन्न प्रकार की रुई की पहचान करना तथा गाँव के चरखों की मरम्मत आदि करना बिलकुल वैज्ञानिक ढंग से सिखावेंगे। विद्यार्थियों को नित्य आठ घंटे यह काम करना पड़ेगा। उनको तीन घंटे धुनाई, तीन घंटे सूत-कताई और तीन घंटे रुई ओटना, साफ़ करना, इत्यादि काम में नियुक्त रहना पड़ेगा। इस समय संस्था में ४२ विद्यार्थी हैं। विद्यार्थियों का प्रथम दल पन्द्रह रोज़ के अन्दर गाँवों की यात्रा करेगा। संस्था में शिक्षा समाप्त कर पहले वे उन केन्द्रों में बँट जायँगे, जिन में मोटे सूत से कपड़े बुने जाते हैं और गाँववालों को अपनी रुई स्वयं ही धुनने का कार्य नये ढंग से सिखावेंगे। अखिल-भारतीय चर्खा-संघ की जमीन पर यह संस्था खोली गई है और इस कार्य के लिए पाँच कुटीर स्थापित किये गये हैं। एक झोपड़ा खास करके बनवाया गया है जिसमें रसोई खाना है। शिक्षकों के लिए एक पृथक् कुटीर है। रुई धुनाई के लिए एक दर्जा खोला गया है जिसमें १६ अड्डों में एक साथ रुई धुनने का प्रबन्ध है। चर्खों और रुई धुननेवाली कमानों की वैज्ञानिक परीक्षा करने के लिये हरदोई से विशेषज्ञ मिस्त्री बुलाये गये हैं। चर्खा उपसमिति के सदस्य स्वामी आनन्द जी पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन हो जाने के बाद मधुबनी में आ गए हैं और यहीं ठहरे हुए हैं। वे उत्तरी बिहार के भूकम्प-पीड़ित स्थानों में चर्खे के इस्तेमाल-सम्बन्धी स्थिति का अध्ययन कर रहे हैं।

मंत्री, चर्खा-उपसमिति, बिहार-सेन्ट्रल-रिलीफ़-कमेटी

हमारे राष्ट्रीय शिक्षणालय

गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी का संक्षिप्त वृत्तान्त संवत् १९९०

[प्रेषक—श्री मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल काँगड़ी]

ईश्वर की कृपा से गुरुकुल का ३२वाँ वर्ष समाप्त हो गया है, इस वर्ष की निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

वर्ष के अन्त पर गुरुकुल महाविद्यालय में ब्रह्मचारियों की संख्या निम्न प्रकार रही—

वेद महाविद्यालय = ३७
साधारण म० वि० = १२
आयुर्वेद म० वि० = २९
योग ७८

इस में से २२ ब्रह्मचारी स्नातक हो कर कुल से विदा हुए। गुरुकुल की अधिकारी श्रेणी से १६ तथा शाखाओं से ११ ब्रह्मचारी प्रविष्ट हुए। इस वर्ष के प्रारम्भ में बाहर के दो विद्यार्थी आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए, इस प्रकार महाविद्यालय के ब्रह्मचारियों की संख्या ९५ हो गई।

इस वर्ष ३४ नवीन प्रविष्ट ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार हुआ, इस समय गुरुकुल में ४२६ ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

गुरुकुल के ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य उत्तम रहा।

महाविद्यालय की सभाएँ

वाग्वर्धिनी, संस्कृतोत्साहिनी, साहित्य परिषद्, आयुर्वेद परिषद्, विज्ञान परिषद्, हिन्दी साहित्य मण्डल, वाग्विकासिनी, वाग्विलासिनी तथा कालेज यूनियन हैं। इन सभाओं की निम्न पत्र-पत्रिकाएँ हैं—

वाग्वर्धिनी सभा का पाक्षिक पत्र "राजहंस", संस्कृतोत्साहिनी सभा की मासिक पत्रिका "देवगोष्ठी" और कालेज यूनियन की ओर से कालेज मैगज़ीन निकलते हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के हिन्दी वाद-विवाद सम्मेलन में पटना, लखनऊ, तथा कई विश्वविद्यालयों के छात्रों ने भाग लिया और गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी गुरुकुल की ओर से दो प्रतिनिधि भेजे गए। ब्र० वेदव्रतजी १४वीं श्रेणी को सर्वोत्तम भाषण का प्रथम पुरस्कार "स्वर्ण पदक" तथा दोनों प्रतिनिधियों के भाषण उत्तम रहने से "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ट्राफ़ी" गुरुकुल को मिली। इसके अतिरिक्त इस बार बनारस-संस्कृत वाद-विवाद-सम्मेलन में गुरुकुल की ओर से ब्र० चन्द्रगुप्तजी को भेजा गया। अतः सर्वोत्तम भाषण के लिए प्रथम-पुरस्कार "स्वर्ण पदक" और गुरुकुल काँगड़ी को "सरस्वती प्रतिमा" पुरस्कार में दी गई।

वाग्वर्धिनी सभा के अधिवेशनों में श्री डा० बलरामजी आयुर्वेदालङ्कार, महात्मा भगवानदीनजी, श्री गोविन्द सहायजी एम० ए० तथा रा० ब० शुकदेवबिहारी मिश्र के व्याख्यान हुए, और संस्कृतोत्साहिनी के अधिवेशनों में प्रो० भीमसेनजी गवर्नमेंट कालेज अजमेर तथा लंका के शिक्षाविज्ञ डा० कराप्पे के व्याख्यान हुए।

श्रीमान् पं० मदनमोहनजी मालवीय तथा श्रीयुत सेठ युगलकिशोरजी बिडला ने गुरुकुल पधार कर कुलवासियों को कृतकृत्य किया।

क्रीडा

श्रद्धानन्द सप्ताह के उपलक्ष में मास दिसम्बर १६३३ ई० में हाकी टूर्नामेंट, दौड़ें तथा अन्तः प्रान्तीय ढाह कबड्डी टूर्नामेंट बड़े समारोह से मनाया गया, इस अवसर पर सरकारी महकमों के अधिकारी, कर्मचारीवर्ग, संन्यासी, महात्माओं तथा स्थानिक जनता ने भाग लेकर ब्रह्मचारियों के उत्साह को द्विगुणित किया। हाकी टूर्नामेंट में भिन्न २ संस्थाओं के १२ दलों ने भाग लिया। फ़ाइनल में गुरुकुलदल विजयी रहा।

दौड़ें—१० मील की दौड़ को ब्र० दयानन्द ने ४२ मिनट ३० सैकिंड में और ब्र० चन्द्रगुप्त ने ४७ मिनट ५५ सैकिंड में पूरा किया। १०० गज़ लम्बी दौड़ में ब्र० गणपति प्रथम रहा।

अन्तः प्रान्तीय ढाक कबड्डी दल टूर्नामेंट

में यू० पी० दल विजयी हुआ और उसे "आर्य-भानुदल बिजयोपहार" दिया गया।

दयानन्द-निर्वाण-अर्द्धशताब्दी अजमेर में

सम्मिलित होने के लिए गुरुकुल के ब्रह्मचारियों का एक दल पैदल यात्रा करके अजमेर पहुँचा।

पुस्तकालय

२७३ नई पुस्तकें इस वर्ष मँगाई गईं और अब पुस्तकों की संख्या १४९३७ हो गई। पुस्तकालय में पत्र-पत्रिकाएँ ७५ निम्न प्रकार आती रहीं—

दैनिक	१०
मासिक	३६
साप्ताहिक	१८
त्रिमासिक	११
	७५

वार्षिकोत्सव भी यथापूर्व सब दृष्टियों से सफल हुआ।

श्री काशी-विद्यापीठ

काशी-विद्यापीठ मंगलवार १ श्रावण १९९१ (१७ जुलाई १६३४) को खुल गया।

इस समय विद्यापीठ में महाविद्यालय विभाग (कालेज) की शिक्षा का प्रबन्ध है। इसके अतिरिक्त अ-हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों के विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाने के लिये विशेष प्रबन्ध किया गया है।

महाविद्यालय विभाग (कालेज) में उन्हीं विद्यार्थियों का प्रवेश हो सकता है जो विद्यापीठ की विशारद (मैट्रिक) परीक्षा अथवा इसकी समकक्ष किसी अन्य परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हों। यहां पर शिक्षा हिन्दी-भाषा तथा देवनागरी लिपि द्वारा होती है।

शिक्षा, छात्रावास तथा औषधि के लिये कोई शुल्क नहीं लिया जाता।

छात्रावास में विद्यापीठ की तरफ़ से भोजनालय का प्रबन्ध है। चौके और छूतछात का विचार नहीं रखा जाता। भोजन बनाने का यथा-शक्ति शुद्ध और साफ प्रबन्ध किया जाता है। हर अवस्था में छात्रावास के विद्यार्थियों को निरामिष ही भोजन करना होगा।

भोजनालय का मासिकव्यय ६) के लगभग पड़ेगा। इसके अतिरिक्त वस्त्र, ऊपरी खर्च और पुस्तक आदि के लिये तीन चार रुपया मासिक होना आवश्यक है। इस प्रकार एक विद्यार्थी का खर्च लगभग १०) प्रति मास पड़ता है।

प्रत्येक विद्यार्थी को सामूहिक प्रार्थना, व्यायाम, सहभोज तथा सूत कातने में सम्मिलित होना पड़ेगा।

योग्य तथा होनहार विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने का प्रबन्ध किया गया है।

प्रवेशपत्र, पाठक्रम, नियमादि तथा अन्य बातों के लिये पत्रव्यवहार कीजिये।

वीरबलसिंह,
पीठस्थविर, काशी विद्यापीठ।

ग्राम-सेवा के लिये—

हमने 'अलंकार' में छापने के लिये पूज्य महात्माजी से एक दूसरा संदेश ग्राम-सेवा के सम्बन्ध में मांगा था। उन्होंने कृपा-पूर्वक वह भेजा है। पाठक अंक के प्रथम पृष्ठ पर उसे देखेंगे। हमारा विचार है कि हम बापू के इन वचनों को 'असली भारतवर्ष' स्तम्भ के नीचे स्थिर कर देवें। ग्राम-सेवा जैसे अत्यन्त आवश्यक कार्य की तरफ़ अब लोगों का कुछ ध्यान जाने लगा है; इस पर अमल नहीं तो कम-से-कम इसकी चर्चा तो होने लगी है। जो विरले लोग इस कार्य में लगे हैं, वे बेशक अपने-अपने अनुभव के अनुसार समझते हैं और कहते हैं कि ग्राम-सेवक के लिये सबसे अधिक आवश्यक बात ग्रामों की प्राचीन और वर्तमान दशा का ज्ञान है, या भिन्न-भिन्न देशों के उत्थान के इतिहास का पता होना है या शरीर का स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होना है, या खादी-उत्पत्ति की संपूर्ण प्रक्रिया से पूरी जानकारी है, या ग्रामवालों की पार्टीबन्दी में न पड़कर काम करना है, या मिलनसारी और प्रेम का स्वभाव है, या सेवा-भाव, लगन और कष्ट-सहिष्णुता है, या लोगों को अपनी तरफ़ आकृष्ट करनेवाले किसी (खेल, संगीत चिकित्सा आदि) कौशल का होना है। किन्तु गांधीजी जिस बात को ग्राम-सेवक के लिये सबसे अधिक आवश्यक समझते हैं, वह उसके जीवन की पवित्रता है। क्या ग्राम-सेवा में लगनेवाले भाई गांधीजी के इस अनमोल वचन को अपने जीवन द्वारा अपनाएँगे? हम आशा करते हैं 'अलंकार' में स्थिरतया दीखनेवाले गांधीजी के ग्राम-सेवा-संबंधी ये तीनों वचन न केवल सच्चे सेवकों को ग्राम-सवा-कार्य के लिये आकर्षित करेंगे, किन्तु जो लोग ग्राम-सेवामें लगे हैं, उन्हें भी इस अन्तिम वचन द्वारा निरन्तर पथ-प्रदर्शकता करते रहेंगे।

—

अनुकरणीय विवाह—

गुरुकुल के एक तेजस्वी स्नातक, गांधी-सेवा-आश्रम हरिद्वार के मन्त्री, पं० जयदेवजी वेदालंकार का विवाह २२ जून को श्री बालूरामजी की पुत्री भगवानदेवीजी के साथ जामपुर में हुआ। जैसा पं० जयदेवजी का जीवन, स्वाधीन भारत में सादगी और स्वाभिमान से बसनेवाले एक ग्रामवासी का-सा है, अतएव अनुकरणीय है, वैसा ही अनुकरणीय उनका यह विवाह हुआ है। बरात में खादी के सादे वस्त्र पहने हुए संख्या में केवल सात भद्रपुरुष बुलाये गये थे। कन्या के कोई आभूषण नहीं थे, वर ने मुकुट आदि के पहनने का भी आडम्बर नहीं किया था। भोजन मामूली रोटी, दाल, दलिया आदि बराती के अपने-अपने

अभ्यास के अनुसार दिया गया था। कोई बराती बाजा नहीं बजा, बराती लोग ईश्वर-भक्ति के भजन गाते हुए विवाह मण्डप में गये। श्री पं० वासुदेव जी विद्यालंकार ने जनता को वैदिक-विवाह की महिमा बताते हुए विवाह-संस्कार कराया। वर-वधू को पत्र द्वारा महात्मा गांधीजी का आशीर्वाद प्राप्त करने का भी सौभाग्य मिला था।

गत अप्रैल मास में देहरादून में हुए आचार्य रामदेवजी की सुपुत्री के विवाह पर होनेवाले काफ़ी व्यय और धूम-धड़क्केको देखकर मैंने यह कहने की धृष्टता की थी "यह विवाह मुझे ऐसा लगता है जैसे कि किसी बड़े वैश्य की, न कि ब्राह्मण की, पुत्री का विवाह हो।" ऐसी कोई बात इस विवाह में नहीं थी। दहेज में बिना दिखावे के चर्खा, चारपाई, कुछ खादी के कपड़े, बरतन और पुस्तकें ही दी गई थीं। यदि विवाह ऐसी ही सादगी से होने लगें, तो दोनों पक्षवाले लोग बहुत सी निरर्थक, बड़ी भारी परेशानी से बच जाया करें और विवाह में संस्कार की गम्भीरता पर कुछ अधिक ध्यान दिया जा सके।

—

श्री परीक्षितलालजी पीटे गये—

गुजरात-विद्यापीठ के प्रतिष्ठित स्नातक, गुजरात-हरिजन-सेवक-संघ के मन्त्री, श्रीयुत परीक्षितलालजी मजूमदार का निम्न बयान प्रकाशित हुआ है :—

"गत दो जून को मुझे एक बड़ा सुन्दर अनुभव हुआ। बात नानी नरोली गाँव की है। यह गाँव बड़ोदा-राज्य के नवसारी ज़िले में है। हरिजनों के लिये वहाँ एक कुआँ बन रहा है। गुजरात-हरिजन-सेवक-संघ ने इस कुएँ के लिये १५०) रु० मंजूर किये थे। काम कितना क्या हो गया है यह देखने के लिये मैं तडकेश्वर गाँव से नरोली जा रहा था। समय दुपहरी का था। रास्ते में एक प्याऊ पड़ती थी। सवर्ण हिन्दू की हैसियत से मैंने प्याऊ का लोटा उठाया और उससे पानी पी लिया। इसके बाद सीधा मैं गाँव की हरिजन बस्ती में चला गया। मुझे हरिजन समझ कर वहाँ की पुलिस चौकी में यह रिपोर्ट कर दी गई कि मैंने लोटा छूकर प्याऊ को अपवित्र कर दिया है। इस फ़र्ज़ी अपराध पर मुझे थाने में ले गये, और बिना मेरी कोई बात सुने ही दो भील पुलिस के हुक्म से लगे मुझे पीटने। लकड़ी से भी पीटा और जूते भी पड़े। मुझे कोई प्रतिवाद तो करना नहीं था। पीठ और जाँघ में तो अब भी दर्द है। गंदी-गंदी गालियाँ भी मिलीं और जब तक पुलिस का पटेल (मुसलमान) थाने में न आ जाय, तब तक मुझे धूप में बैठे रहने के लिये कहा गया। पर जब पटेल नहीं आया, तब सिपाही मुझे उसके मकान पर ले गया। मेरी स्थिति को पटेल फ़ौरन समझ गया; और मेरा नाम व पता नोट करके मुझे छोड़ दिया। जब मुझ पर मार पड़ रही थी, तब दूर से उस गाँव के हरिजन बड़ी दयावनी दृष्टि से मेरी वह दुर्गति देख रहे थे।"

भाई परीक्षितलालजी को हम क्या कहें? उन्होंने तो हरिजन-सेवा के लिये जीवन खपा दिया है। पुलिसवालों को भी क्या कहें? वे भी बिचारे अछूतपन के पाप में पले थे और रियासत (सरकार) के आदमी होने का मद उनमें अभी स्वराज्य हो जाने से पहिले तक रहना ही है। परन्तु परीक्षितलालजी जैसे प्रतिष्ठित पुरुष भी जब 'अछूत' समझे जाने के कारण पीटे जा सकते हैं, तो हम अनुमान कर सकते हैं कि असली अछूत न जाने प्रतिदिन कितने पिटते होंगे। इसलिये हम तो अब तक भी अछूतपन के पाप को न समझनेवाले हिन्दू भाइयों

का ध्यान श्री परीक्षितलालजी की इस तपोनिष्ठा की तरफ़ आकर्षित करते हुए परमेश्वर ही से प्रार्थना करते हैं कि वे इनके हृदय से अछूतपन की इस कालिमा को धो देवें और परीक्षितलालजी-जैसे सच्चे सेवकों के परिश्रम को शीघ्र फलीभूत करें।

—

गुरुकुल के स्नातक जेल में—

गान्धी-सेवा-आश्रम के श्री पं० पूर्णचन्द्रजी विद्यालंकार तथा श्री पं० रामेश्वरजी सिद्धान्तालंकार वैयक्तिक सत्याग्रह में जेल जाकर भी कुछ समय से अपनी पूरी सज़ा भुगत कर छूट आये हैं। पर अब भी गुरुकुल काँगड़ी के एक स्नातक जेल में अपनी लम्बी सज़ा भुगत रहे हैं। ये हैं पण्डित सत्यपालजी विद्यालंकार। ये आज-कल मुलतान की नयी जेल में हैं। इन भाई सत्यपालजी पर गुरुकुल पूरी तरह गर्व कर सकता है। इनका जीवन प्रारंभ से ही सच्ची लगन और वीरता से पूर्ण रहा है। पंजाब के आर्यसमाजिओं को इनके ओजस्वी व्याख्यान सुनने का अवश्य सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि ये पंजाब की आर्यप्रतिनिधिसभा में उपदेशक रहे हैं। आपने बर्मा तथा अफ्रीका में भी बड़ा काम किया हैं। अब के जब ये अफ्रीका से लौटे, तो उस समय सन् ३२ की लड़ाई शुरू हो गई थी। अतः आते ही आप सभा से छुट्टी लेकर सत्याग्रह के सैनिक बन गये और लाहौर के अधिनायक (डिक्टेटर) की हैसियत से जेल-यात्री हो गये। पर आपको करीब ४ साल की सज़ा की गई। एक ही भाषण पर—बल्कि एक ही वाक्य पर पर—दफ़ा १२४ अ. और आर्डिनैंस दोनों धाराओं में दो और एक साल की सज़ा दी गई तथा दोनों में ही जुदा जुदा जुरमाने भी किये गये और दोनों सज़ायें जुदा-जुदा चलाई गई। परिणामतः अब पं० सत्यपालजी यदि अपनी पूरी सज़ा भुगतेंगे, तो सन् १९३६ से पहिले नहीं छूटेंगे। अभी उन पर भूख-हड़ताल का एक जुर्म लगाया गया है, जिसमें उन्हें चार महीने की सज़ा और बढ़ जाय, ऐसी भी संभावना है। तो भी वे जेल में बड़े आनन्द प्रसन्न और मग्न हैं। उनका मुख प्रसन्न और तेजस्वी है। मैं इन प्रिय सत्यपालजी के लिये नतमस्तक होता हूँ, जो कि भारत-माता की सेवा के लिये अपनी अविश्रान्त तपस्या कर रहे हैं, जब कि हम लोग अपने-अपने दुनियावी कामों में लगे हुए हैं। क्या यह पं० सत्यपालजी का स्मरण हम कुलबन्धुओं के हृदयों को हिलाता न रहेगा? क्या उनका इस समय अकेले जेल में रहना हमें स्वराज्य प्राप्ति के साधनों में तत्पर न करेगा?

—

राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व—

यह स्वाभाविक था कि अब, जब कि लड़ाई बन्द की गई है और राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) ने राष्ट्र के सामने रचनात्मक कार्य-क्रम रखा है, तो उसमें राष्ट्रीय शिक्षा के कार्य को भी बढ़ाया जाता। वर्धा में हुई काँग्रेस की कार्य-कारिणी ने ऐसा ही किया है।

हम आशा करते हैं कि अब न केवल लड़ाई के दिनों में बन्द हुए राष्ट्रीय शिक्षणालय फिर जारी हो जावेंगे; किन्तु गाँव-गाँव में राष्ट्रीय शिक्षण को प्रचारित करने का तथा प्रौढ़ पुरुषों के राष्ट्रीय शिक्षण (Adult Education on national Lines) का उद्योग भी प्रारंभ किया जायगा। यद्यपि यह देश का दुर्भाग्य है कि बहुत से हमारे अँगरेज़ियत से प्रभावित भाई अब भी सरकारी शिक्षा के मुक़ाबिले में राष्ट्रीय शिक्षा के कार्य को व्यर्थ प्रयास समझते हैं, तो भी भारतीयता को समझने

वाले सब भारतवासी अब अनुभव करने लगे हैं कि राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा ही भारत का मौलिक सुधार हो सकता है, और राष्ट्रीय शिक्षा बिना फैलाये सच्चे स्वराज्य की स्थापना आकाशकुसुम की तरह असंभव है।

—

विद्यार्थियों से—

कांग्रेस की कार्यकारिणी (वर्किंग कमेटी) ने अपनी इसी बैठक में विद्यार्थियों से आशा की है कि "वे भी रचनात्मक कार्य-क्रम के सामाजिक, आर्थिक और शिक्षा-संबन्धी भाग में अपना उचित हिस्सा लें, और अपने अवकाश का समय खास कर बड़ी छुट्टियों को कांग्रेस के इस कार्य में लगावें।" क्या भारत के विद्यार्थी अपनी नौजवानी की सुलभ शक्ति का उपयोग कुछ इस दिशा में न करेंगे ?

—

श्रद्धानन्द-दल—

आर्य भाइयों से यह छिपा नहीं है कि आर्य-समाज की शिथिलता दूर करने के लिये तथा आर्य-समाज में क्रियात्मक जीवनवाले पुरुषों को संगठित करने के लिये अजमेर-अर्ध-शताब्दी के अवसर पर एक 'दल' स्थापित हो चुका है। श्रद्धेय अमरकीर्ति स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज की जीवनदायिनी पुण्यस्मृति में इस दल का नाम 'श्रद्धानन्द-दल' रखा गया है। इसके प्रधान-मन्त्री श्री पं० ईश्वरदत्तजी विद्यार्थी विद्यालंकार हैं, और अध्यक्ष श्री पं० लोकनाथजी तर्कवाचस्पति हैं। गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर इस दल का जो एक आवश्यक सम्मेलन किया गया था, उसका सभापति बनने का सम्मान मुझ को दिया गया था। तब से मेरा भी इस दल का सम्बन्ध स्थापित हो गया है, और मैं भी इस दल का एक तुच्छ सदस्य हो गया हूँ।

मैं खूब सोच-समझ कर इस दल का सदस्य बना हूँ। इसी लिये मैं चाहने लगा हूँ कि और भी बहुत से आर्य भाई इसके सदस्य बनें।

—

आर्यसमाजों से प्रार्थना—

इस श्रद्धानन्द-दल के सदस्य बनने के लिये निम्न तीन प्रतिज्ञाएँ करनी होती हैं :—

(१) मैं प्रति दिन सन्ध्या और स्वाध्याय करूँगा।

(२) जन्म-मूलक जाति-पाँति को तोड़ कर ही अपना या अपनी सन्तति का विवाह करूँगा।

(३) मैं नियमित-रूप से शुद्ध खादी के ही वस्त्र धारण करूँगा।

इन तीनों बातों का व्रत लेना कितना आवश्यक है, यह प्रत्येक उन्नति चाहनेवाला विचारशील आर्य अनुभव करेगा। परमेश्वर का भजन न करने वाला और स्वाध्याय-हीन मनुष्य कैसे धर्मात्मा हो सकता है ? जात-पात में उलझे रहना भारतवासियों की—विशेषतः हिन्दुओं की—एक ऐसी भयंकर बुराई है कि इससे किनारा किये बिना कोई पुरुष धर्म मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता है। इसी तरह शुद्ध खादी के वस्त्र पहिनना, न केवल दीनों पर दया और देश-रक्षा का धर्म है, अपितु युग-धर्म है, जिसे कि 'प्रथम पग' के तौर पर प्रत्येक धर्मावलम्बी को अपनाना चाहिये। इसी लिए मैं सब आर्य भाइयों से प्रार्थना करता हूँ कि वे आर्यसमाज के सभासद् होते हुए इस दल के भी सभासद् अवश्य बनें। यदि इन व्रतों को माननेवाले, असली जीवन वाले आर्य संगठित होवेंगे, तो इस आर्यसमाज में फिर नवजीवन आ जावेगा, जो कि सब दुःखित संसार को वैदिकधर्म का शांतिदायक शक्तिमय सन्देश सुनाने के लिये जन्मा है। चाहिये तो यह

कि प्रत्येक ही आर्य इन व्रतों को धारण करले और फिर इस दल की कोई जुदा आवश्यकता ही न रहे। पर अभी तो इतनी ही आशा करना पर्याप्त है कि हज़ारों की संख्या में वीर, कर्तव्य-परायण और शुद्ध जीवनवाले आर्य इस दल को अपना लेवें।

'दल' का नियमित सदस्य बनने के लिये १)रु० वार्षिक चन्दा भी नियत है। छपे हुए प्रतिज्ञा-पत्र 'अलंकार' कार्यालय से मँगा सकते हैं।

—

कन्या-महाविद्यालय जालंधर की समस्या—

पाँच-सात वर्ष पहिले तक जालंधर के प्रसिद्ध कन्या-महाविद्यालय में वह तत्व विद्यमान था जिससे उसकी राष्ट्रीयता और यूनिवर्सिटी की शिक्षा देनेवाले शिक्षणालयों की अपेक्षा उसकी उपयोगिता क़ायम थी। अर्थात्, वह सरकारी परीक्षाओं के दिलाने के प्रलोभन में नहीं पड़ा था। किन्तु कुछ वर्षों से प्रबन्धकर्तृ-सभा ने यूनिवर्सिटी की हिन्दी, संस्कृत, तथा अँगरेज़ी की परीक्षाएँ दे सकने का प्रबन्ध कर दिया था। यद्यपि यह परिवर्तन कन्याओं के संरक्षकों के बार-बार कहने से ही करना पड़ा था, ऐसा प्रबन्धकर्तृ सभा के प्रधान जी के कथन से पता लगता है, तथापि हर्ष की बात है ऐसा करने की भूल को अब कुछ लोग अनुभव करने लगे हैं। प्रबन्ध-कर्तृ-सभा के प्रधान श्रीमान्य कर्मचन्द्रजी ने एक गश्ती चिट्ठी द्वारा इस सम्बन्ध में जनता की राय जानने की आयोजना की है। इस चिट्ठी द्वारा चार प्रश्नों में यह पूछा गया है कि क्या कन्या-महाविद्यालय अपनी छात्राओं को रत्न आदि हिन्दी की, प्राज्ञ आदि संस्कृत की तथा मैट्रिक आदि अँगरेज़ी की सरकारी परीक्षाओं में सम्मिलित होने दे, या अपनी ही स्नातिका परीक्षा लेवे। हमारी दृढ़ सम्मति है कि कन्या-महाविद्यालय को चाहिये कि वह कन्याओं को सरकारी उपाधियाँ व प्रमाणपत्र पाने के प्रलोभन से रोके। इस महाविद्यालय का प्रारम्भ से जो उद्देश्य रहा है वह है "परिवारों के लिये सद्गृहिणियाँ शिक्षित करना।" कन्या-महाविद्यालय अपने इस उद्देश्य से गिर जावेगा और एक निरर्थक वस्तु बन जावेगा, यदि वह बाहरी परीक्षाओं में जाने की इच्छा को पूरी करेगा। कई बड़े अच्छे होनहार शिक्षणालय इस प्रलोभन में फँस कर बर्बाद हो चुके हैं। उनके अनुभव से हमें लाभ उठाना चाहिये। जिन सरकारी नौकरियों के पाने की मृग-तृष्णा से हमारे भाई सरकारी परीक्षाएँ उत्तीर्ण करना चाहते हैं, वे तो उन्हें ही मिल नहीं रहीं और न मिल सकती हैं, तो सद्गृहिणी बनना चाहनेवाली बहिनों को इस तरफ़ जाने का क्या प्रयोजन है, यह हमें समझ में नहीं आता। यदि कोई ऐसा मिथ्या प्रयोजन होवे भी, तो उससे अपनी बहिनों को रोकना और भी अधिक आवश्यक है।

रोकने की बात इसलिये कहता हूँ चूँकि अभी अवस्था विशेष बिगड़ी नहीं है। गत जाड़ों में मुझे जब जालंधर जाने का और वहाँ कन्या-महाविद्यालय के पिता श्री पूज्य लाला देवराजजी के दर्शन प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था, तो इस विषयक चर्चा छिड़ने पर पूज्य लालाजी से यह सुन कर मुझे हर्ष हुआ था कि वे स्वयं कन्याओं द्वारा सरकारी परीक्षाओं के दिये जाने के पक्ष में सम्मति नहीं रखते थे, किन्तु संरक्षकों तथा प्रबन्धकर्तृ-सभा के कुछ सभासदों के आग्रह से उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा। अतः यह स्पष्ट है उन्हें तो पिता के नाते कन्याओं को तथा उनके

संरक्षकों को अपने आदर्श से डिगानेवाली बाहिरी परीक्षाओं के देने से रोक देना चाहिये। अभी वह समय नहीं आया है जब कि यूनिवर्सिटी की परीक्षाओं को हम अपने उद्देश्य पूर्ति के लिये उपयोग करने योग्य रूप में परिवर्तित कर सकें। अतः जैसे पिता के लिये अपने बालकों की अन्य बुरी इच्छाओं को रोकना कर्तव्य होता है, वैसे ही पूज्य लालाजी को तथा प्रबन्धकर्तृ-सभा को कन्याओं और उनके संरक्षकों की इस इच्छा को रोकना ही चाहिये। इसका अधिक-से-अधिक यह परिणाम हो सकता है कि कन्याओं की संख्या घट जावेगी, पर इससे कन्या-महाविद्यालय तो असली रूप में जीवित रहेगा, अपने उद्देश्य को पूरा करने में अग्रसर होवेगा। वैसे तो हमें पूर्ण आशा है इस से कन्याएँ घटेंगी नहीं, बढ़ेंगी। अपने उद्देश्य से विचलित न होते हुए कन्याओं की संख्या बढ़ाने का जो उपाय है वह अपने उद्देश्यानुसार कन्याओं को सुशीला, भारतीय संस्कृति से संस्कृत, विदुषी, सद्गृहिणी बनाने का पूरा प्रयत्न और प्रबन्ध करना है, न कि सरकारी परीक्षाओं में बैठने का रास्ता खोलना। अतः हमें पूर्ण आशा है कि कन्या-महाविद्यालय के सभी हितैषी अपने कर्तव्य को समझेंगे, और अब भी इस ग़लती को दूर कर महाविद्यालय को सुरक्षित रखेंगे।

—

'अलंकार' की स्थिरता—

कई सज्जनों से पता लगा है कि पंजाब के लोग हिन्दी-पत्रों से शंकित रहते हैं कि ये हिन्दी-पत्र न जाने कब बन्द हो जायँ। पर "अलंकार" के विषय में अभी यह कह देना पर्याप्त होगा कि यह मासिक-पत्र स्थिर बुद्धि से निकाला गया है। वैसे अजर-अमर तो कोई भी नहीं हैं। मैं आशा करता हूँ कि यह शंका तो कोई पाठक रखेंगे ही नहीं कि यदि 'अलंकार' बन्द होगा तो ग्राहकों को कोई आर्थिक या अन्य हानि पहुँचाता हुआ बन्द होगा।

जिस समय स्नातक बन्धु एक पत्र निकालने की बात सोच रहे थे तो मैंने पहले निकलनेवाले 'अलंकार' के बन्द हो जाने पर रोष प्रकट करते हुए कहा था ' 'अलंकार' क्यों बन्द किया गया? अब उसे फिर निकालना चाहिये, और अब वह निकलेगा तो यूँ ही कभी बन्द नहीं होगा।' इस प्रकार जिस पत्र के निकलने का इतिहास हो, उसके विषय में अस्थिरता की शंका नहीं करनी चाहिये। पूँजी की कमी के कारण बन्द होने का डर भी 'अलंकार' को नहीं है। यद्यपि आर्थिक पूँजी इसके पास विद्यमान है यह कहना कठिन है, तो भी इसके पास श्रम की पूँजी बहुत काफ़ी विद्यमान है। संपादक युगल, प्रबन्धक तथा अन्य बहुत-से स्नातक बन्धु इसमें अपना अवैतनिक श्रम लगावेंगे, जिससे कि 'अलंकार' एक बड़ी उपयोगी वस्तु सिद्ध होगी। इस प्रकार हमें आशा है कि हमारे ग्राहक भी हमारी क़ीमती पूँजी होंगे। इसमें तो मुझे संदेह नहीं है कि हमारा श्रम और पत्र की उपयोगिता इतने क़ीमती धन हैं कि यदि आर्थिक कठिनाई आवेगी, तो उसे आर्थिक तौर पर तरने के लिये अर्थ की भी हमें कमी नहीं रहेगी। अतः आर्थिक पूँजी की कमी के कारण भी पाठकों को शंकित होने की आवश्यकता नहीं है। मतलब यह है कि यदि कोई असाध्य दैवी-आपत्ति न आ जावे, तो 'अलंकार' की जन्म-पत्री में जो इस की आयु लिखी है, वह बहुत लम्बी है।

'अभय'

—

अदालतों में हिन्दी—

दिल्ली के कुछ हिन्दी-प्रेमी, दिल्ली के डिप्टी कमिश्नर के पास हिन्दी को अदालती-भाषा स्वीकार कराने के लिए डेपुटेशन ले गये थे। मि० गयाप्रसाद-सिंह ने लैजिस्लेटिव एसम्बली में इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछा। सर हैनरी हेग ने उत्तर देते हुए कहा कि दिल्ली की दिवानी और फ़ौजदारी अदालतें पञ्जाब के हाईकोर्ट के आधीन हैं। जब तक पञ्जाब का हाईकोर्ट हिन्दी को अदालती भाषा स्वीकार नहीं करता, तब तक इस प्रश्न पर विचार नहीं हो सकता। इस समय तक पञ्जाब की अदालतों मे उर्दू और अँगरेज़ी अदालती-भाषाएँ मानी जाती हैं। हिन्दी और गुरुमुखी को पञ्जाब की अदालतों मे स्वीकार नहीं किया जाता। कुछ समय हुआ, सिक्खों का एक डेपुटेशन गुरुमुखी को अदालती-भाषा स्वीकार कराने के लिये उच्च अधिकारियों की सेवा में उपस्थित हुआ था, उन्हें भी सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिला था। न्याय की दृष्टि से पञ्जाब-प्रान्त के विविध समुदायों की भाषाओं को अदालतों में समान-रूप से स्वीकार करना चाहिए। दिल्ली-प्रान्त और पंजाब-प्रान्त में हिन्दी-भाषा-भाषी जनता भारी तादाद में है। सरकार को चाहिए कि वह हिन्दी-भाषा-भाषी जनता की इस न्यायोचित माँग पर ध्यान दे। परन्तु हिन्दी-भाषा-भाषी जनता को यह समझ लेना चाहिए कि आजकल का युग लोकसत्तावाद का युग है। हिन्दी-भाषा-भाषी जनता को अपने इस अधिकार की रक्षा के लिये संगठित आन्दोलन करना चाहिए। विविध स्थानों पर वकीलों तथा मुन्सिफों और मुवक्किलों को अपने अर्जी-दावे हिन्दी में लिखने का निश्चय करना चाहिए और सरकार के लिए इस प्रश्न को जीवित-जागृत समस्या बना देना चाहिए।

—

पंजाबी देवनागरी-लिपि में—

नागरी-लिपि राष्ट्रीय लिपि का रूप धारण कर चुकी है। भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं को एक सूत्र में ग्रन्थित करने का एक-मात्र उपाय यही है कि सब प्रान्तीय भाषाएँ देवनागरी-लिपि को अपनाएँ। मराठी-भाषा-भाषी सज्जनों ने ऐसा ही किया है। गुजरात में भी कुछ सज्जन ऐसा यत्न कर रहे हैं। बंगाल में चिरकाल से यत्न जारी है। पंजाब में इस सम्बन्ध में अब तक जो चर्चा हो रही है वह व्यक्तियों तक ही सीमित है। पंजाब-प्रान्त में इस विचार को निम्नलिखित संस्थाएँ क्रियात्मिक रूप दे सकती हैं :—

(१) पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन।
(२) सनातनधर्म सभाएँ।
(३) आर्यसमाज।
(४) कन्या-पाठशाला तथा स्त्री-सभाएँ।

अथवा इस उद्देश्य से एक स्वतन्त्र संस्था भी कायम हो सकती है। यह संस्था इस विचार-धारा को जीवित आन्दोलन का रूप दे सकती है। जो भाई इस प्रकार की स्वतन्त्र संस्था बनाने के पक्ष में हों, वह अपने नाम लिख भेजने का कष्ट करें। पंजाब में राष्ट्रीयता को साम्प्रदायिक-प्रवृत्तियों से स्वतन्त्र करने का मुख्य उपाय यह भी है कि यहाँ की विविध जातियों तथा समुदायों को एक लिपि में संगठित किया जाय।

—

लाहौर में महात्मा गांधीजी का शुभागमन—

महात्मा गांधीजी हरिजन-आन्दोलन के सिलसिले में १२ जुलाई सायंकाल पौने नौ बजे लाहौर पधारे। महात्मा गांधीजी के इस शुभागमन ने लाहौर के ही नहीं, अपितु पंजाब के शिथिल सार्वजनिक जीवन में गति तथा जीवन-शक्ति का संचार

कर दिया। १२ जुलाई से १७ जुलाई तक लाहौर जनता का उमड़ा हुआ समुद्र मालूम होता था। लाजपतराय-भवन (जहाँ महात्मा गांधी का निवास-स्थान था), तथा उसके समीप ही डी० ए० वी० बोर्डिङ्ग हाउस (जहाँ सार्वजनिक सभा तथा प्रार्थना होती थी) तीर्थ-स्थान बने हुए थे।

पंजाब के बड़े-बड़े शहरों से श्रद्धालु जनता अपनी भक्ति की भेंट चढ़ाने आई थी। ईसाई, मुसलमान, सिक्ख, हिन्दू सब ने महात्माजी से भेंट करने का अवसर प्राप्त किया। पंजाब-प्रान्त की विविध दलितोद्धार सभाओं ने महात्माजी के सामने अपने विचार रखे। राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं ने भी महात्माजी के सामने प्रान्त की स्थिति रखी। महात्माजी ने विविध प्रश्नों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं दिया। कम्युनल एवार्ड की समस्या के सम्बन्ध में कुछ हिन्दू-युवकों की ओर से खुली-चिट्ठी भी प्रकाशित की गई। परन्तु इस सम्बन्ध में महात्माजी ने अपने पूर्व प्रकट किये विचारों में परिवर्तन नहीं किया।

महात्माजी ने विद्यार्थियों तथा देवियों की सभाओं में विदेशी वस्त्रों के व्यवहार की निन्दा की और हरेक को स्वदेशी तथा खद्दर का प्रयोग करने के लिये प्रेरित किया। इन्हीं दिनों स्वर्गीय लाला लाजपतराय जी की इच्छानुसार, गुलाब देवी ट्यूबर-क्लॉसिस-हस्पताल की आधार शिला रखी।

इन पाँच दिनों में महात्माजी की प्रातःकालीन प्रार्थना ने लाहौर शहर की जनता के हृदयों में आध्यात्मिकता की लहर का विशेष रूप से संचार किया। जनता इस प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिये प्रातः दो बजे से अपने घरों से प्रस्थित होती थी।

महात्मा गांधी के शुभागमन से लाहौर की जनता में जो चेतनता तथा जागृति पैदा हुई है, वह स्थिर रूप धारण करे। महात्माजी की यह धर्म-यात्रा सब दृष्टियों से सफल रही। विपरीत दशा में भी हरिजन-आन्दोलन के लिये महात्माजी को पंजाब से ५५ हज़ार रुपया प्राप्त हुआ। इस सफलता के लिये हम गांधी-स्वागत-समिति तथा हरिजन-सेवा-संघ के कार्यकर्ताओं को बधाई दिये बिना नहीं रह सकते।

'अलंकार' का 'श्रद्धानन्द अंक'—

एक विशेषांक निकालने की प्रतिज्ञा तो हम पाठकों से कर ही चुके हैं। अब हम ने यह भी निश्चय कर लिया है कि यह "श्रद्धानन्द अङ्क" होगा। १५ दिसम्बर के लगभग श्रद्धानन्द-सप्ताह के समय 'अलंकार' का जो अङ्क निकलेगा वह 'श्रद्धानन्द अङ्क' होगा और १२० पृष्ठ का होगा।

दूसरा विशेषांक—

परन्तु गुरुकुल के एक पुराने लब्ध-प्रतिष्ठ स्नातक श्री पं० आत्मानन्दजी विद्यालंकार ने हमें एक लेख भेजा है जिसमें इस बात पर विचार किया है, गुरुकुल के स्नातक आजीविका प्राप्ति के क्या क्या उत्तम कार्य कर सकते हैं और धन कमाने में कैसे सफल हो सकते हैं। उन्होंने अन्त में यह निर्देश किया है कि इस विषय में 'अलंकार' का एक विशेषांक निकाला जाय। हमें यह निर्देश पसन्द आया है। राष्ट्रीय शिक्षणालयों के स्नातक संसार में अपनी वृत्ति कैसे कर सकें? इस विषय में अनुभवी स्नातक अपने विचारों को लिखें, यह बड़ी उत्तम बात होगी। अतः हम न केवल गुरुकुल काँगड़ी के, किन्तु अन्य सभी गुरुकुलों व राष्ट्रीय शिक्षणालयों के स्नातक-बन्धुओं से प्रार्थना करते हैं कि वे इस विषय में अपने-अपने उपयोगी विचार, लेख, कविता आदि हमें अवश्य भेजने की कृपा करें।

लेखकों के सम्बन्ध में

(१) जब मन में उमंग हो, कुछ नयी लाभदायक बात जनता को सुनाने की प्रेरणा हो, तभी लिखिये।

(२) कागज के एक तरफ़, हाशिया और पंक्तिओं के बीच में जगह छोड़ कर, सुवाच्य अक्षरों में लिख कर भेजिये।

(३) एक प्रति अपने पास रख कर ही लेख आदि भेजिये, अप्रकाशित लेख आदिक वापिस किया जाना आवश्यक नहीं है।

(४) लेख आदि रचना को छापने न छापने, इस अंक में छापने. उस अंक में छापने, घटाने बढ़ाने, लौटाने न लौटाने का अधिकार सम्पादक को रखने दीजिये, इसके बिना काम नहीं चल सकता है।

विज्ञापनों के सम्बन्ध में

केवल अपनी आमदनी करने की दृष्टि से अलंकार में विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे। इस लिये—

(१) अधार्मिक, अश्लील, पतनकारी विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(२) असत्य, अतिशयोक्ति पूर्ण, भ्रमोत्पादक विज्ञापन नहीं लिये जायंगे।

(३) स्वदेशी के विरोधी, विदेशी के प्रचारक गरीबों को हानि पहुँचाने वाले विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(४) पुस्तकों के विज्ञापन भी वे ही लिये जायेंगे जिनके विषय में हमने स्वय पढ़ कर या किसी अन्य तरह पूरा संतोष प्राप्त कर लिया होगा।

अलंकार के नियम

(१) अलंकार प्रत्येक सौर महीने के प्रारंभ (अंग्रेजी महीने के मध्य) में प्रकाशित होता है।

(२) डाक खर्च सहित अलंकार का वार्षिक मूल्य ३) है, एक प्रति का ।=) विदेश से ६ शिलिंग या ४)।

(३) ग्राहकों को चाहिये कि वे वार्षिक मूल्य मनी-आर्डर से भेजे, वी० पी० न मंगावें। वी० पी० से मंगाने में कम से कम ≈) अधिक व्यय उनको व्यर्थ में करने पड़ेंगे, अन्य जो असुविधा होती है, वह जुदा है।

(४) ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या तथा पूरा पता साफ़ लिखना चाहिये।

(५) उत्तर पाने के लिये जबाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें, अन्यथा उनके लिखे अनुसार कार्य कर दिया जावेगा, उत्तर नहीं दिया जा सकेगा।

(६) लेख कविता तथा रचनायें

संपादक 'अलंकार'
गांधी सेवाश्रम
डा० खा० गुरु कुल कांगड़ी
जि० सहारनपुर

के पते पर भेजनी चाहिये तथा मनीआर्डर व विज्ञापन तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र प्रबंधक 'अलंकार' १७ मोहनलाल रोड लाहौर के पते पर आने चाहियें।

(७) यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक न पहुँचे तो उन्हें इस बात की सूचना १५ दिन के भीतर देनी चाहिये। इस के बाद मूल्य ले कर ही वह अंक भेजा जा सकेगा।

विषय-सूची

भारतीय स्वतन्त्रता के सूत्रधार

स्वर्गीय लोकमान्य का चित्र-दर्शन
"स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है।"

का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः, कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ?

"सुन्दर वचनों से हम तेरा क्या अलंकार कर सकते हैं ? हे इन्द्र ! वह समय कब आवेगा जबकि हम तुझे अपने आप को दे देंगे, पूर्ण आत्मसमर्पण कर देंगे ?" ऋ० ७-२९-३॥

वर्ष ४] भाद्रपद, १९९१ :: सितम्बर, १९३४ [संख्या ८

दिव्य जन्मकर्म

[लेखक—आचार्य दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर]

हम सुख में हों या दुःख में, जागते हों या सोते हों, स्वतंत्र हों या परतंत्र, ज़ालिम हों या ग़ुलाम, मिले हुए हों या अलग-अलग, जन्माष्टमी तो प्रति-वर्ष आती ही है। सूर्य निकलता है और अस्त होता है, चन्द्र की वृद्धि होती है और क्षय होता है, नदी का जल बहता रहता है, ऋतुचक्र चलते रहते हैं, काल-प्रवाह बहता जाता है, उसी तरह जन्माष्टमी नाम स्मरण करवाती हुई आती है और नामस्मरण करवाती हुई जाती है। हम जब स्वतंत्र थे, तब भी जन्माष्टमी आती थी। हम जब गिरने लगे, तब भी जन्माष्टमी आती थी। हम जब फिर उठने का प्रयत्न कर रहे हैं, तब भी जन्माष्टमी आई है—नामस्मरण करवाती हुई आई है। आप उसका उपदेश सुनिए या न सुनिए, वह तो आएगी और जाएगी। जिस का ध्यान होगा, वह उसका उपदेश सुनेगा और धन्य होगा।

जन्माष्टमी पुरातन है, सनातन है, तो भी नित्य नूतन है; क्योंकि वह पूर्ण है। जन्माष्टमी कृष्णावतार का त्यौहार है। कृष्ण-चरित्र अद्भुत, विविध और सम्पूर्ण है—क्षीर-सागर जैसा है। जिसके पास

जितनी शक्ति हो, उतना उसमें से ग्रहण कर सकता है। तो भी कोई यह नहीं कह सकता कि मैं श्रीकृष्ण के चरित्र का पार पा चुका हूँ।

* * *

श्रीकृष्ण का जन्म कारागार में हुआ। माता-पिता के वियोग मे उन्हें बचपन बिताना पड़ा। गोपियों के साथ लीला करने में वे लगे रहते थे—इस प्रकार का चित्र पुराणों ने हमें दिया है। पर मेरे माता-पिता पर-राज्य में क़ैद हैं, वे यह न भूले थे। श्रीकृष्ण ने सारा बचपन गोपियों मे बैठ कर, मुरली बजाने मे न बिताया था। कसरत करके वे मल्लविद्या में प्रवीण हुए थे। दुष्टों का दमन करने का वस्तुपाठ छुटपन से ही उन्होंने सीख लिया था। मथुरा के राज्य से वाक़िफ़ थे। अनुकूल समय पाकर उन्होंने कंस को दण्ड दिया, माता-पिता को छुड़ाया और उसके बाद ही गुरु के पास पढ़ने गए।

जिस विद्या से माता की मुक्ति हो, पिता की मुक्ति हो, उस विद्या का पहले अभ्यास किया। उस के बाद आत्मा की भूख मिटाने के लिए, प्यास बुझाने के लिए और विद्यानन्द प्राप्त करने वे सान्दीपनि के विद्यापीठ मे गए। पहिले माता-पिता की मुक्ति, फिर विद्या—यह श्रीकृष्ण का जीवनमंत्र था। माता-पिता की मुक्ति के बाद—स्वदेश की मुक्ति के लिए जवानी के दिन लगाने पड़े, इसका श्रीकृष्ण को कभी पश्चात्ताप न हुआ। कर्तव्य-पालन की लगन से श्रीकृष्ण की बुद्धि इतनी तीव्र हो गई थी कि गुरु के पास पढ़ते हुए उन्हें श्रम या समय लगा ही नहीं। माता-पिता को छुड़ाया, विद्या पढ़ी, गुरु को दक्षिणा दी और फिर श्रीकृष्ण ने विवाह किया। और विवाह करने के बाद सारा जीवन निरासक्त-वृत्ति से परोपकार में बिताया। जबकि दूसरे लोग अपने राज्य का और अपना-अपना उत्कर्ष कर रहे थे, तब श्रीकृष्ण सारे भारतवर्ष में राजनीति और धर्म संस्थापना का विचार कर रहे थे। लोक-संग्रह—अर्थात् लोक-संख्या का संग्रह—इस प्रकार श्रीकृष्ण नहीं मानते थे, और इसलिए उन्होंने भयंकर मनुष्य-संहार को देखते हुए भी धर्म से चिपटे रहने का धीरज बँधाया और स्वयं अप्रतिम मल्ल होते हुए भी और देश में इतने भयंकर राष्ट्र क्षयकारी युद्ध के होते हुए भी अशस्त्र और अयुद्धमान रह सके। दुर्योधन और अर्जुन दोनों श्रीकृष्ण से मदद माँगने आये, उस समय उनकी दोनों राजपुत्रों के आगे रखी हुई पसंदगी अर्थ पूर्ण है—या तो निःशस्त्र श्रीकृष्ण को पसन्द करो, या यादव-सेना को पसन्द करो। दोनों ने मनचाही पसन्दगी की और उसका परिणाम हम देख सकते हैं।

* * *

भारतीय युद्ध महान् था, पर कृष्ण-चरित्र उससे भी महत्तर है। महाभारत में गौरीशंकर और धवलगिरि-जैसे दो प्रचण्ड शिखर दीखते हैं। इन दोनों के कारण और उत्तुंग शिखर छोटे टीलों-जैसे दीखते हैं। ये दोनों शिखर भीष्म और श्रीकृष्ण हैं। उस महान् युद्ध में 'कर्तुम् अकर्तुम्' और 'अन्यथा कर्तुम्' शक्ति इन्हीं दो की है। दोनों एक-जैसे अनासक्त, एक-जैसे धर्मनिष्ठ, एक-जैसे परोपकारी और एक-जैसे ही योगी हैं। तो भी दोनों में कितना अन्तर है? दोनों के समाज-शास्त्र अलग, दोनों के राजनीतिक विचार अलग और दोनों के जीवित कर्तव्य अलग हैं। प्रचलित-राज्य-व्यवस्था को टिकाकर उसके द्वारा ही जितना बने उतना लोक-कल्याण करना और वर्तमान-काल का वफ़ादार रहना—यह भीष्म का विचार था। श्रीकृष्ण अन्याय के शत्रु, पाप-पुंज की अग्नि और रूढ़ि के विध्वंसक थे। उनकी दृष्टि भविष्य की तरफ़ है। राजनीतिक प्रश्नों

में भीष्माचार्य क़ानून के अनुसार चलते थे, वहाँ श्रीकृष्ण पुराने सड़े हुए एक-एक क़ायदे क़ानून के मुर्दे को दाब देने के लिए निकले थे। इसीलिए भीष्म ने सत्ता का पक्ष लिया और श्रीकृष्ण ने सत्य का।

समाज-शास्त्र में भी दोनों में यही भेद था। भीष्माचार्य कहते थे 'राजा कालस्य कारणम्'—राजा जैसा बनावे वैसा ही ज़माना। श्रीकृष्ण कहते थे, 'राजा कैसा ज़माने को घड़नेवाला है?' ज़माना तो मैं स्वयं हूँ और एक-एक रूढ़ि का नाश करने के लिए उतरा हूँ 'कालोऽस्मि लोक क्षयकृत् प्रवृत्तः।' भीष्मचार्य धर्म-शास्त्र से हमेशा दबे रहते थे और धर्म-शास्त्र की आज्ञाओं को पालने में ही सम्पूर्णता समझते थे, वहाँ श्रीकृष्ण धर्म की आज्ञा में रहकर धार्मिक रहस्य को समझकर उसे ही चिपटे रहते थे।

* * *

तो भी कितना आश्चर्य है। भीष्माचार्य ने प्रतिज्ञा-पालन कर के भारतवर्ष में राज्यक्रान्ति होने दी और जिस समाज-व्यवस्था को वे चिपटे रहना चाहते थे, उसी का उन्होंने भारत-युद्ध-द्वारा उच्छेद किया। श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञा-भंग कर के अपने भक्त के प्राण बचाये और भीष्म को यश दिया।

* * *

शरीर जिस प्रकार नये वस्त्र धारण करता है, आत्मा जिस प्रकार नये-नये देह धारण करती है, इसी प्रकार धर्म की सनातन आत्मा भी नयी-नयी विधियाँ निकालती ही है। इन्द्र की पूजा में जब कुछ सार न रहा, तब गोवर्धन की पूजा ही करनी चाहिए और यागयज्ञ के पचड़े की अपेक्षा श्रीकृष्ण की शरण में जाना ही अधिक श्रेयस्कर है—यह जन्माष्टमी हमें सिखाती है।

श्रीकृष्ण का चरित्र अभी हमने ध्यान-पूर्वक देखा नहीं है। श्रीकृष्ण की बचपन की लीला और बड़े होने पर जगद्-उद्धार का अवतारकृत्य इतने अधिक मोहक और उदात्त हैं और श्रीकृष्ण को अवतार मान कर हम इतने अधिक आश्चर्य विमूढ़ हो गये हैं कि इस पुरुषोत्तम ने आदर्श-रूप से जो अपना जीवन व्यतीत किया, उस तरफ़ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। आज तक जिन नर-रत्नों के चरित्र पढ़े हैं, या देखे हैं, उन सबसे श्रीकृष्ण का चरित्र अलग है। बचपन में छींके पर से मक्खन का नैवेद्य आत्मदेव को समर्पण करने के बाद यशोदा माता पकड़ लेगी, इस डर से घबराए हुए श्रीकृष्ण की नाटकी लीला छोड़ दें, तो श्रीकृष्ण के सारे जीवन में कहीं भी दुःख या भय का लेश तक नहीं मिलता। इस प्रकार की विविध घटनाओं से परिपूर्ण जीवन के होने पर भी श्रीकृष्ण किसी समय दिङ्-मूढ़ नहीं हुए, वह दुःख से दब नहीं गये, अथवा उदास नहीं हुए। जिसे आसक्ति ही नहीं, वह उदासीन कैसे हो? जो ब्रह्मानन्द जानता हैं, वह डरे क्यों? जो सब भूतों में अपने आपको देखता है, उसके मन में राग-द्वेष या जुगुप्सा कैसे हो सकती है? यही श्रीकृष्ण का पूर्णत्व है। श्रीकृष्ण को एक ब्राह्मण ने लात मारी, उसे उन्होंने अलंकार की तरह धारण कर लिया। गान्धारी ने घोर शाप दिया, उसे श्रीकृष्ण ने अपने अवतारकृत्य के मददगार के तौर पर ले लिया। अभिमन्यु मारा गया, घटोत्कच मारा गया, द्रौपदी के पुत्रों का वध हुआ, अठारह अक्षौहिणी सेना का नाश हुआ, महान्-महान् आचार्य गिरे, यादव-कुल का संहार हुआ; पर श्रीकृष्ण जैसे-के-तैसे अविचलित, गंभीर, महासागर।

* * *

भारतीय युद्ध में संग्राम-भूमि पर घायल हुए-हुए हज़ारों मुमूर्षु योद्धा खून के कीचड़ से सने हुए

हैं, और उनके बीच में. श्रीकृष्ण की कारुण्यमूर्ति प्रत्येक के माथे पर अपना शीतल वरद हस्त फेरती हुई घूम रही है, ऐसा चित्र क्या कोई समर्थ चित्रकार खींचेगा ? अन्तिम घड़ी में श्रीकृष्ण का दर्शन ! यह अहोभाग्य जिस ज़माने को मिला, वह ज़माना धन्य है ! उस समय के कवियों ने 'मरणोन्मुख वीर का आश्रय यह मुरलीधर है'—इस प्रकार के गीत गाये होंगे !

* * *

महान् संकट आवे, तब आगे रहे, अथवा सारे संकट को स्वयं अपने सिर पर ले, और जब कि राज्य-वैभव या नाम मिलना हो, तब लज्जाशील बहू की तरह पीछे-पीछे रहे ! यह श्रीकृष्ण का स्वभाव कितना उदात्त-मधुर है । गोकुल में जितने राक्षस आए, श्रीकृष्ण ने स्वयं सब को मारा । यमुना में कालियनाग आकर रहा और उसने सारे वृन्दावन में त्रास फैला दिया, तब मेरा क्या होगा ?—इस का विचार किये बिना ही श्रीकृष्ण कदम्ब के वृक्ष से संकट की धारा में कूद पड़े । ग्वालों के लड़के सब भयभीत हो गये । कुछ तो घर की तरफ़ दौड़े, कुछ वहीं पर मूढ़ होकर खम्भे की तरह खड़े रह गये । किसी को कुछ सूझा नहीं । अकेले श्रीकृष्ण ने कालिय के साथ युद्ध किया और उसे हराया, नीचा किया और जीवनदान देकर छोड़ दिया । कंस-वध में भी आगे और जरासन्ध-वध में भी आगे रहे । जहां-जहां संकट वहां-वहां स्वयं हाज़िर रहे ।

* * *

इन्द्र ने प्रलयकाल की वर्षा की, तब भी श्रीकृष्ण ने गोवर्धन उठाकर प्रजा की रक्षा की, पर उसके साथ प्रजा को यह भी बोध दिया कि प्रत्येक मनुष्य जब गोवर्धन उठाने में मदद करता है, तभी प्रभु श्रीकृष्ण अपना हाथ लगाते हैं; शक्ति परमात्मा की, पर प्रयत्न तुम्हारा ।

* * *

जन्माष्टमी के दिन श्रीकृष्ण से हम क्या मांगें ? मनुष्य अपनी वृत्ति के अनुसार मांग ले । पाण्डव-गीता में भारत-कालीन प्रमुख व्यक्तियों ने श्रीकृष्ण से क्या-क्या मांगा था, वह दिया हुआ है । कृपण कृपण की तरह मांग लेता है । भक्त भक्त हृदय से मांग लेता है, अभिमानी अभिमान के लायक़ वचन बोल कर, अपना पाप भी परमात्मा के नाम लगाता है । पर मांगना हो, तो वीर माता, धर्म माता, तपस्विनी कुन्ती ने जो मांगा, वह मांगना चाहिए । भागवत में कुन्ती की प्रार्थना बहुत ही सुन्दर शब्दों में वर्णित है । कुन्ती माता कहती है—'हे भगवन् ! जिसमें तेरा विस्मरण हो ऐसा वैभव मुझे नहीं चाहिए । जिस से तेरा हमेशा स्मरण रहे, तेरा चिन्तन हो, शरणागत बढ़ें, ऐसी आपत्ति हमें दें । भगवन् ! हमें आपत्ति दें । 'आपदः सन्तु नः शश्वत्' । क्योंकि :—

"विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः ।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायण स्मृतिः ॥"

परमात्मा को भूल जाना ही बड़ा संकट और नारायण का अखण्ड स्मरण रहना ही सम्पत्ति, वैभव, श्रेय प्रेय, स्वराज्य, स्वाराज्य और साम्राज्य है ।

अनु० —नरेन्द्रदेव विद्यालंकार
शंकरदेव विद्यालंकार

गुरुकुल की स्वामिनी सभा

[श्री आचार्य देवशर्मा जी, अभय]

गुरुकुल कांगड़ी की स्वामिनी और संचालिका सभा पंजाब आर्य-प्रतिनिधि (अंतरंग) सभा है। यह बहुत समय से अनुभव किया जा रहा है कि यह सभा गुरुकुल का स्वामित्व और संचालन ठीक प्रकार नहीं कर सकती। गुरुकुल के संस्थापक स्वयं महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जी गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य के तौर पर अंतरंग सभा के स्वामित्व से बहुत तंग रहते थे। वे अनुभव करते थे कि अंतरंग सभा न तो गुरुकुल को ठीक प्रकार समझती है और न उसकी सहायता करती है। वह इसके योग्य ही नहीं है। उन्होंने एक बार अंतरंग सभा का गुरुकुल के प्रति अज्ञान मय और अतएव भयंकर प्रेम का चित्र खींचते हुए वैशाख संवत् १९६८ (सन् १९११) सद्धर्म प्रचारक में लिखा था:—

"जो माता शरद्-ऋतु में बिछौना गीला हो जाने पर बच्चे का रोना सुन उसके मुँह, नाक, कान को कपड़े से बन्द करके उसको छाती से जकड़ कर उसका गला घोंट देती है, उसे भी तो बच्चे से अगाध प्रेम होता है; किन्तु उसका प्रेम बच्चे में जीवन डालने के स्थान में उसका काम ही तमाम कर देता है...... अब गुरुकुल आर्य-प्रतिनिधि सभा की अन्य कार्यवाहियों के साथ एक पुछल्ला-सा बना हुआ है। प्रतिनिधि की अंतरंग सभा प्रचारादि अन्य विषयों के विचार में जितना समय लगाती है, उसका चौथाई समय भी गुरुकुल-सम्बन्धी बड़े से बड़े गम्भीर विषय के विचार में अर्पण नहीं कर सकती। सभा के सभासद् इस त्रुटि को जानते हैं किन्तु गुरुकुल के साथ उनका इतना अगाध प्रेम है कि वे उसको अपने से थोड़े काल के लिये भी जुदा करने को तैयार नहीं, भले ही इस थोड़े समय की जुदाई से उनके प्यारे गुरुकुल को शुद्ध वायु के सेवन से बल मिलने तथा स्वस्थ होने की ही संभावना क्यों न हो। प्रतिनिधि की अंतरंग सभा को वैदिक धर्म के प्रचार, शुद्धि, शास्त्रार्थ आदि विषयों पर बहुत ध्यान देना है, उसको न शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करने के लिये समय ही मिलता है और न वह उन पर ठीक प्रकार विचार ही कर सकती है......मेरी सम्मति में सभा के सभासद् केवल अविद्या के कारण इस समय अपने कर्तव्य-पालन से गिरे हुए हैं।"

इसलिए महात्मा मुन्शीराम जी ने सभा में एक प्रस्ताव भी उपस्थित किया, जिसके अनुसार प्रतिनिधि सभा के ही आधीन गुरुकुल के प्रबन्ध के लिए एक अलग प्रबन्धकर्त्री सभा नियत की जाया करे। इस प्रबन्धकर्त्री सभा में प्रतिनिधि सभा के सदस्यों, संरक्षकों और दानदाताओं तथा स्नातकों आदि के प्रतिनिधि तथा वैदिक साहित्य आदि विषयों के मर्मज्ञ विद्वान् हुआ करें। इस प्रस्ताव की उपयोगिता के सम्बन्ध में महात्मा जी ने कितने ही लेख लिखे थे। दस-बारह वर्षों से भी अधिक समय तक यह प्रस्ताव प्रतिनिधि सभा के विचाराधीन प्रस्तावों की फ़ाइल में पड़ा रहा। सन् १९११ की २७ मई की प्रतिनिधि सभा में इस विषय पर खूब वाद-विवाद हुआ, जिसमें दी गई महात्मा मुन्शीरामजी तथा उनके विरोधियों की

वक्तृतायें आज भी पढ़ने योग्य हैं। इन वक्तृताओं के पढ़ने से महात्मा मुन्शीराम तथा सभा के अधिकारियों के दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट पता लग जाता है, पर उस सभा में वाद-विवाद हो जाने के सिवाय और कुछ न हो सका।

इसी तरह और बारह वर्ष बीत जाने पर श्री पं० विश्वम्भरनाथ जी के मुख्याधिष्ठातृत्व में आख़िर १७५/२३ की सभा में एक उपर्युक्त प्रकार की विद्या-सभा के गुरुकुल की प्रबन्धकर्त्री सभा बनाने का प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया। पर वह प्रस्ताव भी किन्हीं कारणों से आज तक और ११ वर्ष बीत जाने तक भी अमल में नहीं आ सका।

सन् १९३२ में जब आचार्य रामदेवजी ने मुझसे गुरुकुल का आचार्य बन जाने का आग्रह किया, तो मुझे यह मालूम था कि स्वामी श्रद्धानन्द जी वर्तमान अंतरंग सभा के प्रबन्ध को गुरुकुल की उन्नति के लिये बाधक समझते थे। अतः मैंने उस समय उनके सामने अपने गुरुकुल के आचार्य बनने के सम्बन्ध में जो दो रुकावटें उपस्थित कीं, उनमें से एक यह अंतरंग सभा के प्रबन्धकर्त्री होने की थी। इसका इलाज बतलाते हुए सब से पहिले आचार्य रामदेवजी ने प्रतिनिधि सभा में स्वीकृत हो चुके इस विद्या-सभावाले प्रस्ताव की बात मुझे सुनाई और यह आश्वासन दिलाया कि अगले वर्ष यह विद्या-सभा बन सकेगी। पर मेरे आचार्य बन जाने पर यद्यपि एक उपसमिति उस विद्या-सभावाले प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिये बनी, उसकी कई बैठकें हुईं और निर्णय भी हुए, परन्तु कई कारणों से आज मेरे आचार्य हट जाने तक भी कोई किसी प्रकार की विद्या-सभा न बन सकी। यदि विद्या-सभा बन जाती, तो हो सकता था कि मेरे आचार्यत्व छोड़ने का अवसर उपस्थित न होता। अस्तु।

पुराने महात्मा मुन्शीरामजी के ज़माने में मैं १४ वर्ष तक गुरुकुल का ब्रह्मचारी रहा हूँ अतः मुझे गुरुकुलीय विद्यार्थीपन का अनुभव है। स्नातक हो जाने पर १ वर्ष बाद से अब तक मैं गुरुकुल में वैदिक तत्व-शोधक, वेदोपाध्याय, उपाचार्य, कार्यकर्ता आचार्य तथा अन्तिम दो वर्षों में आचार्य की ही हैसियत से गुरुकुल की सेवा करता रहा हूँ। इस प्रकार लगभग १४ वर्ष का ही गुरुकुल का मुझे एक गुरु व प्रबन्धक के नाते भी अनुभव है। एवं इन अठ्ठाईस वर्षों तक मेरा गुरुकुल काँगड़ी से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। इन अठ्ठाईस वर्षों में से यदि मेरी विद्यार्थी-काल की बीमारी की छुट्टियों के तथा सेवा-काल की एकान्तवास व देशसेवा के लिये ली अवैतनिक छुट्टियों के लगभग ५ वर्षों को कम कर दिया जाय—यद्यपि इन छुट्टियों से मेरा गुरुकुल-सम्बन्धी अनुभव घटा नहीं, बढ़ा ही है—तो भी कम-से-कम २५ वर्षों का अनुभव मेरे गुरुकुल-सम्बन्धी विचारों के आधार में है, ऐसा मैं कह सकता हूँ। इन २५ वर्षों के विद्यार्थीपन और गुरुपन के विस्तृत अनुभव के आधार पर मैं अपने इस प्रिय कुल की उन्नति, सफलता और रक्षा के लिये कुछ परिवर्तन अत्यावश्यक समझता हूँ। उनमें से जिसका मैं सबसे पहिले स्थान पर वर्णन करना चाहता हूँ, वह गुरुकुल की प्रबन्धकर्त्री सभा के विषय में है।

प्रतिनिधि सभा में स्वीकृत हुए विद्या-सभावाले प्रस्ताव की क्यों आवश्यकता हुई, या गुरुकुल की वर्तमान प्रबन्धकर्त्री सभा को क्यों बदलना चाहिये, इस के कारण शायद निम्न प्रकार से कहे जा सकते हैं। गुरुकुल-कमीशन ने भी अपनी प्रकाशित प्रश्नावली में इन्हीं कारणों का उल्लेख किया है।

(क) गुरुकुल के वर्तमान संगठन में गुरुकुल के संरक्षकों, दानियों, स्नातकों, उपाध्यायों, अध्यापकों तथा अन्य गुरुकुल हितैषियों को यथायोग्य स्थान नहीं है।

(ख) अंतरंग सभा के अधिकांश सदस्य गुरुकुल से अस्पृष्ट, गुरुकुल से दूर रहते हैं।

(ग) अंतरंग सभा को वेद-प्रचार व उपदेशक विद्यालय, अछूतोद्धार तथा अन्य कई महत्त्व-पूर्ण कार्यों का प्रबन्ध करना होता है, अतः वह गुरुकुल पर पर्याप्त ध्यान दे ही नहीं सकती।

परन्तु मेरी समझ में इन कारणों की अधिक स्पष्टता और पूर्णता के लिये निम्न-लिखित चार बातों में परिगणित किया जाना ठीक होगा।

१. सभा का गुरुकुल में दिलचस्पी का अभाव।
२. सभा का गुरुकुलीय आदर्श में विशेष विश्वास का अभाव।
३. गुरुकुल का एक शिक्षा-संस्था होना।
४. गुरुकुल काँगड़ी का एक प्रान्तीय नहीं, किन्तु अखिल भारतीय संस्था होना।

मैं क्रमशः एक एक को लेता हूँ।

दिलचस्पी का अभाव

अन्तरंग सभा के सदस्य और विशेषतः अधिकारी गुरुकुल के प्रति उदासीन से रहते हैं। यह बड़ी प्रसिद्ध बात है कि सभा के अधिकारियों के अपने पुत्र गुरुकुल में शिक्षा नहीं पाते। मेरे एक मान्य मित्र विनोद में कहा करते हैं—"इसमें क्या है? वे परोपकार करते हैं? अपने बच्चों को न सही, पराये बच्चों का गुरुकुलीय-शिक्षा-द्वारा उद्धार करते हैं।" जिनके अपने बालक गुरुकुल में नहीं पढ़ते हैं, उनमें गुरुकुल के प्रति क्या दिलचस्पी हो सकती है? सभा के एक उच्च अधिकारी प्रायः स्पष्ट कहा करते हैं कि उनकी गुरुकुल में कोई दिलचस्पी नहीं रही है। उनका गुरुकुल के प्रति यह हार्दिक असन्तोष कई बार सुनकर एक बार मैंने उनसे निवेदन किया कि 'फिर गुरुकुल को तोड़ क्यों नहीं देते।' उन्होंने सचाई के साथ उत्तर दिया कि 'हाँ, यह ठीक है, पर इसमें मैं अपनी कमज़ोरी स्वीकार करता हूँ। मैं तोड़ देने की आवाज़ नहीं उठाता, यह मेरी कमज़ोरी है।" मेरी समझ में गुरुकुल के एक मुख्य संचालक में गुरुकुल के प्रति इतनी घोर उदासीनता का होना, गुरुकुल को तोड़ देने के ही बराबर है, बल्कि मैं तो कहूँगा ऐसी अवस्था गुरुकुल को वस्तुतः तोड़ दिये जाने से भी अधिक हानिकारक है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त कथन-द्वारा मैं किन्हीं व्यक्तियों को दोष नहीं देता हूँ, यह पद्धति का दोष है। अन्तरंग सभा का चुनाव इस दृष्टि से नहीं होता है कि इन्होंने गुरुकुल का स्वामित्व और संचालन करना है। अन्तरंग सभा को तो अन्य विविध प्रकार के कार्य होते हैं और वे ही उनके मुख्य कार्य होते हैं। उन्हीं की दृष्टि से अन्तरंग सभा चुनी जाती है। इसलिये मैं सभा-सदों को दोष नहीं देता। पर इतना ही कहता हूँ कि गुरुकुल की प्रबन्धकर्त्री सभा एक जुदा सभा होनी चाहिये और वह गुरुकुल-संचालन की दृष्टि से ही चुनी जानी चाहिये।

विश्वास का अभाव

स्वामिनी सभा यदि गुरुकुल के प्रति उदासीन हो, दिलचस्पी न रखे, तो उसका परिणाम यह होगा कि गुरुकुल जिधर बह रहा है उधर बहता आवेगा, गुरुकुल के आचार्य आदि स्थानीय अधिकारी उसे जिधर चलायेंगे, उधर चलता जायगा।

परन्तु यदि संचालक दिलचस्पी तो रखें; पर उलटी दिलचस्पी रखें अर्थात् गुरुकुलीय आदर्श में विश्वास न रखते हुए गुरुकुल में दिलचस्पी रखें, तो उनके गुरुकुल-कार्य में दखल करने का परिणाम यह होगा कि गुरुकुल उलटे रास्ते चलने लगेगा। मुझे दुःख-पूर्वक अनुभव हुआ है कि जहां सभा की उदासीनता के कारण गुरुकुल को नुक़सान पहुंचा है, उदासीन अतएव अनुभवहीन होने के कारण अनजाने कितनी बार सभा ने ऐसे निर्णय किये हैं, जिनसे गुरुकुल की कोमल उत्तम मनोवृत्तियों को भारी आघात पहुँचा है, वहां सभा ने गुरुकुलीय आदर्श को ओझल करके ऐसे निर्णय भी किये हैं, जिनसे गुरुकुल-जीवन की जड़ें तक हिल गई हैं।

वैसे तो अन्तरंग सभा के किसी भी मान्य सभासद् के विषय में यह कहना बड़ा कठिन है कि उन्हें गुरुकुलीय आदर्श में विश्वास नहीं है। यदि इस विषय में विवाद छिड़ जावे, तो उस पर अनन्त बहस चल सकती है। गुरुकुलीय आदर्श के लिये निर्धारित शब्दों के अर्थों में ही ऐसा विवाद हो सकता है कि वह कभी समाप्त न होवे। पर फिर भी मैं समझता हूँ कि गुरुकुलीय आदर्श को प्रत्येक सच्चे बुद्धिमान् आर्य का हृदय अनुभव करता है। अन्तरंग सभा के प्रायः सभी सदस्यों से मेरा वैयक्तिक परिचय है, मैं जानता हूँ कि वे गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली से प्रेम रखते हैं। पर फिर भी मैं नम्रता-पूर्वक कहना चाहता हूँ कि उनमें बहु-पक्ष गुरुकुलीय आदर्श में यथेष्ट विश्वास नहीं रखता है। अपने बालकों को गुरुकुल में दाखिल न करना जहां उदासीनता का द्योतक है, वहां अविश्वास का द्योतक भी हो सकता है। पर मैं तो एक बहुत मोटी बात कहना चाहता हूँ। गुरुकुल की संचालक शक्ति एक आदर्शवत्ता (Idealism) है, और वह आदर्शवत्ता सभा के बहुत थोड़े लोगों में है। गुरुकुल को एक 'पागल' ने संस्थापित किया है और इसे 'पागल' ही चला सकते हैं। दुनिया के सयाने लोगों का वहां बहुत कम काम है। मैं फिर कहता हूँ कि अपने इस कथन-द्वारा मैं व्यक्तियों पर आक्षेप नहीं करता, किन्तु इतना ही कहता हूँ कि सभा के सभासद् तथा अधिकारी दुनिया के सयानों की दृष्टि से अधिक चुने जाते हैं, 'पागलों' की दृष्टि से नहीं। अतएव वे गुरुकुल के असली संचालकों (गुरुकुल के आदर्शवान् गुरुओं) पर हकूमत करने के योग्य नहीं होते। आशा है अन्तरंग सभा के मेरे मान्य मित्र मेरे इस कथन को मानेंगे, अस्वीकार नहीं करेंगे, तो वे यह भी स्वीकार करेंगे कि गुरुकुल की स्वामिनी सभा में इस आदर्शवाद की कमी (अविश्वास) ने यदि उसे उलटे रास्ते नहीं चलाया है, तो कम-से-कम उसकी उन्नति को रोका अवश्य है।

गुरुकुल एक शिक्षा-संस्था है

इसी तरह अंतरंग सभा के सभासद् ही नहीं किन्तु अधिकारी भी इस दृष्टि से नहीं चुने जाते कि उन्होंने एक शिक्षा-संस्था का संचालन करना है, जिसके लिये उनका उच्च प्रकार के शिक्षाविज्ञ होना आवश्यक है। गुरुकुल न केवल शिक्षा-संस्था है, किन्तु एक उच्च प्रकार की शिक्षा-संस्था है, सारे संसार में एक नये प्रकार के शिक्षा के आदर्श को रखनेवाली शिक्षा-संस्था है। पर हम उसे केवल आर्यसमाज की संस्था के तौर पर ही देखते हैं। अतः उसका संचालन एक ऐसी सभा द्वारा होने देते हैं, जिसके सभासदों के लिये वह ज्ञान व शिक्षा आवश्यक नहीं, जिसके बिना उदारता नहीं आती या जिस के बिना दृष्टिकोण-विशाल नहीं होता। इस कमी के कारण भी

गुरुकुल को हानि पहुँचती है, गुरुकुल में साम्प्रदायिक संकीर्णता घुस आती है और उस का शिक्षा-संबन्धी विकास रुक जाता है। /

गुरुकुल अखिल-भारतीय संस्था है

गुरुकुल के महान् संस्थापक (महात्मा मुन्शी-राम) के कारण गुरुकुल प्रारंभ से ही अखिल-भारतीय संस्था बन चुका है। यद्यपि इसकी स्वामिनी सभा पंजाब व बिलोचिस्तान की आर्य-प्रतिनिधि सभा है, परन्तु भारत के कोने कोने में, बल्कि विदेशों में भी, गुरुकुल को लोग जानते हैं; पर इसकी पंजाबी प्रतिनिधि सभा की आधीनता को नहीं जानते। इसमें देश के सभी प्रान्तों के (केवल पंजाब के नहीं) ब्रह्मचारी तथा गुरु हैं, इसकी शाखायें भी अन्य प्रान्तों में पर्याप्त संख्या में हैं। इस प्रकार गुरुकुल सारे देश की वस्तु है।

/ अभी जब कि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने बिहार-सहायता का चन्दा पंजाब-प्रतिनिधि सभा को न भेज सीधा राजेन्द्र बाबू को भेज दिया, तो इसे सभा के अधिकारियों ने काफ़ी अनुभव किया, बुरा माना। किन्तु उन्हीं दिनों मैं पं० सत्यदेवजी विद्यालंकार-रचित स्वामी श्रद्धानन्दजी की जीवनी पढ़ रहा था, तो मुझे याद आ गया कि गढ़वाल में अकाल पड़ने पर न केवल ब्रह्मचारियों का दान, किन्तु सभी समाजों का चन्दा गुरुकुल आया था, और गुरुकुल-दल द्वारा ही स्वामी श्रद्धानन्दजी के नेतृत्व में उसका व्यय हुआ था। इसका कारण स्पष्ट है कि गुरुकुल एक अखिल-भारतीय संस्था थी, और है, और पंजाब-प्रतिनिधि सभा एक प्रांतीय संस्था है। एवं असल में पंजाब-प्रान्तीय सभा बेशक किन्हीं (पंजाब में शिक्षा व हिन्दी-प्रचार आदि) बातों में गुरुकुल के आधीन तो की जा सकती है, किन्तु गुरुकुल को पंजाब-सभा के आधीन नहीं किया जा सकता। अभी तक गुरुकुल पर सभा की सत्ता नाममात्र-सी रही है, इसलिये यह निभता रहा है। परन्तु अब (शायद किसी बड़े व्यक्तित्ववाले पुरुष के गुरुकुल में न रहने के कारण) जब कि सभा गुरुकुल पर अपना अधिक अधिकार जमाना चाहती है, तो या तो गुरुकुल संकुचित हो जायगा, अखिल-भारतीय वस्तु नहीं रहेगा या इसका शासन ठीक तरह न चल सकने के कारण गुरुकुल का बिगाड़ होगा। / अभी आर्य-पत्रों में (शायद गुरुकुल बृन्दावन के) एक 'प्रतिष्ठित स्नातक' ने गुरुकुलों का एक संगठन किये जाने की आवाज़ उठायी है, वह बहुत ठीक है। किसी अखिल-भारतीय प्रबन्ध-कर्त्री सभा द्वारा गुरुकुल काँगड़ी तथा अन्य गुरु-कुलों का संगठन किया जाय, इसका समय अब आ गया है।

मेरा पंजाब-प्रतिनिधि से बहुत संबंध है। पंजाब जैसे सुसंगठित, शक्ति-संपन्न और श्रेष्ठ कार्यकर्ताओं से युक्त अन्य कोई प्रतिनिधि सभा नहीं है। पंजाब की प्रतिनिधि सभा ने बड़े प्रेम, परिश्रम के पसीने से गुरुकुल को पाला पोसा है; परन्तु अब समय आ गया है जब कि उसे गुरुकुल को अधिक विस्तृत हाथों में सौंप देना चाहिये और इस तरह अपने को भी बढ़ा लेना चाहिये। मैं जानता हूँ कि पंजाब के अनुभवी आर्य महानुभाव ऐसा विषय छिड़ने पर सचमुच आशंकित होते हैं कि अन्य कोई सभा इतनी बड़ी भारी ज़िम्मेवारी को कैसे उठा सकेगी? परन्तु मैं समझता हूँ कि यह हमारे प्रेम-अतिरेक की आशंका है। भारत की विभिन्न प्रान्तीय सभाओं से आये प्रतिनिधियों में आर्यसमाज से बाहर के शिक्षाविज्ञ तथा गुरुकुलीय आदर्शों के माननेवाले महानुभाव भी सम्मिलित करके एक सभा बनायी जा सकती है, जो इतने ही प्रेम और परिश्रम से

गुरुकुल-प्रणाली को प्रचारित करने को अपने हाथ में ले लेवे।

इस अन्तिम निवेदन से यह भी स्पष्ट है कि प्रतिनिधि सभा द्वारा स्वीकृत आर्य-विद्या-सभावाले प्रस्ताव से भी हमारा काम न चलेगा। उस प्रस्ताव में आर्यसमाज के बाहर के गुरुकुलीय आदर्शों में विश्वास रखनेवाले शिक्षाविज्ञों के लिए तो स्थान है ही नहीं, पर वैसे भी वह मुख्यतः पंजाब-प्रतिनिधियों की ही एक दूसरी सभा हो जायगी। इसी लिए मैंने भी पीछे से उस विद्या-सभावाले वर्त्तमान प्रस्ताव पर ज़ोर देना छोड़ दिया था। अब मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि हमें उस प्रस्ताव में भी कुछ परिवर्तन करना आवश्यक होगा। वह परिवर्तन क्या हो, अथवा गुरुकुल-प्रबन्धकर्त्री सभा कैसी हो, इसकी पूरी योजना पाठकों के सामने प्रस्तुत करने से पहिले इस लेख-द्वारा तो मैं आर्य-विचारकों से इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि वे इस विषय में गम्भीरता से विचार करें। पत्रों में इसकी चर्चा करें। परस्पर मिलकर इस संबन्ध में विचार-विनिमय करें। जिससे कि आगामी सन् ३५ की मई में इकट्ठे होनेवाले पंजाब के प्रतिनिधियों के सामने इस अत्यावश्यक विषय की कोई योजना तैयार करके पेश की जा सके और हम सब इस सम्बन्ध में किसी एक निर्णय पर पहुँच सकें।

पाठकों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि डेढ़ वर्ष हुआ दिसम्बर १९३२ में युक्त-प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा ने अपने गुरुकुल वृन्दावन की प्रबन्धकारिणी सभा अन्तरंग सभा से पृथक् बना दी है। इस प्रबन्धकारिणी में तीन-तीन कर के बदलने वाले १२ प्रतिनिधि उन आर्यसमाजों के होते हैं, जो प्रतिवर्ष कम-से-कम २५०) गुरुकुल को दान देती हैं, ३ स्नातकों के, ३ संरक्षकों के और ३ बाहर के प्रतिनिधि लिये जाते हैं। मतलब यह कि वह कार्य जिसे पंजाब की प्रतिनिधि २४ वर्ष से सोच तो रही है, पर अमल में नहीं ला सकी है, उसे युक्त-प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि सभा ने अपने गुरुकुल के सम्बन्ध में अमल में ला दिया है।

यह ठीक है कि अपने हाथ से दूसरे को अधिकार दे देना बेशक़ बहुत ही कठिन होता है, पर हम धर्म-संस्थावालों के लिये यह कुछ भी कठिन नहीं होना चाहिये। अधिकारियों के हाथों में सदा बहुत कुछ अवलम्बित होता है। अतः मैं अपनी पंजाब प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों से विशेषतः प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विषय में वैयक्तिक और सामूहिक तौर पर अवश्य विचार करें। इन १० महीनों में सोच-विचार कर एक योजना तैयार करें, तथा प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में ¾ उपस्थिति कर लेने का भी विशेष उद्योग करें। मैं यह जानता हूँ, यदि सभा के अधिकारियों को इन विचारों की सचाई अनुभव न होगी या अन्य ऐसा कोई कारण होगा, तो वे गुरुकुल-प्रबन्ध-सम्बन्धी इस अत्यावश्यक परिवर्तन को कई वर्षों तक आसानी से टाल सकते हैं; पर वे सदा के लिये इसे नहीं टाल सकते, क्योंकि यह परिवर्तन गुरुकुल के सफल भविष्य के लिये अनिवार्य है। हमारे गुरुकुल ने अब केवल सुरक्षित ही नहीं रहना, किन्तु सफलतापूर्वक आगे बढ़ना है। अतः वे गुरुकुल को बेशक़ तोड़ सकते हैं, पर इस परिवर्तन को चिरकाल तक नहीं टाल सकते। क्योंकि गुरुकुल की उन्नति के लिये यह सचमुच अनिवार्य है कि उसकी संचालिका और स्वामिनी सभा ऐसी हो, जो कि अखिल-भारतीय होवे और जो गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली और गुरुकुलीय आदर्शों में विश्वास रखने वाले शिक्षाविज्ञों की बनी हुई होवे।

इटली का फ़ैसिस्ट-आन्दोलन

[श्री प्रोफ़ेसर सत्यकेतुजी, विद्यालंकार]

गत यूरोपीय महायुद्ध (१९१४-१८) के समय यूरोप के बहुत से देशों में साम्यवाद के आन्दोलन ने बहुत प्रबल रूप धारण कर लिया था। इसके दो कारण हैं। पहिला यह कि युद्ध की आवश्यकताओं से बाधित होकर बहुत से व्यवसायों पर अनेक देशों की सरकारों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। जो पदार्थ युद्ध के लिये उपयोगी थे, उनके राजकीय अधिकार में आने के कारण कुछ समय के लिये इन देशों में साम्यवादी ढंग का शासन स्थापित हो गया था। युद्ध के उपयोगी पदार्थों में उस समय केवल हथियारों और बारूद को ही नहीं गिना जाता था। अपितु वस्त्र, अन्न, खाँड, धातुएँ तथा लकड़ी आदि सामान्य वस्तुओं का भी समावेश किया जाता था। इसका कारण अधिक गम्भीर है। यूरोपियन महायुद्ध दो सिद्धांतों के लिये लड़ा जा रहा था। राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद। यदि सच्चे अर्थों में लोकसत्तात्मक शासन स्थापित करना हो, तो उसके लिये सर्व-साधारण जनता को—किसानों और मज़दूरों को—शासन में ठोस अधिकार मिलने चाहिये। जब यूरोप के सभी प्रमुख राजनीतिज्ञ डंके की चोट के साथ यह उद्घोषित कर रहे थे कि हम इतने धन-जन का विनाश केवल इस उद्देश्य से कर रहे हैं कि निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन का अन्त होकर सर्व साधारण जनता का शासन स्थापित हो, तो यह बिलकुल स्वाभाविक था कि किसानों तथा मज़दूरों में अपने अधिकारों के लिये उत्साह पैदा हो। इसी कारण महायुद्ध की प्रगति के साथ साथ साम्यवाद आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ता गया।

१९१७ ई. में रूस में राज्यक्रान्ति हुई। यह फ्रांस की क्रान्ति के समान केवल राजनीतिक क्रान्ति ही नहीं थी। अपितु इसमें सर्व-साधारण जनता ने—किसानों और मज़दूरों ने—राजनीतिक, आर्थिक, और सामाजिक सब क्षेत्रों में अपने प्रति होनेवाले अन्यायों को दूर करने का प्रयत्न किया था। रूसी राज्यक्रान्ति से अन्य देशों के साम्यवादियों को भी उत्साह हुआ। सर्वत्र साम्यवाद का आन्दोलन प्रबल होने लगा। १९१९ ई. में महायुद्ध के समाप्त होने के समय यूरोप के प्रायः सभी देशों में साम्यवादी दलों का ज़ोर बढ़ रहा था। सब जगह लोग नये युग का स्वप्न देख रहे थे।

इटली की भी यही दशा थी। १९१९ ई. में जब इटली की प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन हुआ, तो उसमें साम्यवादियों की संख्या ६ गुनी बढ़ गई। अनेक स्थानों पर मज़दूरों ने अपने मालिकों को निकालकर कारख़ानों पर कब्ज़ा कर लिया। देहातों में किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया। ज़मींदारों के खेतों में हड़ताल हो गई। ऐसा प्रतीत होता था कि रूस के समान इटली में भी साम्यवादी क्रांति होने में देर नहीं है। वहाँ भी पूँजीपतियों और मध्य-श्रेणी के लोगों से शक्ति छिनकर किसान-मज़दूरों के हाथों में चली जावेगी। इटालियन सरकार परेशान थी कि इस स्थिति को कैसे क़ाबू में लावे।

ऐसे समय में इटली के पूँजीपति और मध्य-श्रेणी के लोग भी चुपचाप नहीं बैठे थे। साम्यवादियों की बढ़ती हुई शक्ति से उनका चिन्तित होना बिलकुल स्वाभाविक था। उन्होंने साम्य-

वादियों का मुक़ाबला करने के लिये अपने को संगठित करना शुरू किया। मुसोलिनी का कर्तृत्व यहीं से शुरू होता है। साम्यवादियों के विरुद्ध धनी लोगों की शक्ति को संगठित करके ही मुसोलिनी ने अपना राजनीतिक उत्कर्ष प्रारम्भ किया। उसके प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश डालने की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना लिखना पर्याप्त है कि शुरू में वह भी साम्यवादी था और कॉर्ल-मॉर्क्स का ज़बर्दस्त पक्षपाती था। पर साम्य-वादियों की अन्तर्राष्ट्रीय पद्धतियाँ उसे पसन्द नहीं थीं। महायुद्ध के समय पर-राष्ट्रनीति के सम्बन्ध में उसके साम्यवादियों से मतभेद शुरू हुए, और धीरे-धीरे वह उनसे सर्वथा पृथक् हो गया। महायुद्ध की समाप्ति पर जब उसने देखा कि साम्यवादी लोग अपने को संगठित कर सरकार पर कब्ज़ा करना चाहते हैं, तो उसने उनके विरोधी तत्वों का संग-ठन प्रारम्भ किया। मुसोलिनी ने अपने इस संगठन का नाम फ़ैसिस्ट रखा। इटालियन भाषा में 'फ़िस्सी' का अर्थ ग्रुप व सभा है। मुसोलिनी के इस नवीन संगठन की ताक़त दो बातों पर आश्रित थी—धनी व पूँजीपति, ज़मींदार और मध्य-श्रेणी के लोग स्वभावतया उसके सहायक थे। उनके अतिरिक्त राष्ट्रवादी लोग भी उसका समर्थन कर रहे थे। कारण यह कि मुसोलिनी राष्ट्रीयता की भावना के नाम पर अपील कर लोगों को अपने साथ कर रहा था। सन् १९१९ ई. में महायुद्ध की समाप्ति पर सन्धि-परिषद् के अधिवेशन हो रहे थे। मित्र-राष्ट्रों का प्रत्येक सदस्य विजय के मद में मस्त होकर अपने उत्कर्ष के लिये कोशिश कर रहा था। इटली भी मित्र-राष्ट्रों में से एक था। इटालि-यन राष्ट्र के उत्कर्ष का, उसके लिये नये-नये प्रदेश प्राप्त करने का, उसकी सीमाओं को बढ़ाने का, और इटालियन साम्राज्य बनाने का यह उत्तम अवसर है। यह प्रचार बहुत से देशभक्त राष्ट्रवादी लोग कर रहे थे। इटालियन लोगों में ये भाव ख़ूब लहरें मार रहे थे। मुसोलिनी ने इनका उपयोग किया। साम्यवादियों की प्रवृत्ति साम्राज्य-विस्तार के अनुकूल नहीं थी, अतः राष्ट्रीयता के नाम पर मुसोलिनी ने उनके विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया और कुछ ही समय में पूँजीपति, ज़मींदार, व्यापारी आदि धनी लोग साम्यवाद के विरोध के लिये और देशभक्त राष्ट्रवादी लोग इटली के उत्कर्ष के लिये मुसोलिनी के साथ हो गये।

सन् १९२१ के निर्वाचन में फ़ैसिस्ट-दल के ३५ सदस्य प्रतिनिधि सभा में एकत्रित हुए। कुल सदस्यों की संख्या ५०८ थी। यद्यपि फ़ैसिस्ट लोग बहुत कम संख्या में निर्वाचित हुए थे, पर दो वर्षों में एक नवीन दल का संगठित करना और उसके ३५ सदस्य प्रतिनिधि सभा के लिये निर्वाचित कर देना भी मामूली बात नहीं थी। सन् १९२१ के बाद फ़ैसिस्ट लोगों की शक्ति बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ती गई। सन् १९२१ में प्रतिनिधि सभा का जो निर्वाचन हुआ था उसमें किसी एक दल का बहुमत नहीं था। मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिये यह ज़रूरी था कि विविध दलों को मिलाकर उसका निर्माण किया जावे। पर उस समय विविध दलों का मिल सकना सुगम बात नहीं थी। अनेक राजनीतिक नेताओं ने इसके लिये प्रयत्न किया। पर उन्हें सफलता न हुई। इटली के लिये यह जटिल समस्या थी। मन्त्रि-मण्डल के बिना सर-कार का सञ्चालन कर सकना कठिन हो रहा था।

इस स्थिति में मुसोलिनी को अपने उत्कर्ष के लिये फिर मौक़ा मिला। सन् १९२२ में नेपल्स में फ़ैसिस्ट दल की कांग्रेस हुई। कांग्रेस की समाप्ति

के कुछ दिन बाद फ़ैसिस्ट लोग बहुत बड़ी संख्या में रोम के समीप एकत्रित हुए। इस समय तक फ़ैसिस्ट दल ने सैनिक ढंग पर अपना संगठन बना लिया था। प्रत्येक फ़ैसिस्ट काले रंग की सैनिक वर्दी पहनता था। मुसोलिनी के नेतृत्व में इन हज़ारों फ़ैसिस्ट सैनिकों ने रोम पर आक्रमण किया। रोम के लोग फ़ैसिस्ट जुलूस को देखकर आश्चर्य चकित रह गये। सरकार भी मुसोलिनी की शक्ति से घबरा गई। उस समय के प्रधान-मन्त्री ने 'मार्शल लॉ' जारी करने का प्रस्ताव किया, पर राजा उससे सहमत नहीं हुआ। क्योंकि फ़ैसिस्ट-दल का मुक़ाबला करने का उसे भरोसा नहीं था। इस समय इटली में मुसोलिनी ही सब से अधिक शक्तिशाली हो गया था। आख़िर राजा ने उसे मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिये निर्वाचित किया, मुसोलिनी स्वयं प्रधान-मन्त्री बना और लिबरल तथा कैथोलिक-दलों की सहायता से उसने अपने मन्त्रि-मण्डल का निर्माण किया। मुसोलिनी के इस प्रथम मन्त्रि-मण्डल में १५ मन्त्रियों में केवल चार फ़ैसिस्ट थे। शेष अन्य दलों के थे। प्रधान-मन्त्री बनकर मुसोलिनी ने साम्यवादियों के विरुद्ध कार्य प्रारम्भ किया। पर अभी उसकी शक्ति इतनी नहीं थी कि वह जो चाहे कर सके। अभी तक प्रतिनिधि सभा में उसके अनुयायी केवल ३५ ही थे। मुसोलिनी लोकसत्तात्मक शासन का विरोधी था। प्रतिनिधि सभा उसे ज़रा भी पसन्द न थी। एक साल तक वह जैसे-तैसे प्रतिनिधि सभा के साथ कार्य करता रहा। आख़िर तंग आकर उसने एक 'सुधार-बिल' पेश किया, जिसमें प्रस्तावित किया गया कि नये निर्वाचन में जिस दल के सदस्य सबसे अधिक हों, प्रतिनिधि सभा के कुल सदस्यों का दो तिहाई अंश उस दल का रहे। इस प्रस्ताव को पास कराने के लिये मुसोलिनी ने सब प्रकार के उचित अनुचित उपायों का आश्रय लिया। आख़िर यह स्वीकार हो गया और मुसोलिनी के उत्कर्ष का मार्ग खुल गया।

सन् १९२४ में प्रतिनिधि सभा का नया निर्वाचन हुआ। इसमें सफलता के लिये मुसोलिनी के फ़ैसिस्ट-दल ने बड़ी भारी कोशिश की। केवल उचित उपायों से ही नहीं, ज़ोर-ज़बर्दस्ती का भी आश्रय लिया गया। मुसोलिनी स्वयं प्रधान-मंत्री था। सरकार की सारी ताक़त लगा कर और फ़ैसिस्ट सैनिकों के बल प्रदर्शन द्वारा, आख़िर मुसोलिनी के अनुयायी अन्य दलों के मुक़ाबले में अधिक संख्या में निर्वाचित हुए।

सन् १९२३ के 'सुधार-बिल' द्वारा अब प्रतिनिधि सभा में फ़ैसिस्ट-दल के दो तिहाई सदस्य हो गये। पर मुसोलिनी इससे भी पूर्णतया संतुष्ट न था। और भी अन्य दलों के एक तिहाई सदस्य प्रतिनिधि सभा में मौजूद थे। मुसोलिनी पूर्ण-रूप से निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक होना चाहता था। प्रतिनिधि सभा में किसी भी दल का विरोध व समालोचना सह सकना, उसके लिये संभव नहीं था। विशेषतया साम्यवादी लोग उसकी आँखों में शूल की तरह चुभते थे। अतः उन्हें नष्ट करने के लिये मुसोलिनी ने आतंक और हत्या के उपायों का आश्रय लिया। साम्यवादी दल के लोगों का क़त्ल प्रारम्भ हुआ। उन्हें गिरफ़्तार करके मुक़द्दमा चला कर नहीं, अपितु गुप्त-रूप से षड्यन्त्रों द्वारा अनेक प्रसिद्ध साम्यवादी नेता कतल किये गये। साम्यवादी दल को ही ग़ैरक़ानूनी उद्घोषित कर दिया गया। श्रमी-संघ तोड़ दिये गये। प्रैस की स्वतन्त्रता छीन ली गई। लोगों को अपनी सम्मति स्वतन्त्र-रूप से प्रगट करने का अधिकार नहीं रहा।

हज़ारों आदमी केवल इस लिये गिरफ़्तार किये गये, क्योंकि मुसोलिनी का यह स्वेच्छाचार उन्हें पसन्द न था। इटली के न्यायालय मुसोलिनी के इन कृत्यों का समर्थन करने को तैयार न थे, वे उसकी ग़ैर-क़ानूनी उद्घोषणाओं के अनुसार अभियुक्तों को दण्ड देने के लिए उद्यत न थे, अतः न्यायालयों के पुराने संगठन को नष्ट कर नया संगठन बनाया गया। इस काल में मुसोलिनी अपने फ़ैसिस्ट संगठन के बल पर फ़ैसिस्ट सैनिकों की सहायता से अपनी शक्ति को स्थापित करने में पूर्ण-रूप से सफल हुआ।

पर मुसोलिनी इतने से संतुष्ट नहीं था। अभी प्रतिनिधि सभा मौजूद थी और क़ानून के अनुसार वह उसके प्रति उत्तरदायी था। अतः उसने दो और महत्त्व-पूर्ण क़ानून बनाये। एक क़ानून के अनुसार वह प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी न रह कर राजा के प्रति उत्तरदायी हो गया और दूसरे क़ानून के अनुसार उसने यह अधिकार प्राप्त किया कि प्रतिनिधि सभा की स्वीकृति के विना वह स्वयं क़ानून बना सके। अब मुसोलिनी पूर्णतया निरंकुश हो गया। राजा के प्रति उत्तरदायी होने का मतलब केवल अपने प्रति ही उत्तरदायी होना था। कारण यह कि इटली का राजा सर्वथा शक्तिहीन था। मुसोलिनी को क़ाबू में रखने की उसमें ज़रा भी क्षमता न थी।

पर जब तक प्रतिनिधि सभा, चाहे वह कितनी ही शक्तिहीन क्यों न हो, मौजूद थी, मुसोलिनी चैन अनुभव नहीं करता था। उसे लोकसत्तात्मक शासन से प्रबल घृणा थी। मनुष्यमात्र को वोट का अधिकार' और 'प्रतिनिधियों का निर्वाचन' इस प्रकार की सब बातों से वह सख़्त नफ़रत करता था। आख़िर १९२८ ई. में वह इन सबको भी नष्ट करने में समर्थ हुआ। फ़ैसिस्ट लोगों ने प्रतिनिधि सभा के स्थान पर एक नवीन प्रकार के संगठन का सूत्रपात किया, जिसे 'कार्पोरेट स्टेट' कहते हैं। इसका अभिप्राय स्पष्ट करने की आवश्यकता है। व्यवसाय, कृषि, व्यापार, नौकानयन और वायुयान, स्थल के विविधयान और बैंक इन छः क्षेत्रों में काम करनेवाले मज़दूरों तथा उनके छः और मालिकों के पृथक्-पृथक् संगठन उस समय इटली में विद्यमान थे। मज़दूरों के ६ और मालिकों के ६— इस प्रकार कुल १२ संगठन हुये। इनमें फ़ैसिस्ट-दल का एक संगठन और मिला दीजिये। इस प्रकार ये कुल १३ संघ बन जाते हैं। इन तेरह संघों को यह अधिकार दिया गया कि अपनी तरफ से उम्मीदवारों की एक सूची पेश करें। इन तेरह सूचियों में से चुन कर फ़ैसिस्ट-दल की कौंसिल एक सूची तैयार करे और फिर विविध (उपर्युक्त तेरह) संगठनों के सदस्यों के सम्मुख यह सूची वोट के लिये पेश की जावे। इन वोटरों को केवल यह हक़ हो कि इस सूची के पक्ष या विपक्ष में वोट दें। इस प्रकार जब यह सूची स्वीकृत हो जावे, तो उस सूची के महानुभावों से नई संगठित 'कार्पोरेट स्टेट' की पार्लियामेंट बने। ऊपर जिस विधि का हमने बयान किया है, उससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि पार्लियामेन्ट में केवल वे ही सदस्य निर्वाचित हो सकेंगे, जो फ़ैसिस्ट-दल की कौंसिल को या मुसोलिनी को अभिमत होंगे। अन्य किसी महानुभाव के चुने जाने का का प्रश्न ही, इस नये संगठन में उत्पन्न नहीं हो सकता।

इस प्रकार मुसोलिनी के प्रयत्न से इटली में न केवल साम्यवादी दलों का अन्त हो गया, अपितु लोकसत्तावाद की भी समाप्ति हो गई। इस समय मुसोलिनी इटली के कर्ताधर्ता हैं। उनकी शक्ति मुख्य इन्हीं दो बातों पर आश्रित है। जिनकी सहायता से उन्होंने अपना उत्कर्ष करने का अवसर प्राप्त हुआ था अर्थात् साम्यवाद के विरोध में धनियों का सहयोग प्राप्त करना और राष्ट्रीयता के नाम से अपील कर देशभक्तों की सहानुभूति प्राप्त करना। मुसोलिनी ने इटली के आर्थिक व सामाजिक जीवन में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं, उन पर हम फिर कभी पृथक् रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

—

पगली

[लेखिका—श्रीमती लज्जावती, आहूजा]

सिंघापुर बन्दरगाह पर नित्य अनेक जहाज़ आते और जाते हैं। बड़ी रौनक रहती है। सैकड़ों मन माल उतरता है, चढ़ता है। चहल-पहल मची रहती है; आठों पहर जमघट लगा रहता है। इस बन्दरगाह पर जिस दिन न्यूज़ीलैंड से आने वाला जहाज़ पहुँचता होता है, उस दिन एक पगली भागी भागी, सवेरे से ही प्लेटफ़ार्म के एक कोने में बैठ जाती है, और जलनिधि की अगाध जलराशि को, जिसकी पीठ पर से होकर जहाज़ आता है, आँखें फाड़-फाड़ कर देखती रहती है। उस समय उसका मन सागर की तरंगों में डुबकिएँ ले रहा है। संसार की चहल-पहल उसके कानों तक नहीं पहुँचती; तभी तो निस्तब्ध प्रस्तर मूर्ति की न्याईं वह चुपचाप बैठी रहती है।

एक दिन की बात है, न्यूज़ीलैंड से जहाज़ आया; उसने लंगर भी डाल दिया। किनारे के लोग प्रसन्न हृदयों से अपने स्वजनों का स्वागत करने के लिये आगे बढ़े। कुली सामान उतारने को लपके। यात्री सामान छोड़ तट पर उतरने को उतावले हो रहे हैं। बन्दरगाह में थोड़ी देर के लिए जीवन का संचार हो गया है। प्रत्येक के हृदय में सागर की तरंगों के समान, तरंगें लहरें मार रही हैं। इतने वर्षों से दबाई हुई उमंगें उमड़ पड़ती हैं। परन्तु वह पगली अचल मूर्ति की तरह अपने स्थान पर ही स्थित है। परन्तु अब उसकी दृष्टि समुद्र की ओर नहीं है, अब तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसकी आँखें आनेवाले यात्रियों में से किसी को खोज रही हैं। धीरे-धीरे जहाज़ ख़ाली हो गया। बन्दरगाह पर थोड़ी देर के लिये निस्तब्धता छा गई। पगली उठी, और जिधर से आई थी उसी ओर को चल दी। लोगों से उसे कोई सरोकार नहीं। कई लोग, जो उसे इसी भाँति बहुत समय से देखते आए, कभी-कभी बुला भी बैठते हैं। पर जैसे उसे कुछ सुनाई नहीं देता। वह अपनी धुन में मस्त, गुनगुनाती हुई चल देती है। हाँ, जाते हुए एक-दो काग़ज़ ज़रूर बटोर कर साथ ले जाती है। अब उसके पाँव आगे को नहीं पड़ते। सारे शरीर में शिथिलता प्रतीत हो रही है। एक-एक क़दम उठाना भारी हो रहा है। हृदय की विचित्र गति है; कभी आग की चिनगारियों की तरह जल उठता है और कभी हिमकण की तरह शीत हो काँप जाता है। निराशा-मग्न पगली न जाने, कब अपनी झोपड़ी में जा घुसी और निश्चेष्ट होकर एक शिला पर पड़ रही। वह आज प्रातःकाल बड़ी उमंग से, बड़ी चाव से बन्दरगाह की ओर भागी हुई गई थी, परन्तु इस समय न-जाने किस बात ने उसका सम्पूर्ण उत्साह भंग कर दिया। उसके हृदय को किसने ठेस पहुँचाई? क्यों उसका खून ठण्डा पड़ गया? मृतमान की तरह पड़ी, लो वह तो बड़बड़ा रही है! चलो, उसके पास चलकर सुनें तो, शायद उसकी वेदना का कुछ मर्म जाना जा सके।

पगली बक रही है—"ओह उसकी आँखों में मादकता थी। उसके भोले भाले चेहरे पर मृदुलता थी। उसके अधरों पर मुसकान थी। उसके हृदय पर विषाद की धीमी रेखा थी। उस रेखा ने

रज्जू का काम किया, और मुझे मोहपाश में जकड़ लिया।"

इसके बाद पगली अचेत हो गई! कुछ समझ नहीं आया। हाँ, इतना अवश्य पता चल गया कि वह अपने किसी प्रिय जन के वियोग में दिवानी हो रही है, किसी के मोह में पागल हो रही है, किसी की ममता ने इसके मर्मस्थल को ठेस पहुँचाई है।

उसे सांसारिक ज्ञान नहीं—संसार में उथल-पुथल मच रही है। भूचाल आया, प्रान्त-का-प्रान्त तहस-नहस हो गया, पगली को इस सबकी सुध तक भी नहीं। परवाह भी नहीं। राजा की सवारी आई और पास से निकल गई, पगली को मालूम भी नहीं हुआ। फिर भी कौन कह सकता है कि उसकी सुध क़ायम है—न्यूज़ीलैंड से आने और जानेवाले जहाज़ों का समय उसे बन्दरगाह के कुलियों से भी अधिक अच्छी तरह मालूम रहता है। न-जाने उस दिन इस अस्थि पिंजर में बल कहाँ से आ जाता है? उसके मुरझाये दिल में उत्साह और उमंगों का जोश किस तरह भर जाता है? वह कैसी स्फूर्ति से भाग कर वहाँ पहुँचती है?

पगली नित्य फूल चुन-चुन कर किसी के लिये माला पिरोया करती। जंगल से फल ला झोंपड़ी में ढेर लगाती रहती; ख़ाली काग़ज़ों पर नित्य ही ख़ाली अँगुली से न-जाने किसके नाम पत्र लिखा करती। लोग कौतुहल से इसकी चिट्ठियों को डाक के थैलों से निकाल कर पढ़ते हैं, पर वे काग़ज़ कोरे बिलकुल कोरे ही दिखाई देते हैं। लोग हैरान हो उठते हैं—पगली के लम्बे-चौड़े काग़ज़ों के पुलन्दों को देख वे कहकहा मार कर हँस देते हैं। बेशक़ लोगों की नज़रों में ये काग़ज़ ख़ाली हैं, कोरे हैं—पर उस पगली के हृदय से पूछिये, न-जाने उसके हृदय की कितनी मूक वेदनायें उसमें छिपी पड़ी हैं। कितने गहरे भावों से उन पर उस पगली की उँगलियाँ फेरी गई हैं। पगली एक इसी तरह की एक चिट्ठी डाकख़ाने में जा कर छोड़ आती है, और चिट्ठीरसाँ उसे फाड़ कर ही फेंक देता है।

[२]

आज बन्दरगाह पर बड़ी चहल-पहल है। नित्य की अपेक्षा लोगों की भीड़ अधिक है। किसी के स्वागत के लिये जनता फूलों के हार लिए जहाज़ की बाट जोह रही है। जहाज़ आ पहुँचा। लोग बड़ी उत्सुकता से आगे बढ़े। एक स्त्री सुंदर वेश में जहाज़ से उतरी, उसके साथ अँगुली पकड़े हुए, उसकी प्रतिमूर्ति के समान एक छोटी-सी कन्या भी थी। इस सुन्दर कन्या की आयु करीब ४ वर्ष होगी। उसने एक गाउन पहिन रक्खा था। बैण्ड बजने लगे। लोगों ने फूलों के हारों से उस महिला को जैसे लाद-सा दिया।

आज भी वही पगली आँखें गड़ाये एक कोने में बैठी थी। यकायक वह चौंक उठी। जैसे उसे अपनी खोई हुई वस्तु दीख पड़ी हो। ओह! यह तो उस पगली का वही अमूल्य रत्न, वही प्रिय मृदुल चेहरा, वही मदमाती आँखें, और वही अधरों की मुसकान है। पगली का हृदय नाच उठा। अपनी अमूल्य निधि को अपनी छाती से चिपका लेने के लिए उसका हृदय तड़फ उठा।

\+ \+ \+

पगली की इस निधि को लोगों ने चारों ओर से घेर रखा था। फिर भी वह रास्ता निकाल भीड़ में घुस गई; और लपक कर उस नन्ही-सी बच्ची को उसने अपनी गोद में ले लिया। वह छोटी-सी

कन्या घबरा कर पगली के मुख की ओर ताकने लगी, इसी समय पगली ने उसका मुँह चूम लिया। लोगों में शोर मच गया, "भगाओ इस पागल को"।

वह स्त्री जो अब तक शालीन सभ्य तथा गम्भीर बनी हुई थी, विकराल रूप धारण कर बोली,—"नालायक़ कहीं की! हन्टरों से मार कर निकालो इसे। सचमुच हिन्दुस्तानी गधा है! कैसा गन्दा सकल है! बू आता है; और हमारे बेबी को गोद में लेकर चूमता है। छिः! छिः! मारो।" लोगों ने अब तक उस पगली से बच्चा छीन ही लिया था। लगे हन्टरों से मारने और भगाने, उस बुढ़िया को—आफ़त की मारी बुढ़िया को!

पर वह पगली मर्माहत होती हुई भी आँखें उसी चेहरे पर गड़ाये थी। पलक नहीं मारती थी कि कहीं यह रूप फिर से ओझल न हो जाये। वह स्त्री फिर बोली, "कैसा ढीठ है। आँखें फाड़-फाड़ कर देखती है यह है कौन?" लोगों ने कहा,—"श्रीमती जी, यह एक पगली है।"

पगली निस्तब्ध निश्वास छोड़, आँखें फाड़े खड़ी रही। उसके पाँव तले से पृथ्वी खिसकने लगी। आँख का परदा खुला और वास्तविकता का नग्न नृत्य अब उसकी आँखों के सामने नाचने लगा।

[३]

उस दिन के बाद फिर पगली किसी को नहीं दिखाई दी। हाँ, वहाँ लोगों को एक पत्र पड़ा हुआ मिला, जो इस प्रकार था—

"बेटा, मैंने तुझे एक बार देखने के लिये, इन आँखों से महान् तप कराया। तेरे ही लिये धूप और शीत, भूख और प्यास सब प्रकार की व्याधियों को सह-सह कर इस अस्थिपिंजर मृतमान देह को अब तक रखा। एक तेरे, केवल तेरे मिलन की आशा में मैंने इस समुद्र के किनारे ख़ाक छान छान कर दस वर्ष जीवन के घोर तपस्या में बिताये। भगवान् के लिए नहीं, मोक्ष के लिए नहीं! ऐश्वर्य्य के लिए नहीं! केवल तेरे एक-मात्र दर्शन के लिए! भगवान् और जहान दोनों भूल चुकी थी। संसार के लिए मैं पगली थी—पर तेरे लिये मैं सहृदया स्नेहमयी ममता की मारी तेरी माता थी।

मेरी बेटी को फूलों से प्यार था—प्रतिदिन जंगली फूलों के ढेर लगा तेरे लिये गजरे पिरोया करती। मेरी बेटी नारियल बड़े चाव से खाती थी—दूर-दूर से नारियल ला झोंपड़ी में ढेर लगाया करती। मेरी बिटिया को मेरे लिखे हुए पत्रों को बड़े प्यार से पढ़ने का शौक़ था—नित्य तुम्हारे लिये एक लिफ़ाफ़ा लिख जिस दिन जहाज़ तुम्हारी ओर रवाना होता था, बंडल-का-बंडल दौड़ कर डाल आती थी। नित्य तेरे उन शब्दों को स्मरण कर "माँ घबराना नहीं; मैं जल्दी तुम्हें यहीं पर मिलूँगी।" मैं न्यूज़ीलैंड से आनेवाले जहाज़ की प्रतीक्षा में प्रातः प्रातः भागती थी। लोग मुझे "पगली" कह कर चिढ़ाते थे; तंग करते थे। पर मेरी आँखें तो तुझे ही खोजा करती थीं, कुछ अन्य दीखता ही न था। सुनता ही न था। नाच उठती थी। प्रसन्नता से खिलखिला उठती थी। अपमान सहा, अपवाद सहा। यह सब कुछ तेरे लिये सहर्ष सहा। आज जब महादेव ने मेरी कठिन तपस्या का फल मुझे दिया; मेरी दस वर्षों की साध पूरी की; न्यूज़ीलैंड से आनेवाले जहाज़ पर से मेरी सम्पत्ति मेरा जीवनधन मुझे दिखाई दिया, मैं उसको बटोरने को लपकी; पर तूने मेरा तिरस्कार किया, अवहेलना की, दुतकारा। मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखा। इतने वर्षों से जो

आशा की डोर जीवन को बाँधे थी, निराशा की तलवार से टुकड़े-टुकड़े हो गई। जिस हृत्तन्त्री के तार भयानक ठोकरों से नहीं टूटे थे, आज की तुम्हारी ठोकर से छिन्न-भिन्न हो गये। मेरे स्नेह से स्निग्ध कुसुमों को तुमने जनता के बनावटी सुन्दर हारों से तुच्छ जाना। मेरे फटे वस्त्रों में तुम्हें मेरे चमकीले हृदय की परख नहीं हो सकी! तुम चमचमाते सजीले सुडौल व्यक्तियों के सन्मुख मेरी ओर आँख उठाना शायद अपना अपमान समझती थीं। तुमने मेरे स्नेह हृदय की भेंट के सन्मुख लोगों की वह भेंटें जो अस्थायी थीं, बहुमूल्य समझीं। बस, अब इस जीवन को किसके लिये और कष्ट दूँ। किसके लिये इन नयनों से घोर तपस्या कराऊँ? लो, सदा के लिये इन यन्त्रणाओं से मुक्त होने के लिये, वर्षों की जलन बुझाने के लिये इस शीतल जलनिधि में अपने को शान्त करती हूँ।

शरीर, वाणी सब क्षीण हो रहे हैं। परन्तु लालसा अभी क्षीण नहीं हुई। इन जल-कणों के साथ तुम्हारे हृदय में प्रवेश करूँ; और तुम्हारी गोदी में विराम लूँ, यही अन्तिम साध है।"

न्यूज़ीलैंड के हिन्दुस्तानी समाज की महान् और लब्ध-प्रतिष्ठा नेतृ महोदया उन श्रीमतीजी को भी, पगली की यह चिट्ठी सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। उनका दिल गहरी हूक मार कर रो उठा। 'आह'! उनकी माता, जिसकी तलाश में वह इतनी दूर से इस देश में आई थीं, एक बार उनके सन्मुख आकर भी उनसे सदा के लिए छिन गई।

निराधार भय

"अस्पृश्यता एक अत्याचार है, और अत्याचार ईश्वर का कोई क़ानून नहीं हो सकता। हिन्दू-धर्म तो न्याय और सत्य पर स्थित है। यदि ये तत्व उससे निकल जायँगे, तो फिर वह धर्म दुनिया से संपर्क रखनेवाला न रह जायगा। हिन्दू-धर्म सनातन है। पर यह कोई दलील नहीं, कि वह आज तक की भाँति सदा ही जीवित बना रहेगा। यह माना, कि हिन्दू-शास्त्र प्राचीन है। पर यह भी सत्य है, कि धूल के कण उसी समय से उस पर पड़ते आ रहे हैं। सनातनियों का विरोध बेअसूला है। मन्दिर-प्रवेश-बिल का अर्थ यह नहीं है, कि मन्दिरों में हरिजनों का जबरदस्ती प्रवेश कराया जाय। उसका उद्देश्य तो यह है, कि वह सिपाही दरवाज़े पर से हटा दिया जाय, जो अन्य सब दर्शनार्थियों की मरज़ी होते हुए भी अकेले एक व्यक्ति के विरोध पर किसी हरिजन को मन्दिर में जाने से रोक सकता है।"

राजगोपालाचार्य

सौन्दर्य

[ले०—पं० सत्यदेवजी, शास्त्री, काशी-विद्यापीठ]

"घूँघट का पट खोल रे तोहिं पीय मिलेंगे।"

घूँघट अर्थात् अज्ञान का पर्दा खोल दो। प्यारे की मोहिनी तथा अलौकिक सौन्दर्य-पूर्ण मूर्ति की झाँकी मिलेगी। समीप जाकर देखो। दिव्य रूप निहारते ही रह जाओगे। आप-से-आप चित्त निस्पन्दित हो जायेगा। आनन्द की लहरें हृदय में हिंडोले मारने लगेंगी। उस मोहिनी मूर्ति को देखते नहीं अघाओगे। फिर क्या कृतकृत्य हो जाओगे।

उस दिव्य मूर्ति के ऊपर "सत्यं, शिवं, सुन्दरं" के लेख जगमगाते हुए पाओगे। वही सत्य है कल्याणकारी है। आनन्दमय है। वही सच्चा सौन्दर्य है। बाह्यजगत् में जो सौन्दर्य दृष्टिगोचर हो रहा है, वह तो सत्य शिव की छाया-मात्र है। प्रभु ने अपनी समस्त सृष्टि में उसी सौन्दर्य का प्रसार किया है। जिधर ही देखिये सौन्दर्य ही सौन्दर्य है। जहाँ सौन्दर्य है, वहाँ अपूर्व आकर्षण है। जहाँ आकर्षण है, वहाँ एकत्व की प्रतीति होती है अपनत्व का अनुभव होता है। जिस वस्तु में जितना ही अधिक तथा स्थिर आकर्षण होगा, वह वस्तु उतनी ही अधिक सुन्दर और कल्याणकारी होगी।

मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्य का उपासक होता है। और अपने-आपको भी जगत् के सामने एक सुन्दर रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है। कहीं भी कुरूपता असह्य होती है; किन्तु जिस मनुष्य की सौन्दर्य की जैसी कल्पना होती है, वह मनुष्य उसी के अनुसार उसकी उपासना करता है। कवि उषाकालीन मनोरम दृष्टि में, नदियों की इठलाती चाल में, चाँद की चुहचुहाती चाँदनी में अद्भुत एवं नैसर्गिक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। चित्रकार एक-से-एक बढ़कर सुन्दर चित्र चित्रित करने में तन्मय रहता है। माता शिशु के मंदहास में सौन्दर्य का दर्शन करती है। चारों ओर सौन्दर्य का ही साम्राज्य छाया हुआ है।

किन्तु आजकल आधुनिक सभ्यता के युग में बाह्य साधनों की महत्ता तथा बहिर्मुख-वृत्ति के कारण जीवन सौन्दर्य प्रायः नष्ट-सा हो रहा है, और कृत्रिम सौन्दर्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा है। पाश्चात्य देशों के नर-नारी नित्य नये-नये फ़ैशनों का आविष्कार कर बाह्य सौन्दर्य-धार में बहे जा रहे हैं। जिसमें आनंद नहीं, रस नहीं, स्थिरता नहीं। हाँ, उसमें एक ऐसी मादकता रहती है। जिससे पुष्प मुर्झा आता है। दुर्भाग्यवश हमारे देश के भी नर-नारी उन्हीं पाश्चात्य फ़ैशनों का अंधाधुन्ध अनुकरण कर रहे हैं। धन्य है! पूज्यपाद महात्मा गांधी को, जो पाश्चात्य धारा को फेरने का सतत प्रयत्न कर रहे हैं। और जगत् को सत्य, सुन्दर एवं कल्याण, पथ का प्रदर्शन कर रहे हैं।

किसी वस्तु की विकसितावस्था उस वस्तु के सौन्दर्य का द्योतक है। एक खिला हुआ पुष्प बन की शोभा को बढ़ाता है। परिपक्व आम स्वादु और गुणकारी होता है। पूर्णिमा के हँसते हुए चन्द्र को देखकर किसका हृदय आनन्द से उछलने

नहीं लगता है। प्रकृति तो सदैव सौन्दर्य शोभा से आच्छादित रहती है। प्राकृतिक जीवन-पथ का अनुसरण करके ही हम वास्तविक सौन्दर्य धाम तक पहुँच सकते हैं। जीवन की सम्पूर्ण दैवी वृत्तियों को विकास की चरम-सीमा तक पहुँचाना जीवन का पूर्ण विकास है। जीवन का पूर्ण विकास ही वास्तविक सौन्दर्य है। एक पूर्ण विकसित मनुष्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है। अपने वास्तविक सौन्दर्य के कारण जगत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है।

अन्त में सौन्दर्य मूर्ति भगवान् से प्रार्थना है, कि वे हमें शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करें; जिससे हम अपने कर्त्तव्य-पथ पर सदा अग्रसर हों। हमारी अन्तर्दृष्टि खुल जाय और हमें चारों ओर सच्चे सौन्दर्य का दर्शन हो, 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का साक्षात्कार हो।

!—

यह हृदय-मन्दिर आपकी प्रतिमा पाकर पागल हो उठा है!......

ज्योतिस्वरूप!

हमारी आँखें खुल चुकी हैं और तेरे स्वर्ण-मन्दिर के शिखर कलशों की तरह चमक रही हैं............हम............प्रायश्चित्त की दुर्बल बाहों से थोड़ी प्रेम-भेंट उठाए—याचना के तृषित नैनों में दर्शन की आशा लिए—भक्ति की श्रद्धाञ्जलि में निर्धनता के फल-फूल पुष्प-पत्र और अश्रु-मुक्ता भरे—तेरी दिव्य-मूर्ति की ओर जा रहे हैं—हाँ! बेसुधी में दिन और रात की सूनी अनन्तता से बेख़बर।...............

तेरे "दया-दान" के दूषित पात्र—यह हाथ—चिर काल के लिये किसी पाप में लिप्त रहे हैं, हाँ! इन अन्धी आँखों के लिए रास्ता टटोलते रहे हैं।............

अब हमारी आँखें खुल चुकी हैं और चमक रही हैं। हम गिरते पड़ते तेरी पुण्य-प्रतिमा की ओर जा रहे हैं।.......................

हृदय-मन्दिर वह मूर्ति पाकर पागल हो उठा है!

—मनमोहन

असली भारतवर्ष

भारतवर्ष ग्रामों का बना हुआ है, शहरों का नहीं। इसलिए सच्चा सेवक ग्रामों में जाकर ग्राम-निवासियों की सेवा करेगा। ग्राम-सेवा के लिए सबसे अधिक आवश्यक तो सेवक की पवित्रता रहेगी।

—मो० क० गांधी

भारत में ग्राम-सुधार के प्रारम्भ का संक्षिप्त इतिहास

[ले०—पं० जयदेवजी, वेदालंकार, मंत्री गांधी-सेवाश्रम]

अँगरेज़ों के आगमन-काल से पहिले भारत के ग्रामों की इतनी उन्नत और समृद्ध अवस्था थी कि स्वाभाविक रूप से उस समय ग्राम-सुधार-सम्बन्धी आन्दोलन हो नहीं उठा। मुसलमानी राज्य-काल में केन्द्रिय सरकार की तरफ़ स व्यापार व दस्तकारी की तरक्क़ी के लिये जो-कुछ किया जाता था, उसका असर ग्रामीण प्रजा पर बहुत लाभ-प्रद होता था। ग्रामीण जनता की माली हालत बहुत अच्छी रहती थी। इसके अलावा खेती से भी किसानों को यथेष्ट लाभ पहुँचता था। संक्षेप में उस समय सब ग्राम स्वावलम्वी तथा समृद्ध थे। उन्हें बाहर से आनेवाली किसी चीज़ पर निर्भर नहीं करना पड़ता था। उनके पास बाहर से रुपया आता तो था, परन्तु बाहर जाता नहीं था। इसलिये ग्रामीण जनता हमेशा धनधान्य से परिपूर्ण रहती थी।

अँगरेज़ों के भारत-भूमि पर पदार्पण करते ही यह सब दुःखान्त नाटक के रूप में परिणत हो गया।

विलायत में चलाई जानेवाली भयङ्कर राक्षसी मिलों से तैयार होनेवाले बेशुमार माल की खपत के लिये हिन्दुस्तान की दस्तकारी तथा व्यापार को चौपट किया गया। शनैः-शनैः ग्रामों में बसने वाले करोड़ों दस्तकार बेरोज़गार होने लगे और ६०-७० वर्ष के थोड़े से अरमे में ही उनकी यह हालत हो गई कि वे मुट्ठी-भर दानों के लिये तरसने लगे।

इसके बाद किसानों के उजड़ने की बारी आई। किसानों के घर से चरखे ने बिदाई ली, विलायती कपड़े ने घर किया। जहाँ पहिले उन्हें अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिये बाहर से किसी चीज़ को मोल लेने की ज़रूरत नहीं रहती थी, वहाँ अब वे मामूली से-मामूली चीज़ के लिये भी विलायती माल से भरे शहरों की तरफ़ असहाय दृष्टि से देखने लगे। सुई, धागा, पैन्सिल, काग़ज़, कङ्घी, चाकू वगैरह सभी चीज़ें बाहर से लेने लगे; यहाँ तक कि अपनी खेती के औज़ार तथा खेती में पैदा होनेवाली चीज़ें भी बाहर से मोल लेने लगे। खाँड और घी तक घर में न रहा और शहरों से मोल ले कर खाने लगे। इससे समृद्ध ग्राम खोखले और खाली हो गये। सुखी ग्रामवासियों के दुःख बढ़ने लगे। ग़रीबी, कङ्गाली, आलस्य और निराशा ने इन सुन्दर, सुखो, प्रकाश-पूर्ण तथा स्वावलम्बी भारतीय ग्रामों में अपना घर कर लिया।

मुसलमानी काल में केन्द्रिय सरकारें बहुत कमज़ोर होती थीं और इसलिये गांव न केवल

आर्थिक दृष्टि से ही स्वतन्त्र थे, अपितु राजनैतिक दृष्टि से भी पूर्ण स्वतन्त्र होते थे। केन्द्रिय सरकार का ज़ोर केवल राजधानी के आस-पास थोड़े से क्षेत्र तक ही सीमित था। इसके अतिरिक्त मुसलमानी सरकारें स्वदेशी होने के कारण तथा उनका शासन दूर-दूर ग्रामों में गहराई तक न होने के कारण बहुत कम खर्चीला होता था। यह भी एक बड़ा भारी कारण था, जिससे उस समय के ग्राम इतने अधिक समृद्ध बने हुए थे।

परन्तु अँगरेज़ी राज में यह पलट गया। आज भारत के समस्त ग्राम राजनैतिक व आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया दास हैं। गाँवों की दस्तकारी व स्थानीय व्यापार तो चौपट हो ही चुका था; साथ में अँगरेज़ी शासन-काल में केन्द्रिय सरकार के अत्यन्त बलवान होने के कारण कोई भी गाँव या गाँव का कोई भी आदमी शासन-प्रबन्ध का खर्च देने से बरी न हो सका। विदेशी सरकार होने के कारण इसे अपना राज क़ायम करने के लिए इतना अधिक खर्च करना पड़ा कि बिचारे किसान लगान के बोझ से दब गये और लगान अदा करने के लिए महाजनों से क़र्ज़ा लेने लगे। आज भारत के सात लाख गाँवों में से एक गाँव का भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिल सकता जो क़र्ज़े से रहित हो। इधर अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में मात्रा से बहुत अधिक अनाज पैदा होने के कारण भारत का अनाज बाहर जाने से रुक गया और परिणामतः सस्ता हो गया। इस सस्तेपन ने तो किसानों की गर्दन को तोड़ दिया। लगान तो वे दे ही नहीं सकते थे; अब उन्हें अपनी रोटी के टुकड़े की फ़िकर भी सताने लगी।

उपर्युक्त कारणों ने वर्तमान काल में स्वाभाविक रूप से ग्राम-सुधार-आन्दोलन को जन्म दिया। दादाभाई नौरोज़ी सबसे पहिले भारतीय हैं, जिन्होंने भारत की ग्रामीण जनता की कङ्गाली व ग़रीबी को समस्त संसार के सामने प्रकट किया और भारत की शिक्षित जनता का ध्यान इस तरफ़ आकृष्ट किया।

भारत की इस शिक्षित जनता ने ही वास्तव में ग्राम-सुधार-आन्दोलन को इतनी जल्दी देशव्यापी रूप दिया और इसके महत्व व प्रभाव को प्रकट किया। ग्रामों की दुर्दशा का प्रचार वैसे तो कांग्रेस के जन्म से ही किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में अनेकों पुस्तकें लिखी गईं। अखबारों में ज़बर्दस्त प्रचार किया गया। प्लेटफ़ार्मों पर ज़ोरदार व्याख्यानों द्वारा नेताओं ने शहरी जनता का ध्यान उपर्युक्त सत्यता पर आकृष्ट किया। यह सब होने पर भी ३०-३५ सालों तक कोई व्यक्ति ग्राम-सुधार-संबंधी योजना को पेश नहीं कर सका।

महात्मा गान्धी ही एक ऐसे सर्व-प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने भारत के ग्रामों से सम्बन्ध जोड़ने के लिये तथा ग्रामों के सुधार के सम्बन्ध में अनेक क्रियात्मक निर्देश दिये तथा स्वयं ग्राम-सेवा के लिए अपना क़दम उठाया।

इस प्रकार छोटे-मोटे वैयक्तिक प्रयत्न तो सन् २० से भी पहिले से जारी थे; परन्तु किसी संगठन ने अब तक कभी गम्भीरता से ग्राम-सुधार के कार्य को अपने हाथों में नहीं लिया था।

सन् १९२२ में ही पहिले-पहल कांग्रेस (महासभा) जैसी प्रभावशाली और भारत-व्यापी संस्था ने खादी के कार्य में अपनी सहायता दे कर ग्राम-सुधार के सम्बन्ध में एक क्रियात्मक क़दम उठाया। इस प्रकार इस संस्था ने हज़ारों गाँवों में लाखों रुपयों की मज़दूरी बाँट कर भारत के ग्रामों से घनिष्ट सम्बन्ध पैदा किया तथा उनकी माली हालत सुधारने में मदद की।

परन्तु इतने पर भी स्वराज्य-प्राप्ति के किये जिस शक्तिशाली तथा व्यापक ग्राम-संगठन की आवश्यकता थी, वह पूरी न हो सकी, और भारतीय जनता की इस अतृप्त इच्छा को पूर्ण करने के लिए स्वराज्य-पार्टी की स्थापना के अवसर पर भारत के सर्वमान्य और प्रभावशाली नेता श्रीयुत देशबन्धु चितरञ्जनदास ने ग्राम-संगठन का बिगुल बजाया और ग्राम-सुधार व ग्रामों में रचनात्मक कार्य के सम्बन्ध में एक अत्यन्त स्पष्ट, तथा पथ-प्रदर्शक योजना को जनता के समक्ष पेश किया। हमें दुःख है कि यह योजना भी व्यापकरूप से कार्य में परिणत नहीं हो सकी। पथ-प्रदर्शक-मात्र रही।

महासभा ने, निस्सन्देह 'खादी-मण्डल'-नामक संस्था को जन्म देकर ग्राम-सेवा के महत्व-पूर्ण कार्य को अपने हाथों में लिया। परन्तु इस खादी-सेवा द्वारा तो केवल कुछ हद तक आर्थिक आवश्यकता को पूर्ण करके ग्रामवालों से सम्बन्ध-मात्र ही स्थापित हुआ। परन्तु इससे असली चीज़ अर्थात् ग्रामवासियों में आत्माभिमान तथा स्वयं उनमें अपना सुधार करने की प्रेरणा नहीं पैदा हुई और जिस गहराई में हमें ग्रामवासियों में प्रवेश करना चाहिये था, वह हम नहीं कर सके। इस खादी-सेवा द्वारा तो हम केवल अभी विभिन्न प्रान्तों के चन्द हज़ार गाँवों से ही अपना घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर सके हैं। अखिल-भारतोय चरखा-संघ के कार्य-विवरण से पता चलता है कि इस संस्था ने सन् १९३०-३१ में सारे देश में ११५ लाख की खादी बनाई और इस प्रकार ५,७९१ गाँवों में २४३ हज़ार कातने और बुननेवालों को मज़दूरी बाँटी। यद्यपि उपर्युक्त विवरण आशा का संचार करनेवाला है, परन्तु फिर भी भारत के ७,००,००० गाँवों का विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि हमें इस दशा में अत्यधिक प्रयत्न करने की ज़रुरत है। जहाँ सरकार-हिन्द ने अपना सम्बन्ध सात लाख गाँवों तक विस्तृत कर रखा है, वहाँ कांग्रेस का सम्बन्ध केवल चन्द हज़ार गाँवों तक स्थापित है। इससे कांग्रेस-संगठन की गहरी व्यापकता तथा उसका समस्त भारत के प्रतिनिधित्व का दावा करने में अवश्य धब्बा लगता है।

इस कमी को पूरा करने के लिए हो श्रीयुत देशबन्धु चितरञ्जनदास ने जिस ग्राम-सुधार-आन्दोलन की तरफ़ संकेत किया था, वह अब प्रायः प्रत्येक प्रान्त के रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं का ध्यान आकर्षित कर रहा है, और प्रायः प्रत्येक प्रान्त में— विशेषतः युक्त-प्रान्त, बंगाल, बिहार, गुजरात आदि में—ग्राम-सेवक-संस्था के निर्माण करने का आरम्भ हो रहा है। अखिल-भारतीय चरखा-संघ द्वारा तो केवल ग्रामों के आर्थिक पहलू से ही सम्बन्ध जोड़ा गया है; परन्तु वर्तमान में प्रस्तुत ग्राम-सुधार की योजनाओं में उन सभी पहलुओं का समावेश किया गया है, जिनसे ग्राम व ग्रामवासियों के जीवन के प्रत्येक अङ्ग को पुष्टि मिले। यह ग्राम-सुधार को योजना नाना रूपों में इस समय भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में किन्हीं व्यक्तियों के व्यक्तित्व से या उनके व्यक्तित्व से चलनेवाली कुछ स्वतन्त्र संस्थायों द्वारा हो कार्य-रूप में परिणत की जा रही है। परन्तु इस योजना के आशु विकास को देखते हुए हम अनुमान कर सकते हैं कि यह सब स्वतन्त्र प्रयत्न अवश्य ही निकट भविष्य में किसी दृढ़ सूत्र में गूँथे जायेंगे और यह सब काम किसी शक्तिशाली और भारतव्यापी संगठन की अध्यक्षता में चलने लगेगा।

विद्यार्थी का मानस

२. एकाग्रता

[ले०—स्वा० देवनाथजी, विद्यालंकार]

छोटी अवस्था के विद्यार्थी एकाग्र नहीं रह सकते हैं। एकाग्रता एक प्रकार की मानसिक क्रिया है। इस क्रिया का विकास करना शिक्षक का मुख्य कर्तव्य है। इसी लिए शिक्षक के लिए मानस-शास्त्र के सामान्य नियमों का ज्ञान आवश्यक कहा जाता है। बालक के अन्दर हम किस प्रकार से इस एकाग्रता को उत्पन्न कर सकते हैं, और किन कारणों से विद्यार्थी प्रायः अपने पाठ मन से नहीं सुनता—इत्यादि बातों पर इस लेख में विचार किया जायगा।

किसी भी एक कार्य में तल्लीन हो जाने के लिए अथवा एकाग्र बनने के लिए प्रबल इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है। इच्छा-शक्ति के बिना एकाग्रता आ ही नहीं सकती, और यह इच्छा-शक्ति (Will Power) तो बड़े-बड़े व्यक्तियों में भी विकसित नहीं हुई होती तो फिर छोटे विद्यार्थी की क्या बात? इच्छा-शक्ति का विकसित करनेवाला ही वास्तविक अर्थों में सच्चा शिक्षक है। ज्यों-ज्यों इस इच्छा-शक्ति का विकास होता जाता है त्यों-त्यों विद्यार्थी अपने मानसिक कार्यों में अधिक एकाग्र बनता जाता है। इस इच्छा-शक्ति के नियम को जो शिक्षक जानते हैं, वे विद्यार्थी के अव्यवस्थित चित्त हो जाने पर खिजते व नाराज़ नहीं हो जाते, परन्तु वे अपना सारा प्रयत्न विद्यार्थी की इच्छा-शक्ति को बढ़ाने में ही लगा देते हैं। स्कूल में बैंच पर बैठकर खेलनेवाले विद्यार्थी के प्रति वे क्रुद्ध नहीं होते हैं; परन्तु सहानुभूति-पूर्ण हृदय से उसके मन को एकाग्र करने में सहायता देते हैं।

शिक्षक की सफलता का श्रेय उसकी शिक्षण-पद्धति पर है, यह बात सभी जानते हैं। शिक्षक में कितनी ही प्राकृतिक शक्तियाँ ऐसी होती हैं, जिनके द्वारा वह अपने विद्यार्थी का मन अपनी ओर खींचे रखता है। इसके अतिरिक्त उसका ख़ुशनुमा चेहरा और विनोदी स्वभाव तो सोने में सुहागे का काम करते हैं। कई शिक्षक शिक्षण-शास्त्र के ज्ञाता होते हुए भी विनोदी स्वभाव और हँसते चेहरे से वंचित होते हैं। वे हमेशा ही अपना मुँह फुलाए बैठे रहते हैं, अथवा नाराज़ प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में विद्यार्थी का उस विषय में मन लगा सकना संभव नहीं है और इसी लिए विद्यार्थी अपने अन्य विचारों में ही मग्न रहता है।

उपर्युक्त गुणों से रहित शिक्षक कभी भी सफल शिक्षक नहीं हो सकता है। जिन शिक्षकों में इन गुणों का विकास नहीं हुआ हो उन्हें चाहिए कि पहिले इन गुणों का विकास करें। तभी वे अपने

छात्रों के मन को अपनी ओर आकृष्ट रखने में सफल हो सकेंगे।

दूसरी बात नवीनता की है। बालक नवीनता का बहुत अधिक शौकीन होता है। इसलिए शिक्षक को अपने शिक्षण में नवीनता लाने की अत्यधिक आवश्यकता है। नवीनता विद्यार्थी को आकृष्ट करती है इसी लिए विद्यार्थी का मन एकाग्र हो जाता है। विषय-निरूपण में इस प्रकार की नवीनता की अत्यन्त आवश्यकता है।

कई विषय ऐसे होते हैं, जिनमें विद्यार्थी चल ही नहीं सकता है। वे विषय उसकी बुद्धि से परे की वस्तु होते हैं—इस लिए विद्यार्थी उस विषय में अपना मन लगाता ही नहीं है और परिणाम स्वरूप विद्यार्थी अव्यवस्थित रहता है। ऐसे मामलों में विद्यार्थी की मानस-शक्ति को न समझनेवाला शिक्षक बहुत नाराज़ हो जाता है और बारम्बार उसको सावधान रहने के लिए चेतावनी देता है। परन्तु उसको समझना चाहिए कि वह काम उस विद्यार्थी की बुद्धि से परे का है। इसलिए विद्यार्थी को किसी भी प्रकार का काम सौंपते हुए उसकी शक्ति का अनुमान लगा लेना आवश्यक है।

चौथी बात स्कूल की बनावट और बैंचों की रचना है। किन्हीं स्कूलों की रचना ही इस प्रकार की होती है कि विद्यार्थी अपने काम में एकाग्र हो नहीं सकता है। बैठने की बैंचें ऐसी बेढंगी—प्रमाण रहित—होती हैं, जिन पर बैठने से ही विद्यार्थी को आलस्य आने लगता है। कई कमरों में हवा और प्रकाश बहुत कम आ रहा होता है। ऐसे कमरों में बन्द हवा का असर विद्यार्थी के मन पर तत्क्षण पड़ता है। दिमाग़ भारी हो जाता है, आँखें झपकने लगती हैं और वह अँगड़ाइयाँ व जँभाई लेना प्रारंभ कर देता है। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी किस प्रकार से अपना मन लगा सकता है ?

पाँचवीं बात है, विद्यार्थियों की संख्या का अधिक होना। कई स्कूलों में एक ही श्रेणी के कमरे में छात्रों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाती है। ऐसी अवस्था में विद्यार्थियों को पास-पास बैठना पड़ता है। विद्यार्थियों के पास-पास बैठने के कारण छेड़खानी करना प्रारम्भ करने लगते हैं। इस कारण भी बहुत से विद्यार्थी पढ़ाई में मन नहीं लगा सकते हैं। स्कूल की आरोग्य-जनक व ख़राब परिस्थिति का विद्यार्थी के मन पर बहुत भारी असर पड़ता है। इसलिए स्कूल का बाह्य-वातावरण जहाँ तक हो सके—शुद्ध, पवित्र एवं शान्त होना चाहिए।

छठी बात शिक्षक का योग्य पथ-प्रदर्शक न हो सकना है। बहुत से शिक्षकों की सम्मति है कि विद्यार्थियों को प्रत्येक कार्य स्वयं करना चाहिए। यह सिद्धान्त किसी हद तक तो ठीक है, पर यह सिद्धान्त प्रत्येक स्थान पर लागू न करना चाहिए। यदि कोई विषय विद्यार्थी के लिये एकदम अपरिचित हो और उसको उस विषय में प्रारम्भिक सहायता भी न मिले, तो फिर उसका मन उस विषय से एकदम उचट जाता है। हाँ, अगर उसको योग्य सहायता मिले, तो वह उत्साह से पूरा कर सकता है और फिर धीरे-धीरे उस विषय में रस लेने लगता है। इसलिए विद्यार्थी को कब और कितनी सहायता की आवश्यकता है, यह बात शिक्षक के लिये जाननी यद्यपि कठिन है, फिर भी वह अपने निरन्तर के अभ्यास और अनुभव से शीघ्र ही जान सकता है।

सातवीं बात ठीक प्रकार के समय-विभाग का न होना है। विद्यार्थी के मन को एकाग्र बनाने के

लिए समय-पत्रक की आवश्यकता है। समय-पत्रक की रचना ऐसी होनी चाहिए कि कठिन और स्मरण-शक्ति पर बोझ डालनेवाले विषयों की पढ़ाई प्रातः हो जावे और पीछे क्रमशः सरल विषय आते जावें। बीच में आराम (Recreation) का भी समय लेना आवश्यक है। इस अवकाश के समय में विद्यार्थी के दिमाग़ को बहुत कुछ आराम मिल जाता है और अगले विषय के लिए अपने शरीर और मन को फिर से तैयार कर लेता है। आराम के समय में विद्यार्थी को बाहर की ताज़ी हवा में घूमने-फिरने व खेलने देना चाहिए।

आठवीं बात स्कूल के चारों ओर की बाह्य शान्ति का न होना है। विद्यार्थी के मन पर चारों ओर की परिस्थिति का प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में असर पड़ता रहता है। यदि मकान चारों ओर से अन्य मकानों द्वारा घिरा हुआ हो और चारों ओर मोटर रेलगाड़ी, ताँगा आदि की गड़गड़ाहट होती रहती हो, तो उस समय विद्यार्थी के लिये अपना मन एकाग्र कर सकना बहुत कठिन हो जाता है। इस-लिए स्कूल का मकान, गाँव और शहरों से दूर खुली हवा में होना चाहिये। श्रेणी की बैठने की दिशा पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि विद्यार्थियों का मुँह चलते मार्ग की ओर हो, तो सड़क पर चलनेवाली गाड़ी तथा यात्रियों की चहल-पहल उसके ध्यान को हमेशा भंग करती रहेगी। इसलिए स्कूल के संचालकों को श्रेणी की ठक ऐसी करनी चाहिए कि विद्यार्थी का मुँह सड़क की ओर न हो। एक श्रेणी की आवाज़ दूसरी श्रेणी में असुविधा न पहुँचावे—इस बात पर भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। अन्यथा विद्यार्थी का मन बाहर की आवाज़ की ओर आकृष्ट होते रहने से उसके लिये पाठ में मन लगाना कठिन हो जायगा।

विद्यार्थी को अवलोकन का बहुत शौक होता है। क्रिया के ऊपर उसका प्रेम होता है और उसमें जिज्ञासावृत्ति की प्रधानता होती है। शिक्षक को पढ़ाते समय विद्यार्थी की इन तीनों बातों का लाभ उठाना चाहिए। यदि शिक्षक विद्यार्थी की अवलोकन शक्ति का लाभ उठाकर उसकी जिज्ञासा-वृत्ति को उचित प्रोत्साहना देता रहे, तो फिर विद्यार्थी के बेध्यान रहने का कोई कारण ही नहीं हो सकता। उस अवस्था में विद्यार्थी हमेशा एकाग्र चित्त से काम करता रहेगा।

एकाग्र न रहने के उपर्युक्त कारणों को न जानने के कारण ही शिक्षक विद्यार्थी के प्रति कठोर व्यव-हार करने लगता है। कई बार वह विद्यार्थी को सबके सम्मुख लज्जित करता है, मारता है। इन बातों से भी विद्यार्थी का मन विद्रोह कर बैठता है। यद्यपि ऊपर से वह शान्तचित्त हो, मार के डर से, काम करता प्रतीत होता है पर वह अन्दर ही अन्दर अनेक तर्क-वितर्क कर रहा होता है। इस लिए वह अपना मन उस विषय में लगा नहीं सकता।

इन सब उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी अन्य कारण हो सकते हैं, जिनके कारण विद्यार्थी अपना मन एकाग्र नहीं कर सकते हैं। उन सब कारणों को पूरा करना प्रत्येक शिक्षक का कर्तव्य है। शिक्षक की पढ़ाने की शैली ही इतनी मनोरंजक होनी चाहिये कि प्रत्येक विद्यार्थी को उस विषय में रस आने लग जाय। उसकी उत्सुकता बढ़ती जाय, तभी वह अपने छात्रों का मन अपने विषय में केन्द्रित कर सकता है।

पागलखाने की सैर

[लेखक—तरंगित हृदय]

बरेली हरिद्वार से बहुत दूर नहीं है। वहाँ के पागलखाने की सैर एक बार मैंने भी की है। इसका कोई यह मतलब न समझे कि मैं भी कभी पागल होकर वहाँ गया था। मैं तो सही दिमाग़ के साथ पागलखाने को देखने, वहाँ की सैर ही करने गया था। एक मेरे परिचित भाई जेल में पागल हो गये थे, अतः वे यहाँ के मानसिक हस्पताल (Mental Hospital)—यह पागलखाने का सुन्दर नाम है—में रखे गये थे, मुख्यतः उन्हें मिलने मैं वहाँ गया था।

वहाँ मैंने बहुत अजीब-अजीब दशायें देखीं। कोई पागल रो रहा था, कोई कपड़े फाड़ रहा था, कोई ज़ोर से ऊटपटांग चिल्ला रहा था, कोई श्लोक गा रहा था, तो कोई अँगरेज़ी बक रहा था। एक पागल अकड़ कर कहता था, "मैं जार्ज पञ्चम हूँ, देखते नहीं मैं जार्ज पञ्चम हूँ।" एक कहता था, "बिजली बिजली बिजली, ऊपर नीचे बिजली, अरे बिजली।" एक हमें देखकर स्वयमेव कहने लगा, "तुम मुझे पागल कहते हो। मैं पागल नहीं हूं, तुम पागल हो।" एक हमसे पूछता था, "कैसे सुन्दर बाजे बज रहे हैं? बज रहे हैं न? बोलो, बोलते क्यों नहीं? फुर्र फुर्र फुर्र।" हमारा वह परिचित भाई भी आँखें ऊपर चढ़ाये नशे-से में खड़ा था, सामने एक दूसरा पागल विकट-हास्य हँस रहा था।

पागलों की इस अद्भुत दुनिया को देखकर मेरा दिमाग़ भी चकराने-सा लगा था। इतने में पागलखाने के बन्द होने का समय हो गया, और मैं बाहर निकल आया।

∴

परन्तु जब से मैं उस पागलखाने से बाहर निकला हूँ, तब से मुझे यह सारी दुनिया ही एक बड़ा पागलखाना दीखने लगी है। मैं अनुभव करता हूँ कि मैं केवल पागलखाने की एक नन्हीं कोठरी से निकल कर इस असली अति विस्तृत बड़े पागलखाने में आ गया हूँ। यहाँ मैं ज़रा ध्यान से जिसे देखता हूँ, वह मुझे पागल ही दीखता है। कोई किसी के पीछे पागल है, कोई किसी के। कोई थोड़ा पागल है, कोई बहुत। पर सभी अपने अपने अच्छे या बुरे किसी स्वार्थ के पीछे पगलाये फिर रहे हैं। सबको अपनी अपनी ख़ब्त सवार है।

हाँ, मैं भी पागल हूँ। यह स्वीकार करने में मुझे ज़रा भी शर्म नहीं मालूम होती कि मैं इस विशाल पागलखाने में एक पागल की हैसियत से ही आया हुआ हूँ। मुझे अपनी ख़ब्त पक्की है। पर मुझे यह नहीं समझ में आता कि जब हम सब-के-सब पगले इकट्ठे हुए हुए हैं, तो हम लोग यों ही एक दूसरे को पागल क्यों कह रहे हैं। बड़ी पते की और पक्की बात यह है कि यदि पागल-शब्द बुरे अर्थों में बोला जाय, तो हममे से वे लोग ही पागल है, जो दूसरों को पागल समझते है पर अपने को सयाना। वे उसी प्रकार के पागल हैं, जैसा कि वह बरेली का पागल था, जो हमें देखकर खामखाँ कहने लगा था, "तुम मुझे पागल कहते हो, मैं पागल नहीं, तुम पागल हो।"

∴

कितने आश्चर्य की बात है कि पैसे के पीछे पागल लोग उनको पागल बताते है, जिन्होंने धर्म, देश के लिये अपनी सब सम्पत्ति, अपना सर्वस्व त्यागकर फ़क़ीरी स्वीकार कर ली है; पर वे अपने पैसे के पागलपन को नहीं अनुभव करते ?

कितनी हँसी की बात है कि दिल-दिमाग़ से अँगरेज़ हुए हुए और विदेशी वेश-भूषा से 'कार्टून' से बने हुए लोग उन पर हँसते हैं, जो कि सादे स्वदेशी भारतीय ढंग से रहते हैं, पर वे अपने बेढंगे व भद्देपन की ओर नहीं देखते।

कितनी शर्म की बात है कि दीनों, दुखियों, ग़रीबों को नाना प्रकार से चूस-चूसकर बड़े प्रतिष्ठित व धर्माध्यक्ष बने हुए लोग दूसरों को छोटा, नीच, मूर्ख और पागल समझते हैं, पर वे अपने इन पाप-पूर्ण व्यवहारों में कुछ भी नीचता नहीं अनुभव करते।

और कितने पागलपन की बात है कि प्रकृति-ग्रस्त हुए लोग उन्हें पागल समझते हैं जो "परमेश्वर परमेश्वर" पुकारते हैं और परमेश्वर के सिवाय अन्य कुछ सार वस्तु नहीं देखते; पर सर्वथा सारहीन विनाशस्वभावा माया की मरु-मरीचिका में अपने भटकने मे कोई मूर्खता व भ्रम नहीं देखते।

इसी लिये मैं कहता हूँ कि इस दुनिया के पागल-खाने में बुरे अर्थों मे वस्तुतः पागल वे ही हैं, जो दूसरों को पागल समझते हैं पर अपने को सयाना, और अच्छे पागल इस पागलखाने के वे हैं, जो समझते हैं कि "हम सभी थोड़े बहुत पागल हैं, इसी लिये इस विशाल मानसिक हस्पताल में इलाज के लिये भेजे गये हैं, जब हम बिलकुल दुरुस्त हो जायेंगे, तो यहाँ से मुक्त (Discharge) कर दिये जायेंगे।"

∴

अच्छा तो आओ, पागलो! आओ, मेरे ज़बर-दस्त पागल भाइयो! आओ। हम भी एक संगठन बना कर, एक अखिल-विश्वीय पागल-परिषद् (All World Pagal Parliament) क़ायम करके, इस पागल दुनिया पर प्रभुत्व करें। आज-कल संगठन का ही ज़माना है। नहीं, मैं फिर भूल रहा हूँ। इस दुनिया पर तो सदा से ही पागलों का राज्य रहा है और सदा पागलों का ही राज्य रहेगा। जो ज़बर्दस्त और पक्के पागल होते हैं, उन्हीं की इस दुनिया में चलती है। वे अपने पागलपन में मतवाले हो कर दुनिया को जिधर फेरते हैं, दुनिया उधर ही मुँह उठाकर चल पड़ती है। ये दुनिया के सयाने लोग—अपने को सयाना समझनेवाले कच्चे लोग—बेशक इन्हें पागल-पागल कहते जाते हैं, पर इन्हींके पीछे घिसटते आते हैं। इन की बातों पर ये प्रारंभ में हँसते है, इन्हें Imposible, Impracticable, बताते हैं। पर पीछे से जब ये पागलराज बिना किसी की सुने अपनी नाक की

सीध में अपनी मस्तानी चाल से चलते ही जाते हैं और जहाँ रास्ता नहीं होता, वहाँ भी रास्ता बन जाता है, सब असंभव संभव हो जाता है, तब ये सयाने लोग भी उसे ही वैध-मार्ग (Constitutional way) या शास्त्रानुसारी कहने लगते हैं। इस प्रकार सदा से इस दुनिया में पागलों का ही शासन, प्रभुत्व और आधिपत्य होता रहा है।

इसी तरह इन पागलों का संगठन भी प्रायः बना बनाया ही रहता है। अपने पागलपन का जादू ये लोगों पर इस प्रकार फेरते हैं कि सैकड़ों, हज़ारों या कभी लाखों लोग एकदम पगला जाते हैं और इन्हीं की तरह सोचने लगते हैं, इनकी ही बात बोलने लगते हैं, और इनके पीछे चल पड़ते हैं। बस, इसी तरह ज़रा-सी देर में बड़ा भारी संगठन तैयार हो जाता है, संगठित आन्दोलन खड़ा हो जाता है। ये संगठन क़ायम करने की ज़रा भी फ़िक्र नहीं करते, पर संगठन बन जाता है। ये धर्म, शास्त्र, वैधमार्ग, लोकसत्तावाद आदि किन्हीं पुराने शब्दों के चक्कर में नहीं पड़ते—ये शब्द आख़िर किसी समय में इन्हीं पागलों के ही तो चलाये होते हैं—ये तो केवल अपने पागलपन पर और अपने पागल बनानेवाले पर भरोसा रखते है, और अकेले चलते हैं। फिर जब संगठन की ज़रुरत होती है तो लोग स्वयं ही इनके चारों तरफ़ इकट्ठे हो जाते हैं, संगठित हो जाते हैं। बोलो पागलराजों की जय !

∴

आज-कल लोग गांधी के पागलपन से परेशान हैं। उसे जब सनक उठती है तो सारे हिन्दुस्तान में सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा का शोर खड़ा कर देता है; एवं लाखों लोगों को जेल भिजवाता है, पिटवाता है, और मरवाता है। पर किसी दिन सुबेरे उठकर बिना किसी की सलाह लिये, सत्याग्रह समेटने का संदेश सुना देता है। दिन-रात रेल मोटर में चढ़े फिरते, उसे एक-दम पैदल चलने का ख़ब्त सवार हो जाता है। उसके खादी का ख़ब्त, स्वराज्य का ख़ब्त, खाने का ख़ब्त, और न-जाने क्या-क्या ख़ब्त जगत्प्रसिद्ध हैं। पर फिर भी जब तक वह ज़िन्दा है, उस पागलराज का पल्ला यह बूढ़ा भारतवर्ष कभी नहीं छोड़ सकता। दुनिया में ऐसे-ऐसे पागल सदा जन्मते रहे हैं। पागल-राजाधिराज श्रीकृष्ण ने लोगों को बड़े नाच-नचाये। उसकी गीता अभी तक लोगों के सिर फिरा रही है और न-जाने कब तक फिराती रहेगी। पागल-पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने न केवल अपने समय के अयोध्यावासियों को और लाखों बानरों को अपने पीछे पागल कर रखा था, किन्तु आज भी उनका चरित्र उनके लाखों दास बना रहा है। इस तरह युग-युग मे पागलराज पैदा हो-होकर इस पृथिवी का पालन करते रहे हैं। बुद्ध, शंकर, कबीर, आदि बहुत से पागल पैदा हुए हैं। उनका नाम मैं कहाँ तक गिनाऊँ ?

" अभी हाल में दयानन्द स्वामी हुए हैं, जिन्होंने हज़ारों-लाखों पागल आर्यसमाजी पैदा कर दिये हैं; यद्यपि उनका पागलपन अब उतरता-सा जाता है। जिन प्रातः पूजनीय पागल-पुङ्गव का प्रिय शिष्य मैं हूँ, उन महात्मा मुंशीराम का नाम मैं कैसे छोड़ सकता हूँ। उन्हीं के पागलपन का परिणाम काँगड़ी का गुरुकुल है, यद्यपि गुरुकुल के संचालक अब दिनोंदिन सयाने होते जाते हैं। अभी का एक पागल चित्तरंजनदास था, जो कि एक रात में सब-कुछ त्याग कर कंबल और खद्दर की धोती पहिन कर निकल पड़ा था। एवं रामकृष्ण, रामतीर्थ, तिलक, लाजपतराय आदि बहुत-से इस

देश में (तथा रूसो, मार्क्स, टॉल्स्टॉय, लेनिन आदि बहुत से विदेशों में भी) अच्छे-अच्छे पागल हुए हैं। उन सबके नाम मैं यहाँ कहाँ तक सुनाऊँगा ? यदि आप सब पागलों की पूरी नामावली जानना चाहें, तो हमारे पुस्तकालय से निरन्तर प्रकट होनेवाले पागल-पुराण के पत्रों को पलटिये और यदि उनमें अपना नाम भी लिखाना चाहें, तो बेशक़ लिखवाइये, पक्के पागल बनकर शहीदी स्याही द्वारा अपना नाम भी अवश्य अंकित कराइये।

∴

नाम लिखाने की बात इसलिए कहता हूँ कि यद्यपि अधूरे और कच्चे पागलों से यह दुनिया भरी पड़ी है, तो भी पूरे और पक्के पागलों की इस दुनिया में बड़ी कमी है, पर इनकी माँग बहुत अधिक है। इसी लिये अपने पागलराम ने तो स्वामी श्रद्धानन्द के पागलख़ाने से स्नातक हो जाने के बाद एक पागलख़ाना ही खोल दिया है। इस पागलख़ाने में—नहीं, मानसिक हस्पताल में—किसी का पागलपन हटाया नहीं जाता, किन्तु उसे पाला-पोसा और बढ़ाया जाता है। यहाँ ऐसा सोमरस पिलाया जाता है कि अच्छे-अच्छे होशवालों की सब दुनिया की होश हरिण हो जाती है। वे फिर दुनियादारी के काम के नहीं रहते। यहाँ आकर देखो, तो कोई कातने धुनने की धुन में मस्त है, कोई केवल लंगोटी लगाये खादी के ख़ब्त में अखण्ड चरखा चला रहा है। कोई प्राणायाम खींच रहा है। कोई हर समय मौक़े-बे-मौक़े "ग्राम-सेवा, ग्राम-सेवा" चिल्ला रहा है। कोई चलते-फिरते और अन्य शारीरिक श्रम करते हर समय 'राम' की रट लगा रहा है। कोई वेद मंत्र चिल्ला रहा है। किसी को 'बिजली' की तरह प्रेम (अहिंसा) का भूत सवार है, उसे सब अवस्थाओं में सब अवसरों में सिवाय प्रेम करने के और कुछ नहीं आता। कोई जिन ऐश्वर्य के सामानों का दुनिया संग्रह करती है, उन्हें अपनी उन्नति में बाधक समझ फेंक रहा है, बखेर रहा है। कोई सुन्दर-सुन्दर क़ीमती विदेशी वस्त्रों को फूँक रहा है। कोई वैराग्य के उद्‌बोधक भजन गा-गा कर मानों इन गानों के हाथों से अपने अन्दर के ममता-रूपी पर्दे के चीथड़े कर रहा है। कोई देश की दशा पर और साथ ही अपनी दशा पर आँसू बहा रहा है। तो कोई फिर आत्मस्मृति पाकर उत्साह-पूर्ण हो कर विकट हास्य हँस रहा है। आओ, भाइयो! इस अद्‌भुत शिक्षणालय में तुम भी प्रविष्ट हो जाओ। सब को खुला निमंत्रण है।

"पागल जो बनना चाहो, हमसे तुम आन सीखो"

इसमें प्रवेश पाने के लिये निष्काम अर्थात् निरर्थक—बिल्कुल निरर्थक—पर सेवा करने का निश्चय दिखलाना होता है और 'पागलालंकार' की पदवी प्राप्त करने के लिये दीक्षान्त के समय दिमाग़ी दासता को सदा के लिये दक्षिणा में दे देना पड़ता है।

बस, अब प्रवेशार्थ प्रार्थना-पत्र बहुत जल्दी आने चाहिए, समय बड़ी तेज़ी से गुज़र रहा है। ऐ नौजवानो! तुम इस उमर में पागलपन में दीक्षित न होओगे, तो कब होओगे। समय बड़ी तेज़ी से गुज़र रहा है। ये देखो, भारत-माता आर्त्तस्वर से अपनी रक्षा के लिये कब से पागलों को पुकार रही है। ये देखो, दुःखित हुआ संसार सिर-फिरों का ही चिरकाल से इन्तज़ार कर रहा है।

∴

√हे प्रभो! सच्चे पागल बनानेवाले तुम्हीं हो। तुम से जो पागल बनता है, वही पक्का और पूरा पागल होता है। तुम्हारे प्रेम में पागल हुए ही इस

संसार का संचालन करते हैं। तुम्हारे सोम-रस को पीकर मस्त हुए ही गाते हैं कि "बोलो इस पृथिवी को उठाकर मैं इधर रख दूँ या उधर, मैंने बहुत सोम पिया है *।" तुम्हारे पीछे पागल हुए ही अकड़ कर कहते हैं "मैं राम बादशाह हूँ" "चारों तरफ़ मैं जो कुछ देखता हूँ इसका स्वामी मैं ही हूँ" "अहं ब्रह्मास्मि" "अहं वृक्षस्य रेरिवा"। तुमसे पागलपन प्राप्त करने वाले ही पूछते हैं, "देखो कैसा स्वर्गीय गान हो रहा है, हो रहा है न?" वे ही समझते हैं कि 'मैं सूर्य की किरणों पर चल सकता हूँ, 'मैं यहीं बैठा अँगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू सकता हूँ।

और मैं यह भी जानता हूँ कि जिसे तुम पागल बनाते हो, वही पागल बनता है। हर कोई नहीं बनता। इधर मैं भी तुम्हारा ही पागल बनना चाहता हूँ। किसी और का नहीं। तो फिर मुझे अपना पागल बनाने में तुम्हें क्या हिचक है? मैं किसी के पागलपन की नक़ल में पागल नहीं बनना चाहता। मैं कोई बनावटी पागलपन भी अपने में नहीं लाना चाहता। वह पागलपन नहीं है, वह तो पूरा और पक्का सयानापन है। मैं तो सचमुच पागल होना चाहता हूँ, हे पागलों के प्यारे! मैं सचमुच ही पागल बनना चाहता हूँ। यदि तुम नहीं बनाओगे, तो मैं यूँही बैठा रहूँगा। अनन्त-काल तक प्रतीक्षा करता रहूँगा, तपस्या करता रहूँगा, पर मैं पागल तुम्हारा ही बनूँगा, तुम्हारे ही बनाये बनूँगा। किसी और का पागल कभी नहीं बनूँगा, क्षण-भर के लिये भी नहीं बनूँगा। जब बनूँगा तो तुम्हारा ही पागल बनूँगा, तुम्हारा ही प्यारा पागल बनूँगा।

इस लिए हे पागल बनानेवाले! तुमने मुझे भी कभी अपना पागलपन प्रदान कर देना। पर मैं छोटा-मोटा पागल नहीं बनना चाहता। यदि मैं थोड़ा-बहुत भी पागल न होता, तो तुम्हारी प्रार्थना करने ही क्यों बैठता। मुझे तो तुम पागलराज बनाना, पागलाचार्य बनाना। हाँ, ऐसा ज़बरदस्त पागल बनाना कि मेरे संपर्क में आनेवाला कोई अछूता न रह सके, ऐसा बनाना कि मेरे प्रभाव में आये सैकड़ों-हज़ारों बल्कि लाखों लोग पगले हो-हो कर नाचने लगें। मज़ा तो इसी में है। अहा, मज़ा तो इसी में है। आगे तुम्हारी मर्ज़ी, हे पागलों के परम प्यारे, तुम्हारी मर्ज़ी, .फुर्र .फुर्र .फुर्र।

* हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापामिति। ऋग्वेद १०—११९—९॥

सूचना

इस वर्ष का मङ्गलाप्रसाद-पारितोषिक दर्शन-विषय पर दिया जायगा, जिसके अन्तर्गत धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, आध्यात्मिक-विद्या और मनोविज्ञान माने गये हैं और इसके विचारार्थ पुस्तकें स्वीकार किये जाने की अन्तिम तिथि ३१ अगस्त रक्खी गई है। अतएव उपर्युक्त विषयों के विशेषज्ञों, विद्वानों तथा लेखकों से प्रार्थना है कि वे अपनी प्रत्येक पुस्तक की नौ-नौ प्रतियाँ निश्चित तिथि तक सम्मेलन-कार्य्यालय में शीघ्र-से-शीघ्र भेजकर इस सुअवसर से लाभ उठावें।

जगन्नाथप्रसाद शुक्ल
प्रधान मन्त्री,
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

प्रयाग
१०—८—३४

भारत में बाल-शिक्षण का सच्चा मार्ग

[ले०—श्री दुर्गेशचन्द्रजी, अध्यक्ष, ग्राम-सेवक-शिक्षणालय, गांधी-सेवाश्रम]

(१) शिक्षा में युक्ति की आवश्यकता।

बच्चों को आज़ाद बनाना ही भारत को स्वाधीन करना है। आज-कल बच्चों के दिलों में दासता का ज़हरीला बीज बोया जा रहा है। उसे फ़ौरन ही रोक देना चाहिये। रोटी कमाने को ही जीवन का उद्देश्य समझना ग़ुलामी का बीज है।

बच्चे को होश आते ही उसके माता-पिता जल्दी-से-जल्दी रोटी कमाने की फ़िक्र पैदा करने के लिये बेचैन हो जाते हैं। इसी ख़याल से उसे लिखना-पढ़ना सिखाने की कोशिश करते हैं। यह शिक्षा नहीं है, धोखा है। इस धोखे में आकर धनी लोग काफ़ी रुपया ख़र्च करके अपने बच्चों के दिमाग़ में ज़बरदस्ती किताबों का निकम्मा बोझ लाद देते हैं और ग़रीब ठीक उनकी नक़ल करने की कोशिश में बरबाद हो जाते हैं। बचपन में विचारशीलता और ऊँची भावना पैदा करना ही शिक्षा का लक्ष्य है। हिन्दुस्तान की वर्तमान गिरी हालत में बच्चों में सच्ची शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है।

[श्री दुर्गेशचन्द्रजी को 'अलंकार' के पाठकों से परिचित कराना आवश्यक है। आप उच्च प्रकार के आध्यात्मिक पुरुष हैं। जिन्हें सदा, दिन-रात, कार्य करते हुए भी परमेश्वर का कभी विस्मरण नहीं होता, ऐसे भगवत् भक्तो मे आप हैं। साथ ही आप मौलिक विचारक और सच्चे कर्मण्य है। आप हर एक विषय मे अपने स्वतन्त्र दृढ़ विचार रखते हैं और कोई दूसरा साथ चलता है कि नहीं इसे बिना देखे अकेले अपने विचारों को अमल में लानेवाले हैं। इनकी परमेश्वर में अटूट श्रद्धा है। इनके सम्पर्क मे आनेवाला कोई भी सज्जन इनकी सच्चाई और तपोनिष्ठा से प्रभावित हुए विना नही रह सकता। हम गांधी-सेवाश्रम के लोग इनकी पूजा करते हैं। मेरे गुरुकुल के आचार्य हो जाने पर गांधी-सेवाश्रम के संचालक आप ही रहे थे, और हमारे ग्राम-सेवक-शिक्षणालय के आप ही अध्यक्ष हैं। मैं चाहता हूँ कि पाठक इनके विचारो को ध्यान से पढे। बच्चों की शिक्षा का जो आदर्श, दिशा और साधन इस लेख मे श्री दुर्गेशचन्द्रजी ने बताये हैं, उनके आधार पर गाधी-सेवाश्रम की लुक्सर आदि ग्राम-पाठशालाओं में (जिन्हें हम 'प्रेम-शाला' नाम से पुकारते हैं) कार्य किया जा रहा है। हमारा विश्वास है कि भारत के गाँव-गाँव में बच्चों को जो-जो शिक्षा दी जानी चाहिये उसका आधार कुछ न कुछ हद तक इस प्रकार होना अनिवार्य है। —'अभय']

(२) शिक्षा का उद्देश।

मनुष्यत्व का विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। रोटी कमाना शिक्षा का कदापि लक्ष्य नहीं। प्राणीमात्र शरीर, मन और बुद्धि—इन तीन चीज़ों को लेकर उत्पन्न होते हैं। संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं। जिसके मन में जैसे सुख की इच्छा होती है, वह अपने शरीर को अपनी बुद्धि के द्वारा वैसे ही कामों में लगाता है। मन से ही मनुष्य और पशु की पहिचान की जाती है। पशु के मन में केवल भौतिक सुख भोगने की इच्छा होती है। यह इच्छा मनुष्य में भी है। यदि मनुष्य इसी भौतिक सुख को अपना लक्ष्य समझ कर बुद्धि के द्वारा इसी को प्राप्त करने में लगा रहे, तो वह अपने आपको एक बुद्धिमान पशु बना सकता है, मनुष्य नहीं। पशुता से बचना ही मनुष्यता है। अज्ञान और पशुता एक ही बात है। अज्ञान का न रहना ही ज्ञान है। ऐसे ज्ञान को प्राप्त करना ही सच्ची शिक्षा है।

(३) शिक्षा का सबसे बड़ा साधन रुकावटें दूर करना है।

छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सभी को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है, और इसे पाना उनका कर्तव्य भी है। शिक्षा प्राप्त करने की शक्ति प्रत्येक मनुष्य में है। परन्तु मनुष्य को इस शक्ति का ज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक कि शिक्षा के मार्ग की सब रुकावटों को दूर न कर दिया जावे। आज-कल देश का सारा ही वातावरण अर्थात् घर-बाहर चाल-चलन, रहन-सहन, सोच-विचार आदि सभी कुछ सच्ची शिक्षा के मार्ग की रुकावटें बनी हुई हैं। ऐसी परिस्थिति में आज हिन्दुस्तान में सच्ची शिक्षा-पद्धति को प्रारम्भ करना एक गम्भीर एवं विचारणीय समस्या है। ऐसा जो भी ढंग होगा, वह अवश्य ही वर्तमान परिपाटी के विरुद्ध होगा, तब भी उसको दृढ़ता के साथ जारी करना देश-हित चाहनेवाले समाज का कर्तव्य है।

(४) सहज शिक्षण।

प्रकृति जैसे हवा, पानी और धूप आदि सब साधन नन्हें पौदों को पालने के लिये जुटा देती है, और वे पौदे उसमें से अपनी शक्ति और आवश्यकता के अनुसार अपना भोजन लेकर पुष्ट होते जाते हैं, उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। ठीक इसी प्रकार शिक्षक का भी कर्तव्य है कि वह भी कोमल बच्चों रूपी पौदों पर किसी भी प्रकार का बोझा डाले बिना, प्रकृति की तरह पर उसका साथी बन कर उसकी शक्ति और आवश्यकता के अनुसार उसके ज्ञान का विकास करते हुए उसके मन को पुष्ट करने का प्रयत्न करें। बच्चों को शिक्षा देने के लिये उनके स्वभाव के मुख्य भेदों को जान लेना चाहिये।

(५) बच्चों के स्वाभाविक गुण।

(१) कोमलता, (२) विनोद-प्रियता, (३) अनुकरण-प्रियता, (४) चचलता, (५) स्वतन्त्रता तथा (६) जिज्ञासा—ये बच्चों के स्वाभाविक गुण होते हैं।

शिक्षक का कर्तव्य है कि बालकों को इस प्रकार की सहायता देता रहे कि जिससे ये छः गुण स्वाभाविक रीति से पुष्ट होते जावें।

(१) कोमलता—कोमलता की रक्षा करने से आगे चलकर प्रेम, सरलता और निरहंकारिता की उत्पत्ति होती है। बालकों की कोमलता पर चोट पहुँचाने से अर्थात् डाँट-डपट, मार-पीट आदि उपायों से बालकों के मन में उल्टी क्रिया उत्पन्न हो जाती है। जिससे बालक में द्वेष, मिथ्याचार (झूठा दिखावा) अत्याचार करने की प्रवृत्ति, भय और पराधीनता की भावनायें उत्पन्न होने लगती हैं, जो कि इष्ट नहीं हैं। इसलिये बच्चों के साथ थोड़ी-सी भी कठोरता करनी लाभ-प्रद नहीं है। जैसे कुल्हाड़ी से पेड़ का नाश हो जाता है, या जैसे नन्हा पौदा नाखून से ही मर जाता है, इसी प्रकार बच्चों की हृदय की कोमल कली अधखिली रह जाती है, या मुरझा जाती है। बच्चों को आत्म-विश्वासी तथा वीर बनाने के लिये आवश्यक है कि उन्हें कभी भी डराया या धमकाया न जाय। किन्तु उनके अच्छे भावों को ही सदा जगाने का प्रयत्न किया जाय।

(२) विनोद प्रियता—विनोद प्रियता से बच्चों के मन में सन्तोष आनन्द और शान्ति की इच्छा पैदा होती है। इससे सत्य असत्य का विचार करने की बुद्धि का विकास होता है। बच्चों की विनोद प्रियता को रोकने से उनके हृदय में उदासीनता बढ़ती है। उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन और क्रोध आ जाता है। अर्थात् रुकी हुई विनोद-प्रियता

बच्चों के मन में अनेक दुर्गुणों को उत्पन्न कर देती है।

(३) अनुकरण प्रियता—बच्चे अपने बड़ों को या अपने पास रहनेवालों को जैसा व्यवहार करते हुए देखते हैं, वैसा ही व्यवहार स्वयं भी करना चाहते हैं। अर्थात् वे अपनी रुचि के (पसन्द के) अनुसार बनाना चाहते हैं, इसी अनुकरण-प्रियता से पूर्णता को पाने की इच्छा जाग उठती है। इसी लिये शिक्षक और संरक्षक का कर्तव्य है कि वह अपने बर्ताव या बातचीत से कभी भी कमज़ोरी या मिथ्याचार का उदाहरण बालक के सामने न रक्खे। बालक के सामने एक भी निरर्थक या अनुचित बात न कहें। बालक को हँसाने के लिए झूठी-झूठी कहानियाँ कभी न सुनानी चाहियें। बालकों की पुस्तकों में "सच कह" "मत डर" इत्यादि शिक्षाप्रद वाक्य अधिक होने चाहिएँ। ऐसे वाक्यों से सत्य और निर्भयता की भावना पैदा होती है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि ऊँचे लक्ष्यवाले शिक्षकों के आचरण के अच्छे उदाहरण बच्चों के सामने रक्खे जायँ। इस प्रकार उनकी अनुकरण-प्रियता का पूरा पूरा लाभ उठाकर उन्हें सन्मार्ग पर डाल देना चाहिए। यदि अच्छे व्यवहार के उदाहरण बालकों के सामने न रक्खे जायँगे, तो वे इसी अनुकरण-प्रियता के कारण बुरे रास्ते पर पड़ जावेंगे। जिन शिक्षकों का आचरण स्वयं अच्छा नहीं है, वे यदि ऊँची-ऊची बातें बालकों को सिखाते रहेंगे, तो इससे बालकों के भी मिथ्याचारी बन जाने का पूरा-पूरा डर है। इससे बचाने के लिये शिक्षकों को अपना लक्ष्य स्थिर कर लेना होगा। फिर उस लक्ष्य से विरोधी कोई भी बात और कोई पदार्थ बच्चों के सामने न रखना होगा। यह ध्यान तो रखना ही चाहिये कि बच्चे बाहरी अनुकरण में न पड़कर, आदर्श के अनुगामी बनें, और अच्छे भावों के ग्रहण करने के अभ्यासी हो जावें।

(४) चंचलता—चंचलता रजोगुण का चिह्न है। यह बच्चों में स्वभाव से होती है। बच्चों को चंचलता को देखकर उन्हें दबाव से निश्चल करके बैठा देने की प्रवृत्ति हानिकारक है। इस स्वभाव को यदि दबाया जायगा, तो बच्चों में तमोगुण बढ़ जावेगा, या आलस्य उत्पन्न हो जावेगा। इसलिए बच्चों की रुचि के अनुसार उन्हें प्रत्येक समय किसी-न-किसी ऐसे काम में लगाये रहना चाहिये, जो हमारी शिक्षा के लक्ष्य तक पहुँचने में सहायक हों। बच्चों की चंचलता का ऐसा उपयोग करते रहने से बालकों में सत्व गुण बढ़ जावेगा और शुद्ध कर्म करने की शक्ति का विकास होगा।

(५) स्वतन्त्रता—बच्चों के विचार और जोश की कोई हद नहीं होती, यही तो इनकी स्वतन्त्रता का अभिप्राय है। बच्चे किसी भी नियम के या किसी भी पदार्थ के मोह में आना नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में कोई भी बात असम्भव नहीं होती। यही इनमें अनन्त शक्ति की झलक पाई जाती है। बच्चों में रहनेवाला जो स्वतन्त्र प्रेम है, वही उनमें रहनेवाले परमात्मा का स्वरूप है। इस स्वातंत्र्य प्रेम को बढ़ाने के लिये बच्चों में परमात्मा के सहारे से रहने की भावना को बड़े प्रयत्न से बढ़ाना चाहिये। उन्हें यह सिखाना चाहिये कि ईश्वर के सहारे से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। जो पदार्थ हमारी तुच्छ दृष्टि में असम्भव प्रतीत होता है वही पदार्थ ईश्वर कृपा होने पर सम्भव हो सकता है। ऐसी आत्मिक स्वतन्त्रता की ओर ही बच्चों को बढ़ाना चाहिये। इस स्वतन्त्रता में रुकावट आने से मनुष्य बन्धन में फँस जाता है।

स्वतन्त्रता पर बार-बार चोट पहुँचते रहने

से बालकों की आत्म-शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसे बच्चों के मन में भय निर्बलता और पराधीनता की भावनायें उत्पन्न होने लगती हैं।

(६) जिज्ञासा—बच्चों में ज्ञान की प्यास स्वभाव से होती है। जिस किसी नये पदार्थ को वे देखते हैं, उसी के विषय में कुछ-न-कुछ मालूम कर लेना चाहते हैं। बच्चे जब कोई भी प्रश्न करें, तब शिक्षक का कर्तव्य है कि उसके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर संतोष-जनक रीति से दें और उसके प्रश्न को साधारण समझ कर टाल न दें। डाँटने-डपटने से भय व्याकुल होकर बुद्धि भ्रंश हो जाता है और बालकों की ज्ञान पिपासा शान्त हो जाती है। अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने के लिये बालक जिस शिक्षक से प्रश्न करते हैं, यदि वे ही शिक्षक उन्हें डाँटने-फटकारने लगें और बालकों के सखा न रह कर डाँटने-डपटनेवाले बन जायेंगे, तो बालक प्रश्न करना छोड़ देंगे। यों ज्ञान-दाता और ज्ञान-गृहीता का सम्बन्ध हट जावेगा तथा ज्ञान-दान का जो हमारा लक्ष्य है, उसी लक्ष्य से हम च्युत हो जावेंगे। ऊपर के पाँच गुण बालकों में अक्षुण्ण रहें, तो उनमें जिज्ञासा स्वभाव से बढ़ती जाती है; ऊपर के पाँच गुण न रहें तो जिज्ञासा मर जाती है।

(६) बालकों में स्वाभाविक दोष।

इन छः गुणों के अतिरिक्त छोटे-छोटे बालकों में तीन दोष भी पाये जाते हैं। शिक्षक का कर्तव्य है कि बालकों के इन दोषों में किसी भी प्रकार की सहायता न दें। इन दोषों को नष्ट कर देना शिक्षक का कर्तव्य है। यह जो दोष बच्चों के लिये अत्यन्त हानिकारक हैं। वे मुख्य दोष ये हैं—(१) रोना, (२) लड़ना और (३) शिकायत करना।

(१) रोना—कमज़ोरी का चिह्न है। अभिलषित पदार्थ के न मिलने से बच्चे रोया करते हैं, इसलिये जहाँ तक सम्भव हो रोने का कारण उत्पन्न ही न होने दें। यदि किसी कारण बालक रोने लगे तो किसी पदार्थ का लालच देकर उनको रोने से रोकना ठीक नहीं है। क्योंकि लालच से उनका मन बिगड़ने लगता है। फिर तो वे सदा ही रोने को अपनी इच्छा पूरी करने का साधन बना लेते हैं। रोते हुए बच्चों को प्यार भी न करना चाहिये। वे कुछ देर तक रोकर अपने आप ही शान्त हो जाया करते हैं। ऐसा उनका स्वभाव होता है। रोते समय बच्चों को प्यार करना तो रोने में सहायता करना है। इसलिये उन्हें रोकर शान्त हो लेने देना चाहिये।

(२) लड़ना भी मानसिक कमज़ोरी का चिह्न है। बेकार रहने से या किसी भी वस्तु के लालच से बच्चे लड़ पड़ते हैं। रोकने से लड़ने की इच्छा तीव्र हो जाती है। बालकों को आपस में लड़ते देख कर उनका लड़ाई का उत्साह समाप्त होने देना चाहिये, जिससे वे लड़ाई का अनुभव प्राप्त कर सकें। हाँ, इतना ध्यान तो रखना ही चाहिये कि किसी बालक के शरीर पर घातक चोट न पहुँचे। ऐसा मौक़ा आने से पूर्व ही लड़नेवालों को अलग कर देना चाहिए।

(३) शिकायत करना यह भी मानसिक निर्बलता का चिह्न है। अपने प्रतिपक्षी बालक को हराने के लिए तथा तीसरे शिक्षक को अपना तरफ़दार बनाने के लिए शिकायत का भाव आता है। जब तीसरा मनुष्य दण्ड देने को तैयार रहता है, तब ही शिकायत की इच्छा उत्पन्न होती है। शिकायत सुनने से शिकायत करनेवाले के मन में पराधीनता की भावना और असत्य बोलने की इच्छा पैदा होती है। इसके साथ ही अपने मन में से न्याय करने के स्वभाव नष्ट हो जाते हैं। शिक्षक को उदा-

लीन रहकर निम्न बातों पर ध्यान रखना चाहिए। कि शिकायत का क्या कारण है और दोष किसका है। किसी दूसरे मौके पर बातचीत के द्वारा अच्छी कहानियां सुना कर इस दोष को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए।

(७) ध्यान देने योग्य अन्य सात बातें।

(१) शिक्षा का उपार्जन करने के लिए अर्थात् बालक के जीवन का लक्ष्य स्थिर करवाने के लिए विद्यार्थी का एक पैसा भी खर्च नहीं किया जाना चाहिए! शिक्षा से हमारा अभिप्राय कोरे अक्षर ज्ञान से या किसी विषय के विशेषज्ञ बनने से नहीं है। उसको तो हम शिक्षा न कहकर एक प्रकार की कला (हुनर) कहना उचित समझते हैं।

(२) विद्यार्थी जब पाठशाला में आवें, तब उन्हें घर से खाली हाथ आना चाहिए, तथा पाठशाला में जितनी विद्या अनायास ग्रहण कर सकें, उतनी लेकर खाली हाथ घर लौट जाना चाहिए। पोथियों के और पढ़ने के साधनों के बोझ के नीचे विद्यार्थी के मन को दबाना नहीं चाहिए। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थी के मन और शरीर को हलका रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न करें।

(३) प्रत्येक शिक्षक का ऐसा अनुभव है कि उसने अपने विद्यार्थी-जीवन में बहुत-सी फ़िज़ूल बातें सीखी थीं, जो उसके जीवन में कभी भी काम में नहीं आई। अब शिक्षक के नाते उसका कर्तव्य है कि वह विद्यार्थी को फालतू अनुपयोगी बातें न सिखाकर केवल उपयोगी बातें सिखावे।

(४) किसी परीक्षा को पास कराने के लिए जल्दबाज़ी से केवल लिखने-पढ़ने में चतुर बना देने की निर्जीव भावना की शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। विद्यार्थी के मन में भी परीक्षा और जल्दबाज़ी के लिए कोई भी महत्त्व पैदा नहीं किया जाना चाहिए।

(५) बालक के समय को (क) भाषाज्ञान (ख) उच्चविचार तथा (ग) कर्म इन तीन भागों में बाँट देना चाहिये। अक्षर शिक्षा के साथ-साथ भाषा-ज्ञान प्रारम्भ किया जावे और अपने विचारों को प्रकट करने के लिये तथा दूसरे के विचारों को ग्रहण करने के उद्देश्य से ही लिखना-पढ़ना सिखलाया जावे। मौखिक इतिहास सुनाकर या वार्तालाप के द्वारा बालकों को उच्च विचार दिये जावें। उच्च विचारों को व्यवहार में परिणत करने के लिये कर्म करने की भी शक्ति को जगाया जावे।

(६) ऊपर के तीन विभागों के अनुकूल रामायण, भगवद्गीता, उपनिषत्कथा आदि उत्तम ग्रन्थ तथा तथा उपदेश-प्रद सच्ची कहानियों की पुस्तकें, जिनमें कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य तथा मार्ग अनुभवी लेखकों या अनुभवी उपदेष्टाओं के द्वारा स्पष्ट समझाया गया हो, शिक्षक लोग केवल अपने पास रखें।

(७) सफ़ाई, खेती, स्वास्थ्य, उद्योग-धन्धे, शिल्पकला और भजन के साधन बच्चों के उपयोग के लिये खिलौने के रूप में छोटे-छोटे बनाकर रक्खे जावें और जहाँ तक हो सके, सुलभ प्राकृतिक उपायों से ही शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाय। काग़ज़ों के बदले में पेड़ों के पत्ते दीवार और ज़मीन पर लिखना सिखाने के काम में लाई जावें और क़लम के स्थान में सरकण्डे या उस जैसी कोई चीज़ काम में लाई जावे*, स्याही के लिये नागफन की फली का रस काम में लाया जावे। मिट्टी, बाँस या बेल की दवातें प्रयोग में लानी चाहियें।

---

* या चिराग की स्याही में थोड़ा गोंद मिलाकर अथवा बादाम के जले हुए छिलकों को पीस कर उसमें गोंद मिलाकर लिखना चाहिये। कच्ची हरड़ को पानी में डाल लोहे के बर्तन में पकाने से भी स्याही बन सकती है।

हर एक रंग की मिट्टी भी लिखने में काम आ सकती है।

प्रार्थना की उपयोगिता

[महात्मा गांधी का उपदेश]

गत मास जब महात्मा गांधी चार-पाँच दिन के लिये लाहौर नगरी में पधारे थे, तो उनकी प्रातः ४½ बजे की प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिये हज़ारों नर-नारी जाया करते थे। १५ जुलाई रविवार को प्रातः प्रार्थना की समाप्ति पर निस्तब्ध शान्त बैठे हुए सहस्रों स्त्री-पुरुषों के प्रति महात्माजी ने जो वचन कहे वे निम्न लिखित हैं :—

"मैं चाहता हूँ कि जिस तरह आप लोग इन थोड़े दिनों में मेरे साथ हर रोज़ प्रातः प्रार्थना करते रहे हैं, एवं प्रातः प्रार्थना द्वारा अपने दैनिक कार्य का प्रारम्भ करते रहे हैं, इसी प्रकार आगे भी आप इस अभ्यास को जारी रखें। इस प्रार्थना को आप अपने-अपने घरों में जुदा-जुदा कर सकते हैं और चाहें तो सामूहिक रूप में अपने मुहल्ले के स्थानीय केन्द्र में इकट्ठे बैठकर भी कर सकते हैं। प्रार्थना के महत्व को जितना अधिक कहा जाय, उतना ही थोड़ा है। जब कोई व्यक्ति अपने दिन को भक्तिपूर्ण प्रार्थना से प्रारम्भ करता है तो उसके दिन के सारे कार्य पवित्रता और भक्ति की भावना से ओत-प्रोत रहते हैं। प्रार्थना का उचित समय वह प्रारम्भिक उषा-काल है, जब कि सूर्य भगवान्—परमात्मा की वह सबसे अधिक प्रकाशमान प्रतीक—अपनी सब कार्यों में साक्षीभूत रहनेवाली उपस्थिति द्वारा हमें अपने आपको प्रकट करता है।

"मैं अब आपको परमात्मा के सच्चे उपासक के एक दो लक्षण बताता हूँ। एक लक्षण तो यह है कि उसके हृदय में सर्वदा पीड़ित और दलितों के साथ मित्रता और भ्रातृभाव की भावना रहती है। और इस भावना का सबसे अच्छा प्रकाशन इस समय और क्या हो सकता है कि हम हरिजनों के साथ भ्रातृभाव पैदा करें और हरिजनों से मित्रता पैदा करने का इससे अच्छा और कोई तरीक़ा नहीं कि हम उनकी पीठ से उतर जायें, जिससे कि हमने जो उन्हें सदियों से भार वाही पशु और पद-दलित प्राणी बना रखा है वैसा वह अब न बना रहे, किन्तु स्वतन्त्र-जीवन व्यतीत करने लगे।

"एक दूसरा लक्षण दरिद्रनारायण की सेवा है, भारत के उन लाखों भूखों की सेवा करना है, जिनमें निःसंदेह हरिजन भी सम्मिलित हैं, भेद केवल इतना है कि जहाँ दूसरी जाति का एक ग़रीब-से-ग़रीब व्यक्ति भी आज़ादी से घूम-फिर सकता है, वहाँ एक अमीर-से-अमीर भी हरिजन-हिन्दू मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता और सार्वजनिक कुओं का उपयोग नहीं कर सकता। इसलिये जहाँ हरिजनों की सेवा अछूतपन को दूर करने से होती है, वहाँ ग़रीबों की सेवा उनके लिये किसी कार्य को ढूँढने तथा उनकी थोड़ी-सी आमदनी को बढ़ाने से हो सकती है। इन ग़रीबों

की इस तुच्छ आमदनी को बढ़ाने का सबसे उत्तम तरीक़ा यही है कि आप लोग खद्दर पहिरने के अभ्यासी बनें तथा यज्ञार्थ कातना प्रारम्भ करें।

"यदि पंजाब की समस्त महिलायें यह निश्चय कर लें कि वे अब ख़ाली समय में काता करेंगी, तो मुझे निश्चय है कि वे केवल समस्त पंजाब को ही नहीं, किंतु उससे बाहर दूसरे प्रान्तों को भी कपड़ा पहना सकती हैं। अगर आप इन दो बातों को करेंगे तो मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि आप परमात्मा के नज़दीक पहुँच रहे होंगे। परन्तु शर्त यह है कि यह सब दिखावे व अपने इश्तिहार के लिये न हो, बल्कि सेवा भाव और कर्तव्य भाव से किया जाय। प्रार्थना करनेवाले व्यक्ति की एक आवश्यक पहिचान, जिसे कि मैं यहाँ और प्रकट करना चाहता हूँ, वह है मौन की भावना। जहाँ कहीं मैं जाता हूँ मुझे शोर और जलसों का भीड़-भड़क्का बहुत व्यथित करता है। आप लोगों को इस बात का दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि आप लोग शोर-गुल से दूर रहकर व्यवस्था और शासन की भावना को अपने में पैदा करेंगे। प्रार्थना के परिणाम की सूचक अनेक बातों में से ये तीन बातें मैंने कहीं हैं जिन्हें कि मैं चाहता हूँ कि आप अपने मनों में अंकित कर लेवें।"

प्रेमोपासना

[ले० आचार्य विनोवा भावे]

अपने शरीर में असंख्य छिद्र हैं। उन सब छिद्रों से हम बाहर की शुद्ध हवा सब ओर से अन्दर लेते हैं। लेकिन इन सब छिद्रों में नाक विशेष है। नाक से मानों प्राण ही फेफ़ड़े में प्रवेश करता है। जीवन असंख्य सत्कर्मों से भरा हुआ है। उनसे जीवन में सब तरफ़ से ईश्वरीय हवा प्रवेश करती है। लेकिन सब सत्कर्मों में उपासना विशेष है। उपासना से आत्मा में ईश्वरीय प्राण का संचार होता है।

ऐसी प्राण-दायिनी उपासना हिन्दुस्तान में आज-कल सूत कातने की हो सकती है, ऐसा अनुभव है। इसलिये राष्ट्रीय, कार्यकर्त्ताओं के लिए मैं प्रेम-पूर्वक निम्नांकित सूचना करने की इच्छा करता हूँ।

(१) प्रत्येक कार्य-कर्त्ता नित्य आधा घण्टा सूत कातने का व्रत ले।

(२) सूत कातने की उपासना का समय दोपहर को १२ बजे का निश्चित करें। प्रातः और सायंकाल वाणी द्वारा उपासना करते हैं। कार्य द्वारा उपासना के लिए मध्याह्न काल सर्वोत्तम है। आश्रम में इस उपासना का समय यही दोपहर का समय है। सब को एकत्र उपस्थित होना चाहिये।

(३) उपासना में अपने साथ कुटुंबी जन, बालक, बालिका एवं मित्रमंडली सम्मिलित हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

(४) उपासना का साधन तकली हो। अनेकों के लिए एकत्र, एक समय में निर्विघ्नता पूर्वक शान्ति के साथ कातने के लिए यही एक सुलभ साधन है।

(५) दूध में जैसे कचरा असह्य होता है उसी प्रकार पूनी साफ़ और स्वच्छ होनी चाहिये।

(६) कातनेवाले अकेले हों या समुदाय हो, कातना शुरू करने के पूर्व घंटा बजाना चाहिये। घण्टा बजाने का साधन कुछ भी हो। घण्टे का अर्थ है समुदाय इकठ्ठा हो जाय तो उसके लिए जागृति, यदि नहीं तो उसके लिए आमंत्रण, उपासना के बीच में दूसरा कोई उद्योग न हो, इसलिए आख़िर की सूचना समझना चाहिये।

(७) १२ बजे ० मिनट ० सेकन्ड पर शुरू करे। १२ बजकर ३० मिनट ० सेकन्ड पर समाप्त करे। कितने तार रोज़ निकले, उन को रोज़ का रोज़ रजिस्टर में अंकित करे।

(८) काते हुए सूत को फालका पर उतार कर पूर्ण लट होने पर भिगोवे। इस उपासना का सूत अलग संग्रह करे।

(९) उन सब सूतों को चर्खा-संघ मार्फ़त दरिद्र-नारायण को अर्पित करे।

(१०) कातने के समय मौन धारण करे।

(११) प्रेम सूत्र से अपने सब जगह के लोग—विशेषतः ग़रीब लोग और भगवान्—बांधे जाते हैं, ऐसी भावना करें।

विवाह का विज्ञापन

[ले०—श्रीयुत हरिमोहन चैटर्जी, 'ट्रिब्यून' लाहौर]

[पञ्जाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के आदेशानुसार श्रावण मास में पञ्जाब में हिन्दी-सप्ताह मनाया गया है। लाहौर में इस सप्ताह में हिन्दी-कविता-गल्प-सम्मेलन १३ अगस्त को किया गया। इसमें श्री हरिमोहनजी चैटर्जी ने यह गल्पश्रोताओं को सुनाई। श्रीयुत चैटर्जी बंगाली सज्जन हैं। आपका हिन्दी-प्रेम पञ्जाबी पत्रकारों के लिये अनुकरणीय है। श्री हरिमोहन चैटर्जी लाहौर के प्रसिद्ध पत्रकार हैं। हम आशा करते हैं कि श्रीयुत चैटर्जी भविष्य में इसी प्रकार पञ्जाबियों के सामने निष्काम हिन्दी-सेवा का उदाहरण रख कर पञ्जाबी जनता को हिन्दी-सेवा के लिये उत्साहित करते रहेंगे। —सम्पादक]

शहर गाज़ीपुर मुहल्ला गोरा बाज़ार में रामावतार-नामक एक युवक वास करते हैं। उनकी आयु बाईस वर्ष से अधिक न होगी। वे थोड़ी थोड़ी अँगरेज़ी भाषा भी जानते हैं। प्रवेशिका परीक्षा में कई बार अकृत-कार्य होने के पश्चात् उन्होंने विश्व-विद्यालय से छुट्टी लेकर घर बैठना उचित समझा।

वैशाख का महीना है। सन्ध्या समय दिन-भर की गर्मी के बाद, कुछ मन्द-मन्द पवन चलने लगी है। गर्मी में तड़पते हुए रामावतार बदन से कमीज़ उतार कर अपने मकान के बरामदे में आ बैठे। नौकर को बुला कर पूछा—"भाँग तैयार हो तो ले आओ।"

कुछ देर बाद नौकर भाँग ले आया। रामावतार आराम से बैठे-बैठे भाँग पीने लगे।

सहसा दूर से आवाज़ आई—"गुलाबी रेवड़ी", "कड़ाकेदार रेवड़ी, जो खावे मज़ा पावे, जो चक्खे याद रक्खे, गुलाबी रेवड़ी!"

यह आवाज़ सुनते ही एक पाँच बरस का बालक अन्दर से दौड़ता हुआ आया और बोला—"भइया, मैं गुलाबी रेवड़ी खाऊँगा।"

बालक की आवाज़ सुनकर फेरीवाला वहीं ठहर गया और पूछा—"क्या लेओगे?"

बालक बोला—"मैं गुलाबी रेवड़ी लूँगा।"

फेरीवाले ने एक हिन्दी-संवाद-पत्र का टुकड़ा फाड़कर, उसमें रेवड़ी रखकर बालक को दिया। बालक हर्षित होकर नृत्य करता हुआ रेवड़ी खाने लगा। जब रेवड़ी खा चुका, तो फटे हुए संवाद-पत्र को लेकर अपने भाई के निकट गया और कहने लगा—"भइया! कैसा सुन्दर चित्र है, देखो!"

रामावतार ने काग़ज़ के टुकड़े को अपने हाथ में लिया और चित्र को देखने लगे। चित्र के पास एक विज्ञापन छपा हुआ था, उसे पढ़कर वे कुछ चकित-से हो गये और बहुत कौतुहल से उसे पढ़ने लगे। वह विवाह का एक विज्ञापन था। कमरे के अन्दर जाकर रोशनी के सामने उस फटे हुए काग़ज़ के टुकड़े को पढ़ने लगे। उस विज्ञापन में यह लिखा हुआ था :—

"एक ब्राह्मसमाजी भद्र महोदय की एक अति सुन्दरी षोड़श-वर्षीया कन्या है। उसके लिये एक सच्चरित्र, सुशिक्षित, कायस्थ-जातीय वर की

आवश्यकता है। विवाह होने के बाद युवक को शिक्षा-लाभ के लिये हम विलायत भी भेज सकते हैं। पत्र-द्वारा वर महोदय या अभिभावकगण अपनी समूची अवस्था लिखें और मेरे साथ साक्षात करें।

लाला मुरलीधरलाल, महादेव मिश्र का मकान, केदारघाट—काशी।"

रामावतार ने भाँग का गिलास नीचे रख कर विज्ञापन को कई बार पढ़ा और पढ़ने के बाद कुछ हँसे। बरामदे में जाकर फिर बैठे और भाँग पीते-पीते नाना प्रकार की चिन्ता में मग्न हो गये।

भाँग का नशा चढ़ा हुआ था। सोचने लगे—"ऐसा क्यों न किया जाय? मुरलीधरलाल को पत्र लिख कर उन्हें मिला जाय और कुछ दिन तक उनके वहाँ जाना-आना रखा जाय। वह तो हैं ही ब्राह्मसमाजी। कोर्टशिप में उन्हें कोई एतराज़ न होगा। कुछ दिन कोर्टशिप का मज़ा लें और पीछे फिर चम्पत हो जायेंगे।"

सोचा और निश्चय किया कि इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिए। बैठक में आये और पत्र लिखना आरम्भ किया। अपने अभ्यासानुसार पत्र "श्रीगणेशाय नमः" से आरम्भ किया। पर उसी समय विचार करने लगे—"वह तो ब्राह्म-समाजी हैं, वह लोग मूर्ति-पूजा के विरोधी हैं। हमें वह असभ्य समझेंगे।" लिखे हुए कागज़ को फाड़ दिया। दूसरा कागज़ लिया और दोबारा लिखने लगे—"श्री श्री निराकार ब्रह्मो जयति"। प्रवेशिका परीक्षा में अकृत-कार्य हुए थे, यदि यह उन्हें पता लग जाय, तो अशिक्षित समझेंगे। इसलिये लिखा कि वह बी. ए. परीक्षा में फ़ेल हुए थे। और लिखा कि वह जातिभेद नहीं मानते। विलायत जाने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं है। कुमारी कन्या का एक फ़ोटो अवश्य भेजें।" यह प्रार्थना कर रामावतार ने पत्र समाप्त किया।

रातभर रामावतार सो न सके। नाना प्रकार के मनोरम स्वप्न देखे और बहुत हर्षित होकर दूसरे दिन प्रातःकाल उठे।

....

[२]

काशी के केदारघाट के निकट एक छोटी-सी गली के भीतर एक तिमंज़िला मकान है। उसके एक कमरे में तीसरे पहर के समय दो मनुष्य बैठे हुए चौपड़ खेल रहे थे। एक तो बलिष्ठ गौर वर्ण और स्थूलकाय पुरुष थे। दूसरे कुछ क्षीणकाय थे। पर देह के गठन से मालूम होता था कि किसी समय बलवान् थे। यह दो पुरुष काशी के गुण्डे थे। एक का नाम महादेव मिश्र था। यह इस मकान का मालिक है। दूसरे पुरुष का नाम कन्हैयालाल था। वह महादेव मिश्र का एक प्यारा शागिर्द था।

नौकर हुक्का ताज़ा करके रख गया और अपने ज़ेब से एक पत्र निकाल कर बोला "हुजूर, यह चिट्ठी आई है, लीजिये।"

कन्हैय्यालाल चिट्ठी लेकर ऊपर लिखा हुआ पता पढ़ने लगा—"लाला मुरलीधरलाल, महादेव मिश्र का मकान, केदारघाट, काशी। पढ़कर बोला—"लाला मुरलीधर! वह तो तुम्हारा किरायदार था और तीन साल हो गये यह मकान छोड़कर चला गया।"

महादेव हुक्का पीता-पीता बोला—"अरे लाला मुरलीधर की तो लखनऊ बदली हो गई है। चिट्ठी को खोल तो बन्धु, देखें क्या लिखा हुआ है।"

कन्हैय्यालाल बोला—"क्या लाला मुरलीधर को लखनऊ के पते पर चिट्ठी नहीं भेजनी?

महादेव बोला—"अरे बन्धु, क्या समाचार है, पहिले पढ़कर तो देखो! पीछे लखनऊ भेजना। लाओ, खोलो और पढ़ो।"

कन्हैयालाल अपने गुरुजी के आदेशानुसार पत्र को खोलकर पढ़ने लगे।

"महाशय,

संवाद-पत्र में आपकी कन्या का विवाह-विज्ञापन पढ़ा। मैं एक सद्वंशीय युवक हूँ। मेरी उमर २२ साल की है। मैं इलाहाबाद कॉलेज से बी. ए. परीक्षा के लिये तैयार हुआ था, पर हठात् पीड़ाक्रान्त होने के कारण परीक्षोत्तीर्ण नहीं हो सका। मैं जाति-भेद नहीं मानता। बाल्य-काल से ही विलायत जाने के लिये मेरी प्रबल इच्छा है। यदि महाशय कृपा-पूर्वक मुझ-जैसे साधन वित्त-हीन व्यक्ति को अपनी कन्या के लिये योग्यपात्र स्वीकार करें, तो मैं विवाह करने के लिये प्रस्तुत हूँ। मैं बाल-विवाह का विरोधी हूँ। इस कारण अद्यापि विवाह नहीं कराया। मैं सच्चरित्र और सत्यवादी हूँ। यदि महाशय कृपया आज्ञा दें, तो स्वयं आकर महाशय के साथ साक्षात् करूँ। यदि कुमारीजी का कोई फ़ोटो होवे, तो भेज कर बाधित करिएगा।

आपका सेवक,
रामावतार लाल
मुहल्ला गोरा बाज़ार,
गाज़ीपुर।"

पत्र सुनकर महादेव मिश्र बड़े ज़ोर से हँसे और कहने लगे—"बन्धु कन्हैय्यालाल यह तो बड़ी मज़ेदार चिट्ठी है। उस कन्या का तो कई साल हुए विवाह हो चुका है। अच्छा एक शिकार बहुत दिनों के बाद हाथ आया है। उन्हें इस चिट्ठी का जवाब दिया जाय और यहाँ बुलाया जाय।"

कन्हैयालाल बोला—"वह जब शादी करने के लिये आ रहे हैं तब तो अवश्य ही सोने की अँगूठी और घड़ी लगाकर ही आयेंगे। अगर अपने पास नहीं होगा, तो किसी से माँग कर लाएँगे। परन्तु फ़ोटोग्राफ़ का क्या किया जाय?"

महादेव बोला—"चिन्ता का क्या कारण है? फ़ोटोग्राफ़र तो बाज़ार में बहुत मिलेंगे। हमारे मकान के निकट ही खाँ साहेब की दूकान है। वहाँ थियेटर में नाचनेवालियों की बहुत खूबसूरत तसवीरें मिलेंगी, एक फ़ोटो भेज दिया जायेगा!

परामर्शानुसार कार्य हुआ। यह भी स्थिर हुआ कि उन्हें इस मकान पर नहीं बुलाया जायेगा। यहाँ पुलिस को पता लग सकता है। एक दूसरे मकान को सजाकर वहाँ उन्हें ले जाकर, कार्य सिद्ध होगा। एक प्याज़ा भाँग, उसके साथ थोड़ा-सा धतूरे का रस—बस शिकार काबू समझो।

....

[३]

दोपहर का समय है। गोरा बाज़ार की बैठक में बैठे हुए रामावतारजी हुक्का पी रहे हैं, और डाक वाले की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आज दो-तीन दिन से रामावतारजी इसी प्रकार डाकिए के आने के समय प्रतीक्षा में बैठते हैं। कारण उनके पत्र का अभी तक उत्तर नहीं आया। डाकवाला आया। एक पत्र और एक पैकेट देकर चला गया। पत्र के हस्ताक्षर अपरिचित। चिट्ठी पर बनारस सिटी की मोहर है।

चिट्ठी देखते ही रामावतार तख्तपोश छोड़ कर उठ खड़े हुए और अत्यन्त हर्षित-चित्त होकर पहिले पैकेट को खोला। एक अति सुन्दरी युवती का एक मनोहर फ़ोटो। प्रेम भरे नयन से

रामावतार बारम्बार फ़ोटो को देखने लगे। बहुत प्रफुल्लित चित्त से कहने लगे—वाह, वाह।

फ़ोटो रखकर रामावतार ने चिट्ठी खोली। चिट्ठी में यह लिखा हुआ था—

"महाशय, आपका पत्र आया, आगामी शनिवार सन्ध्या के समय यदि आप इस ग़रीबखाने में पधारें, तो बड़ा ही उत्तम होगा। आपके साथ साक्षात् परिचय होने के बाद अन्यान्य विषयों पर वार्त्तालाप किया जायगा। मैंने अब मकान बदल लिया है। अतएव केदारघाट के मकान पर न आइयेगा। मैं स्टेशन पर आदमी भेजूँगा, आपको साथ ले आयेगा। उस दिन रात के लिये मैं भोजन का निमन्त्रण देता हूँ। आशा करता हूँ कि आप निमन्त्रण स्वीकार करेंगे। आपको आज्ञानुसार कुमारीजी का फ़ोटो भेज रहा हूँ। लाला मुरलीधरलाल।"

चिट्ठी को रखकर रामावतार फिर तसवीर को देखने लगे और सोचने लगे। इस कुमारी का यदि पाणिग्रहण कर सकूँ, तो मेरा जीवन धन्य हो जावेगा। चिट्ठी में शनिवार को आने के लिये लिखा है। शनिवार आने में अभी तो दो दिन बाक़ी हैं। शुक्रवार क्यों नहीं लिखा। फिर सोचा—"अच्छा ही हुआ, इन दो दिनों में खूब तैयारी की जावेगी।

शनिवार आ गया। रामावतारजी यथासमय तैयार हुए और इस प्रकार से अपनी वेशभूषा बनाई कि मानो कुमारी देखते ही प्रणय करने लगेगी। सोने की घड़ी, सोने की चैन, हीरे की अंगूठी पहिन कर रामावतार जी रवाना हुए। साथ दो सौ रुपया भी ले चले।

स्टेशन पर ठीक समय पर आदमी आकर रामावतार को मिला और उन्हें नियत मकान पर ले गया।

महादेव मिश्र वहाँ हुक्का पी रहे थे। आदर से रामावतार को बैठाने के बाद अन्दर गये और अपने आदमी से कह गये कि—"रामावतारजी को कुछ पानी-धानी पिलाओ। मैं अन्दर जाकर कुमारीजी को तैयार होने के लिये कहता हूँ।"

कुछ देर बाद नौकर चाँदी के बर्त्तन में रामावतारजी के लिए कुछ मिष्टान्न और सुगन्धित भाँग ले आये।

रामावतार उनका कहना न मोड़ सका। थका हुआ था, भाँग देखते ही पीली।

थोड़ी देर के बाद रामावतार नशे में चूर हो गया। महादेव मिश्र अन्दर से बाहर को आया और कन्हैयालाल से कहने लगा—"क्या देखते हो, लेओ मूर्ख का जो कुछ है, लेओ।"

कन्हैयालाल ने गुरुजी के आदेशानुसार रामावतार के बदन से सोने की घड़ी चैन इत्यादि सब उतार लिये। जेब से दो सौ रुपये भी निकाल लिये।

महादेव ने कहा—"तुम कैसे मूर्ख हो, यह रेशमी पोशाक क्यों नहीं उतार लेते हो?"

कन्हैयालाल ने रेशमी पोशाक भी उतार ली और रामावतार को एक गेरुवा वस्त्र पहिना कर, गंगा किनारे घाट पर छोड़ आये।

जब सुबह हुई, रामावतार का नशा उतरा तो उसे पता लगा कि गुण्डों ने उसके साथ क्या दग़ा किया है। सुन्दरी युवती का स्वप्न भी मस्तिष्क से निकल गया।

हमारे राष्ट्रीय शिक्षणालय

गुरुकुल काँगड़ी-समाचार

[प्रेषक—श्री भद्रसेनजी 'कुल'-मन्त्री]

ऋतु और स्वास्थ्य—ऋतु सुहावनी है। वर्षा का प्राधान्य है। ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य साधारणतया उत्तम है। चिकित्सालय में रोगियों की संख्या कम है। विद्यालय-विभाग के ब्रह्मचारियों की संख्या महाविद्यालयवालों में अधिक है। दो छोटे ब्रह्मचारियों की रॉन की हड्डियाँ पेड़ों पर से गिरने के कारण टूट गई थी। परन्तु दोनों की चिकित्सा सफलतापूर्वक हो गई। परमात्मा की कृपा से इस वर्ष और कोई विशेष रोगी नहीं हुआ है।

सभाएँ तथा पत्र-पत्रिकाएँ—सभी सभाओं के 'साप्ताहिक अधिवेशन' तथा 'पत्र-प्रकाशन' नियमपूर्वक ही रहे हैं। वाग्वर्धिनी सभा की ओर से 'गुरुकुलीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस), हिन्दी-साहित्य-मण्डल की ओर से 'कविता-गल्प-प्रतियोगिता सम्मेलन' संस्कृतोत्साहिनो की ओर से 'प्रतिभा-सम्मेलन' तथा 'जन्मोत्सव' आदि विशेषाधिवेशन भी हो चुके हैं।

विशेष व्याख्यान—विशेष व्याख्यानों की दृष्टि से यह मास पर्य्याप्त महत्त्व-पूर्ण रहा है। हिन्दू सैन्ट्रल स्कूल बनारस के प्रधानाध्यापक श्री रामनारायणजी मिश्र एम्. ए. के 'विदेशों में शिक्षा के साधन' तथा 'शिष्टाचार' पर दो व्याख्यान हुए। आप लगभग २० दिन गुरुकुल में ही प्रतिष्ठित-अतिथि के रूप में रहे। आजकल प्रो० सेवारामजी फेरवानी एम्. ए. कुल में आए हुए हैं। आप प्रतिदिन विद्यालय-विभाग के अध्यापकों को 'क्रियात्मक अध्यापन' पर तथा महाविद्यालय के विद्यार्थियों को 'क्रियात्मक समाज-शास्त्र' पर व्याख्यान देते हैं। समाज-शास्त्र के विशेष ज्ञान के लिए वही ब्रह्मचारी उनके साथ प्रतिदिन ग्रामों में भी जाते हैं। स्वामी हरिप्रसादजी वैदिक-मुनि के वेदान्त-दर्शन पर दो मनोरञ्जक तथा शिक्षा-प्रद विश्वविद्यालय-व्याख्यान हो चुके हैं। इसी तरह प्रो० सत्यकेतुजी का 'यूरोप की वर्तमान राजनैतिक स्थिति' पर, हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रो० परमात्माशरणजी का 'इतिहास का अध्ययन' पर, आचार्य रामदेवजी का 'भारत का वर्तमान राजनैतिक समस्या' पर और प्रो० वागीश्वरजी का 'कालिदास' पर व्याख्यान हुआ।

क्रीड़ा—वर्षा की अधिकता के कारण क्रीड़ाएँ नियम-पूर्वक नहीं हो रही हैं। फिर भी पिछले दिनों देहली तथा लाहौर के दो दल यहाँ से परास्त होकर गये हैं। आज-कल देशी खेलों में विद्यार्थी काफ़ी दिलचस्पी दिखा रहे हैं। अखाड़ा भी कुश्ती करने वालों से भरा रहता है। आजकल जिम्नास्टिक की

व्यायाम सिखाने के लिए भी एक शिक्षक नियुक्त किए गये हैं। विद्यार्थी उनसे भी लाभ उठा रहे हैं।

गुरुकुल कांगड़ी का व्यायाम प्रदर्शक यात्री दल

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी से एक दल प्रोफेसर नारायणरावजी की अध्यक्षता में काश्मीर जा रहा है। यह दल मार्ग में आनेवाले बड़े-बड़े नगरों में अपने शारीरिक खेलों एवं व्यायामों का प्रदर्शन करेगा। जिससे जनता में शारीरिक उन्नति की ओर अभिरुचि पैदा हो; और अपनी सन्तान को पुष्ट बनाने के विचार दृढ़ हों।

यह दल गुरुकुल में एक उच्चकोटि का जमनास्टिक (व्यायाम शाला) स्थापित करना चाहता है। जिससे गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को हृष्ट-पुष्ट पराक्रमी और बली बनाने में सुगमता हो और भविष्य में वे आर्य-जनता के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हो।

आशा है जनता उनके उत्साह को बढ़ावेगी ताकि वे अपने उद्देश्य को पूरा करने में सफलता प्राप्त कर सकें।

यह दल पहले अम्बाला में प्रदर्शन करेगा। इसके पश्चात् लुधियाना, जालन्धर, अमृतसर, लाहौर, स्यालकोट और जम्मू में प्रदर्शन करेगा।

दल के कुछ सदस्य साईकलों पर यात्रा करते हुए, जम्मू पहुँचने का विचार रखते हैं। वहां से सारा दल पैदल यात्रा करता हुआ श्रीनगर पहुँचेगा। वहां भी अपना व्यायाम प्रदर्शन करेगा। लौटते समय रावलपिण्डी होते हुये तक्षशिला जायेगा। रावलपिण्डी में व्यायाम-प्रदर्शन करेगा। २८ अक्टूबर तक यह दल वापिस गुरुकुल पहुँच जायेगा।

गुरुकुल मुलतान

आर्य-जनता को यह जानकर संतोष तथा हर्ष होगा कि अब इस गुरुकुल का सीधा सम्बन्ध गुरुकुल कांगड़ी के साथ हो गया है। वहां के मुख्याधिष्ठाता इसके भी मुख्याधिष्ठाता हैं और यहां का प्रबन्ध उन्हींके निरीक्षण होगा। ५ सदस्यों की एक 'प्रबन्ध समिति' बना दी गई है, जिसके प्रधान गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता होंगे। इस सभा के तीन सदस्य नियत कर दिये गए हैं और शेष दो सदस्य सभा स्वयं अपने में सम्मिलित कर सकेगी। नियत सदस्य ये हैं—(१) श्री० मोतीराम (मन्त्री), (२) मा० गुरुदित्तामलजी वकील (लायलपुर), (३) गुरुकुल मुलतान के सहायक (मुख्याधिष्ठाता)।

ऋतु—आजकल ऋतु सुहावनी है। सारा दिन वायु चलने से गर्मी अधिक प्रतीत नहीं होती। आसपास वर्षा होने से वायु में शीतलता भी है। रात के अन्तिम पहर में कुछ ठण्ड भी प्रतीत होती है। विद्यार्थियों का स्वास्थ्य अच्छा है।

विद्यालय—ग्रीष्मावकाश के कारण विद्यालय १७ अगस्त तक बन्द था। इन दिनों में विद्यार्थी अपनी शारीरिक उन्नति करने में लगे हुए थे। विद्यार्थियों के लिए कुश्ती का भी प्रबन्ध किया गया था। इसमें छोटे-छोटे विद्यार्थियों ने भी उत्साह से भाग लिया। १८ अगस्त से विद्यालय खुल गया है।

आत्मदेव विद्यालंकार
सहायक मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल मुलतान।

—

साहित्य-समालोचन

'भारतीय समाज-शास्त्र'—लेखक, पं० धर्मदेवजी, विद्यावाचस्पति (बैंगलोर); प्रकाशक, आर्य-साहित्य-मण्डल, अजमेर; पृष्ठ-संख्या २५० ; मूल्य १)

यह पुस्तक ८ अध्यायों में समाप्त होती है। विद्वान् लेखक ने बड़ी योग्यता से समाज-शास्त्र (Sociology) के सिद्धान्तों को भारतीय अवस्थाओं में प्रतिपादित किया है। आजकल न केवल भारत किन्तु समस्त संसार किसी शान्ति-दायक सामाजिक व्यवस्था को ढूँढ रहा है। भारत की वर्तमान अवस्था तो इतनी डावाँडोल है कि इसकी सामाजिकता, कल किस रूप को धारण कर लेगी, यह भविष्यवाणी करना कठिन-सा है। अतः ऐसे समय में, जबकि समष्टिवाद (Socialism) के नाना-रूप भारतीय दिमाग़ों में भी घूमने लगे हों, ऐसी पुस्तकें बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। भारत अपनी सामाजिक अवस्था का हल भारतीयता के आधार पर ही कर सकता है; परन्तु ख़तरा यह है कि विदेशी विचारों की लहर—विशेषतया पाश्चात्य समष्टिवाद की अन्धी नक़ल—किसी अभारतीय सामाजिक व्यवस्था के गढ़े में हमें न डाल दे। अतः पं० धर्मदेवजी ने पश्चिम के स्पेंसर आदि बड़े-बड़े विद्वानों तथा पूर्व के वेद, शास्त्र, स्मृति आदि के प्रमाणों से अपने कथनों को पुष्ट करते हुए जिन विचारों का प्रकाश किया है, उन्हें इस समय ख़ूब फैलाने की आवश्यकता है। पं० धर्मदेवजी ने भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था का ठीक-ठीक रूप पाठकों के सामने रखा है। उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था, भारतीय सभ्यता, स्त्रियों की स्थिति, सामाजिक विकासवाद, साम्यवाद आदि विषयों पर तुलनात्मक विवेचन किया है। इन विषयों पर विचार करनेवालों को इस पुस्तक का अध्ययन अवश्य लाभदायक होगा।

पं० धर्मदेवजी, (सिद्धान्तालंकार), विद्यावाचस्पति गुरुकुल काँगड़ी के एक बड़े सुयोग्य स्नातक हैं। यह 'भारतीय समाज-शास्त्र' पुस्तक उनका वह परिवर्धित किया हुआ और अतएव अधिक उपयोगी हुआ हुआ निबन्ध है, जिस पर कि उनको गुरुकुल विश्व-विद्यालय ने विद्यावाचस्पति (Doctorate) की उपाधि दी है। 'अभय'

—

'हिन्दी-विलास की कुंजी'—टीकाकार, कविराज रामलाल अग्रवाल; प्रकाशक, मूरी ब्रदर्स, बुकसेलर्स एण्ड पब्लिशर्स, मोरी गेट, लाहौर; मूल्य १॥)

'हिन्दी-विलास'-नामक पद्य-संग्रह पंजाब-युनिवर्सिटी की हिन्दी-रत्न-परीक्षा के पाठ्यक्रम में नियत है। उसी पुस्तक की यह कुञ्जी बड़ी योग्यता से तैयार की गयी है। अग्रवालजी वर्षों से हिन्दी-अध्यापन का कार्य कर रहे हैं और विद्यार्थियों की कठिनाइयों को भली-भाँति समझते हैं। अतः हम समझते हैं कि यह 'कुञ्जी' विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें प्रत्येक पद्य का उद्धरण देकर शब्दार्थ और सरलार्थ दिया गया है। स्थान स्थान पर अर्थ स्पष्ट करने के लिए पौराणिक गाथाएँ भी दी गयी हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर मूल-पुस्तक का पृष्ठाङ्क भी दिया गया है। छपाई, सफ़ाई अच्छी है। पुस्तकें प्रकाशक से प्राप्त हो सकती है।

—

'केसरी का तिलकाङ्क'—संपादक, जनार्दन सखाराम करन्दीकर ; वार्षिक मूल्य ३) ; इस अंक का ॥)

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की पुण्यस्मृति के उपलक्ष्य में पूना के 'केसरी' ने 'व्यापारो व औद्योगिक महाराष्ट्र' नाम का तिलकाङ्क प्रकाशित किया है। २०×३० हाफ़ साइज़ के ११४ पृष्ठों के साथ लोकमान्य तिलक का एक सुन्दर चित्र भी प्रकाशित किया गया है। इस समय तक महाराष्ट्र में जो भी व्यावसायिक व व्यापारिक उन्नति हुई है, उसका विस्तृत सचित्र विवरण इसमें संगृहीत किया गया है।

भारतीय राष्ट्र की आर्थिक तथा व्यापारिक स्थिति को उन्नत करने के लिए इस प्रकार के विशेषाङ्कों की कितनी उपयोगिता है, यह किसी से छिपा नहीं है। सरकार की ओर से भारतीय व्यवसायों तथा व्यापार की जानकारी प्रकाशित की जाती है। यह जानकारी भारतीय राष्ट्र की दृष्टि से नहीं संगृहीत की जाती। इसका प्रेरक-भाव ब्रिटिश व्यापार को उन्नत करना होता है। 'केसरी' के संचालकों ने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से महाराष्ट्र प्रान्त की व्यापार तथा व्यवसाय की उन्नति का सिंहावलोकन कर अन्य प्रान्तों के सामने अनुकरणीय उदाहरण रखा है। यदि भिन्न-भिन्न प्रान्तों के मुख्य समाचार-पत्र इसी प्रकार प्रान्तीय व्यापारिक तथा व्यावसायिक प्रगति दिखानेवाले विशेषाङ्क निकालें, तो जनता को आर्थिक उन्नति करने का उत्तम अवसर मिल सकता है। प्रस्तुत विशेषाङ्क विद्वत्ता, उपयोगिता तथा मौलिकता की दृष्टि से स्थिर-साहित्य में स्थान पाने योग्य है। इस विशेषाङ्क के प्रकाशित करने पर हम 'केसरी' के संचालकों को बधाई देते हैं। 'पारखी'

सन्तों का बाना

जगत् ही जो ठहरा; लोग चट से कह गुज़रते हैं कि तलवार से तो तलवार लेकर ही लड़ा जा सकता है। उस के बिना काम नहीं चलता। किंतु यह उनकी वाणी है, जिनके पास तलवार नहीं है। कितनी ही बार जो वस्तु हमारे पास नहीं होती, हम उसका बाज़ारदर बढ़ा दिया करते हैं। हमारी दशा भी वैसी ही है। हमारे मन में तलवार क्यों है? इस लिए कि वह हमारे म्यान में नहीं है। यदि म्यान में तलवार होती तो मन में उसके लिए मोह क्यों होनेवाला था?

मोह न हुआ होता, और वह इसलिए, कि सच्ची बात हमारी समझ में आ गई होती। यदि हमारे तलवार-बहादुर पूर्वज हमारे मुँह से यह सुन लेते, कि तलवार-से-तलवार लेकर लड़ा जा सकता है, तो उनकी हँसी समेटे न सिमटती। इसलिए कि उन्हें लड़ाई का अनुभव था। उन्हें मालूम था कि लड़ा 'ऐसे' जाता है। उन्होंने हमें स्वाभाविक समझा दिया होता कि 'बाबा, तलवार से ढाल लेकर लड़ा जाता है।' जिस समय लोग 'त' कहते तलवार समझने जाते थे, उस समय लोगों को लड़ने की यह कला मालूम थी। अब तो हम 'त' कहते 'तन्दुल-मठ्ठा' समझते हैं, तब हमारे गले में यह बात कैसे उतरे?

हम कहते हैं, जैसे को तैसा होना चाहिए। मगर हम बिना मतलब समझा ही कहाँ करते हैं? जैसे को तैसे का अर्थ तो इतना ही है कि जितनी पैनी हमारे दुश्मन की तलवार हो उतनी ही सख्त हमारी ढाल हो। तब तलवार-से-तलवार लेकर लड़ने की बात को, जैसे को तैसा कहें, तो यह क्या हमारी मन्दबुद्धि का काम नहीं है? तलवार से तो ढाल ही लेकर लड़ा जा सकता है, पर ढाल के सहन करने की शक्ति तलवार की प्रहारक शक्ति से हार खाने-वाली नहीं होनी चाहिए। शत्रु के प्रश्नों में यदि पाँच सेर क्रोध के अगारे भरे हों, तो हमारे पास भी पाँच सेर से कम प्रेम का पानी न होना चाहिये। शिक्षक अपने बालकों के अज्ञान से लड़ता है। यदि वह जैसे को तैसे का मनमाना तत्व ज्ञान ग्रहण करले, और बच्चों से कहने लगे कि "तुम्हारी समझ में इतनी भी ज़रा-सी बात नहीं आती, तो मेरी समझ में क्यों आनी चाहिए? और यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं देते, तो मैं फिर तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर क्यों दूँ? तुम अगर अज्ञान का बोझ ढो रहे हो, तो मैं ही अकेला ज्ञान का बोझा क्यों ढोऊँ?" तो इसका उत्तर यही है कि बच्चे अज्ञान का बोझ ढो रहे हैं इसीलिए तुम्हें ज्ञान का बोझ ढोने की खास आवश्यकता है। अज्ञान से ज्ञान लेकर ही लड़ा जा सकता है। जैसे को तैसा का अर्थ यहाँ केवल इतना

ही है, कि तोड़ से जोड़ मिलनी चाहिए। हमारे सामने के आदमी का अज्ञान जितना गहरा हो हमारा ज्ञान भी उतना ही गम्भीर होना चाहिए। यही कारण है कि ज्ञान की माप पर जीनेवाले देशों में अज्ञानी-से अज्ञानी बालकों की श्रेणी को पढ़ाने के लिए उच्च-से-उच्च ज्ञानवाले शिक्षक रखे जाते हैं। पुराण-काल के युद्धों में भी तो एक बात सुनी जाती है। यदि एक मेघ के अस्त्र फेंकता था, तो दूसरा उसके बदले मेघ के अस्त्र नहीं फेंकता था, वह तो वायु के अस्त्र फेंकता था। बादलों की चढ़ाई में बादल ही भेजे कि बादलों पर बादल का वर्ग हुआ, और गहरा अन्धकार, और वायु भेजी कि एक-एक करके बादल तितर-बितर। अज्ञान के मस्तक पर अज्ञान के ही कीलें ठोंकने से फ़ायदा? अज्ञान को तो ज्ञान से दूर करना चाहिए।

जिसे व्यवहार की थोड़ी-सी भी जानकारी है, उसे इस बात के समझने में कुछ भी अड़चन नहीं पड़नी चाहिए। अंगारे बुझाने हों तो पानी डालना चाहिये। अन्धेरा हटाना हो तो दिया जलाना चाहिए। यह वैध विरोध किसकी समझ में नहीं आता? और यदि ये बातें समझ में आती हैं, तो संतों की यह वाणी क्यों समझ में नहीं आती, कि क्रोध को प्रेम से जीतना चाहिए; बुराई को भलाई से जीतना चाहिए; कंजूसपने को दरियादिली से जीतना चाहिए; खोटे को खरेपन से जीतना चाहिए? ये सब भी व्यवहार की बातें हैं। हमारी समझ में तो सब आवें, जब हम विचार करें। हम अपने ही मन में अगर खोज करें, तो हमें सब बातों का पता चल जाय।

'हरिजनसेवक'] श्री विनोबाजी

—

मक्खन निकला दूध

जिस प्रकार मक्खन निकले दूध से बच्चे की परवरिश नहीं हो सकती, उसी प्रकार उस व्हाइट-पेपर से देश को कोई फ़ायदा नहीं हो सकता, जिसमें मक्खन की तरह अर्थ, और सेना सम्बन्धी अधिकारों को निकाल दिया गया है। आप यह भी स्मरण रखें कि व्हाइटपेपर आपकी कुर्बानियों का फल नहीं, बल्कि बड़ी-बड़ी गोलमेज़ कानफ़रेन्स का परिणाम है। जिस तरह बिना अधिक पैसे दिये असली दूध नहीं मिलता, उसी प्रकार बिना कुर्बानियों के स्वराज्य नहीं मिल सकता। अब आपको लफ़्ज़ी मायनों में नहीं, बल्कि हक़ीक़ी मायनों में कुर्बानियां देनी होंगी।

राजगोपालाचार्य

—

चाण्डाल ब्राह्मण से श्रेष्ठ

असेम्बली में अभी रायबहादुर एम० सी० राजा का जो अस्पृश्यता-निवारण बिल विचाराधीन है, उस सम्बन्ध में पञ्जाब ब्राह्मण समाज के मन्त्री ने पञ्जाब सरकार के होम मेम्बर के पास जो पत्र लिखा है, उसमें बताया है कि हरिजनों के साथ वर्तमान समय में कैसा अन्यायपूर्ण व्यवहार होता है और किस प्रकार उन्हें मनुष्योचित अधिकारों से भी वंचित रखा गया है। इन असुविधाओं और अन्यायों को दूर करने के लिये उपर्युक्त बिल को आवश्यक बताते हुए सरकार से इस को पास कराने में सहायता देने का अनुरोध किया है। इसी पत्र में आप लिखते हैं—हिन्दू-शास्त्रों में कहा गया है कि अध्यात्म-विद्या का जानने वाला चांडाल भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, किन्तु जनसाधारण शास्त्र-वचनों के अनुसार कार्य नहीं करते। जो प्रथा प्रचलित है

उसी का वे आँख मूँद कर अनुसरण करते हैं, चाहे वह तर्क से कैसी ही शून्य क्यों न हों! परन्तु यह प्रथा बिना सरकारी सहायता के मिट नहीं सकती है। जब तक व्यवस्थापिका सभा की स्वीकृति नहीं मिलेगी, तब तक सार्वजनिक प्रयत्नों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। ['विश्वमित्र'

१६० वर्ष का वृद्ध पितामह

झारो आग़ा नाम के वृद्ध सज्जन का इस्तंबूल (तुर्किस्तान) में १६० वर्ष की आयु में देहान्त हुआ है। यह व्यक्ति संसार में सबसे बड़ी आयु का वृद्ध व्यक्ति था। मृत्यु के समय इसकी ८८ साल की लड़की और उसकी ११वीं स्त्री मृत्यु-शय्या के पास थीं। १४२ वर्ष पहिले नैपोलियन के विरोध में सीरिया में सिपाही की हैसियत से लड़ा था।

इसने १९३० ई० में लंडन में एक पत्र-सम्पाददाता को अपनी दीर्घ आयु के निम्नलिखित कारण बताये थे—

मैं कभी मद्यपान और धूम्रपान नहीं करता। इन दिनों मेरे दाँत नहीं हैं। इसलिए मैं शाकाहार ही करता हूँ। लम्बी आयु के लिये मैंने विशेष यत्न नहीं किया। खुली हवा में खेती का धंधा करता रहा हूँ। दूध, भाजी काफ़ी तादाद में खाता हूँ। हर रोज़ तीन बार भोजन करता हूँ। तुर्किस्तान में सबसे बड़ी आयु का होने से मुझे सरकार ने सब जगह मुफ़्त यात्रा करने की आज्ञा दी हुई है। मैंने १२ सुलतानों का शासन काल देखा है। मैं हर रोज़ ९, १० घण्टे की नींद सोता हूँ। १४२ वर्ष पूर्व मैंने अँगरेज़ सिपाही को रशिया में नैपोलियन के विरुद्ध लड़ते देखा था।

१०० वर्ष पहले मैं टर्की की ओर से क्रिमियन युद्ध में सिपाही बन कर लड़ा था। मुझे आज तक उसकी पैन्शन मिलती है। ['केसरी'

प्रकृति के चमत्कार

अभी हाल में श्रीमती विपट्रिस हिचिन्स नाम की स्त्री के बर्किंघम में एक साथ चार पुत्र हुए हैं। बर्किंघम शहर के नागरिकों ने उसके बेकार पति को नौकरी दी है। बौगोटा स्थान में भी एक स्त्री के एक साथ सात पुत्र हुए हैं। अर्जेण्टाइन की सरकार ने उसे विशेष इनाम दिया है। शिकागो की एक महिला के इन्हीं दिनों एकदम एक साथ ८ पुत्र हुए हैं। इन घटनाओं से गांधारी के १०० पुत्रों की बात भी निरी कल्पना प्रतीत नहीं होती। ['केसरी'

फटे ढोल की आवाज़

कांग्रेस ने ऐसेम्बली के चुनाव के दलदल में फँस कर जो अक़्लमन्दी की है, उसका प्रमाण दिन-पर-दिन मिलता जाता है। अपने प्रिय-से-प्रिय सिद्धान्तों की हत्या करके पहले तो उसे साम्प्रदायिक बँटवारे के विषय में गोलमटोल प्रस्ताव पास करना पड़ा, जिसका दुष्परिणाम आगे चलकर सारे देश को मानना पड़ेगा और अब चुनाव के क्षेत्र में ऐसे विचित्र तर्कों का उपयोग किया जा रहा है, जिन्हें पढ़ कर हँसी आती है और ये तर्क ऐसे प्रतिष्ठित महानुभावों द्वारा प्रयुक्त होते हैं, जिनकी मानसिक स्वस्थता पर अभी तक किसी को सन्देह नहीं हो सकता था। और-तो-और श्री राजगोपालाचारी ने भी अपने भाषण में कहा है :—

"सम्भवतः अगस्त में महात्माजी जेल जायँ। जो लोग उन्हें छुड़ाना चाहते हैं, उनका फ़र्ज़ है कि वे कांग्रेस के उम्मीदवारों को अपना वोट दें।"

इससे सिद्ध होता है कि मानो राजगोपालाचार्य जी जान-बूझकर सत्य के साथ कंजूसी कर रहे हैं, और उनका मस्तिष्क अपनी स्वस्थ-दशा को खो बैठा है। ['विशाल भारत'

भिखमँगा

सांझ सवेरे कितने फेरे लगा लगा कर तेरे द्वार ।
मांगा करता हूं मैं प्रतिदिन तेरा दर्शन—तेरा प्यार ॥१॥
भिखमंगे के दो प्याले हैं व्याकुल ये मेरे लोचन ।
इन प्यालों में भर दे दर्शन की छवि हे दुखमोचन ॥२॥
प्रेम-सलिल तू इतना भर दे, प्यालों से बाहर छलके ।
उसे बन्द रखने को भीतर व्यग्र हो उठें ये पलकें ॥३॥
इसी भीख में मेरे कितने लम्बे दिन हैं गुज़र चुके ।
पर हा ! कुछ देने को अब तक हाथ कभी तेरे न झुके ॥४॥
भिखमंगे से कोई बोले मीठा, या देवे गाली ।
पर न कभी हटती देखी है उसकी भिक्षा की थाली ॥५॥
भर दे इन में मीठा अमृत अथवा हालाहल डाले ।
'उन्मुख' बनी रहेंगी अँखियां, नहीं हटेंगे ये प्याले ॥६॥

'दो कुलबन्धु'

नन्हीं-सी बहिया

बहियों में अभिलाषा की
बहत जात है मोर मन,
जैसे तिनके पत्ते हैं
उमगित सरिता धारा संग ।
उमगित सरिता धारा संग
यों ही बहत है सतत मन,
अभिलाषा का अन्त न पावै
नई लालसा को अपनावै ।
नई लालसा को अपनावै
मृदुल शान्ति खोजत फिरै,

इच्छा पूरन जब लगि चहै
निकट वासना सागर दीसै ।
निकट वासना सागर दीसै
उमगि रही तजि कूल इतै,
बहिया संग बहत मोर मन
हिलोरे लेत ज्यों अनन्त ।
हिलोरे लेत ज्यों अनन्त
वासना ग्राह तहां सतावै नित,
फिरि याद आई है नन्हीं सी बहिया
काहे न गही सुभ कूल तब ?

'द्विरेफ' विद्यालङ्कार

बम का रास्ता—

गत मास हमने और सब दुनिया ने आश्चर्य से सुना कि पूना में महात्मा गांधी पर बम फेंका गया है। हमारे लिए यह कल्पना करना कठिन था कि कभी किसी को गांधी-जैसे शारीरिक तौर पर दुबले और सर्वथा निष्प्रतिक्रिय व्यक्ति पर बम फेंकने की आवश्यकता हो सकती है, पर वह हुई; तो इससे बढ़कर कायरता का उदाहरण और क्या हो सकता है, पागलपन का उदाहरण और क्या हो सकता है? सचमुच मनुष्य जब अन्दर से कायर होता है और साथ ही क्रोध से पागल होता है, तभी वह ऐसे नीच हथियारों पर उतरता है। हम लोग भी बहुत बार किन्हीं बुराइयों से तंग आकर उसको दूर करने के लिए हिंसा के मार्ग को पकड़ना ही ठीक समझने लगते हैं। पर यह दुर्घटना हमारे लिए आँखें खोलनेवाली होनी चाहिए। क्योंकि हमें अछूतोद्धार करना बुरा लगता है, इसलिए ऐसा करनेवाले को—और महात्मा गांधी को—बम से मार डालना चाहिए; यदि यही बात है, तो हमें कब किसको किस बात पर नहीं मार डालना चाहिए? इस पर हम गम्भीरता पूर्वक विचार करेंगे, तो हमें बम के रास्ते की मौलिक बुराई समझ में आ जावेगी। तब हमें अनुभव होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) ने अहिंसा की नीति को स्वीकार करके कितनी बुद्धिमत्ता की है, कितना उचित रास्ता पकड़ा है। महात्मा गांधी ने अभी कहा है—"जब मैं १९१५ में भारतवर्ष में वापिस आया था, तो मैंने भविष्यद्वाणी की थी कि यदि इस भारत-भूमि मे एक बार बम ने अपना स्थान पा लिया—वह चाहे किसी भी प्रयोजन के लिए हो—तो यह बम उसी प्रयोजन के लिए सीमित न रहेगा। मेरा कथन एक नहीं, कई बार सच्चा साबित हो चुका है। मैं चाहता हूँ कि इस सत्य को मैं इस अवसर पर फिर लोगों के हृदयङ्गत करा सकूँ।" हम जब लोगों की हिंसा-वृत्ति को जगाते हैं, नौजवानों को बम के रास्ते चलने को उत्साहित करते हैं, तो यह समझना मूर्खता है कि उनकी जागी हुई यह वृत्ति जिन्हें हम चाहते हैं, उन्हीं के विरुद्ध इस्तेमाल होगी, किन्हीं अन्यों या अपने ही विरुद्ध न होगी। यह रास्ता ही विनाशकारी है—यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

इसलिए जब तक कि अहिंसा सच्ची अहिंसा है, कायरता को छिपाने के लिए की गयी अहिंसा नहीं है, तब तक अहिंसा से बढ़कर श्रेष्ठ शीघ्रकारी और श्रेयस्कर रास्ता और कोई नहीं है।

—

इसे कैसे रोकें—

पर प्रश्न यह है कि बम के रास्ते को रोका कैसे जाय? जिस दिन पूना में महात्मा गांधी पर बम फेंका गया है, उसी दिन और शायद उसी समय कानपुर में भी नाचते हुए अँगरेज़ों पर भी बम

फेंका गया था। गांधी को बम मारनेवाला जैसे निन्दनीय है, वैसे ही अँगरेज़ों पर बम फेंकनेवाला भी निन्दनीय है। पर इन दोनों को जो प्रत्युत्तर दिया गया है, वह भिन्न-भिन्न है। बम फेंकनेवाले को जो जवाब अँगरेज़ लोग या अँगरेज़-सरकार देती है, उसे हम सब देख रहे हैं। पर गांधी ने जो जवाब दिया है वह यह है—"उस अज्ञात बम फेंकनेवाले के प्रति मेरे हृदय मे गहरी हमदर्दी, दया के सिवाय और कोई भाव नहीं है और निःसन्देह यदि मेरी चले और उस बम फेंकनेवाले का पता लग जाय, तो मैं उसे छोड़ दिये जाने की ही माँग पेश करूगा।" दूसरी तरफ़ उनकी ओर का आदमी पं० लालनाथजी को मार देता है, तो गांधीजी इस बुढ़ापे में और इतने परिश्रम के बाद सात दिन का उपवास कर रहे हैं। पर असल में यही तरीक़ा बम के रास्ते को रोकने का है। बम चलानेवाले को मुक़ाबले के बम चलाकर नहीं रोका जा सकता।

"नहि वैरेण वैराणि प्रशाम्यन्ति कदाचन"

तो भी अँगरेज़ी-सरकार यही करने का विफल-प्रयत्न कर रही है। बगाल में मुट्ठी-भर बम फेंकनेवालों पर ही नहीं; किन्तु वहां की समस्त जनता पर सरकार जितना दमन कर रही है, उतना ही वहां असन्तोष, अराजकता और सरकार के प्रति हिंसा-वृत्ति बढ़ती जा रही है। क्या सरकार भी गांधीजी पर बम फेंके जाने की इस दुर्घटना से कुछ शिक्षा लेवेगी? बम केवल सरकारी अफ़सरों पर ही नहीं फेंके जाते, किन्तु गांधी-जैसे सेवकों पर भी फेंके जाते हैं, यह देखेगी और इसलिए अब और प्रकार से—ठीक प्रकार से—बम फेंकनेवालों का इलाज करना सोचेगी? नहीं, सरकार को हम कुछ नहीं कह सकते। उस परम तपस्वी सच्चे महात्मा ने इस ७० वर्ष के बुढ़ापे तक पग-पग पर अपनी अथाह सहनशीलता का परिचय देते हुए और अपने पर किये गये प्रत्येक प्रहार का सदा प्रेममय ही प्रत्युत्तर देते हुए जो हर मौक़े पर सरकार के हृदय को हिलाने की चेष्टा की है, उसे ही यदि सरकार ने अभी तक नहीं अनुभव किया है, तो हम सरकार को क्या कह सकते हैं?

सरकार को कुछ कहने के हम अधिकारी नहीं हैं, अतः हम तो अपने हो भाइयों को कहना चाहते हैं कि आइए, इस घटना मे अपनी प्रेम की शिक्षा फिर दुहराइए; आइए, इस प्रेम की विकट लड़ाई में उस प्रेमावतार नायक के नीचे सच्चे सैनिक बनिए और प्रेम की उस महान् शक्ति को प्रकट कीजिए, जिससे कि निःसन्देह पत्थर हृदय भी पिघल जाते हैं और जिससे कि एक दिन हमने अँगरेज़ी-सरकार की हिंसा-वृत्ति पर भी अवश्य विजय प्राप्त करनी है।

—

महात्माजी का अनशन—

फिर एक बार वह अध्यात्म-शक्ति का देवता अपने दुर्बल, वृद्ध और थके शरीर द्वारा हमारे लिए अनशन कर रहा है। क्या हम उसकी इस वाणी को सुनेंगे? तो अब हमें उससे खिलवाड़ करना छोड़ देना चाहिए। वह फिर एक बार अपनी उग्र तपस्या की गम्भीर वाणी से हमें सुना रहा है कि अहिंसा व प्रेम ही जीवन का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त है। अब हम इसे सुन लें, पक्की तरह सुन लें। आगे से हम उसके अनुयायी कहलाते हुए कभी अपनी वाणी, मन, कर्म-द्वारा हिंसा न कर सकें, ऐसी दृढ़ संकल्प कर लेने की आत्म-स्फुरणा को प्राप्त कर लें। वह जब सत्य और प्रेम के लिए कहता है, तो उसका मतलब सचमुच ठीक-ठीक सत्य और प्रेम ही होता है, यह जान

लें। हम उसे छोड़ना चाहें, तो बेशक छोड़ दें; पर यदि उससे सम्बन्ध रखना हो, तो उसके साथ उसके लायक़ ही बर्ताव करें। परमेश्वर उस तपस्वी के इस उपवास-व्रत को सफल करें और हमें उसका सच्चा अनुयायी बनने का बल प्रदान करें।

—

पं० मालवीयजी और अणे का त्यागपत्र—

राष्ट्रीय महासभा की कार्य समिति ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में अन्ततः पूज्य मालवीयजी तथा अणे की मांगों को पूर्ण नहीं किया, अतः उक्त दोनों महानुभावों को पार्लियामेण्टरी बोर्ड से त्याग-पत्र ही देना पड़ा है। कार्यकारिणी ने यह उचित किया है या नहीं इस पर हम न तो अपने को सम्मति देने के अधिकारी समझते हैं और न इसकी कुछ आवश्यकता समझते हैं। क्योंकि न तो हमें अन्दर की बातों का पूरा ज्ञान है और न हम इस जानकारी में पड़ना ही चाहते हैं। परन्तु यह घटना बहुत दुःखप्रद है और देश के लिए भी घातक है, इसमें कोई शक़ नहीं। अतः हम तो राष्ट्र-सभा के नेताओं से अपील करना चाहते हैं कि वे इस अवस्था को शीघ्र दूर करें। वे ही जानते हैं कि समझौता होने में कहां अटकाव रहा है, अतः वे ही उसे फिर ठीक कर सकते हैं। पं० मालवीयजी पूरे देशभक्त हैं और सदा समझौते के लिए तैयार रहनेवाले हैं, तो भी पार्लियामेण्टरी बोर्ड उनसे किसी समझौते पर न पहुँच सका, यह आश्चर्य की बात है। 'ह्वाइट पेपर' और साम्प्रदायिक निर्णय दोनों को ही पार्लियामेण्टरी बोर्डवाले और पं० मालवीयजी अच्छा नहीं समझते। फिर भेद तो केवल मात्रा का है। हम चाहते हैं कि यह मतभेद अब भी किसी तरह दूर हो सके। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, पर यह दृश्य बड़ा दुःखप्रद और असह्य होगा कि राष्ट्र-सभा (कांग्रेस) के प्रतिनिधि और पं० मालवीयजी के नेशनलिस्ट दल के प्रतिनिधि एक दूसरे के मुक़ाबिले में खड़े होवें और राष्ट्रीय लोगों की जगहँसाई होवे। हम राष्ट्रीय शिक्षावालों को या रचनात्मक कार्य-कर्ताओं को धारासभाओं में जाने के कार्यक्रम में ही कुछ भी उत्साह नहीं है, तो भी जब राष्ट्र-सभा ने ऐसा निर्णय किया है, तो यह कार्य ठीक प्रकार से ही होना चाहिए। अतः हम आशा लगाए हुए हैं कि अब भी पं० मालवीयजी तथा पार्लि-मेण्टरी बोर्ड के मेल के यत्न जारी होंगे और ये कुछ शुभ परिणाम उपस्थित करेंगे।

—

श्रद्धानन्द दल की प्रतिज्ञाएँ—

अध्यात्म-सुधा में पाठक इस बार महात्मा गांधीजी का वह धार्मिक प्रवचन (उपदेश) पढ़ेंगे, जो कि उन्होंने लाहौर में १९ जुलाई को अपनी प्रातः प्रार्थना में उपस्थित हुई जनता को दिया था। इसमें गांधीजी ने जिन तीन धार्मिक-पवित्र कर्तव्यों की तरफ़ नर-नारियों का ध्यान खींचा है, वे ही तीन श्रद्धानन्द-दल के व्रत हैं। इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं। यद्यपि गांधीजी को अभी श्रद्धानन्द-दल का शायद नाम भी मालूम नहीं है और उसके तीन व्रतों का तो उन्हें पता है ही नहीं, तो भी उन्होंने इस उपदेश में एक तरह से श्रद्धा-नन्द-दल का ही प्रचार किया है। इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि धार्मिक दृष्टि से देखनेवाले सभी लोग जुदा-जुदा सोचकर भी समान अवस्थाओं में रहनेवाले होने के कारण एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं। गांधीजी ने कहा कि प्रार्थना उपासना को सदा जारी रखो, श्रद्धानन्द-दल का पहला व्रत है कि "मैं संध्या और स्वाध्याय

नित्य करूँगा।" फिर गांधीजी ने उपासक की पहली पहिचान बतायी कि वह सब के साथ भ्रातृ-भाव रखेगा और वर्तमान काल में हरिजनों को अपनाकर वह इस भाव को क्रिया में परिणत करेगा। श्रद्धानंद-दल का दूसरा व्रत इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कहता है कि "मैं जन्म-मूलक जात-पात को नहीं मानूंगा, विवाह जात-पात तोड़ कर करूँगा।" इसी तरह अगली बात गान्धीजी ने ग़रीबों की सेवा की कही और खादी पहिनने की तरफ़ जनता का ध्यान खींचा। श्रद्धानन्द-दल का भी तीसरा धार्मिक व्रत "नियमितरूप से खादी पहिनने" का है। वास्तव में ये तीन बातें वर्तमान काल में भक्त, उपासक, सच्चे धार्मिक पुरुष की पहिचान हैं। गांधीजी ने सच कहा है अगर आप इन बातों को करेंगे, तो मैं निःसङ्कोच कह सकता हूं कि आप परमेश्वर के नज़दीक पहुँच रहे होंगे, बशर्ते कि आप इन्हें दिखावे व इश्तहार के लिये न करें, किन्तु सेवा-भाव और कर्तव्य भाव से करें।" क्या पाठक आज से ही रुचाई के साथ इन तीन पवित्र व्रतों को ग्रहण करेंगे ? । मैं तो पूछूँगा, क्या श्रद्धानन्द-दल को अपनावेंगे ?

—

'अलंकार' का मुखपृष्ठ—

'अलंकार' का मुखपृष्ठ किन्हीं को पसन्द आया है, किन्हीं को नहीं पसन्द आया। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'। किसी ने संपादक के तौर पर 'देवशर्म्मा' नाम जिस पर लिखा है, ऐसे पत्र के लिये इसे अशोभायमान बताया है, तो किसी ने कई-कई पृष्ठ भरकर इसकी एक-एक बात की तारीफ़ में लंबी चिट्ठी लिख कर भेजी है। अस्तु, हमें तो दोनों की बातें ठीक लगती हैं और दोनों की बातें ठीक नहीं भी लगतीं। तो भी हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि 'अलंकार' का ऐसा मुखपृष्ठ किन भावों को लेकर बनाया गया है।

संसार का सबसे पहिला और सबसे उज्ज्वल प्राकृतिक अलंकार आदित्य है। यह दिव्य (केतु) झंडा है। वेद में जगह-जगह सूर्य को सच्चा प्रकाशमान झंडा कहा है। क्योंकि परमेश्वर की स्वयंप्रकाश सामर्थ्य को प्रकाशित करनेवाला यही सर्वश्रेष्ठ प्राकृतिक प्रतीक है। अतः हमने इसमें ॐकार को भी दिखलाया है। हमारे एक मित्र को इसे देखते ही 'यो सा वादित्ये पुरुषः सोसावहं' का स्मरण आ गया था। एवं हमने विस्तृत नील आकाश में शोभायमान—अलंकृत हुए—इस विशाल दिव्य केतु को दिखाया है। नील आकाश अनन्तता को स्मरण दिलानेवाला है। और हमारे स्नातकों के चोले का रंग भी यही है; शायद यह भी इसीलिए है।

इस अति विशाल दिव्य पताका के नीचे पृथिवी पर राष्ट्रीय पताका शोभायमान दिखलाई गई है। हमारे लिए इस पृथिवी पर इस राष्ट्रीय पताका से बढ़कर और कोई अलंकार नहीं है, विशेषतः हम राष्ट्रीय शिक्षणालयवालों के लिए। पृथिवी के एक सर्वोच्च दृढ़ शिखर (हिमालय) पर भारत की राष्ट्रीय पताका संसार के लिये फहरा रही है और उसकी उपासना, सेवा और रक्षा हिमालय की झोपड़ी में रहनेवाला एक महातपस्वी सतत भाव से कर रहा है, यह चित्रण हम में से किसकी भावना को ऊँचा, दृढ़ और पवित्र नहीं कर सकता है। इसी तरह इस मुख पृष्ठ में फिर नदी, झील, वन, पर्वत आदि के दृश्य बना कर संसार के इन प्राकृतिक सुखदायी अलंकारों की तरफ़ भी लोगों का ध्यान खींचा गया है। हम और हमारा देश सच्चे प्राकृतिक और पवित्र अलंकारों से सजे तथा

संसार को सजावे, यहाँ तो इस हमारे मासिक-पत्र 'अलंकार' का ध्येय है।

—

गुरुकुल कांगड़ी से मुझे क्यों जुदा होना पड़ा—

बहुत जगह लोग मुझसे पूछते हैं कि मैंने गुरुकुल का आचार्यत्व क्यों छोड़ दिया? इसकी सार्वजनिक रूप से कुछ भी चर्चा करने की आवश्यकता मुझे अभी तक प्रतीत नहीं हुई थी। परन्तु मैं देखता हूँ कि प्रायः सब जगह यह समझा जाता है और कहा जाता है कि मेरी 'पालिटिक्स' में अधिक प्रवृत्ति थी, इसलिये मैंने गुरुकुल को छोड़ दिया है। यह बात सत्य नहीं है, मुझे यह स्पष्ट कर देना चाहिये। यह ठीक है कि गुरुकुल की स्वामिनी (अन्तरंग-सभा) सभा के गुरुकुलस्थ प्रतिनिधि अर्थात् श्री मुख्याधिष्ठाता पं० चमूपति जी के साथ (अतएव अन्तरंग-सभा के भी साथ) जहाँ मेरा गुरुकुल की अन्य कुछ मौलिक बातों में मतभेद था, वहाँ जिसे लोग 'पालिटिक्स' कहते हैं, उस में भी मतभेद था। इसी कारण मुझे गुरुकुल के आचार्यत्व से त्यागपत्र देना पड़ा। परन्तु यह सर्वथा असत्य है कि मेरी 'पालिटिक्स' में अधिक रुचि थी, इसलिए मैंने गुरुकुल छोड़ा है। मैंने तो दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में यह निश्चय कर लिया था कि मैं अब अपना सारा जीवन गुरुकुल में लगा दूँगा। परन्तु गुरुकुल-संचालन के विषय में जब मेरे श्री मुख्याधिष्ठाताजी से ऐसे मतभेद हो गये कि मैं अनुभव करने लगा कि अब मेरा गुरुकुल में सेवा करना व्यर्थ हो गया है, तो मैंने त्यागपत्र दे देना ही उचित समझा। और सभा ने उसे तुरन्त स्वीकार करके यह भी सिद्ध कर दिया कि उसे मेरी आवश्यकता नहीं है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कह दूँ (क्योंकि कई अनजान लोगों में यह भ्रम फैल गया है) कि वेद या वैदिकधर्म के किसी सिद्धान्त में मतभेद होना मेरा गुरुकुल से हटने का कारण नहीं हुआ है। असली बात यह है कि मुझमें वेद और परमेश्वर की श्रद्धा बहुत ऊँचे दर्जे की है, इसी लिए मुझे सर्वसम्मति से आचार्य रामदेवजी के बाद आचार्य बनाया गया था और अब जब मैंने त्यागपत्र दिया है, तो इसी लिए सबने बड़े शोक के साथ मेरा यह त्यागपत्र स्वीकार किया है। यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि मेरे गुरुकुल छोड़ने का कारण मेरी वेद व परमेश्वर में श्रद्धा की कमी हो सकती है, इसकी अधिकता तो हो सकती है। अपनी समझ के अनुसार बहुमत ने "मेरे बढ़े हुए राजनैतिक विचारों" के कारण त्यागपत्र स्वीकार किया है, ऐसा कहा जा सकता है। इस पर जो स्पष्टीकरण करने के लिए मुझे यह टिप्पणी लिखना आवश्यक हुआ है, वह यह है कि मुझमें वास्तव में 'पालिटिक्स' की अधिकता नहीं है, मुझमें तो शुद्ध धार्मिक भाव की ही अधिकता है। जो लोग मुझे जानते हैं, वे इस बात को भी जानते हैं, अतः वे यह भी जानते हैं कि मेरे गुरुकुल से जुदा होने का कारण 'पालिटिक्स' की अधिकता नहीं, किन्तु उलटी उस 'पालिटिक्स' की कमी है। वह 'पालिटिक्स' मुझ में होता, तो मैं गुरुकुल में स्थायी हो सकता था। मैं जान-बूझ कर 'पालिटिक्स' शब्द प्रयुक्त कर रहा हूँ। धार्मिक-राजनीति या राजनीतिक धर्म तो प्रत्येक आर्य को अपना-अपना पालन करना ही चाहिए, और गुरुकुल के आचार्य में तो यह धर्म अवश्य उच्चकोटि का होना चाहिए। पर यह बात मैं अन्तरंग सभा के बहुमत को नहीं समझा सका। मैंने देखा कि ये भाई मेरे राष्ट्रहितकारी धार्मिक कार्यों से—यद्यपि वे कार्य सर्वथा अराजनीतिक या 'पालिटिक्स' शून्य थे—भी

बहुत घबराते थे। अस्तु, यहां तो इतना ही कहना है कि यदि श्री मुख्याधिष्ठाताजी से गुरुकुल की मौलिक बातों में मतभेद न होता और सभा के अधिकारी मुझे (शायद अपने निर्मूल भय के कारण या किसी अन्य कारण) छोड़ना न चाहते होते, तो मैं जीवन-भर गुरुकुल की ही सेवा में लगे रहनेवाला था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अब आचार्य न रहकर भी मैं अप्रत्यक्ष रूप में (और बहुत बार प्रत्यक्षरूप में भी) गुरुकुल की सेवा कर रहा हूँ और करूँगा।

—

स्नातक-बन्धुओं के प्रति—

'अलंकार' सब बन्धुओं के पास पहुँचा होगा और पहुँचता रहेगा। लगभग ५०) स्नातकों ने 'अलंकार'का अपना चन्दा भी भेज दिया है, कुछ भेज रहे है। पर मैं चाहता हूँ कि 'अलंकार' का यह तीन रुपया वार्षिक प्रत्येक स्नातकबन्धु—ग़रीब-से-ग़रीब और बेग़रज़-से-बेग़रज़ स्नातकबन्धु—मुझे अवश्य प्रदान करे। प्रो० इन्द्रजी को 'अलंकार' पढ़ने की ही क्या ज़रूरत है, और यदि ज़रूरत हो तो भी वह उन्हें 'अर्जुन' के सम्पादक के नाते मुफ़्त मिल सकता है, तो भी उन्होंने 'अलङ्कार' का तीन रुपया चन्दा दिया है। मैंने (यद्यपि मैं 'अलङ्कार' का अवैतनिक सम्पादक ही हूँ) अपना तीन रुपया चन्दा दाखिल किया है। पं० भीमसेनजी विद्यालङ्कार (सम्पादक और संचालक) भी अपना ३) चन्दा बाक़ायदा देकर ग्राहक बने हैं। पं० दीनदयालुजी (शास्त्री) ने सर्व-प्रथम 'अलङ्कार' का नाम सुनते ही तीन रुपये सौंप दिये, यद्यपि वे आजकल कुछ भी कमाई नहीं करते हैं। इसी तरह गान्धी-सेवाश्रम के पं० जयदेवजी-जैसे कई भिखारी स्नातकों ने भीख माँगकर 'अलङ्कार' का चन्दा दिया है। इस का कारण यह है कि चाहे किन्हीं मान्य प्रो० इन्द्रजी-जैसे स्नातक-बन्धुओं को 'अलङ्कार' की ज़रूरत न हो, तो भी वे समझते हैं कि 'अलङ्कार' को उनकी सहायता की ज़रूरत है। अभी एक मित्र ने मुझे तीन रुपये भेजे हैं। पर साथ ही लिखा है कि उनके पते पर 'अलङ्कार' भेजने की आवश्यकता नहीं, इन रुपयों से मैं किन्हीं सुपात्र तीन भाई या बहिन ग्राहकों को दो-दो रुपये में 'अलङ्कार' भेज दूँ। ऐसी सहायता की भावना की ही आवश्यकता है। मैं तो किन्हीं एक धनी-मित्र से ३००) (अलङ्कार) के लिये पाने की अपेक्षा सौ ग़रीब स्नातकों व मित्रों के तीन तीन रुपये पाना बहुत अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ, बरकत देनेवाला समझता हूँ। इसी लिए मैं न केवल गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों से, किंतु अन्य राष्ट्रीय शिक्षणालयों के भी उन सब स्नातक बन्धुओं व मित्रों से जिन्हें इस 'अलङ्कार' परिवार में जुड़ना प्यारा लगे, प्रार्थना करता हूँ कि वे अपनी ग़रीबी में से तीन रुपयों का पुण्य दान अपने 'अलङ्कार' के लिये अवश्य करें।

—

ग्राहकों की संख्या—

इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक स्नातक भाई को अन्य ग्राहक बनाने चाहिएँ, जैसा कि भाई भीमसेन-जी ने लिखा था कि १०-१० ग्राहक प्रत्येक स्नातक को बनाने चाहिएं। 'अलङ्कार' की आर्थिक जान ग्राहक-संख्या पर ही आश्रित है, जैसे कि अन्य पत्र-पत्रिकाओं की जान इश्तिहारों पर होती है। आप जानते हैं कि 'अलङ्कार' ने जैसे-तैसे इश्तिहारों से आमदनी नहीं करनी है। मेरे एक पत्रिका के संचालक मित्र ने 'अलङ्कार' के प्रकाशित अङ्कों को देखकर बधाई देते हुए लिखा है कि हम पत्रवालों की जान तो इश्तिहार होते हैं, उन्हें ही आपने छोड़ दिया है। वास्तव में हमारे पत्र की यह जान एक-मात्र ग्राहक

संख्या है। हमने प्रारम्भ में ही यह हिसाब लगा लिया था कि जिस तरह ग़रीबी से हम वेतन-भोगी कार्यकर्त्ता के स्थान पर अपने स्वयंसेवक कार्य-कर्त्ताओं को पाकर काम चला रहे हैं, यदि हम उसी तरह चल सकें, तो केवल ६०० ग्राहकों के हो जाने से (बिना इश्तिहारों के) 'अलङ्कार' को आर्थिक घाटे से सुरक्षित रख सकते हैं। तो क्या छः सौ ग्राहक बनाना भी मुश्किल है? मेरी समझ में 'अलङ्कार' जैसा भी निकल रहा है, उसको ६ सौ ग्राहक मिल जाना ज़रा भी कठिन नहीं होना चाहिये। केवल थोड़े-से परिश्रम की आवश्यकता है। बहुत-से ऐसे सज्जन हैं, जिनके पास केवल पहुँचने की ज़रूरत है, मालूम होते ही वे 'अलङ्कार'-जैसे पत्र के ग्राहक बन जावेंगे। इसलिए मैं प्रत्येक स्नातक-बन्धु से, प्रत्येक ग्राहक-बन्धु से प्रार्थना करता हूँ कि वह इस तरफ़ ध्यान देवें। यह अभी प्रारम्भ से ही करने की बात है। जब साल छः महीने बीत जायेंगे, तब यदि यत्न करके नये ग्राहक बनाये भी तो हमारा बहुत-सा परिश्रम व्यर्थ जावेगा। अतः अभी से 'अलंकार' के कम-से-कम ६०० ग्राहक बना लेने चाहिएँ। आशा है 'अलंकार' के बहुत-से पाठक दस दस ग्राहक बनाने का संकल्प करेंगे और अपने संकल्प में सफल होवेंगे। 'अभय'

—

स्वर्गीय लोकमान्य की पुण्य-स्मृति में—

एक अगस्त का दिन भारत के राजनैतिक इतिहास में स्मरणीय दिवस है। इस दिन भारत की स्वाधीनता के सूत्रधार लोकमान्य तिलक ने देहलीला को संवरण किया था। लोकमान्य इस युग के राजनैतिक मंत्र-द्रष्टा ऋषि थे। इन्होंने "स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है" मंत्र को सिद्ध किया था। हज़ारों भारतीयों ने इनसे इस मंत्र की दीक्षा ली थी। इस वर्ष का तिलक-जयन्ती का पुण्योत्सव विशेष महत्त्व रखता है। यह वर्ष लोकमान्य तिलक के राजनैतिक सिद्धान्तों की विजय का वर्ष है। लोकमान्य तिलक ऐकान्तिक असहयोग और ऐकान्तिक सहयोग की नीति को भारतीय स्वातंत्र्य-युद्ध के लिये उचित नहीं समझते थे। वह व्यावहारिक राजनीतिज्ञ की भाँति मध्यम मार्ग के अनुयायी थे। सन् १९२१ ई० में राष्ट्रीय महासभा ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में ऐकान्तिक असहयोग का मार्ग स्वीकार किया था। उस समय रोगशय्या पर लेटे हुए लोकमान्य तिलक ने इस सम्बन्ध में अपनी जो सम्मति प्रकट की थी, उसकी सचाई आज प्रत्यक्ष सिद्ध हो रही है।

उन्होंने कहा था कि महात्मा गांधी के उपाय तथा योजनाएँ जनता के लिये अव्यावहारिक हैं। फिर भी महात्मा गांधी को इन उपायों का प्रयोग करने का अवसर मिलना चाहिए।

आज १४ साल बाद महात्मा गांधीजी ने इस सचाई का अनुभव करके स्वतन्त्रता की लड़ाई का ढंग बदला है। अब उन्होंने भी राष्ट्र को ऐसम्बली तथा कौंसिलों में जाकर स्वातंत्र्य युद्ध जारी रखने की अनुमति दी है। इससे लोकमान्य तिलक की राजनैतिक व्यवहारिक बुद्धि की प्रखरता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक का राजनैतिक जीवन भारतीय राष्ट्रीय कार्य-कर्त्ताओं के लिये प्रकाश-स्तम्भ का काम देता है। इस अवसर पर हर-एक भारतीय को अपने हृदय में लोकमान्य तिलक की प्रखर देश-भक्ति तथा अनथक लड़ाई जारी रखने की दृढ़ता को धारण करने का संकल्प करना चाहिए।

—

वॉन हिण्डनवर्ग—

प्रेज़िडेण्ट हिण्डनवर्ग का जन्म २ अक्टूबर सन् १८४७ ई० में हुआ था। १८७१ ई० में जर्मन राष्ट्र की जनसंख्या चार करोड़ थी। परन्तु युद्ध की धूमधाम में ६½ करोड़ हो गई। युद्ध से पूर्व जर्मन-राष्ट्र का विस्तार २ लाख ९ हज़ार वर्ग मील था। युद्ध के बाद १ लाख ८२ हज़ार वर्ग मील रह गया। जर्मनी का पूर्वी भाग कृषि-प्रधान है, और पश्चिमी भाग औद्योगिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है। महायुद्ध में जर्मनी का व्यापार खूब चमका। मित्र-राष्ट्र को यह बात पसन्द न आई। इसी लिए उन्होंने संगठित होकर उसे नीचा दिखाने का यत्न किया। जर्मनी में रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ड दोनों धर्मों के अनुयायी हैं। प्रेज़िडेन्ट हिण्डनवर्ग प्रोटेस्टैण्ट धर्म को माननेवाला है।

१८८८ ई० हिण्डनवर्ग जनता के सामने आये। कीनिग्सग्रेव में पहली लड़ाई में इनका नाम चमका। इसके बाद उत्तरोत्तर वह अधिक प्रसिद्ध होते गये। १९११ ई० में इन्होंने पैन्शन ली और होनोवर प्रान्त के अपने गांव में जाकर निश्चिन्त होकर रहने लगे। १९१४ ई० के युद्ध प्रारम्भ होने पर उन्हें फिर काम पर बुलाया गया। प्रेसिडैण्ट हिण्डनवर्ग का नियन्त्रण अत्यन्त सख्त था। प्रेसिडैण्ट हिण्डनवर्ग के सेनापतित्व में ही जर्मन सेना ने रूस की दुगनी सेना को परास्त किया। हिण्डनवर्ग की सलाह के अनुसार यदि जर्मन महायुद्ध में नए प्रदेशों पर आक्रमण करने के स्थान पर जीते हुए प्रदेशों में ही शान्ति स्थापित करने का यत्न किया जाता और पनडुब्बियों द्वारा मित्र राष्ट्र की सेनाओं का ध्यान कई दिशाओं में खींचा जाता तो जर्मनी की कभी हार न होती। आखिर २८ जून १९१९ ई० को जर्मनी को अपमानजनक शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। १९१८ ई० में युद्ध समाप्त होने पर चान्सलर याकीम मोडेन ने सेनाएँ वापिस बुलाईं। सेना ने विद्रोह करने की चेष्टा की, परन्तु सफलता न हुई। वर्सेल्स की संधि के बाद जर्मनी में रिपब्लिक कायम होगई। १९२७ ई० तक आर्थिक उतार चढ़ाव के कारण जर्मनी में अशान्ति रही। इसी समय जर्मनी में सोशिलिष्ट पक्ष ने अपना सिर उठाया। इसी समय जर्मनी में एण्टी सोशिलिष्ट पक्ष स्थापित हुआ। इसने हिण्डनवर्ग को सहायता के लिये बुलाया। १९२५—३२ तक तीन मन्त्रि मण्डल बने, परन्तु आखिर में नाज़ीदल ही हिटलर के नेतृत्व में मन्त्रि मण्डल बनाने में सफल हुआ। प्रेजिडैण्ट हिण्डनवर्ग ने विदेशी राजनीति में दक्षता और चतुराई से काम किया। उसने किसी पक्ष को नाराज़ नहीं किया। उसने पुराने और नये राजनीतिक पक्षों का मेल कराया। राष्ट्र में एकता स्थापित करने का यत्न किया। १९३४ ई० की २ अगस्त को रोगशय्या पर इनका देहान्त हुआ।

—

लेखकों के सम्बन्ध में

(१) जब मन में उमंग हो, कुछ नयी लाभदायक बात जनता को सुनाने की प्रेरणा हो, तभी लिखिये।

(२) काग़ज़ के एक तरफ़, हाशिया और पंक्तियों के बीच में जगह छोड़ कर, सुवाच्य अक्षरों में लिख कर भेजिये।

(३) एक प्रति अपने पास रख कर ही लेख आदि भेजिये, अप्रकाशित लेख आदिक वापिस किया जाना आवश्यक नहीं है।

(४) लेख आदि रचना को छापने न छापने, इस अंक में छापने, उस अंक में छापने, घटाने बढ़ाने, लौटाने न लौटाने का अधिकार सम्पादक को रखने दीजिये, इसके बिना काम नहीं चल सकता है।

विज्ञापनों के सम्बन्ध में

केवल अपनी आमदनी करने की दृष्टि से अलंकार में विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे। इस लिये—

(१) अधार्मिक, अश्लील, पतनकारी विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(२) असत्य, अतिशयोक्ति पूर्ण, भ्रमोत्पादक विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(३) स्वदेशी के विरोधी, विदेशी के प्रचारक गरीबों को हानि पहुँचाने वाले विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(४) पुस्तकों के विज्ञापन भी वे ही लिये जायेंगे जिनके विषय में हमने स्वयं पढ़ कर या किसी अन्य तरह पूरा संतोष प्राप्त कर लिया होगा।

अलंकार के नियम

(१) अलंकार प्रत्येक सौर महीने के प्रारंभ (अंग्रेजी महीने के मध्य) में प्रकाशित होता है।

(२) डाक खर्च सहित अलंकार का वार्षिक मूल्य ३) है, एक प्रति का ।-) विदेश से ६ शिलिंग या ४)।

(३) ग्राहकों को चाहिये कि वे वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजे, वी० पी० न मंगावें। वी० पी० से मंगाने में कम से कम ≈) अधिक व्यय उनको व्यर्थ में करने पड़ेंगे, अन्य जो असुविधा होती है, वह जुदा है।

(४) ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या तथा पूरा पता साफ़ लिखना चाहिये।

(५) उत्तर पाने के लिये जबाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें, अन्यथा उनके लिखे अनुसार कार्य कर दिया जावेगा, उत्तर नहीं दिया जा सकेगा।

(६) लेख कविता तथा रचनायें

संपादक 'अलंकार'
गांधी सेवाश्रम
डा० खा० गुरु कुल कांगड़ी
जि० सहारनपुर

के पते पर भेजनी चाहिये तथा मनीआर्डर व विज्ञापन तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र प्रबंधक 'अलंकार' १७ मोहनलाल रोड लाहौर के पते पर आने चाहियें।

(७) यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक न पहुँचे तो उन्हें इस बात की सूचना १५ दिन के भीतर देनी चाहिये। इस के बाद मूल्य ले कर ही वह अंक भेजा जा सकेगा।

'अलंकार' पर लोक-मत

श्री रामदास जी गौड़ लिखते हैं—

"'अलंकार' मिला। आपकी भेंट का सुख मिला। आप खूब काम कर रहे हैं और ठोस काम कर रहे हैं। मैंने आदि से अन्त तक पढ़ डाला। 'विज्ञान' के बदले में अनेक पत्र आते हैं, परन्तु इस मनोयोग से मैंने 'अलंकार' को ही पढ़ा है। क्योंकि उसकी सारी सामग्री मेरी रुचि और भूख के अनुकूल थी। क्यों न हो आपकी चीज़ ठहरी। इसे नियम से भेजते रहें। बदले में "विज्ञान" जाया करेगा। "असली भारतवर्ष" वाला स्तम्भ और "जप" वाला आपका लेख बहुत पसंद आया। "अजपाजाप" के रहस्य का वर्णन भी कभी कर दीजिये। समय मिला तो मैं आपको कुछ भेजूँगा।"

श्रीमती उमा नेहरू लिखती हैं—

"आपका भेजा 'अलंकार' कल मुझे मिला। 'अलंकार' का निकलना आपको मुबारक हो—जितना ऊपर से देखने में वह सुन्दर है उतना ही अन्दर से योग्य है। बापू का उपदेश ग्राम-सेवकों की पवित्रता पर शिक्षापूर्ण है। 'मनुष्य का विकास-क्रम' 'तपस्वी सादिक' 'प्रेम का पात्र' सब ही ज्ञान से भरे हुए हैं। 'हविषा-विधेम' के लेखक ने तो मनुष्य को सच्ची पूजन का सुन्दर नक़शा खींचा है। असल में जब तक हृदय में त्याग व प्रेम की लग्न नहीं सेवा करने का विचार असम्भव है।

मुझे आशा है कि आपका 'अलंकार' सदा ज्ञान, प्रेम व सेवा भाव का भारत में प्रकाश करेगा—और आपको अवश्य इस पवित्र नेक काम में ईश्वर कामयाबी देगा।"

देहली का दैनिक 'अर्जुन' लिखता है—

"श्री भीमसेन विद्यालंकार के 'हिन्दी-सन्देश' पत्र का 'अलंकार' विकसित रूप है। आचार्य देवशर्मांजी के सहयोग से इसमें गम्भीरता और 'मिशनरी स्पिरिट' का विशेष सम्मिश्रण हो गया हैं। मुखपृष्ठ को देखते ही गम्भीरता और सात्त्विकता की सुन्दर छाप पड़ती है। अंतरंग भी तदनुकूल ही है। प्रस्तुत (श्रावण का) अंक का श्रीगणेश ही म० गांधी के सन्देश के साथ हुआ है।

"प्रस्तुत अंक के अन्य लेखों और सम्पादकीय में भी सेवा, तपस्या और आध्यात्मिकता की ही भावना प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'विशाल भारत'-सम्पादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'कस्मै देवाय'-शीर्षक लेख लिखकर सर्व-साधारण के लिए उपयुक्त साहित्य-सृजन की इस समय आवश्यकता बताई थी, 'हविषा विधेम' के द्वारा 'अलंकार'-सम्पादक 'अभय'जी ने उसमें इतना और जोड़ा है कि "आज से हम हवि-द्वारा, त्याग-मूलक साहित्य द्वारा, तपोमयी वाणी द्वारा हो (जनता जनार्दनदेव का) पूजन करें।" शिक्षा के विभिन्न राष्ट्रीय केन्द्रों (विद्यापीठों) का एकीकरण भी इसका उद्देश्य है और तदनुकूल सामग्री का भी इसमें प्राधान्य है।

"विभिन्न राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं और उनके स्नातकों का मुख-पत्र बनने की ओर इसका लक्ष्य है और इसके लिये यह प्रयत्नशील भी है।"
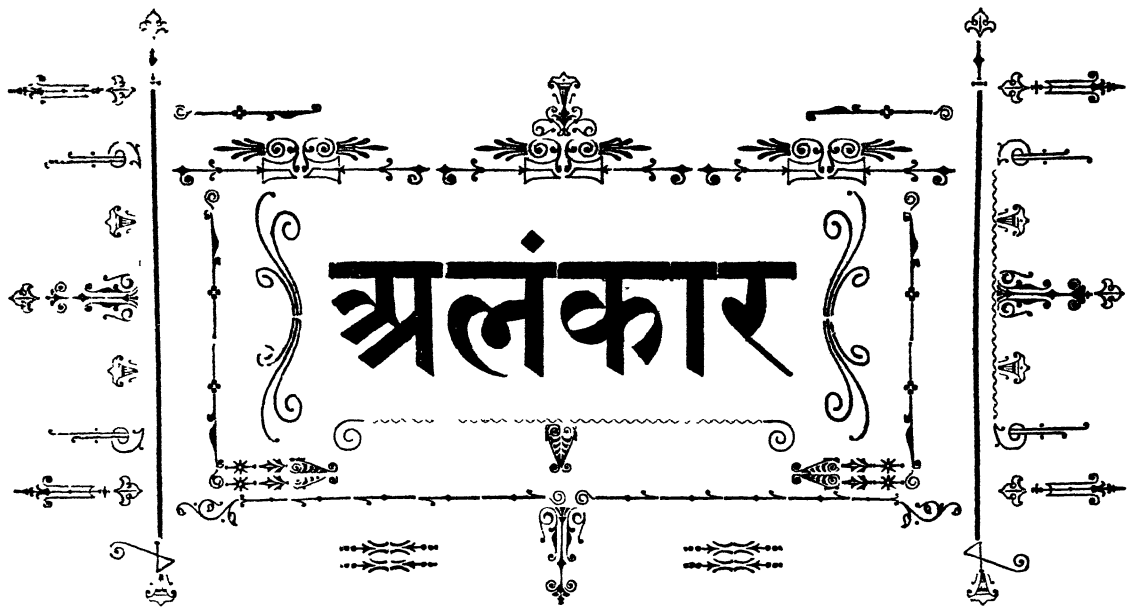
का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः, कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ?

"सुन्दर वचनों से हम तेरा क्या अलंकार कर सकते हैं ? हे इन्द्र ! वह समय कब आवेगा जबकि हम तुझे अपने आप को दे देंगे, पूर्ण आत्मसमर्पण कर देंगे ?" ऋ० ७-२९-३॥

वर्ष ४] आश्विन, १९९१ :: अक्टूबर, १९३४ [संख्या ९

गगन-गाथा

[रचयिता—श्रीयुत उदयशंकर भट्ट]

अमर यौवन, ओ नील गगन !

स्मृतियों के मादक मधुवन

छिपा हुआ है नंगे जग का तुझमें सब इतिहास

टुक पढ़ना दो चार पृष्ठ वे, क्या कैसा उल्लास ?

झूम रहा तेरी पलकों पर सारा वह अतीत जीवन

विषमय जग के दुख पी पी कर धूम्रवदन है नीलातन ?

धूमिलतन, ओ नील गगन !
अपलक खोले हुए नयन

हैं यह क्या ? झड़ियाँ आँसू की, यह कैसा कम्पन ?
हैं यह क्या ? कैसा यह रोदन, यह कैसा गर्जन ?
कह, युग के पिछले पन्नों में कविता कौन अनूप,
क्या अक्षर न अभी मिट पाये, क्या वैसा ही रूप ?

अजर यौवन, ओ नील गगन !
सूर्य चन्द्र दो लेखक बन

लिखते काल पृष्ठ पर गाथा गिरि के अन्धकार में छुन
तारे प्रतिनिशि "ढुलमुल ढुलमुल" तुझे सुनाते नचा किरन
सज्जन पर बिजली बन हँसना, दुर्जन पर करना रोदन
कितनी स्मृतियों में सिसकन थी किनमें रे, पाया कम्पन ?

ओ नील गगन, ओ नील गगन !
स्मृतियों के मादक मधुवन

सबका साहब एक

हिन्दू कहैं सो हम बड़े, मुसलमान कहैं हम्म;
एक मूँग दो फाड़ हैं, कुण ज्यादा कुण कम्म ।
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया;
रामभगत है एक, दूजा रहिमान से रजिया !
कहै दीनदरवेश, दोय सरिता मिलि सिन्धू ॥
सबका साहब एक, वही मुस्लिम वही हिन्दू ॥

चक्र

[ले०—तरंगित हृदय]

बालकपन में लट्टू को—और यदि लट्टू न मिले तो खड़ाऊँ की खूँटी को निकाल उसकी बनाई भँवीरी (भ्रमरी) को—घुमाने में बड़ा ही आनन्द आता था। लट्टू जितनी अधिक तेज़ी से और जितनी अधिक देर तक घूमता रहता था, उतना ही मेरा बाल-हृदय आनन्द में उछलता था। लट्टू को ही नहीं, किन्तु मौज आने पर अपनी छोटी दोनों बाहू पूरी तरह फैलाकर अपने-आपको ही मैं इस भूमि-तल के विस्तृत आधार पर ज़ोर से घुमाया करता था और अपना यह चक्राकार नाच तब तक जारी रखता था, जब तक कि मेरा शिर न चकराने लगे और यह दिगन्तों में फैला हुआ संसार वेग से घूमता हुआ न नज़र आने लगे। सचमुच चक्राकार गति करने में कुछ गुप्त आनन्द है, नहीं तो हमारे बाल-हृदयों के लिए वह कभी प्रमोदजनक नहीं हो सकता।' अब जवान होकर तो हमने वृद्ध वैज्ञानिकों की पुस्तकों में पढ़ा है कि यह पृथ्वी, यह सूर्य, ये सब नक्षत्र और तारे भी घूम रहे हैं, बड़े वेग से घूम रहे हैं। इस अनन्त आकाश में दिखाई देनेवाले असंख्यातों सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, अत्यन्त वेग से प्रतिक्षण चक्राकार-गति में फिर रहे हैं। यदि ये अकल्पनीय वेग के साथ निरन्तर घूमते न रहें, तो ये ठहर ही न सकें—अपनी सत्ता को ही क़ायम न रख सकें। प्रत्येक सौरमण्डल का इतिहास यही है कि प्रारम्भ में एक तेजस्वी सूर्यपिण्ड प्रादुर्भूत होकर चक्राकार नृत्य करने लगा, फिर उससे जुदा हुए ग्रह-उपग्रह भी उसी तरह अपने चारों तरफ़ घूमते हुए अपने मूलसूर्य के चारों तरफ़ भी चक्रगति में परिक्रमा करने लगे। हम जानते हैं कि उनका यह निरन्तर चक्कर लगाना इनकी अपनी प्रलय तक कभी एक क्षण के लिए भी रुकेगा नहीं। न-जाने इन अनन्तों विशाल लोक-लोकान्तरों को इस तरह चक्राकार घूमने में क्या आनन्द आता है ?

सुनते हैं कि हमारे शरीर का प्रत्येक कोष्ठक घूम रहा है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक अणु और प्रत्येक अणु का प्रत्येक परमाणु निरन्तर अपने स्थान पर घूम रहा है, चक्कर लगा रहा है। प्रलय-काल में भी सत्व, रज, तम अपने सदृश परिणाम करते हुए अनथक घूमते ही रहेंगे। फिर प्रश्न होता है कि इन्हें ऐसे अविश्रान्त निरन्तर चक्कर करते रहने में न-जाने क्या सुख मिलता है ?

नहीं, इसमें न-जानने की कुछ बात नहीं है। स्पष्ट है कि इन का यह चक्र, यह चक्र-भ्रमण, इनका जीवन-चक्र है। इस जीवन-चक्र को छोड़कर ये अपने सुख, अपने जीवन, और अपनी सत्ता को और कहाँ पा सकते हैं? इस चक्र-गति में ही इनका जीवन है।

⁖

सचमुच चक्र-गति में ही इस सब संसार का जीवन निहित है। हम वैयक्तिक जीवन को देखें, तो हमारे देह में जो रुधिर का चक्र चल रहा है, श्वास-प्रश्वास का चक्र अनवरत चल रहा है और ज्ञान-तन्तुओं में भी एक चक्र चल रहा है, उसी के कारण हमारा यह भौतिक जीवन क़ायम है। हमारे शरीर के एक-एक अवयव में, एक-एक संस्थान में एक एक चक्र चल रहा है। हठ-योगियों के अनुसार हमारे शरीर के अन्दर छः बड़े अत्यावश्यक चक्र चल रहे हैं। हिरण्मय (विज्ञानमय ?) कोष का वर्णन करते हुए अथर्ववेद में उसके देह को 'अष्ट-चक्रा' देवपुरी* कहा है। उसी आशय मे शायद कबीर साहब ने भी गाया है—

"आठ कमल दल चरखा डोले"

ये षट् या अष्ट चक्र हैं जो कि वैयक्तिक जीवन के छः या आठ केन्द्र हैं।

सामाजिक जीवन में देखें, तो वहाँ भी नाना रूपों में दान-प्रतिदान के चक्र चल रहे हैं, तभी कौटुम्बिक, नागरिक, राष्ट्रीय आदि जीवन क़ायम हैं और उन्नत हो रहे हैं।

आधिदैविक जीवन में पृथ्वी और अन्तरिक्ष का सम्बन्ध जोड़नेवाला जल, वाष्प और वर्षा का चक्र, वायुओं का चक्र, ताप-चक्र, ऋतु अनुकूल वनस्पति-चक्र, वनस्पति-जीवन और प्राणी-जीवन का सम्बन्ध-चक्र आदि बहुत से अनगिनत चक्र चल रहे हैं और इस संसार को सुख, समृद्धि और जीवन दे रहे हैं।

काल की दृष्टि से देखें, तो दिन-रात का चक्र शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष का मासिक चक्र, संवत्सर-चक्र,* युग-चक्र तथा चतुर्युगी, मन्वन्तर और कल्पों में घूमनेवाला अलक्ष्य अति महान् समय-चक्र घूम रहा है, जिसके छोटे या बड़े चक्र-झूले में सब प्राणी अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार झूल रहे हैं और अपना जीवन-भ्रमण पूरा कर रहे हैं।

इस प्रकार जब कि यह समस्त विश्व-जीवन ही अपनी चाक्रिक-गतियों पर अपना आधार रखता है, वह समष्टि विश्व ही अपने असंख्यों जीवन-चक्रों द्वारा निरन्तर चल रहा है, तो यदि उनका प्रतिबिम्ब अपने निर्मल हृदयों में ग्रहण करनेवाले व्यष्टि बालक भी कभी उनके अज्ञात संकेत को पाकर आनन्दमग्न हो चक्रगति में नाचने-कूदने लगें, या अन्य चक्राकार चेष्टायें करने लगें, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है?

⁖

इस सृष्टि के शैशव-काल में जिन सहज-प्रज्ञ ऋषियों ने अपना जीवन-चक्र चलाने के लिए आटा पीसने के चक्र (चक्की) को खोजा था, बरतन बनाने के लिए कुम्हार के चक्र (चाक) का आविष्कार किया था, वस्त्र के लिए सूत्र-चक्र (चर्खा) को प्रचलित किया था, तथा सवारी के लिये बैलगाड़ी के पहिये (रथचक्र) को बनाया था, उन्होंने निःसन्देह मनुष्य-समाज का बड़ा उपकार किया था। बेशक, हम उन अज्ञात आविष्कारकों

---

* अथर्व वेद १०-२-३१।

* अथर्व वेद १०-८-४।

की आज महिमा नहीं गाते हैं। इसका कारण यह है कि चक्राकार गति हमारे जीवन से इतना निकट सम्बन्ध रखती है, हमारे जीवन में इतनी व्यापक है कि वह हमारे लिए अत्यन्त परिचित वस्तु हो गयी है। इस अत्यन्त परिचिति ही ने चक्र के रहस्य को हमसे छिपा रखा है। परन्तु आज जिन्होंने आटा पीसने की एंजिन-मिल बनायी है, सूत कातने की मैशीनरी खड़ी की है, उन्होंने भी कुछ नया काम नहीं किया है, केवल उस चक्राकार गति को बड़ा विशाल और प्राय: आसुरी-रूप दे दिया है। आज जो रेल व मोटर आदि के आविष्कृत पहिये दीखते हैं, वे वैसे ही गोल हैं, जैसे कि रथ चक्र होते हैं केवल एक भिन्न दिशा में विशेषता यह है कि उनमें इनके वेग से घूमने का प्रबन्ध कर दिया गया है। जितने भी बड़े-से-बड़े यन्त्र चल रहे हैं वे सब नाना प्रकार के चक्रों के या चक्रगतियों के ही विविध प्रयोग हैं। यह सब चक्र की हो महिमा है। इसमें कुछ शक नहीं कि यह सब संसार चक्रों का ही खेल है, चक्रों का ही खेल रहा है और चक्रों का ही खेल रहेगा। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि कौन-सा चक्र हमें जीवन देनेवाला है और कौन-सा चक्र हमारा नाश करनेवाला है। कौन-सा यज्ञ-चक्र है और कौन-सा पाप-चक्र? कौन-सा कृष्ण भगवान् का चक्र सुदर्शन है और कौन-सा असुरों का दुश्चक्र है? बस, समझने की बात यही है कि कौन-से चक्र को हम प्रवृत्त करें या किस चक्र पर हम अपने को घूमने देवें और किस चक्र को हम रोकें, या किससे अपने-आपको बचावें।

∴

संसार में इनका भी एक चक्र चलता रहता है। जीवन-चक्र, विनाशकारी पाप-चक्र, फिर यज्ञ-चक्र अथवा सुदर्शन-चक्र। इस तरह एक चक्र चलता रहता है। स्वभावत: तो संसार में ईश्वरीय जीवन-चक्र चल रहा है; किन्तु प्रलोभन और निर्बलता के वश मनुष्य विनाश-चक्र में पड़ जाता है, तब इस पाप-चक्र के मुक़ाबले में फिर दिव्य यज्ञ-चक्र का स्वयमेव प्रादुर्भाव होता है अथवा यों कहिये कि असुर-चक्र के बहुत प्रबल हो जाने पर असुर-संहारक सुदर्शन-चक्र के रूप में फिर यह ईश्वरीय जीवन-चक्र प्रकट होता है।

चर्खा और चक्की का चक्र स्वाभाविक जीवन-चक्र के तौर पर संसार में चलता था; पर जब लोगों ने लोभवश पर-पीडनकारी कातने और पीसने का मैशीनरी चक्र चलाया, तब चर्खा और चक्की का चलाना यज्ञ के तौर पर आवश्यक कर्त्तव्य हो गया, यज्ञ-चक्र हो गया। और जब यह मशीनरी भयंकर आसुर-चक्र का रूप धारण कर लेती है, तब ये चर्खा और चक्की के चक्र सुदर्शन-चक्र बनकर प्रकट होते हैं।

शासन-चक्र चलाना राजा का स्वाभाविक काम है, यह जीवन-चक्र है। पर जब कोई राजा पाप-चक्र से शासन करने लगता है, तो उसके मुक़ाबले के लिए आत्म-बलिदान से चलनेवाला यज्ञ-चक्र चलने लगता है। बल्कि उस असुर-शासन का अन्त करने के लिए और सच्चा शासन स्थापित करने के लिए सुदर्शन-चक्र उठ खड़ा होता है।

इसी तरह धर्म-चक्र चलाना ब्राह्मणों का सामान्य कर्त्तव्य है। परन्तु जब धर्म के नाम पर पाप होने लगता है, तो बुद्धभगवान-जैसे महापुरुष को धर्म चक्र (यज्ञ-चक्र) प्रवर्त्तन करना पड़ता है।

इस प्रकार संसार में इन चक्रों का भी एक चक्र चलता रहता है। पर इन चक्रों में से कब कौन-सा वास्तव में पाप-चक्र है और कब कौन-सा यज्ञ-चक्र है, यह पता लगाना आमलोगों के लिए कठिन पड़ता

है। क्योंकि चर्खे के चक्र में और मशीनरी के चक्र में चक्र या यंत्र के तौर पर कोई भेद नहीं है। अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के शासक बाह्य-दृष्टि से एक ही ढंग का शासन-चक्र चलाते हैं और धर्म के वाह्याचारों को यदि कोई सच्ची श्रद्धा से करता है, तो दूसरा केवल ढोंग के लिए भी करने लगता है। इसलिए यह पहचानना परम आवश्यक है कि कब कौन-सा चक्र जीवन-चक्र है और कौन-सा विनाश-चक्र।

∴

यदि तुम सचमुच सुचक्रों और दुश्चक्रों का भेद जानना चाहते हो, तो आओ, अपने अन्दर घुसो। अपने हृदय की गंभीर गुहा में प्रवेश करोगे, तो तुम वहाँ आश्चर्य से देखोगे कि बाहर दुनिया में जितने अच्छे या बुरे चक्र घुमाये जा रहे हैं, वे सब अन्दर से ही घुमाये जा रहे हैं, उनके घुमाने की चाबी हमारे हृदयों में लगी हुई हैं। अन्दर का हृदय-चक्र जैसा घूमता है, उसी के अनुसार बाहर का चक्र घूमने लगता है।

अन्दर के विनाश-चक्र का वर्णन भगवान् कृष्ण ने गीता के द्वितीय अध्याय में किया है। इस विनाश-चक्र का प्रारम्भ 'विषय के ध्यान' से होता है और इसका अन्त 'बुद्धि के नाश' में होता है। तो जो अन्दर का जीवन-चक्र है, वह निष्कामता तथा निस्वार्थता से प्रारंभ होता है और स्थितप्रज्ञता में उसकी पूर्ति होती है। ये अन्दर के विनाश और जीवन के चक्र ही बाहर पाप-चक्र और यज्ञ-चक्र को पैदा करते हैं।

पाश्चात्य सभ्यता विषयों के सेवन को सामने रखती है। अतः उस तरह सोचनेवाले लोगों ने आज संसार में साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि कहलानेवाले बहुत-से विनाशक-चक्रों को चलाया है। इनमें पहले विषय-लालसा पैदा होती है, फिर उसके लिए धन-वृद्धि, व्यापार-वृद्धि व साम्राज्य-वृद्धि की कामना पैदा होती है, फिर बाधकों के विनाश के लिए शस्त्र-वृद्धि व युद्धों के रूप में क्रोध की बारी आती है, उस क्रोध व युद्ध के बाद व्यापी संमोह, गड़बड़, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता फैलती है। इस प्रकार एक विनाश का बड़ा विस्तृत-चक्र ये लोग संसार में उठा रहे हैं। तो इसके मुक़ाबले में कुछ आप्तकाम तपस्वी लोग अपने अन्दर चलने वाले जीवन-चक्र के कारण निष्काम होकर दुःखियों और ग़रीबों की सेवा में भी लगे हैं और सब कष्ट सहकर संसार में अपने यज्ञ-चक्रों को आगे बढ़ा रहे हैं।

इसी तरह भारतवासियों की हृदय की दासता ही उन्हें एक विनाश-चक्र में घुमा रही है। दास-मनोवृत्ति के कारण वे निस्तेज (ज्ञान, बल, धन में हीन) होते हैं और ज्यों-ज्यों उनकी निस्तेजता (ज्ञान, बल, धन की कमी) बढ़ती है, त्यों-त्यों उनकी .ग़ुलामी भी और बढ़ती जाती है। इस तरह वे दिनों-दिन नीचे ले जानेवाले एक विनाश के चक्र में फँसे हुए हैं। परन्तु जिन भारतवासियों के हृदय जीवित हैं, उनका स्वाधीनता का भाव उन में तेज को पैदा करता है। वे जितना कष्ट सहते हैं, उतने और तेजस्वी होते हैं, उतना ही स्वाधीनता का भाव भी उनमें और बढ़ता जाता है।

यह तो अच्छे चक्र और बुरे चक्र की हार्दिक पहिचान हुई। जिसका हृदय जितना शुद्ध, निर्मल होगा, वह उतनी ही आसानी से अच्छे और बुरे चक्र को पहिचान लेगा।

∴

परन्तु यदि इसकी बौद्धिक पहिचान जानना चाहो, तो उसे भी सुन लो। तुम्हारी बुद्धि जितनी

प्रकाशित होगी, सत्य की सूक्ष्मता को जितना देखनेवाली होगी, उतनी जल्दी तुम इस पहिचान से सुचक्र और कुचक्र का भेद कर सकोगे। एक सूत्र में यह पहिचान यों है कि कुचक्र, पाप-चक्र स्वभावतः पूरा नहीं होता। यह कुछ समय तक कृत्रिम तौर से पूरा किया जाता है। हम वास्तविकता में देखें तो पाप-चक्र चक्र ही नहीं होता। पाप-चक्र का लक्षण ही यह है कि जो अन्त में पूरा न हो सके, स्वाभाविकतया पूरा न किया जा सके। इसलिए पाप-चक्र चिरजीवी नहीं होता। कई लोग पाप-चक्र के वेग को देख कर घबराते हैं कि इससे सर्वनाश हो जायगा। पर वे यह नहीं जानते कि पाप-चक्र तभी तक बढ़ता है, जब तक कि स्वाभाविकतया चलता हुआ ईश्वरीय-चक्र अपनी परिक्रमा पूरी नहीं कर लेता और अपने क्रमण-द्वारा पाप-चक्र को छिन्न नहीं कर देता। सुदर्शन-चक्र तभी अपना कार्य करता है, जब कि शिशुपाल अपनी पूरी १०१ गालियाँ दे चुकता है। पर इसमें शक नहीं है कि पूरा न होनेवाला पाप का अवास्तविक चक्र जीवन-चक्र-द्वारा ठीक समय आने पर अवश्य काट दिया जाता है, वह बच नहीं सकता।

देखो, आज-कल ये मैशीनरियाँ प्रकृति से कोयले आदि सामग्रियों को लेकर प्रकृति में जो निरन्तर क्षति पहुँचाती हैं, उसकी कभी पूर्ति नहीं करती, अतः प्राकृतिक चक्र को पूरा नहीं करती। इसी लिए ये दुश्चक्र की प्रवृत्ति हैं। अपने भोग के लिए प्रकृति से लेते जाना, पर उसे आगे के लिए भरते न जाना असुरता है, चक्र को अधूरा छोड़ना है, यज्ञ-चक्र का विरोध करना है। गीता के तृतीयाध्याय में जिस भूत, अन्न, पर्जन्य आदि क्रम से घूमनेवाले चक्र का वर्णन है, वह एक सच्चा संसारव्यापी यज्ञ-चक्र है, अपने-आपमें पूरा होनेवाला सच्चा ईश्वरीय चक्र है। यह चक्र या ऐसे अपने-आपमें पूरे होनेवाले अन्य यज्ञ-चक्र जब अपना परिक्रमण करते आते हैं, तो उनकी टक्कर से बीच में आनेवाले ऐसे सब अयज्ञिय आसुरी-चक्र स्वयं नष्ट होते जाते हैं, जो पूरे नहीं हो सकते, किन्तु कृत्रिम तौर से कुछ काल तक अपने को पूरा करने का व्यर्थ यत्न करते हैं।

सच्चा शासन-चक्र वह होता है, जिसमें प्रजा से लिये गये सब कर आदि आदान को राजा प्रजा की नानाविध भलाई में उसकी रक्षा, समृद्धि, उन्नति आदि रूप में वापिस कर देता है। क्योंकि इसी तरह शासन का चक्र पूरा होता है। परन्तु पाप-चक्र से शासन करनेवाले राज्य में वास्तव में यह चक्र पूरा नहीं होता, यद्यपि इसके पूरे होने का ढोंग वहाँ पूरी तरह किया जाता है।

इसी तरह धर्म-चक्र तब पाप-चक्र हो जाता है, जब कि धर्म-प्रचारक सच्चे धर्म का प्रचार नहीं करते, या इसके अयोग्य हो जाते हैं; पर वे धर्म-प्रचारक के नाते मिलनेवाले भौतिक लाभों को लोभ-वश लेते रहना चाहते हैं। इसी से यह चक्र पूरा होना बन्द हो जाता है।

चक्र के पूरे होने में ही चक्र की चक्रता है, चक्र ही शक्ति है। इसी लिए सब झूठे चक्रों (पाप चक्रों) का, पूरा होनेवाला सच्चा ईश्वरीय चक्र इस संसार में निरन्तर विनष्ट कर रहा है। क्या तुम अब चक्र के रहस्य को, चक्र के शक्ति-रहस्य को समझे? चक्र में वह कौन सी बात है, जिससे उस में यह शक्ति है, इसे समझे? वह यह है कि चक्र ही एक-मात्र ऐसा आकार है, जो परिपूर्ण है, जो कभी समाप्त नहीं होता है। बाक़ी सब गतियाँ समाप्त हो जानेवाली और सान्त हैं। चक्र-गति ही अनन्त और परिपूर्ण है। अतः इसी चक्र-गति-द्वारा—वास्तविक चक्र-गति-द्वारा—इस संसार में ईश्वरीय शक्ति का प्रकाश

हो रहा है; अवास्तविक, न पूरे होनेवाले असत्य चक्र को नाश करने-द्वारा निरन्तर प्रकाश हो रहा है।

.·.

असल में इस संसार में एक ही चक्र चल रहा है। यह संसार चक्र कहलाता है। परन्तु वास्तव में वह संसार-रूपी यज्ञ-चक्र है। यह स्वयं यज्ञ-स्वरूप परमेश्वर है। यह चक्र सब के कल्याण के लिये चल रहा है। जो लोग इसकी अनुकूलता में कर्म करते हैं, अर्थात् अपने जीवन को यज्ञिय तपस्वी बनाते हैं, उनके लिए तो यह चक्र प्रत्यक्षरूप से कल्याणकारी होता है, पर जो स्वार्थमग्न विषयाराम हो विपरीत चलते हैं, उनको भी पीड़ा पहुँचाता हुआ अप्रत्यक्ष-रूप से कल्याणकारी ही होता है। इस दूसरे रूप में ही इसे सन्त लोग संसार-चक्र कहते हैं। उपनिषद् में जो एक भयंकर काल-चक्र का चित्र खींचा है, या कबीर साहब ने जिस सबको पीसनेवाली राम की चलती-चक्की का वर्णन किया है, वह इसी दुःखदायी संसार-चक्र का वर्णन है। विपरीतगामियों के लिए रौद्र-रूप धारण करनेवाला और यज्ञमय जीवनवालों को सौम्य-रूप में दीखनेवाला यह एक ही ईश्वरीय चक्र है।

संसार में ये जो अन्य असंख्य चक्र घूमते नज़र आते हैं, वे सब इसी एक चक्र के अधीन हैं, और उसी एक चक्र की गति से गतिमान् हो रहे हैं। इस प्रकार उन असंख्य चक्रों को घुमाता हुआ यह एक अनन्त-अनादि शाश्वत-चक्र चल रहा है। एवं सब संसार एक ईश्वरीय चक्र में घूम रहा है। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने जन्म, मृत्यु और सृष्टि-प्रलय की तरह मोक्ष बन्ध को भी चक्राकार ही अनुभव किया है। वास्तव में हम सब असंख्य जीव मरते या जीते हुए, सृष्टि या प्रलय में रहते हुए, बद्ध या मुक्त होते हुए एक शाश्वत अनादि अनन्त ईश्वरीय चक्र पर आरूढ़ हुए-हुए हैं। इस तरह सब प्रकार की सृष्टि और प्रलय करता हुआ आगे और पीछे चलता हुआ यह एक चक्र निरन्तर चल रहा है—

एक चक्रं वर्त्तते एक नेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्तद् बभूव॥

अथ० १०-८-७

पर क्या तुम यह नहीं जानना चाहते कि हम सब जीव उस एक चक्र से किस स्थान पर जुड़े हुए हैं? वह एक चक्र हमें किस कीली-द्वारा घुमा रहा है? क्योंकि उसे जाने बिना हम कभी अपने घुमानेवाले को नहीं पहिचान सकते, उस तक अपनी पहुँच नहीं कर सकते। श्रीकृष्णजी बताते हैं, वह स्थान हृदय-प्रदेश है—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,
भ्रामयन् सर्व भूतानि यंत्रारूढानि मायया।"

उस हृदय में ठहरे हुए चक्रधारी को पहिचान लेने से निःसंदेह मनुष्य को परम शान्ति और शाश्वत पद मिल जाता है, शर्त्त यह है कि मनुष्य सर्व भाव से उसकी शरण हो जावे, अपने सब-कुछ सहित उसके समर्पित हो जावे, अपने को पूरी तरह उसकी भेंट चढ़ा देवे—

"तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत!
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यति शाश्वतम्।"

वही कीली है, जिसका आश्रय पा लेने पर सब जग को पीसनेवाली राम की चक्की उसे पीसती नहीं है, वही स्थान है जहाँ पहुँच जाने से सर्वग्रासी भयंकर काल-चक्र उसे ग्रसता नहीं है। उस अवस्था में यह संसार-चक्र नहीं रहता है, यज्ञ हो जाता है। उस अवस्था में वह चक्रारूढ़ होता हुआ भी चकराता नहीं है।

झंझट को एक दुःस्वप्न की भाँति अपने ऊपर से ठेल-ठाल कर सजग, सचेत हो उठने का विचार न आया? ऐसे-ऐसे विचार आये क्यों न होंगे, किन्तु तुमने उन्हें शत्रु की भाँति दबा दिया होगा, और समय बिताने के किसी धन्धे में व्यस्त होकर उन से त्राण पाने की कोशिश की होगी।

जो हुआ सो हुआ, किन्तु अब? अब तो संधि-काल आ गया है—दिन और रात का, जीवन और मृत्यु का। इस समय तो तुम इस लोक और पर-लोक के संधिस्थल पर खड़े हुए हो, इस समय तुम्हारी जीवन-नदी महासिन्धु के अत्यन्त निकट आ गई है। तुम स्वयं जानते हो कि इस संसार से विदा होने का समय आ गया है। तुम स्वयं अनु-भव करते हो जैसे प्रतिक्षण क्षीणतर होनेवाले तंतुओं-द्वारा किसी अज्ञात और अज्ञेय गड्ढे के ऊपर लटके हुए हो। क्या अब भी तुम दुबिधा में पड़े हुए हो? क्या अब भी तुम्हारे मन में आत्म-स्मृति जागृत न हुई—घर की और माता की सुध-बुध न आई? क्या अब भी तुम्हें, तुम्हारे अन्तर्तम से निकलती, माता की करुण-पुकार सुनाई नहीं देती।

इस समय जब कि तुम को सब-कुछ छोड़-छाड़ कर घर की ओर चल पड़ने के लिए उद्यत हो जाना चाहिए, तुम अनेक दुबिधा-दुश्चिन्ताओं के शिकार बने हुए हो? तुम हसरत-भरी निगाहों से देख रहे हो, चारों ओर से घेरे हुए बंधु-बान्धवों को और प्रतिक्षण दूर रहते जानेवाले संसार को। इनसे सम्बन्ध रखनेवाली नाना चिन्ताओं ने तुम्हारे मन और हृदय में उथल-पुथल मचा रक्खी है। तुम समझे बैठे हो, जैसे तुम्हारी आँखें मिचते ही यह हरा-भरा बाग़ उजड़ जायगा। तुम सोचते हो, हाय! इन सब पर कैसी बीतेगी? तुम सोचते हो, अभी कुछ दिन और बना रह कर मैं इस कच्ची गिरस्थी का ठीक-ठिकाना कर सकता तो कैसा अच्छा होता!

दूसरी ओर तुम्हें अपनी भी चिन्ता हो रही है। चारों ओर घिरते हुए अन्धकार को देख कर तुम डर रहे हो। तुम सोचते हो इस संसार के सुख-दुःख तो ज्ञात थे, किंतु इस अन्धकार के परदे के पीछे क्या छिपा हुआ है, इसका कोई ठिकाना नहीं। तुम कल्पना की दृष्टि से अन्धकार-राज्य में भयंकर विपदाओं को देखते हो, और उसमें प्रवेश करते घबराते हो। कल्पना द्वारा ही तुम उसमें नाना-विध स्वर्ग-नरक को स्थापित करते हो, और चिन्ता करते हो कि तुम्हें क्या प्राप्त होगा। तुम समझते हो कि यह तो महायात्रा है जहाँ से कोई लौट कर ही नहीं आता। तुम सोचते हो, हाय! मैंने तो इस यात्रा की कुछ तैयारी ही नहीं की। तुम सोचते हो, एक अथाह, अनन्त, रहस्यपूर्ण महासागर में डूबा जा रहा हूँ, किसी प्रकार से किनारा पाऊँ।

\+ + + +

छोड़ो, छोड़ो, इन दुश्चिन्ताओं को। वीर बनो, साहसी बनो, विश्वासी बनो। चिनौती मिली है, स्वीकार कर लो। बुलावा आया है, बाहर निकल पड़ो। महाभय सामने है, उसका स्वागत करो। शरीर का मोह छोड़ो। स्वेच्छापूर्वक, प्रसन्नतापूर्वक, विश्वासपूर्वक, इस शरीर और इससे सम्बन्ध रखने वाले संसार का परित्याग कर दो। अन्धकार सागर में निराधार होकर कूद पड़ो, डुबा देनेवाले तिनकों का सहारा मत ढूँढो। मृत्यु और अज्ञात का वरण करो। तब तुम देखोगे, असहाय नहीं हो, डूबे नहीं जाते हो, वहाँ तुम्हारी प्रतीक्षा हो रही है, तुम्हारी स्वागत-अभ्यर्थना का आयोजन किया गया है। दिन-भर का थका-माँदा सूर्य अन्धकार-रूप स्नेह-

मयी जननी की गोद में विश्राम पाता है। तुम भी इस संसार के त्रिविध तापों से संतप्त हो रहे हो, जर्जर-क्लान्त हो रहे हो, तुम्हें भी अन्धकार में विश्रांति मिलेगी, तुम्हें भी माता और उनकी गोद प्राप्त होगी। शिशु-भाव धारण करो, माता स्वयं तुम्हें गोद में उठा लेगी। तब तुम शांत हो जाओगे, निर्भय हो जाओगे।

\+ + + +

तब तुम्हें पता चलेगा तुम कैसी भ्रांति में पड़े हुए थे। जिसे तुम घरबार समझे हुए थे, वह तो वास्तव में संसार-यात्रा थी। जिसे तुम अनंत यात्रा समझे बैठे थे, और जिसके कारण इतने चिंतित और भयभीत थे, वह तो घर लौटना था। जिसे तुम अन्धकारपूर्ण, भयङ्कर समझे हुए थे, वह तो बाह्य-आवरण-मात्र था, जिस की ओट में कल्याणी-लक्ष्मी छिपी हुई थी। तब तुम्हें मालूम पड़ेगा कि जिस शरीर के लिए तुम इतना दुःखी हो रहे थे— जिस के परित्याग को तुम विनाश—प्रलय—समझे हुए थे, वैसे-वैसे अगणित शरीर तुमने अपने सुदीर्घ यात्रा-पथ पर परित्याग कर दिये हैं—मील चिह्नों के रूप में छोड़ दिए हैं। जिन बन्धु-बान्धवों के लिए तुम इतने चिन्तित थे, वे भी तुम्हारी भाँति; किंतु स्वतन्त्र-रूप से संसार-यात्रा समापन कर रहे हैं। संसार-खेल से थके-माँदे शिशु के लिए इस प्रकार माता की गोद का प्रसारित रहना, इसे तुम परम-सौभाग्य की बात मानोगे। तब तुम्हें पता चलेगा कि विश्राम-रात्रि की समाप्ति पर नई प्रभात-बेला में, नये आनन्द अनुभव प्राप्त करने के लिए, नयी वेश-भूषा धारण कर तुम्हें नये लोकों को जाना है।

मतवाले

सुनते हैं कि जगत में तू ने बना दिया सबको मतवाला।
जिसने चाह लगाई तुझसे बना रहा वो ही मतवाला॥

जिन्हें न कुछ इच्छा थी जग में, पर थी तेरे दर्शन की।
आँख मिचौनी में ही तू ने, पिला दिया इक नारंगी प्याला॥

जो कहते थे राग रंग को कैसा है यह कोलाहल।
बस उनको भी बुला पास फिर ढाल दिया इक तीखा प्याला॥

कई एक जो बच बच कर थे, चलते चित चुराते थे।
राह में उनके भी तूने, बहा दिया झरना रँग वाला॥

वैसे जो जन मदमस्ती में निरे झूमते फिरते थे।
छुआ दिया ओठों में उनके नारंगी सा फेनिल प्याला॥

जो छिपते थे तुझे देखकर पर तेरा याद कराते थे।
उनके पीछे होकर तू ने तान दिया इक सुन्दर सा जाला॥

बहुरँगी कोई पी पी कर सुध बुध सब बिसराते थे।
उनकी बिगरी दशा देख कर हटा लिया ओठों से प्याला॥

केवल पिया न प्याला तेरा जिसने तुझे पिलाया प्यार।
आँख मिचौनी में खुद आँसू बन, बना दिया मतवाला॥

द्विरेफ
विद्यालङ्कार

तपस्वी अबुल अब्बास नहाओन्दी

[अनुवादक—श्रीयुत विनोदचन्द्र, विद्यालंकार]

यह एक महाज्ञानी और परम वैराग्यवान् पुरुष थे। अपनी ज्ञान-साधना की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि "मैं अपनी साधना के प्रारम्भ के १२ वर्षों तक सदा नीचे मुख करके रहा था। इससे मेरे अन्तःकरण में वास्तविक तत्व-ज्ञान का उदय हुआ। अनेक मनुष्य प्रभु-दर्शन अथवा प्रभु-प्राप्ति की इच्छा रखते हैं; परन्तु मुझे तो सदा यही अभिलाषा रहती थी कि भगवान् मुझे थोड़े-से भी ऐसे क्षण दे दे, जिससे मैं उनके पवित्र दर्शन कर सकूँ; अर्थात् मैं अपने-आपको यह जान सकूँ कि "मैं कौन हूँ ? कैसा हूँ ? और कहाँ हूँ ? मेरी यह यह इच्छा बहुत दिनों तक पूर्ण न हुई थी।

\+ + + +

तपस्वी अबुल अब्बास अपनी आजीविका का भार अन्य मनुष्यों पर डालना पसन्द न करते थे। वे अपने हाथों से टोपियाँ सीते थे। सिलाई का दाम वे कभी दो पैसे से अधिक न लिया करते थे। दो पैसों में से भी वह एक पैसा प्रतिदिन दान करते थे तथा एक पैसे से वे अपना गुज़ारा चलाते थे। जब तक दोनों पैसे समाप्त न हो जाते थे, तब तक वे कभी दूसरी टोपी सीना आरम्भ न करते थे।

\+ + +

इनका एक शिष्य था। उसके पास अतुल धन-सम्पत्ति थी। इस सम्पत्ति में से उसने कुछ भाग दान के लिए भी पृथक् रख छोड़ा था। इसमें से किसको दान करना चाहिए ? इस विषय में उसने अपने गुरु से पूछा। महात्मा ने उत्तर दिया कि "तुझे जो सुपात्र लगे, उसे देना।" शिष्य यह सुन कर वहाँ से सुपात्र की तलाश करने चला। मार्ग में उसने एक निर्धन, अन्धे मनुष्य को देखा। इस मनुष्य को दान का सुयोग्य पात्र समझ कर उसने उसको एक स्वर्ण मुद्रा दी।

दूसरे दिन कार्यवशात् जब वह शिष्य उसी मार्ग से जा रहा था, तब उसने उसी अन्धे को किसी अन्य मनुष्य से यह कहते सुना कि "कल मुझे किसी मनुष्य ने स्वर्ण मुद्रा दी थी। उसके द्वारा मैंने यथेच्छ शराब पीकर वेश्यागमन किया।"

यह बात सुनकर शिष्य को अत्यधिक खेद हुआ। गुरु के पास जाकर उसने उनको सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। गुरु ने उसके हाथ में एक पैसा देकर कहा कि "जा, जो मनुष्य तुझे सबसे प्रथम मिले, उसको यह पैसा दे देना।" यह पैसा गुरु ने स्वयं सी हुई टोपियों के बेचने से प्राप्त किया था।

शिष्य पैसा लेकर बाहर गया। सबसे पूर्व उसे 'अलभी' सम्प्रदाय का एक निर्धन मनुष्य मिला। उसने उसको वह पैसा दे दिया। 'अलभी' वह पैसा लेकर आगे चला। शिष्य ने भी उसका अनुगमन किया। अलभी ने एक निर्जन स्थान में जाकर अपने वस्त्रों के नीचे से एक मृत-पक्षी को निकाल कर दूर फेंक दिया। शिष्य ने जब उस पक्षी को फेंकने का कारण पूछा, तब अलभी ने बताया कि "आज सात दिन से मेरे परिवार के मनुष्यों के

मुख में अन्न का एक दाना भी नहीं पड़ा। भिक्षा-वृत्ति मुझे सदा नापसन्द है। इस स्थान पर इस मृत-पक्षी को देखकर मुझे अपनी तथा अपने परिवार के सदस्यों की क्षुधा-निवृत्ति की चिन्ता हुई। मैंने उस मृत पक्षी को लाचार होकर अपने साथ ले लिया। पक्षी को लेकर मैं घर ही जा रहा था कि मार्ग में आपने मुझे यह पैसा दिया। अब मुझे मृत-पक्षी की कोई आवश्यकता न रही थी। इसलिए मैंने इसे जहाँ से पाया था, वहीं छोड़ जाना उचित समझा।"

शिष्य यह बात सुनकर आश्चर्यान्वित हो गया। उसने गुरु के पास जा कर जो कुछ देखा-सुना था, वह कह सुनाया। गुरुजी ने कहा कि "निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि यह धन तुमने अत्याचारियों और दुराचारियों से मिल कर कमाया है, इसी कारण तेरे धन का दान उस नीच अन्धे को हुआ; और उसने यह धन दुराचार तथा सुरापान में व्यय किया। मेरे न्याय-पूर्वक प्राप्त किये हुए एक पैसे ने एक परिवार को निषिद्ध भोजन से बचा लिया। ऐसा होना स्वाभाविक ही है।"

\+ + + +

एक दिन एक नास्तिक वेश बदल कर तपस्वी अबुल अब्बास कस्सार की परीक्षा लेने के लिए उनकी पर्णकुटी पर आया। अबुल अब्बास कस्सार उग्र स्वभाव के थे। उन्होंने उस नास्तिक को पहिचान कर कहा कि "अरे! तू यहाँ क्यों आया है? तेरा क्या प्रयोजन है?" नास्तिक को यहाँ रहने का स्थान न मिलने के कारण वह तपस्वी महाओन्दी के पास गया। महात्मा ने उसे पहिचान कर भी कुछ न कहा। वह नास्तिक वहाँ चार मास तक रहा। कपट-भाव से वह वहाँ मुसलमानों के साथ रोज़ नमाज़ पढ़ा करता था। एक दिन महात्मा ने उससे कहा कि "देख भाई! यहाँ के अन्न-जल से तेरा सम्बन्ध हुआ है, अतः हमारी तरफ़ तुम्हारा विरुद्धभाव लेकर जाना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता।" यह सुनकर पूर्वोक्त नास्तिक अद्वितीय ईश्वर की उपासना में तत्पर होकर वहीं रह कर महात्मा का सत्संग करने लगा। वह एक सिद्ध पुरुष हुआ है। महात्मा के परलोक-गमन के पश्चात् यही उनके स्थान पर आसीन हुआ।

ये महात्मा निम्न दो उपदेशों का प्रायः प्रचार करते थे—

(१) अहंता—ममता का विरोध कर सब प्राणियों का बन्धु-भाव से सन्मान करना ही ऋषित्व है।

(२) प्रथम धर्मज्ञान—(कर्तव्य ज्ञान) प्राप्त करना चाहिए। तत्पश्चात् अन्य साधनाओं के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा है। हरेक हिन्दुस्तानी को इसका सीखना जरूरी है। भारत की सब भाषाओं में यह अत्यन्त सरल है। महात्मा गांधी के प्रयत्न से दक्षिण-भारत में हिन्दी का प्रचार जोर से हो रहा है। आशा है, स्वतंत्र-भारत में शिक्षा का माध्यम और राजकीय विभागों की भाषा हिन्दी ही होगी।

—नागेश्वर राव

सुषम सुमन-राशि का भाषण !

आनन्द की स्वर-लहरी

[ले०—श्री पं० ईश्वरदत्तजी 'विशारद' आलेख्याध्यापक गुरुकुल काँगड़ी]

प्रकृति के वक्षःस्थल पर खिले हुए पावन पुष्पों की रम्य सुरभि ने समीर तीर छोड़कर मुझे नीरव निमन्त्रण दिया। इस शब्द विहीन निमन्त्रण में सरल आकर्षण और विश्वमोहक विचित्र मुसक्यान थी। सभ्यता के नाते, बिना प्रयास, मैंने अपने पाँव उधर बढ़ा दिये।

सचमुच वहाँ की शोभा भी बहुत ही मनोहर और रमणीक थी। निखरी हुई हरियावल अपने अनूठे सौन्दर्य पर स्वयं ही मुग्ध थी। तरह-तरह के रंग-बिरंगे, खिले फूल बोले, "आओ, स्वागत है। आनन्द के इस सुन्दर सर में सारी संसृति स्नान कर रही है। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना जाह्नवी कैसी भाव-पूर्ण कविता का स्रोत बन रही है। जगत् की वाह्य और आन्तरिक चिन्ता से उन्मुक्त प्रकृति के प्रेमी, किस मुग्धावस्था में बैठे हुए इस सुधा स्नान का सुख प्राप्त कर रहे हैं। आओ, तुम यह अवदात अवसर क्यों चूकते हो ? प्रसन्नता, हर्ष और मंगल स्वच्छता की सुवर्ण घड़ी में, अरे ! तुम क्यों आलस्याच्छादित हो ? तुम्हारा स्वागत है। आओ, एक बार नहीं, शत-बार, हम तुम्हारा स्वागत हृदय से करते हैं। ज़रा आगे बढ़कर तुम भी आनन्दामृत पान करो। हम तुम्हें स्वर्ग के वे शीत गीत सुनावेंगे, जिन्हें सुनकर मुक्तात्माएँ भी अपने को धन्य मानती हैं, जिन गीतों ने सृष्टि के आदि में अपनी मधुरता, कोमलता और भाव-सुन्दरता से समस्त जगत् पर विजय प्राप्त की थी। उन गीतों का प्रभाव कभी विकृत नहीं होता। जब सूर्य की प्रथम सुनहरी किरणें पृथ्वी को छूने आई थीं, उस समय से आज तक हमारे गीतों की महिमा में कोई अन्तर नहीं आया। संसार में बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राटों ने अपनी विजय-ध्वजा से दिग्-दिगन्त कम्पित कर दिये, पर यह गीत वैसे ही बने रहे। विश्व-पटल पर अनेक भीषण राज्य-क्रान्तियों ने बड़े प्रतापशाली साम्राज्यों की नीवों को डावाँडोल कर दिया, तिस पर भी इन गीतों का प्रभाव वैसा ही रहा, जैसा कि उस शैशवावस्था में था। जब कि सुनील गगन पर नीहारिका ने पहिली बार अपनी शोभा बिखेरी। हमने सुना है कि युगान्तर आये और चले गये। ये गीत वैसे ही अप्रभावित बने रहे। आओ, हम तुम्हें वे ही गीत सुनावेंगे। इन गीतों में स्वर्गीय अप्सराओं का रम्य-राग है जिसे श्रवण करने के लिए देवगण भी तरसते हैं।

\+ + + +

"व्रज-मंडल की रजत-रेखा का स्पर्श करती हुई रविसुता यमुना जिस प्रकार अपने श्यामल-अंचल में कृष्ण की मधुर मुरली की अतीत स्मृति, सम्हाल कर, छिपाए हुए मुदित मन चली जाती है, उसी तरह हम अपनी प्रकृति के बालपन की बातें सोच-सोचकर सस्मित-वदन बने रहते हैं। सृष्टि के आरम्भ में जब प्रकृति, जीवन के सुनहले प्रभात में खेलती थी। तब न-जाने कितनी सुन्दर और आकर्षक होगी ? उसका बाल-सुलभ माधुर्य न-जाने कितना भाव-व्यञ्जक और अनुपम होगा ? उस पर

एक विचित्र अरुण कनक-रेखा मुस्करा रही होगी ? प्रत्येक वस्तु में कुछ और ही लावण्य होगा। उस समय की विभूति कितनी विमल, कितनी प्रसन्न और कितनी हृदयहारी होगी ? बालपन के वे अनोखे दिन किसे याद नहीं आते ? उन दिनों की सुख स्मृति, स्वप्निल छाया के समान रह-रह कर हृदय में से आया-जाया करती है। आह ! बालपन की स्मृतियाँ भी कैसी सस्मित और शोभा सम्पन्न होती हैं ! वह समय भी कैसा विचित्र होता है, दुःख, चिन्ता, ग्लानि, शोक, क्षोभ, और क्रोध की विकराल आकृतियाँ वहाँ आ ही नहीं पातीं। बड़ी स्निग्ध मधुरता से परस्पर साम्य-भाव का सुवर्ण सिद्धान्त हँसता रहता है। क्या वह प्यारा बालपन फिर कभी आयेगा ? क्या वे भोले भाले सुनहरे दिन अब नहीं आवेंगे ? सुनो, उस खोये हुए बालपन के लिए क्यों पश्चात्ताप करते हो ? उसके लिए दुःखी मत हो। तुम मनुष्य हो। मनुष्य को किसी अनिवार्य बात के लिए व्यर्थ पश्चात्ताप कभी शोभा नहीं देता। ज़रा साहस करो। जो आनन्द तुमने बाल्यावस्था में उठाया है, उसे तुम अब भी पा सकते हो। वह खोया नहीं है। हृदय की अन्तरतम समाधियों में वह अब भी कहीं विश्राम कर रहा है। उसे जागरित करो। बचपन की वह सुनहली उषा तुम्हारे जीवन-आकाश में अब भी व्याप्त हो सकती है। अब भी तुम वही आनन्द, वही प्रेम, वही साहस और उसी जाज्वल्यमान जीवन ज्योति का आभास प्राप्त कर सकते हो। आओ, हमारे साथ खेलो। हमारे साथ उठो-बैठो। हमारे बीच में अपने व्यस्त जीवन की कुछ घड़ियाँ व्यतीत करो। थोड़ी देर के लिए संसार की समग्र चिन्ता-व्याधियों से बिलकुल दूर हो जाओ। राग, द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर और छल-छद्म की दूषित परिस्थितियाँ त्यागकर स्वच्छ मन से तुम हमारे साथ अपनी हृत्तन्त्री के राग छेड़ो। हृदय की सुषुप्त स्मृतियों को यह राग सुना-सुना कर जगाओ। फिर देखो, शान्ति के इस अटल साम्राज्य में तुम्हें कैसा सुख मिलता है। अमरनाम ऋषि-महर्षियों ने इन्हीं स्थानों में, प्रकृति के इन्हीं प्रासादों में बैठकर, तपस्या करके नैसर्गिक शान्ति का अनुभव किया था। संसार के बड़े-बड़े ज्ञान-भण्डार, जिन पर आज तुम गर्व करते हो, जिन्हें श्रद्धा के साथ देखते हो, इन्हीं प्राकृतिक आँगनों में रचे गये थे। यहीं पर विश्व-विश्रुत यशस्वी कवियों ने अपनी प्रतिभा का विकास किया था। इन्हीं स्थानों में, प्रकृति की इन्हीं श्यामल वाटिकाओं में स्वनाम-धन्य कवियों ने अपने संगीत की स्वर-लहरी को गुँजाया था। नीचे हरियाली झूम-झूम कर समीर के साथ खेलती थी और ऊपर प्रसन्नाकाश में तारक राशि को समुज्वल आभा हँसती थी, ऐसे ही समय कवि अपनी कवित्व-प्रतिभा में मुग्ध हो उठते थे। प्रकृति के इन्हीं क्रीड़ा-स्थलों में कवियों ने जगत् को प्रभावित कर देने वाली सामग्री की रचना की थी। आकाश के नीचे हँसनेवाले यही मनोहर स्थान कवियों को बहुत पसन्द आते थे।

"हम तुम्हें स्वर्ग के वे भावमय गीत सुनावेंगे, जिन्हें सुनकर तुम मस्त हो उठोगे। हम तुम्हें प्रेम के—वासनामय प्रेम के नहीं—पवित्र प्रेम के वे गीत जिन में वेदनाओं का संक्षिप्त इतिहास ही नहीं, वरन् जीवन-पथ की निविड़ता, अँधियारी में आने वाली असरल समस्याओं को सुलझानेवाला उज्ज्वल प्रकाश भी होगा, सुनावेंगे। हम तुम्हें उन वीर-रत्नों की कहानियाँ सुनावेंगे, जिन्होंने दुःख और सन्ताप से व्यथित मानव-जीवन का करुणस्वर सुनकर,

अपनी समस्त शक्ति-विभूति उन्हें सुखी बनाने में सहर्ष व्यय कर दी, हम इन वीरों की त्याग-भावना देख-देखकर मन ही-मन फूल उठते हैं। जिन वीरों ने देश और जाति के दुःख से उद्विग्न होकर, निःस्वार्थ-भाव से, अपना अमूल्य जीवन अन्याय और अत्याचार की प्रचण्ड ज्वाला बुझाने का प्रस्तुत्य प्रयत्न करते हुए समाप्त कर दिया, वे वीर हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। हमें उन पर गर्व होता है। सुखद-वायु जब हम तक कोई ऐसा समुन्नत सन्देश पहुँचा देती है, तो हम मस्ती से झूमने लगते हैं। देश की दुरवस्था से दुःखी होकर त्याग और तपस्या की दुस्साध्य साधना में तिल-तिल कर अपने व्यक्तित्व को स्वाहा करनेवाले अमर-वीरों पर किसे गर्व न होगा ? मनुष्यों के पाप काटनेवाली, पतितों को समुन्नति का पाठ पढ़ानेवाली, निराश हृदयों को आशा-उषा के प्रशस्त पथ पर ले जानेवाली वीर-कृतियाँ सुन-सुनकर हम भी प्रसन्न हो उठते हैं। अतृप्त अभिलाषाओं की समाधि पर श्रद्धा और प्रेम के आँसू बहाते हुए, निराश प्रेमियों की कृतियाँ देख-देखकर हमें किंचित्-मात्र अवसाद अवश्य होता है, पर वह उसी प्रकार जैसे आकाश में जगमगाती हुई दीप-छटा पर इधर-उधर से भूला-भटका बादल का छोटा टुकड़ा एक आवरण सा डाल देता है, पर प्रसन्न हवा उसे दूर भगा देती है। जब कभी हम स्वार्थी और घृणित जन की पाप कहानी सुनते हैं, या मनुष्य-समाज की कृतघ्नता, निष्ठुर-हृदय-हीनता और उपेक्षा-सम्बन्धी कहानियाँ सुनते हैं, तब हृदय में उनके प्रति कुछ सहानुभूति और समवेदना उठती है। क्यों नहीं, वे अभिमानी जन हमारे पास आकर तनिक-सा शिष्टाचार और उदार-नम्रता सीख जाते। आह ! वे क्यों नहीं अधिक सदय हृदय और विशद-विचारवाले हो जाते ? जिस मनुष्य-जाति पर प्रसन्न होकर जगदीश ने उसे बुद्धि-जैसा अमूल्य पदार्थ उपहार में दिया है, वह भी जाति-भेद, वर्ण-भेद, और भेद-भाव-जैसी गर्हित कुरीतियों में व्यस्त रहे, इससे बढ़कर लज्जा, ग्लानि और शोक-सन्ताप की क्या बात होगी ? हम तो मनुष्य-जाति की स्वतन्त्रता पर, ईश्वर-प्रदत्त विभूतियों पर प्रसन्न होते हैं, पर मनुष्य इन कलंकों को दूर क्यों नहीं करते ?

"न-जाने क्यों मनुष्य आनन्द और प्यार चिल्लाया करते है। ये दोनों वस्तुएँ तो उनके पास उपस्थित हैं। जो आनन्द बाल्य-काल में—जीवन के सुनहले प्रभात में था, वह अब भी प्राप्त किया जा सकता है। गीतों में उस आनन्द का आभास मिलेगा। हमसे विमलता का विचार ग्रहण करो। इस पवित्रता को जीवन की प्रत्येक कला में, भावों के हरेक अंश में अनूदित करो। अपने प्रेममय सरल शुद्ध जीवन-संगीत की स्वर-लहरी को हमारी संगीत-स्वर-लहरी में मिलाओ, भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे। उस सरल सत्य को सुनो। आनन्द जीवन का प्रधान तत्व है। आनन्द-विहीन जीवन-ज्योति का प्रकाश तो नगण्य है। जब तक शरीर में आनन्द की विभूति है, तब तक ही शरीर में जीवन की स्थिति है, जीवन के इस अमूल्य तत्व का महत्व परिश्रम-पूर्वक सीखा जाता है। विलास-प्रिय जातियाँ, जिन्होंने वासना में ही आनन्द समझ रखा है, जो सुरा, संगीत और विषय को ही सुख समझती हैं, संसार में कोई विशेष स्थिति नहीं रखतीं। इतिहास के पन्नों पर अपनी बुराई की गहरी छाप छोड़ देने के लिए वे अचानक बुद्बुदे की तरह उठीं और वैसे ही विलीन हो गईं। ऐसी जातियाँ इस स्वर्गिक सुख

से वंचित हैं। हमारा शैशव इसी अध्ययन में बीता है, विधाता के विशाल विश्वमञ्च पर जब वाह्य साम्राज्य-ध्वजा शान से फहरा रही थी, दुःख, क्लेश, संकट, संताप, वेदना और कलमष की ध्वनि कहीं भी सुनाई नहीं पड़ती थी। आनन्द की उस शुभ्र-बेला में ऋषि-महर्षि और तत्ववेत्ताओं ने यह अमूल्य सत्य प्रकाशित किया था कि निरालस्य अविच्छन्न आनन्द, प्रकृति-प्रेम और परिश्रम में है। आनन्द जीवन-दाता है। वही सनातन सत्य महापुरुषों ने अपने जीवनों में क्रियात्मक रूप से कर दिखाया है। जीवन विश्व के उपयोग के लिए है। विश्व परमात्मा का प्रतिबिम्ब है, अतः सार्थक जीवन उसका भक्त है। इस महान् सत्य का शुभ्र संकल्प है प्रसन्न चित्त, स्वास्थ्य, आनन्द और मानव-जगत् की सस्नेह सेवा।

"इसलिए, आओ, निराश न हो। निराशा की अँधेरी कन्दराओं में अपने व्यथित मन को मत भटकाओ। आशावादी बनो। इस आनन्द के उपहार को सप्रेम स्वीकार करो। परमात्मा-प्रदत्त इन साधनों का सदुपयोग करो। विलास और रङ्ग, संसृति के क्षणिक अस्थायी और नीरस विषयों को आनन्द मत समझ बैठो। वे आज अपनी टिमटिमाती हुई छाया समान शोभा से तुम्हें मुग्ध कर रहे हैं। कोई नहीं कह सकता कि उनकी मनोहरता कल भी वैसी ही सुन्दर और आकर्षक बनी रहेगी, उसमें परिवर्तन न होगा। जो आज-कल की उच्चतम श्रेणी पर स्थित होकर, मान सम्मान, सुयश और विरद-कीर्ति का भागी है; वह यह नहीं कह सकता कि उसकी यह प्रगति ऐसी ही रहेगी। कौन जानता है कि, विश्वम्भर की निराली कृतियाँ उसे कल पतन के स्वप्न भी दिखा देंगी। कोई भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि अन्धकार से परिपूर्ण गहरी कन्दराओं में छिपे हुए हीरे कल अचानक अपनी जगमगाहट से संसार को चकाचौंध कर देंगे। अनिश्चित संसार की अनित्य शोभा पर मत लुभा जाओ, इन में सच्चा आनन्द नहीं है। आर्थिक कोलाहल की भीषणता से त्रस्त संसार के लिए, इस समय. शान्ति की आवश्यकता है। वह शान्ति हम ही दे सकते हैं। जब-जब विप्लव और क्रांतियों ने राज्यों को छिन्न-भिन्न करके, विश्व के सामञ्जस्य को धक्का पहुँचाया है, तब-तब हमीं ने उस शान्ति का पावन सन्देश सुनाकर, ठीक व्यवस्था की है। हमारा आनन्द स्रोत अजस्र है। यह प्रवाह से अनादि है, विकार भय, भेद, और अपवित्रता इसके पास तक नहीं आ पाते, यह सर्वदा एक-रस और पक्षपात विहीन है। इसके पावन संसर्ग से बड़े-बड़े पापात्माओं ने, जिनका समूचा जीवन हिंसा, क्रूरता और बर्बरता के इतिहास से भरा था, प्रच्छन्न-पथ त्याग कर, सन्मार्ग अवलम्बन किया है। संसार की कठिनाइयों से घबड़ाये हुए दुःखित जनों ने इसकी अमर गोद में बैठकर वही सुख प्राप्त किया है, जो कभी बालपन में उन्होंने अपनी स्नेहशालिनी जननी की प्यारी गोद में बैठकर अनुभव किया होगा। बड़े-बड़े नर-पिशाच, जिनकी रोमांचकारी भयानक गाथाएँ सुनकर पृथ्वी त्रस्त थी, इसी पावन प्रकृति की स्वर्गीय सुरभि से इतने कोमल और दयालु हो गये हैं कि उनको आश्चर्यकारक परिवर्त्तन एक अद्भुत घटना के रूप में विदित होता है। काया-कल्प करनेवाले हमारे ये गीत, भला किसे न पसन्द आवेंगे? क्या अब भी तुम हमारा निमन्त्रण स्वीकार नहीं करोगे?"

सुषम सुमन-राशि का यह प्रभावशाली भाषण सुनकर मैं मुग्ध हो गया। प्रसन्न गगन की सस्मित शोभा, हरे-भरे शस्य सम्पन्न खेत, नील व्योम की स्वच्छ छाया को अपने अन्तस्थल में खिलानेवाली चंचल सरिता और आनन्द दायक शीतलमंद सुगन्ध समीर, सब ही प्रसन्न हैं। मैं क्यों न इस प्रसन्नता का निमन्त्रण स्वीकार करूँ?

एंजिन-ड्राइवर

[लेखिका—श्रीमती विजया स्नेहरश्मि]

आज हुसैन का प्राण बहुत अशान्त था। उसने न सोचा था कि उसका साहब इतना निठुर बन जायगा। आज तक उसने शायद ही कभी बिना कारण छुट्टी माँगी थी, तो भी आज साहब ने साफ़ इनकार कर दिया। उसका इकलौता बेटा मृत्यु-शय्या पर पड़ा है, उसकी सेवा करनेवाला कोई नहीं। लड़के की माँ भी गुज़र गई है इत्यादि अनेक हृदय-वेधक हक़ीक़तें अपने साहब को आँसू भरी आँखों से सुनाईं। पर साहब का हृदय न पसीजा। हुसैन के मन में आज एक ही बात चक्कर लगा रही थी।

हुसैन एक ग़रीब आदमी था। बरसों से वह फ़ायरमैन के तौर पर नौकरी कर रहा था। पिछले डेढ़ साल से अपने सख़्त परिश्रम के कारण एंजिन-ड्राइवर बन सका था। परन्तु इसी अरसे में अपने दो वर्ष के लड़के को छोड़कर उसकी पत्नी गुज़र गई। अपनी स्त्री की मृत्यु का घाव हुसैन के लिए असह्य था। पर खुदा की मर्ज़ी समझ कर उसने इस घाव को चुपचाप सहन कर बच्चे की रखवाली शुरू कर दी। पर उसके दुःख का उतने से ही अन्त न आया। आज पाँच दिन से लड़के का बुख़ार न उतरा था। हुसैन को आशा थी साहब छुट्टी दे देगा। परन्तु उसे छुट्टी न मिली, और आज उसे लड़के को अकेला बुख़ार में छोड़ कर नौकरी पर आना पड़ा।

\+ + + +

काल के अनन्त मुख में घुसती हुई मानवता की तरह रेलगाड़ी गाढ़ अन्धकार में जा रही थी। हुसैन गवर्नर पर हाथ रखकर सामने नज़र रखे हुए बैठा था। हमेशा कोई-न-कोई बात करने वाला हुसैन आज बिलकुल शान्त है, यह देखकर फ़ायरमैन को आश्चर्य हुआ। एक ने ज़रा हिम्मत करके कहा—

"हुसैन भाई, सेफ़्टीवाल्व बोल रहा है।"

'हाँ' कहकर हुसैन निरुत्तर हो गया। कब से वह उस सेफ़्टीवाल्व की आवाज़ सुन रहा था। उसे प्रतीत हो रहा था कि इसमें बुख़ार से पीड़ित अनेक बच्चे धधक रहे हैं। मृत्यु-शय्या में पड़े अपने लड़के को याद करके वह सेफ़्टीवाल्व को भूल गया। फ़ायरमैन के शब्द सुने-न-सुने इतने में तो उसका ध्यान फिर बच्चे के बिस्तर के पास चला गया। थोड़ी देर के बाद स्टीम-गेज़ पर नज़र करते हुए फ़ायरमैन बोला—

"साहब, स्टीम बढ़ गई है।"

हुसैन ने स्टीम-गेज़ पर नज़र फेंकी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह काँपते हुए बड़ा होकर मानों शून्य में लीन हो गया। वाटर-गेज़ में उछलता हुआ पानी उसे दुःख के अनेक आँसू प्रतीत होने लगे। सेफ़्टीवाल्व और ज़ोर से बोलने लगा।

"हुसैन भाई, स्टीम बढ़ गई है।" फ़ायरमैन ने फिर हिम्मत करके कहा और साथ ही पूछा "स्टीम छोड़ दूँ।"

हुसैन को अब भान हुआ कि स्टीम बहुत बढ़ गई है और सेफ़्टीवाल्व कब का भयंकर आवाज़ कर रहा है। उसने फ़ायरमैन को एक दम स्टीम छोड़ने के लिए कहा।

वह फिर विचार में पड़ गया। रेलगाड़ी आगे बढ़ती जा रही थी। फ़ायरमेन भाप छोड़ने और आग कम करने लग गया। हुसैन सामने दूर शून्य-दृष्टि किए बैठा है। सिगनल की लाल बत्ती उसने दूर से देखी। पर उसे ध्यान न था कि गाड़ी रोकनी चाहिये थी। उसे तो लाल बत्ती बुखार से असहायावस्था में पड़े अपने बच्चे की लाल आँखें अपनी ओर देखती प्रतीत हुईं। अपार वेदना के साथ वह बत्ती की ओर देखता रहा। बत्ती का अन्तर बड़े वेग से कम हो रहा था। एंजिन भी बे-लगाम होकर अपने ड्राइवर की गफ़-लत पर घोर अट्ट-हास करता हुआ आगे बढ़ा जा रहा था। दो फर्लांग, एक, आधा फर्लांग— हुसैन एक दम चौंका। उसे एकाएक ख़याल आया सिगनल नहीं दिया गया है। उसका सारा शरीर काँप उठा, पास को लाइन पर उसने दूसरी गाड़ी देखी। अपना सारा ज़ोर आजमा कर उसने ब्रेक दबाया, पर गाड़ी रुके इससे पहिले तो वह दूसरी लाइन पर चढ़ चुकी थी। हुसैन की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। इस भयंकर दृश्य को टालने के लिए उसने आँख मींच ली। उसे विश्वास था कि थोड़ी ही देर में एक बड़े धड़ाके के साथ उसकी हस्ती मिट जायगी। पर वह इस आपत्ति से बच गया। केवल दस फुट के अन्तर के कारण गाड़ी टकराने से बच गई। पर मूर्छा खानेवाले आदमी की तरह हुसैन का एंजिन सामने की लाइन पर पाँच फुट के अन्तर पर आकर अटक गया। टक्कर बच गई। पर हुसैन के सिर से आफ़त न टली। उसे स्टेशन पर जवाब तलब किया गया। उसे काम पर से हटाकर दूसरे ड्राइवर को वह एंजिन सौंपा गया। अपने कर्तव्य में ऐसी बेपरवाही करने का दण्ड उसे रेलवे की तरफ़ से या अदालत की तरफ़ से मिले इसका निर्णय उस विभाग के बड़े अवसर के हाथ में होने के कारण उसे कुछ समय के लिए स्टेशन की पुलिस की हिरासत में रखा गया। इस विपत्ति से हुसैन पागल-सा हो गया। उसे निश्चय हो गया कि वह अपने लड़के का मुँह न देख सकेगा। वह यदि अपने बच्चे के पास होता, तो किसी-न-किसी तरह उसे बचा लेता, परन्तु साहब ने छुट्टी न दी, इसलिए लड़के का अकाल-मरण हुआ। साहब का ख़याल करते हुए उसके मन में एक विचार आया, 'यही साहब मेरे लड़के का खूनी है।' हुसैन का सारा शरीर साहब के प्रति वैर, तिरस्कार और घृणा से भर गया। उसने साहब को अनेक शाप दिए। ख़ुदा इसका अवश्य बदला देगा वह मन-ही-मन बड़बड़ाया। स्टेशन-पुलिस का हिरासत में उसका सप्ताह बोत गया। इस अर्से में उसे ख़बर मिली कि उसका लड़का गुज़र गया। उसे अब जीवन में कोई रस न रहा।

\+ + + +

दस दिन बाद ऊपर के अधिकारो का जवाब आ गया कि हुसैन को अपनी गफ़लत पर नौकरी से अलग कर दिया जाय। अब हुसैन एकदम शून्यवत् हो गया। जिसके कारण उसे अपने जीवन का कुछ प्रयोजन था, जो उसका जीवन-सूत्र था, वह सब आज टूट गया। हुसैन ने अपने हृदय में कभी किसी महत्वाकांक्षा को न पाला था। वह फ़ायरमैन था, तब भी उसे सन्तोष रहता था। उसके यौवन में उसकी दो प्रेरणा--मूर्तियाँ थीं—एक आँखों के नूर-सी आयशा और दूसरा उसका एंजिन। आयशा की आँखों में अपना प्रतिबिम्ब देखते वह कभो न थकता था। एंजिन का घोर संगीत सुनते वह कभी न अघाता था। उसके दो प्रिय साथियों के साथ

संत मथुरादास

[ले०—प्रो० लालचंदजी, एम्० ए०, उपाचार्य गुरुकुल काँगड़ी]

संत मथुरादास कब पैदा हुए, कहाँ पैदा हुए, यह मुझे कुछ पता नहीं। जब गुरुकुल गंगा के उस पार होता था, मैं और प्रो० देवराज सेठी प्रायः छुट्टी के दिन संतजी का सत्संग करने के लिए आया करते थे। सत्संग क्या था, साथ-साथ भागते फिरना था। संतजी दोपहर को कहीं से चौक में आ प्रगट होते। हम भी पीछे-पीछे हो लेते। कभी किसी घर में घुस जाते, कभी किसी घर में। जब वह किसी घर में भोजन करने के लिए घुस जाते थे तो हम उनकी प्रतीक्षा करते रहते थे। एक बार वह एक मकान में घुसकर किसी और तरफ़ से बाहर निकल गये और हम बाहर ही प्रतीक्षा करते रह गये। उस दिन संतजी ने हमें खूब चकमा दिया।

> वैसे तो हरिद्वार में बहुत से साधु-सन्त फिरते हैं; पर सन्त मथुरादास एक सच्चे सन्त थे। वे पाखण्ड को नहीं मानते थे। गंगा-स्नान और मूर्ति पूजा में जो अज्ञान और ढोंग है, उसकी भी निन्दा वे हरिद्वार-जैसे स्थान पर निधड़क करते थे। वे बड़े निर्द्वन्द्व थे। एक लँगोटी के अतिरिक्त और कोई वस्त्र नहीं धारण करते थे। किसी कुटी-घर में भी नहीं बसते थे। गर्मी, सर्दी, बरसात में सदा नग्न और बेघर रहते थे। सर्वथा स्वस्थ थे। दिन में एक बार दोपहर को भिक्षा करने कनखल आदि बस्ती में आते थे और घर-घर से माँगी दो-दो रोटियाँ चलते-चलते खाते हुए फिर बाहर चले जाते थे। उनकी बातचीत में उनका ज्ञान-सम्पन्न होना स्पष्ट अनुभव होता था। इसीलिए गुरुकुल काँगड़ी के इंगलिश के प्रोफेसर श्री लालचंदजी तथा गुरुकुल के अर्थ-शास्त्र के प्रोफेसर (तथा पीछे सहायक मुख्याधिष्ठाता) श्री देवराजजी सेठी-जैसे लोग भी उनके दर्शनार्थ जाने लगे थे और उनसे वार्तालाप करते थे। ऐसे सन्त की बातें आध्यात्मिक पाठकों के लिए लाभदायक हो सकती हैं, इसलिए हमारी प्रार्थना पर श्री प्रो० लालचंद जी ने इस लेख में सन्त मथुरादासजी की कुछ आपबीती बातें लेखबद्ध कर देने की कृपा की है। आशा है पाठकों के लिए ये बातें रुचिकर और लाभदायक सिद्ध होंगी —अभय

पाठक कहते होंगे कि सत्संग का यह अजीब ढंग है कि किसी नंगे साधू के पीछे गलियों में घूमते फिरें, उनके स्थान पर जाना चाहिए। पर बात यह है कि उनका निश्चित स्थान तो कोई था नहीं, जिधर को निकल गये वही स्थान हो गया। चूँकि वह दोपहर को बस्ती में आते थे, इसलिए वहीं से उनके पीछे हो लेते थे, उनके साथ चले जाते थे।

(१) एक बार मायापुर वाटिका में जब पहली पाँच श्रेणियाँ वहाँ थीं; वह उधर आ निकले। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता जी वहीं थे, उन्होंने कहा, "संतजी, आशीर्वाद दीजिए कि हमें चन्दा बहुत-सा मिल जाए।" आशीर्वाद देने के स्थान पर संतजी ने एक

आपबीती सुना दी और चल दिये। उन्होंने सुनाया कि एक दिन मैं एक मकान में भोजन के लिए गया। भोजन के बाद देवी ने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहने लगी कि मुझे लड़का चाहिये। हाथ छुड़ा के और यह कह कर कि यहाँ से लड़के नहीं मिलते, लड़के देनेवाले साधू और होते हैं, मैं निकल आया।

(२) एक बार जब नयी भूमि में इमारतें बन रही थीं, मुझ से कहने लगे कि सुना है नये गुरुकुल मे बिजली भी लगेगी। मैंने कहा ख़याल तो है। कहने लगे इस बिजली में क्या धरा है, आत्म-बिजली जगानी चाहिये, बाहर के प्रकाश से क्या होगा अगर अन्दर अँधेरा रहा।

(३) एक बार हमने पूछा कि मन को कैसे रोका जाए? यह बहुत ज़बरदस्त है। कहने लगे ज़बरदस्त कहाँ है, नपुंसक है। जब तक हम इसकी सहायता न करें, तो वह कुछ नहीं कर सकता। मैंने पूछा, यह कैसे? कहने लगे एक बार मेरा मन मुझे बहुत तंग करने लगा और कहने लगा कि मांस खाना है। मैंने बहुत समझाया; पर न समझा। एक दिन ऐसा इत्तिफ़ाक हुआ मैं खड़ा-खड़ा हाथ पर रोटी धरे हुए भोजन कर रहा था कि ऊपर से एक उड़ती हुई चील के मुख से छूट कर मेरी रोटी के साथ टकरा-टकरा कर पके हुए माँस का एक टुकड़ा मेरे पाँव पर आ गिरा। मन ने मुझे कहा, इसको उठा ले और खा ले। मैंने कहा, अरे नपुंसक! हिम्मत है तो बाहर आकर अपने आप उठा ले, मुझे क्यों कहता है। जब मन ने देखा कि हाथ साथ नहीं देते, तो अपने आप चुप कर गया।

(४) एक दिन संतजी किसी खेत में आराम कर रहे थे। एक सेठ ने जिसे कोई इच्छा पूरी करनी थी संतजी के आगे एक रेशमी रूमाल में कुछ अशर्फ़ियाँ बन्द की हुई लाकर रख दीं। संतजी ने कहा, "यह क्या है?" सेठजी ने बड़े संकोच से कहा कि यह कुछ अशर्फ़ियाँ हैं। संतजी ने कहा कि इसे ले जाओ, यह हमारे काम की चीज़ नहीं है। सेठ भला इतनी जल्दी जानेवाला कहाँ था। न रूमाल उठाया न आप उठा। संतजी ने बार-बार कहा, भाईजी, क्यों हमें तंग करते हो! जब सेठ न हिला तो संतजी अपने-आप उठकर चल दिये। सेठ भी अशर्फ़ियाँ ले कर पीछे-पीछे हो लिया। कुछ दूर जाने के बाद संतजी मुड़े तो क्या देखते हैं कि वह सेठ अब भी उनके पीछे लगा हुआ है। तब वे वहीं खड़े हो गये और जब सेठ पास आ गया, तो उसे कहने लगे, "भाई! हमें एक बात का जवाब दो।" सेठ ने कहा, फ़र्माइये। संतजी कहने लगे—अगर तुमने अपने चौके को खूब साफ़ किया हो और सुंदर लेपन किया हो और उसके पश्चात् कोई भंगी आकर तुम्हारे साफ़ चौके में टट्टी फेंक दे, तो तुम उसे क्या कहोगे? कहने लगा कि मैं उसे खूब पीटूँगा। संतजी कहने लगे अब तू सोच तेरे साथ क्या बर्ताव किया जाय। हमने कितने परिश्रम से अपने अन्दर चौका फेरा, है—अपने चित्त को शुद्ध किया है, और तू यह धन ला कर उस चौके को गंदा किया चाहता है। चला जा यहाँ से, फ़क़ीरों को तंग करना अच्छा नहीं होता। यह बात सुन के सेठ के ठोस दिमाग़ में कुछ उजेला हुआ। एक सच्चे फ़क़ीर के सरल और स्वच्छ दिल की एक झाँकी मिली, और अपनी अशर्फ़ियों के साथ वहाँ से तशरीफ़ ले गया।

(५) एक दिन ज्ञान की कुछ चर्चा चली तो कहने लगे, तीन साँप थे मणिवाले। एक तो क्या करता, जब अँधेरा होता, तो अपनी मणि निकाल कर बाहर रख देता। उसके प्रकाश पर पतंगे आते

और वह साँप उनको चट कर जाता। दूसरा साँप भी अपनी मणि को निकाल के धर लेता और उसके प्रकाश में मिट्टी में खूब लोटता पोटता। तीसरा साँप भी मणि रखता था; पर वह उसे निकालता नहीं था। कहता था 'क्या प्रयोजन ?' मैंने कहा, आपने कथा तो सुनाई, पर इसका रहस्य नहीं बताया। कहने लगे पहिली प्रकार के ज्ञानी वह हैं, जो ज्ञान-प्राप्ति कर सेठों के यहाँ रहते हैं, और सुख-चैन से जीवन व्यतीत करते हैं, जैसे सर्प पतंगों को खाता है। दूसरे प्रकार के ज्ञानी वह होते हैं जो ज्ञान प्राप्त करके शास्त्रार्थ की धूल में लोटते हैं और बहसें करने में अपना समय बिताते हैं। तीसरे ज्ञानी असली ज्ञानी हैं, जो चुपचाप अन्दर का रस लेते हैं और जब तक कोई अधिकारी न मिले 'क्या प्रयोजन' कह कर ज़बान बन्द रखते हैं।

मैं समझता हूँ कि संतजी अपने-आप इस तीसरे प्रकार के ज्ञानी थे और पुत्रैषणा, वित्तैषणा लोकैषणा—इन तीनों से ऊपर उठे हुए थे।

(६) एक बार संतजी चण्डी-पहाड़ पर कहीं गिर पड़े और इतनी चोट आई कि वहाँ से हिल न सकते थे। कई दिनों तक जंगल में एक शिला पर पड़े रहे। जब उनके भक्तों ने बस्ती में कई दिनों तक उन्हें दृष्टिगोचर होते न देखा, तो वे उन्हें चारों ओर ढूँढने लगे। आख़िर उनका पता लगा और लोग उन्हें चारपाई पर लाये। वहाँ से उठाकर, कनखल रामकृष्ण-अस्पताल में इलाज के लिए भरती कर दिया। गिरने से उन्हें भारी ज़ख्म हो गया था और उसमें बहुत पस पड़ गई थी। इसके लिए चीरना (Operation) आवश्यक था। चूँकि चीरा काफ़ी गहरा लगाना था, डाक्टर क्लोरोफ़ार्म (Chlorofarm) देने लगे, तो संतजी ने कहा, भाई सूँघने की दवाई काहे को देते हो, तुमने जितना चीरना है चीर लो, कोई बात नहीं। जो वहाँ उपस्थित थे, कहते हैं कि संत जी के माथे पर बल भी नहीं पड़ा और उन्होंने इतने बड़े आपरेशन को मुस्कराते हुए करा लिया।

अगले दिन हस्पताल में हम लोग उनके दर्शन करने गये और पूछा, 'सन्तजी, चोट कैसे लग गयी', तो बोले कि पुराना हिसाब-किताब साफ़ हो रहा है। हमने पूछा कि डॉक्टर साहिब जब नश्तर से चीर रहे थे और खुर्च-खुर्च कर पस निकाल रहे थे, तो क्या आपको दर्द न होती थी? उस समय की हालत का जो उन्होंने वर्णन किया वह यह था कि जैसे हमारी बाहर की चमड़ी पर कोई हाथ लगावे वैसा ही अनुभव उन्हें अन्दर ज़ख्म में हाथ व नश्तर फेरने से होता था। वास्तव में डॉक्टर भी उनकी सहनशक्ति पर बड़े आश्चर्य-चकित थे।

कहते हैं कि उनका ज़ख्म भी आश्चर्य-जनक तेजीसे भरता और अच्छा होता गया। साधारणतया इतने बड़े ज़ख्म के ठीक होने में जितनी देरी लगती है, उसकी अपेक्षा वे बहुत ही जल्दी अच्छे होकर चलने फिरने लगे।

(७) 'सफलता व सिद्धि कैसे प्राप्त होवे' इसकी चर्चा एक दिन चल रही थी। तो कहने लगे धुन, पक्की लगन के बिना कुछ नहीं बनता, कभी सफलता नहीं होती। सुनाने लगे कहते हैं कि एक बार ख़ुदा मजनू के पास आया और कहने लगा 'तू मुझे लेगा ?।' मजनू ने पूछा 'तू कौन है ?' ख़ुदा ने कहा, "मैं ख़ुदा हूँ।" मजनू का उत्तर था "लैला बनकर आवे तो ले लूँगा, नहीं तो नहीं।" इसलिए सन्त लोग अपने प्रीतम को पा लेते हैं। क्योंकि वे धुन के धनी होते हैं।

सन्तजी कहा करते थे, कुत्ते भौंकते रहते हैं,

हाथी झूमता-झामता चला जाता है—भक्त ऐसे ही जीवन-यात्रा करता है। निन्दा करनेवाले करते रहते हैं पर उसकी मस्ती में कोई फ़र्क नहीं आता। सन्तजी की चाल बड़ी मस्तानी थी। हाथी की तरह झूमते-झामते बाज़ार में से गुज़र जाते थे। आँखों में अज़ब नशा था, मानों कहीं से सोम-रस मिल गया हो और इतना पी लिया हो कि उसकी मस्ती उतरने में ही न आवे। बहुत विरक्त थे, बहुत भक्त थे, बहुत तितिक्षु थे। जो बहुत पीछे पड़ता था, उसे थोड़ी-सी कहानी सुना देते थे और उस कहानी में उपदेश रख देते थे। फ़क़ीरों का सदा से यही ढंग चला आया है कि बहुत उच्च उपदेशों को रोचक और रहस्यमयी भाषा में रख देते हैं।

संतजी का शरीर पिछले कुम्भ में छूट गया। उनके बाद पंचपुरी में और कोई ऐसा सच्चा सन्त पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता है। सम्भव है और भी कई ऐसे विरक्त सन्त हों; पर हमें उनका ज्ञान न हों। पर यह ठीक है कि सच्चे सन्त ही किसी जाति की जान होते हैं, उनकी सत्ता से सारी जाति उन्नत होती हैं। ईश्वर करे कि हमारी जाति में ऐसे संत पैदा होते रहें और धर्ममार्ग पर चलने वालों के लिये ज्योति स्तम्भ का काम करते रहें।

राष्ट्रध्वजा

[ले०—श्री० दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर]

जिस प्रकार शरीर और नाक हैं, उसी प्रकार राष्ट्र और झण्डा। एक सिक्ख वीर को मुग़ल बादशाह ने क़ैद करके कहा कि अपने सिर के बाल काट कर दो। बहादुर सिक्ख ने जवाब में अपना सिर काट कर दे दिया।

प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वभाव के अनुसार, अपना चिह्न निश्चित करता है। सुदूर-पूर्व में बसनेवाले जापान ने अपनी राष्ट्रीय ध्वजा पर प्रभात के सूर्य का चित्र खींचा है। प्रभात-रवि यौवन और पराक्रम का द्योतक है। जापान एशिया का मुखिया होना चाहता है, यह भाव इस बाल-सविता के चित्र में आ जाता है।

विजयी रोमन लोगों ने अपनी ध्वजा पर गरुड़ बिठाया था। गरुड़ पक्षियों का राजा है। वह आकाश में उड़ते-उड़ते थकता नहीं। रोमन लोग साम्राज्यवादी थे, इसीलिए उन्होंने गरुड़ को पसन्द किया था। अँगरेज़ लोगों ने इँग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड और आयर्लैण्ड—तीनों का एकता-सूचक, यूनियन-जैक तैयार किया है और उस पर सिंह बिठाया है। सिंह पशुओं का राजा होकर सारे बन को डराता है, उसी प्रकार वह भी डराता है।

प्रत्येक देश अपनी प्रबलता इस रीति से प्रदर्शित करता है। पर किसी को यह नहीं सूझता कि पशु-पक्षियों का आदर्श सामने रखने में मनुष्य की कोई प्रतिष्ठा नहीं। मुँह से हम ईश्वर के बालक हैं, यह कहनेवाले, और सिंह या गरुड़ का अनुकरण करेंगे, यह टेक रखनेवाले बिचारे यह नहीं ख़याल करते कि इसमें कितना विरोध है।

हमारे झण्डे पर चरखा है। चरखा क्या सूचित करता है? मनुष्य की बुद्धि, शक्ति, कला। रुई से सूत निकालना और उसके कपड़े बनाकर अपनी लज्जा का निवारण करना सभ्यता का सर्व-प्रथम और बड़े-से-बड़ा क़दम है। चरखा घर-घर चलते हुए उद्योग का निशान है। चरखा कहता

है कि मैं जहाँ होऊँ वहाँ किसी को मरने न दूँ, और मारने भी न दूँ। चरखा कहता है कि तवंगर और ग़रीब दोनों के हाथ में मैं हूँ। जहाँ मेरा धर्म-चक्र चलता है, वहाँ स्वेच्छाचार और दुर्भिक्ष दोनों का नाश है। चरखा सूचित करता है कि राष्ट्र अकेले लड़नेवालों का—केवल पुरुषों का नहीं, स्त्री और पुरुष दोनों का है।

हमारे झण्डे का रंग कैसा हो? मेरी समझ में शुद्ध श्वेत होना चाहिए। दुनिया में राष्ट्र-राष्ट्र के नियमानुसार श्वेत रंग शांति-सूचक है। श्वेत रंग जहाँ-जहाँ फहराता है, वहाँ लड़ाई एकदम बन्द हो जाती है। श्वेत रंग पवित्रता और कुलीनता को भी सूचित करता है। पर हिन्दुस्तान में आज शांति कहाँ है? सब जातियाँ कहाँ एक हुई हैं? हिन्दू और मुसलमान अभी कहाँ एक हुए हैं? इसी लिए सफ़ेद रंग के नीचे मुसलमानों का हरा और हिन्दुओं का सिन्दूर जैसा लाल रंग हमने रखा है।

इस प्रकार हमारा झंडा राष्ट्रीयता का सम्पूर्ण चिह्न है। यों तो झंडा खादी का एक टुकड़ा ही है; पर अपनी भावना से उसे हम राष्ट्रीय मान का चिह्न बनाते हैं। यह झंडा खड़ा रहे, इसके लिए लाखों और करोड़ों भारतीय भाई जब मर-मिटने को तैयार हों, तभी इस झण्डे में चैतन्य आया हुआ समझना चाहिए।

एक तरह से जो देश स्वतन्त्र हो, उसका ही झंडा हो सकता है। परतन्त्रता का कलंक जिस प्रजा के माथे हो, उस प्रजा के सिर पर अपना झण्डा होता ही नहीं। जिसके मान की हम रक्षा नहीं कर सकते, उस झण्डे को हाथ में पकड़ने की भी हम में योग्यता नहीं। पर आज हम स्वराज्य लेने को तैयार हुए हैं; स्वराज्य हमारे हृदय में उठा है; इसी लिए हम अपना राष्ट्रीय झण्डा हाथ में लेकर घूमते हैं। अपना झण्डा फहरा कर हम सब भाइयों को कहते हैं कि हम हिन्दू-मुसलमान तथा दूसरे सब एक हो जायँगे और चरखा चलाएँगे, तो स्वराज्य इस झण्डे की तरह हमारे हाथ में ही है।

प्रत्येक देश में सार्वजनिक प्रसंगों पर उत्साही लोग अपने देश का झण्डा हाथ में लेकर घूमते हैं। सार्वजनिक मकानों पर उस दिन झण्डा फहराया जाता है। झण्डे का दर्शन करते ही देशभक्त उसके आगे सिर झुकाते हैं।

हमारे देश में भी जवान लोग जुलूस निकालते हैं, इसमें आश्चर्य क्या? पर सरकार उसे कैसे सहन करे? सरकार ने सोचा कि यह तो स्वराज्य जम चला, इसे तो समय पर दबा देना चाहिए। यह विचार करके नागपुर में सरकार ने ख़ूब प्रयत्न किया। हमारे कितने ही भाई कहते थे कि एक झण्डे की बाबत कौन लड़ने बैठे! उसमें लाभ-हानि कुछ नहीं। पर सभी इस विचार के न थे। उन्होंने सोचा कि इसके पीछे लाभ-हानि की अपेक्षा अधिक महत्त्व का—राष्ट्र की इज्ज़त का—सवाल है। इसी लिए जमनालाल जैसे देशभक्त, विनोबा जैसे प्रतिभाशाली अध्यापक और हरेक प्रान्त के युवक झण्डे के पीछे मर-मिटने को तैयार हो गये। हमारी शक्ति देखकर सरकार ने छोड़ दिया और झण्डे के मान की रक्षा हुई।

यह तो छोटी-सी लड़ाई हुई। इससे भी बड़ी लड़ाई अभी आनी है। उस समय हमारी सच्ची परीक्षा होगी। हिन्दू-मुसलमान आदि सब जातियाँ एक हो जायँ और देश में घर-घर चरखा चले, तभी देश का झण्डा गर्व से फहराता हुआ दीखेगा।

अनुवादक—नरेन्द्रदेव विद्यालंकार
शंकरदेव विद्यालंकार

धर्म के पुजारी

[ले०—श्रीमती उमा नेहरू]

फ़िरोज़ाबाद एक छोटी-सी .खुशहाल बस्ती है। वहाँ के हिन्दू-मुसलमानों में आख़िरी सौ वर्ष से कभी किसी प्रकार का कोई झगड़ा आपस में नहीं हुआ। बड़े मेल-मोहब्बत से मिल-जुलकर दोनों जातियों के लोग अपना जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन आख़िरी तीन-चार साल से सारे देश की तरह वहाँ की भी हवा धीरे-धीरे बदल रही थी। हिन्दू-सभा के नेता और कार्यकर्ता आ-आ कर समय-समय पर जाग्रति और उद्धार के शंख इस बस्ती में भी बजा जाते थे। दूसरी ओर से तबलीग़ और तंज़ीम के उत्साही ख़ुद्दाम मुस्लिम सम्प्रदाय को अपने धर्म के उद्धार और अपने व्यक्तित्व और गौरव की रक्षा की शुभ सूचनाएँ सुनाते रहते थे।

इन सब बातों का फ़िरोज़ाबाद के नागरिक-जीवन पर ज़ाहिरा कोई विशेष असर दिखाई न देता था, मगर शहर की हालत को ग़ौर से देखने से यह पता चलता था कि इसके पुराने और वर्तमान जीवन में बड़ा अन्तर हो गया है। हिन्दू-मुसलमान उच्च श्रेणियों के लोगों में पुराना प्रेम और सहानुभूति बाक़ी न रह गये थे। लेकिन ज़ाहिरदारी का परदा इस अभाव को छिपाने के लिये अभी बाक़ी था। नीची श्रेणियोंमें, जिनके आपस के सम्बन्ध ऊँची श्रेणियों से ज़्यादा जीवित और गहरे होते हैं, और जिनमें ज़ाहिरदारी कम होती है, यह शोकमय परिवर्तन साफ़-साफ़ नज़र आता था।

शहर के अखाड़े, जिनमें लड़नेवालों के आपस के सम्बन्ध रिश्तेदारी से ज़्यादा गहरे होते हैं, और जिनमें हर सम्प्रदाय के लोग आज़ादी से भाग लेते हैं, फ़िरोज़ाबाद में अब बिलकुल अलग-अलग हो गये थे। इस तरह शहर को साम्प्रदायिक कट्टरपन के ज़हर से बचाने का और नीची श्रेणियों में मज़हबी रवादारी क़ायम रखने का सबसे अच्छा तरीक़ा मिट चुका था। मुसलमानों की एक दो आटा दाल की दूकानें, एक-दो कपड़े की दूकानें खुल गई थीं। हिन्दुओं की एक-दो कुँजड़ों की दूकानें खुल गई थीं और सड़कों और गलियों में पासी, चमार, कुरमी इत्यादि पहले से कुछ ज़्यादा संख्या मे तरकारी बेचते दिखाई देते थे। कभी-कभी किसी मुसलमान या हिन्दू मालिक की अपने हिन्दू या मुसलमान किराएदार को निकाल देने की चर्चा इधर-उधर सुनाई पड़ती थी। और एक-दूसरे के मेले-तमाशे धार्मिक अवसरों को देखने से यह साफ़ मालूम होता था कि इन दोनों जातियों के कट्टर इन्हें ऐसे मौक़े पर मिलकर भाग लेने से रोक रहे हैं। कहीं-कहीं कोई हिन्दू या मुसलमान अपनी जाति के उत्साहियों को यह समझाते सुनाई पड़ता था कि इन बातों का नतीज़ा अच्छा नहीं हो सकता; परन्तु उसको हमेशा यह जवाब मिलता था कि हम तो केवल अपनी समाज को संगठित बना रहे हैं। इसमें किसी का क्या इज़ारा है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी समाज को कोई संगठित बनावे, तो इसमें किसी का इज़ारा नहीं होता।

लेकिन इस प्रकार की कार्रवाहियों ने फ़िरोज़ाबाद में वह हालत पैदा कर दी थी, जो डाइनामाईट की सुरङ्गें बिछा देने के बाद किसी बन्दरगाह की हो जाती है। ऊपर से देखने में न किसी का क़सूर न किसी की ज़्यादती, मगर अन्दर से यह हालत थी कि एक ठेस या चिनगारी के लगते ही तमाम शहर में आग लग जाने का ख़तरा था।

[२]

शाम का वक्त है, सूर्य अस्त हो रहा है। फ़िरोज़ाबाद के बाज़ार में चारों ओर बड़ी चहल-पहल है। विद्यार्थियों के दल-के-दल इधर-उधर दूकानों पर ख़रीद-फ़रोख्त कर रहे हैं, या पानीवाले की दूकान पर बैठे शरबत और लेमनेड मज़ा ले-ले कर पी रहे हैं। गाड़ियाँ, इक्के, मोटरों की क़तार टूटने ही नहीं पाती। सैकड़ों आदमी अच्छी साफ़ पोशाकें पहने बाज़ार की सैर कर रहे हैं। यों तो इस बाज़ार में शाम को हमेशा ही रौनक़ हो जाती है; मगर आज कुछ और रोज़ों से ज़्यादा है। कारण यह है कि शहर के सबसे बड़े रईस पंडित कृष्णनरायन तिवारी के लड़के की बरात आज बड़े धूमधाम से इधर से निकलनेवाली है। काग़ज़ के बड़े-बड़े फाटक थोड़ी-थोड़ी दूर पर लगे हुए हैं। काग़ज़ की झंडियों और बन्दनवारों से सारा बाज़ार सजा हुआ है, और इन्तज़ाम करनेवालों की मंडलियों का इधर-उधर रोक-थाम करते नज़र आना यह बता रहा है कि बरात क़रीब पहुँच चुकी है। थोड़ी ही देर में बैंड-बाजों, काग़ज़ की फुलवारी की सैकड़ों चौकियाँ, हाथियों का दल, घोड़ों का दल, पैदल मेहमानों का झुण्ड गाड़ियों-मोटरों की क़तार एक के बाद एक बाज़ार की सड़क से होकर गुज़रने लगीं। लोगों के ठट-के-ठट सड़क की दोनों ओर खड़े होकर इस जुलूस का तमाशा देख रहे थे।

जुलूस के बैण्ड-बाजे बाज़ार से आगे बढ़कर शहर की जुमा-मस्जिद से कोई पचास गज़ के फ़ासले पर पहुँचे होंगे कि मस्जिद की ओर से यूसुफ़ अली दो और मुसलमानों को साथ लिए सड़क के बीच में खड़े होकर पुकार कर कहने लगे, "मस्जिद में नमाज़ हो रही है, आगे बाजा रोक कर बढ़ना।"

इनकी इस आवाज़ ने जुलूस के आगेवाले गिरोह में एक तूफ़ान-सा पैदा कर दिया। इन्तज़ाम करने वाले एकबारगी यह तै न कर सके कि क्या करना मुनासिब है। कुछ ने कहा कि बाजा नहीं रुकेगा। और बाजेवालों को आगे बढ़ने का हुक्म दिया। कुछ ने कहा कि नहीं झगड़े से कोई फ़ायदा नहीं, बाजे को रोक देना चाहिए। और बाजेवालों को हुक्म दिया कि बाजा रोक दो। इसी गड़बड़ में जुलूस रुक गया और आपस की तू तू मैं-मैं बढ़ने लगी। कुछ लोगों ने आपस में झगड़नेवालों से पुकार कर कहा कि "भाइयो, मामला नाज़ुक है। एहतियात से काम लेना चाहिये। मुनासिब यह है कि पं० कृष्णनरायन तिवारी को बुलाया जाये और जो वह हुक्म दें उसी के मुताबिक़ काम हो।"

यह बात सबको पसन्द आई और गिरोह-का-गिरोह तिवारीजी के ढूँढने को मुड़ा। मगर तिवारीजी, जो जुलूस के रुकने की वजह दरियाफ़्त करने के लिये खुद ही आगे आ रहे थे, फ़ौरन मौक़े पर पहुँच गये और आगे बढ़कर मुसलमानों से पूछा, "क्यों भाई, जुलूस को क्यों रोकते हो?" उन्होंने कहा, "हम जुलूस को नहीं रोकते। हम सिर्फ़ बाजा रोकते हैं।"

पं० कृष्णनारायन तिवारी ने कहा कि भाई तुम भी यहीं के रहनेवाले हो और मेरी भी यहीं की पैदाइश है, क्या ईमान से कह सकते हो कि कभी पहिले भी इस मस्जिद के सामने बाजा रोका गया है और अगर नहीं रोका गया है, तो आपस में बद मज़गी और लड़ाई मोल लेने से क्या फ़ायदा। मुसलमानों ने कहा कि गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या नतीजा, नमाज़ हो रही है, अगर आप उसमें खलल न डालेंगे, तो कौन-सी देरी हो जाएगी ?

\+ + + +

पं० कृष्णनरायन तिवारी ने देख लिया कि इन लोगों से ज़्यादा बातचीत करने से कोई नतीजा नहीं। आस-पास के लोगों में से कुछ ने गुल मचाना शुरू किया कि बाजा आगे बढ़वाइए। कुछ समझाने लगे, बरात का मामला है, झगड़े से कोई फ़ायदा नहीं। ज़रा देर के लिये बाजा रोकने में क्या डर है। मस्जिद में भी तो आख़िर ईश्वर का ही नाम लिया जाता है, फिर उसके सामने बाजा रोक देने में क्या बुराई है ? पं० तिवारीजी ने कहा कि अगर वह मेरा ज़ाती-मामला होता तो मुमकिन था कि मैं मस्जिद के सामने बाजा रोक देता। मगर यह प्रश्न इस समय जातीय प्रश्न हो गया है। मैं कोई बात ऐसी नहीं करना चाहता, जो हिन्दू-जाति की ख़ुद्दारी के ख़िलाफ़ हो। मैं बाजा रुकवा कर हरगिज़ मस्जिद के सामने से जुलूस नहीं निकालूँगा। साथ ही मैं शहर में बल्वा करवा देने की ज़िम्मेवारी भी अपने ऊपर नहीं ले सकता। इसलिए मैं जुलूस को लौटवा कर वापिस लिये जाता हूँ। यह कहकर उन्होंने जुलूस के लौटने का हुक्म दिया और सारा जुलूस लौट पड़ा।

इतने बड़े जुलूस के एक बारगी लौट पड़ने से चारों तरफ़ एक तहलका मच गया। भीड़ में एक बेचैनी-सी फैलने लगी। जितने मुँह उतनी बातें। कोई कहता था कि मुसलमान बरात लूटने को आते थे। कोई कहता था कि एक हिस्सा बरात का लुट गया। कोई कहता था कि हिन्दू-मुसलमानों में घमसान की लड़ाई हुई है। कोई कहता था कि मुसलमानों ने बाजा रोका था, इसी से जुलूस लौट पड़ा, कोई कहता कि नहीं मुसलमानों ने इन्हें आगे बढ़ने ही नहीं दिया, बाजेवालों को मारा, और जुलूस लौट न पड़ता, तो लुट जाता। इसी तरह की अफ़वाहें बिजली की तरह चारों तरफ़ फैलीं। जुलूस निकल भी गया, मगर इन अफ़वाहों में कुछ कमी न हुई। लोग अपने-अपने कामों में फिर से मशग़ूल होने लगे। मगर चर्चा वही जारी रही। इतने में कुछ लोग घबराए हुए आये और गुल मचाया कि "भागो दौड़ आ गई।" यह सुनकर लोगों की अजब हालत हुई। हिन्दू मुसलमान सारे दूकानदारों ने ऐसी बदहवासी के साथ दूकानों को बन्द करना शुरू किया कि बेची हुई चीज़ों के दाम तक न ले सके। सोडेवाला बोतलें बाहर ही छोड़कर भागा। सड़क पर चलनेवालों की वह हालत थी कि एक को भागता देखकर दूसरा आप-से-आप भागने लगता था। ग़ोल-के-ग़ोल जिसमें हिन्दू व मुसलमान सब शामिल थे, इधर-उधर भागते सब नज़र आते थे। घबराहट का यह हाल था कि एक दूसरे से यह भी नहीं पूछ सकते थे कि आख़िर इनके भागने का सबब क्या है और वह जा कहाँ रहे हैं ?

ग़र्ज़ें कि दम-के-दम में दूकानें बन्द, भीड़ें ग़ायब, इक्के, गाड़ियाँ, मोटर सब हवा और शहर की सरेशाम ही से ऐसी हालत हो गई जैसे रात के बारह बज गये हों।

\+ + + +

रात के नौ बजे होंगे कि मौलाना मुख्तार अहमद और अहमद अली साहब पं० कृष्णनरायन तिवारी के मकान पर आये। बहुत उज़्माज़रत की कि आप नहीं जानते हैं कि आज-कल लोगों की क्या हालत हो रही है। दीवाने हो गये हैं। नहीं मालूम क्या हशर होनेवाला है। पं० कृष्णनरायन तिवारी ने कहा कि मौलाना साहब! हम-आप एक ही जगह पैदा हुए—एक ही जगह खेले कूदे, बड़े हुए—अब हमें-आपको क्या हो गया है, जो एक दूसरे के ख़ून के प्यासे हो रहे हैं। ईश्वर की लीला है। उसने वह भी दिखाया, यह भी दिखा रहा है। मगर मैं इतना ज़रूर कहूँगा कि फ़िरोज़ाबाद में बाजे का प्रश्न उठाने में हमारी या आपकी किसी की भी भलाई नहीं हो सकती। मौलाना मुख्तार अहमद और अहमद अली साहब ने कहा कि इस मामले में हम आपसे बिलकुल हमख़याल हैं। और जहाँ तक हमारा बस चल सकेगा इस शहर को इस बात से महफ़ूज़ रखने की कोशिश करेंगे। आगे अल्लाहः मालिक है। पं० कृष्णनरायन तिवारी ने कहा कि आप लोगों का शहर के मुसलमानों पर काफ़ी असर है और अगर आप ने चाहा, तो यह झगड़ा यहाँ से हमेशा के लिए मिट जायगा। इसी क़िस्म की बहुत देर तक बातें होती रहीं। फिर मौलाना मुख्तार अहमद और अहमद अली अपने घर चले गये।

[अपूर्ण

!—

अग्निस्वरूप !

जिस हृदय में तुम्हारा विशाल मन समा जाए
तुम्हारी दयालुता और तुम्हारी ज्योति की
मूक शिखा थरकने लगे......
वहाँ कितना सुख होगा......कितनी सहृदयता होगी,
और...जिस कर में तुम्हारी दानशीलता बस जाए,
वह कितना धन्य होगा,
...सचमुच तेरे स्वरूप में कितना जादू भरा है,
कोई स्पर्श-मात्र से जाग उठता है तो कोई दर्शन
से ही उन्मत्त हो उठता है
तुझ से एकरस होने में
कितनी सरसता है !!

—मनमोहन, एम्. ए.

अमेरिका की विराट् वेधशाला

अमेरिका के टेकसास परगने में वेधशाला बनाई जा रही है, जो दुनिया में दूसरे नम्बर की वेधशाला होगी! शिकागो-विद्यापीठ के खगोल-वेत्ताओं के निरीक्षण में तैयार हो रही है। सामान्य नयनों से दीखनेवाले तारे की अपेक्षा दसलाख गुना मन्द प्रकाश वाले तारे की फ़ोटो ली जा सके, ऐसी व्यवस्था इस मान-मन्दिर में की जा रही है। क्लीवलेण्ड की एक कंपनी ने इस को बनाने का ठेका लिया है। इसके निर्माण में लगभग सवा तीन लाख डालर खर्च होंगे। इसमें रखे जानेवाले बड़े काच का व्यास अस्सी इंच होगा, जिसका भार पाँच हज़ार पौंड होगा। केलिफोर्निया की वेधशाला का काच सौ इंच व्यास का है। उष्णता का प्रतीकार करनेवाले विशेष पदार्थों से इस काच (दर्पण) की रचना की जायगी। इसको शीतल करने में नौ मास तथा पौलिश करने में दो वर्ष लगेंगे। इस वेधशाला के मकान के लिए टेकसास युनिवर्सिटी ने नौ लाख डालर प्रदान किये हैं। शिकागो की वेधशाला के प्रधान संचालक डा० ऑटोस्ट्रव की अध्यक्षता में ही इस नवीन वेधशाला का निर्माण होगा।

[गुजराती 'प्रस्थान'

—

भारतीय राष्ट्रगीत

भारतभूमि के अनेक कवियों ने हिन्दी, गुजराती, बंगाली, मराठी, उर्दू और अँगरेज़ी भाषा में बहुत-से राष्ट्रगीत बनाये हैं। इन गीतों में से बहुतों में भारत की नैसर्गिक शोभा का वर्णन है। बंकिम बाबू का "वन्दे-मातरम्", रवि बाबू का "माई चार्मिङ्ग लैण्ड" तथा इक़बाल का 'हिन्दोस्ताँ हमारा' इत्यादि गीत इसी प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार के राष्ट्रगीत वे हैं, जिनमें भारतभूमि का गत वैभव गाया गया है। श्रीमती सरोजिनी नायडू का 'एटरनल इण्डिया' और श्री सत्येन्द्रनाथ ठाकुर का "भारत-पुत्र" इत्यादि राष्ट्रगीत इसी कोटी के हैं। तृतीय प्रकार के गीतों में देश की परिस्थिति का वर्णन करते हुए जागृति के भाव को उपनिबद्ध किया है। इस प्रकार के राष्ट्रीय गानों में साधु वास्वानी का Will India be defeated long? तथा श्रीमती सरला-देवी चौधरानी के गीत सुन्दर माने जाते हैं। पाश्चात्य देशों के राष्ट्रगीतों की तुलना में भारत के राष्ट्रगीतों में थोड़ी-बहुत दुःखमयी भावना अन्तर्गत होती है। पाश्चात्य देशीय गीतों की-सी विजय के उल्लास की छटा उनमें नहीं होती। यह देश की परिस्थिति का प्रभाव है। "ब्रिटेन के वासी कभी भी ग़ुलाम नहीं होंगे"— यह ब्रिटिश प्रजा की राष्ट्रोक्ति है। जापान का जातीय भाव—"असंख्य युग बीत गए पर हमारा राज्य तो

टिका ही रहेगा" इस वाक्य से शुरू होता है। फ्रांस का आदर्शपूर्ण राष्ट्रगान तो लोक-विदित ही है। "मरना किस तरह ? यह हमें सिखाओ"—आयर्लैंण्ड का राष्ट्रगीत इस प्रकार शुरू होता है। भारत में ऐसे स्फूर्तिदायक और विजयोल्लास उत्पन्न करनेवाले गीतों का अभाव है। अब इस प्रकार के गीतों के वर्णन का समय समीप आ रहा है। [गुजराती 'प्रजाबन्धु'

—

स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य

सौभाग्यवती उमाबाई सहस्र बुद्धे ने पूना के 'केसरी' में स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—

"लड़के और लड़कियों की प्रारम्भिक शिक्षा आज की भाँति ही होनी चाहिए। परन्तु १२ वर्ष की आयु के बाद लड़कों तथा लड़कियों की मानसिक विचार-धारा में फ़र्क़ होने लगता है। इस समय से शिक्षकों तथा अध्यापकों को चाहिए कि वह स्त्रियों को धनोत्पादन, धन-व्यय वैद्यकशास्त्र तथा दस्तकारी के अन्य कार्य सिखाने का प्रबन्ध करें। प्रचलित मुख्य देशी भाषाओं का परिचय कराना चाहिए। ग्रन्थ समझने की बुद्धि तथा व्यावहारिक गणित का ज्ञान कराना चाहिए। उच्च गणित, संस्कृत, व्याकरण तथा अँगरेज़ी की साहित्यिक शिक्षा के लिए लड़कियों की शक्ति का व्यय नहीं करना चाहिए। इसके स्थान पर उन्हें सिलाई, फोटोग्राफ़ी, गायन, टाइपराइटिङ्ग, रोगी-सेवा, वनस्पति-शास्त्र, वैद्यक आदि इन सब सदुपयोगी शास्त्रों को शिक्षा देनी चाहिए। इस समय तक कन्याओं के लिए इस दृष्टि से लिखी पाठ्य-पुस्तकें भी नहीं मिलतीं। इनके लिए नवीन साहित्य तैयार कराना चाहिए। स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य स्त्री को स्वावलम्बी तथा गृह-सम्बन्धी कार्यों के लिए चतुर बनाना होना चाहिए। [मराठी 'केसरी'

हिन्दुस्तान की औसतन वार्षिक आय

(१) श्री० दादाभाई नौरोजी का सम्मति में हिन्दुस्तान की वार्षिक औसतन-आमदनी १५) है।

(२) प्रो० शाह की सम्मति में वार्षिक औसतन-आमदनी ३४)।

(३) सायमन कमीशन के अनुसार औसतन आमदनी १०८)।

(४) बैङ्किंग कमेटी के निर्णय के अनुसार प्रति हिन्दुस्तानी की वार्षिक औसतन आय ४२)।

(५) १९२५ में सरकार ने एक हिन्दुस्तानी की औसतन आमदनी ७४) निश्चित की थी।

(६) १९०१-२ में प्रत्येक भारतवासी की औसतन आमदनी ११६) थी।

इसके मुक़ाबले में अन्य देशों में प्रति व्यक्ति की औसतन वार्षिक आमदनी इस प्रकार से है—

जापान	...	२९४)
इटली	...	३५१)
जर्मनी	...	५३७)
फ्रांस	...	७४१)
इँगलैंड	.	१३१९)
अमेरिका	...	१७१७)

इससे भारतवर्ष की आर्थिक दुरवस्था का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। [मराठी 'केसरी'

—

वर्णाश्रम-व्यवस्था की महानता

वर्णाश्रम की व्यवस्था एक आदर्श-व्यवस्था थी। वर्णाश्रम के जोड़ की संस्था संसार में कहीं है नहीं। इसीलिये, हमारा दम आज घुटता जा रहा है कि, हमने अपने वर्णाश्रम धर्म को विकसित करने के बजाय उसे बिलकुल संकुचित कर दिया है।

'हरिजन'] महात्मा गांधी

आर्यसमाज का भविष्य

प्रो० इन्द्र के आर्यसमाज के भविष्य पर 'सरस्वती' में लिखे एक लेख की निम्नपंक्तियाँ पढ़ने की चीज़ हैं—

...प्रथम युग। आर्यसमाज ने ख़ूब खण्डन किया। वह खण्डन निरपेक्ष था। किसी का लिहाज़ नहीं, किसी से रियायत नहीं। पुरानी रूढ़ियों की दीवारें हिलाई जा रही थीं। यह स्वर्गीय युग था।...परिवर्तन हुआ। चारों ओर संस्थायें ही संस्थायें खुलने लगीं। 'संस्थाओं के बोझ ने आर्यसमाज को धन का दास बनाया और धन की दासता ने सुधारणा के लिये साहस छीन लिया।' अब...प्रायः विचारा जाता कि 'सत्यार्थ-प्रकाश' के किसी वाक्य का विरोध तो नहीं हो जाता? यह कैसा वीभत्स उपहास! कि जिस व्यक्ति ने वेद को छोड़कर संसार के सब ग्रन्थों और गुरुओं की विभिन्न प्रमाणता का समूल नाश करने का यत्न किया, उसी के अनुयायी उसके हिन्दी-भाषा में लिखे हुए एक ग्रन्थ को निर्भ्रान्त मानकर उसकी पंक्तियों पर प्राण देने को उद्यत हैं?...आर्यसमाज की दशा मठ की-सी हो गई है। उसका भविष्य अन्धकारमय है। क्योंकि भावी भारत में हमें धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक किसी तरह के मठों का जीवन सुरक्षित प्रतीत नहीं होता। ['सरस्वती'

—

हिन्दू-मुस्लिम एकता और स्वराज्य

देश-भक्ति के लिए चाहिए सेवा और बलिदान-भावना। लाखों भारतीय बीमारियों और महामारियों से मरते हैं। हज़ारों बाढ़ और अकाल से मर जाते हैं—किन्तु जेल जीवन हमें डरा देता है। मरते तो वह भी हैं, किन्तु कायरों की मौत। यशस्वी मृत्यु तो बहुत कम लोगों की होती है। हम सरहदी लोगों ने निश्चय कर लिया है कि हम ग़ुलाम की ज़िन्दगी नहीं जियेंगे। हमारे पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों तक ने यह तय कर लिया है कि न तो हम ग़ुलामी क़ुबूल करेंगे, और न दासता की शर्मिन्दगी को बरदाश्त करेंगे। हमारे चारों ओर नग्नता और भूख का ताण्डव नृत्य हो रहा है, तो भी हम हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ते और तीसरे को मौज मारने देते हैं। मैं तो आशावादी हूँ। मेरा विश्वास है कि यह वातावरण शीघ्र ही साफ़ हो जायगा।

कुछ लोग कहा करते हैं, और वे गुप्त उद्देश्य से प्रेरित हो कर ही ऐसा प्रचार करते हैं, कि बिना हिन्दू-मुसलिम एकता के स्वराज्य नहीं होगा। लेकिन मेरा मत इसके ख़िलाफ़ है। मैं तो कहता हूँ कि जब तक हमारे देश में विदेशी शासन रहेगा, तब तक राष्ट्रीय एकता हो नहीं सकती। इसलिए, मेरा विचार है कि हममें से जिनका विश्वास आज़ादी पर है, वे बढ़ते चलें।

हम भारतीय···हिन्दू और मुसलमान—अपनी संस्कृति, सभ्यता और धर्म की बड़ी-बड़ी डींगें हाँकते हैं। अरे भाई, कहीं ग़ुलाम की भी संस्कृति, सभ्यता या धर्म होता है? राजनैतिक शक्ति और स्वतन्त्र अस्तित्व की प्राप्ति के बिना सच्चा धर्म पनप ही नहीं सकता। हम अपने बाप-दादों की कहानियाँ कह कर बाप-दादों को भी अपवित्र नहीं करें। ज़रा सोचो तो, छोटी-छोटी क़ौमें, छोटे-छोटे देश स्वराज्य और स्वतंत्रता का उपभोग कर रहे हैं, और हम लोग ग़ुलामी में ही मस्त हैं! रोटी के जूठे टुकड़ों पर दाँता-किटकिट हो रही है, और हिन्दू और मुसलमान कोई भी किसी पर ज़रा रिआयत नहीं करना चाहता।

'कर्मवीर'] सरहदी गांधी अब्दुल गफ्फ़ार

—

❀ श्री अब्दुलगफ्फारखाँ की सेवा में सादर निमन्त्रण ❀

गत मास सीमा-प्रांत के गांधी अब्दुलगफ्फारखाँ फिर हमारे बीच आ गये हैं। सरकार ने उन्हें रिहा किया है; पर साथ ही सीमा-प्रांत व पंजाब में जाने को कुछ काल के लिए रोक लगा दी है। जब उन्हें बिना शर्त छोड़ दिया गया है, तो वे इसके सिवाय और क्या कर सकते हैं कि इस अवस्था से भी लाभ उठावें। यदि राष्ट्रीय महासभा ने सत्याग्रह को बंद न कर दिया होता, तो वे सीमा-प्रांत में न जाने की सरकारी आज्ञा का तुरन्त भंग करते; पर राष्ट्र-सभा (काँग्रेस) की आज्ञा का उन्हें कभी भंग नहीं करना है। इसी लिए वे इस अवस्था को भी सह रहे हैं। जब से वे छूटे हैं, तब से उन्होंने पहले की तरह ही प्रत्येक बात में राष्ट्र-सभा की भक्ति, गांधीजी में श्रद्धा, वीरता, नम्रता और उदारता का परिचय दिया है; गांधीजी से मिलकर ही अपना कार्य-क्रम निश्चित करना, सभापति बनने का प्रस्ताव आने पर अपने को एक सैनिक ही बतलाना, कौंसिल में जाने की बात का सर्वथा विरोधी होना, पर अन्त में राष्ट्र-सभा के निर्णय को ही शिरोधार्य करना, यह एक-एक घटना उनकी महान् महत्ता को ही सूचित करती है। वे मुसलमानों में [illegible] हुए दीखते हैं। सीमा-प्रांत के [illegible] मुसलमानों ने भी उनकी कदर की है, उनको नेता [illegible] है। [illegible] इधर के मुसलमान भाई, जिनको नौकर[illegible]

अब्दुलगफ्फारखाँ (सरहद्दी गांधी)

चुके हैं और जो देशभक्ति को सर्वथा भूलकर साम्प्रदायिकता की कीचड़ में बुरी तरह फँसे हुए हैं, ऐसे इधर के मुसलमान भाई भी अब्दुलगफ्फारखाँ की महत्ता को पहचानेंगे। ईश्वर करे कि उनका सीमा-प्रांत में अभी न जा सकना इधर के मुसलमानों में सच्ची देशभक्ति और जागृति उत्पन्न होने का कारण बन सके। यद्यपि उनका पंजाब में जाना बन्द है, तो भी यदि 'अलंकार'-द्वारा दिया गया यह हमारा नम्र निमन्त्रण उन्हें पहुँच सके और स्वीकृत हो सके तो हम उन्हें अपने यहाँ सहारनपुर जिले में—देवबन्द और हरद्वार सहारनपुर जिले में ही हैं—सादर और सप्रेम निमन्त्रित करते हैं। मुसलमान और हिन्दू दोनों की तरफ से निमन्त्रित करते हैं, जिससे कि वे युक्त-प्रान्त में रहते हुए भी पंजाब के मुसलमानों को अपना जीवन-दायी सन्देश सुना सकें। क्योंकि यहाँ हरद्वार के कारण पंजाब के हिन्दू और देवबन्द के कारण पंजाब के मुसलमान प्रायः आते ही हैं और सीमा-प्रांत के गांधी के आगमन को सुन कर बहुत-से उनसे लाभ उठाना चाहनेवाले पंजाबी हिन्दू-मुसलमान बड़ी आसानी से आ सकते हैं। अस्तु, अन्त में हम बम्बई में होनेवाली काँग्रेस के संचालकों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने अपनी नगरी का नाम अब्दुलगफ्फारखाँ-नगरी रखकर बहुत

धर्मों में साम्प्रदायिकता की लहर

इस समय धार्मिक सम्प्रदायों में असहिष्णुता तथा साम्प्रदायिकपन दिन-प्रति-दिन गहरा हो रहा है। पंजाब की प्रसिद्ध मासिक-पत्रिका 'फुलवाड़ी' सिक्ख-धर्म के विषय में इस प्रकार लिखती है—

"गुरुओं की ओर से किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं दिया गया था कि वह अपने से विरुद्ध या भिन्न विचार रखनेवालों को समाज से बाहर निकाल दे। परन्तु अब कुछ समय से सिक्ख-धर्म में कई लोग इस अधिकार को बरतने लगे हैं, इस लिए सिखों मे फूट के भाव बढ़ रहे हैं। जब कि सिख आपस मे मिलकर नहीं रह सकते, तो प्राणि-मात्र से प्रेम की आशा कैसे पूरी हो सकती है।"

[गुरुमुखी 'फुलवाड़ी'

स्मरणीय अमर-निमन्त्रण

[पं० सुरेन्द्रनाथ, वेदालंकार]

तुम सब को हे मेरे मित्रो !
इस जगती का अन्तिम-वन्दन—
मेरे जीवन की सन्ध्या पर—
तुम स्वीकार करो कर-स्पन्दन।

तुम स्वतन्त्र हो, गावो गायन—
छिन्न हुए सब भीषण बन्धन।
अब तुम सोते हो सुख-शय्या पर—
स्मरण करोगे क्या मुझ-सा जन !

यह दिन-मणि कितना सतेज हो—
चमक रहा है अब अम्बर तल।
सूर्यदेव ! अपनी किरणों का—
कुछ प्रकाश भर मम अन्तस्तल।

मैं सस्मित बढ़ती हूँ करने—
चुम्बित अन्तक का वक्षःस्थल।
चिर स्वतन्त्रता है मम प्रणयी—
क्या तुम को अवगत है उज्ज्वल !

मेरा तन कारा की मुद्रा—
से अंकित है कितना अनुपम ?
इस गौरव से मेरी छाती,
फूल रही है सखे ! अधिक तम।

सब से आगे चलने वाला—
अग्र पथिक है कौन अरे ! नर ?
यह मेरा प्रणयी जीवन धन—
है अनन्त का राही सत्वर।

जिसके कन्धे से कन्धे को
युद्धस्थल में सदा मिलाकर
मैंने रिपुओं का मद गर्वित—
मस्तक गिरा दिया कर्तन कर।

आज अहा ! इस भीषण रण का
अन्त उपस्थित है प्रिय सुन्दर !
युद्धायुध से शून्य हस्त हैं
नहीं अन्न-कण संचित तिलभर।

इस सुन्दर सी प्रिय वेला में,
'मृत्यु' शब्द लगता है कटुतर
कौन 'मृत्यु' कहता है देवी ?
यह मम मृत्यु-मृत्यु का अवसर।

इसी मास परिणय रज्जू से
मेरा होता था चिर बन्धन—
कितना सुखद अरे ! लगता था
वह मेरे प्रिय का प्रति चुम्बन !

ईस्ट अफ्रीका की यात्रा

(१)

[यात्री—श्रीयुत सत्यदेव विद्यालंकार, स्नातक गुरुकुल काँगड़ी]

[श्रीयुत सत्यदेवजी विद्यालंकार गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के योग्य लोक-सेवक स्नातक हैं। महाविद्यालय के विद्यार्थी जीवन में ही आप १९३१ के स्वतंत्रता युद्ध में सम्मिलित होकर, स्वराज्य-भवन की यात्रा कर चुके हैं। आप में धर्म-भक्ति और देश-भक्ति का अपूर्व मेल है। अब आप अफ्रीका में धर्म-प्रचार के लिए गये हैं। आप उत्तम लेखक तथा प्रभावशाली वक्ता हैं। आपने 'अलङ्कार' में अपनी सचित्र अफ्रीका-यात्रा का वृत्तान्त भेजने का वचन दिया है। इसके लिए 'अलङ्कार' अनुगृहीत है।—सम्पादक]

३ मार्च १९३४ के प्रातःकाल अपने संबन्धियों से प्रवास की विदाई लेकर मैं लुधियाना से अफ्रीका के लिए प्रस्थित हुआ। सहारनपुर-स्टेशन पर गुरुकुल-माता की पुण्यस्मृति में कुलबन्धुओं को बार-बार याद करते हुए देहली होकर रेलगाड़ी के लम्बे सफ़र के बाद ५ मार्च को प्रातः बम्बई पहुँच गया। लुधियाने से बम्बई तक विदाई देने के लिये पूज्य पिता जी बम्बई तक साथ आए। आप २५ साल तक केनिया की राजधानी नैरोबी में रेलवे विभाग में काम कर चुके थे। रेल के सफ़र में पूज्य पिताजी से ईस्ट अफ्रीका के बारे में बातचीत होते हुए विदेश-यात्रा-सम्बन्धी कई अनुभव मालूम हुए। मैं विदेश भ्रमण की उमंग में था और विशेषकर उस भूमि को देखने की उमंग तो मेरे बाल्य-जीवन से ही थी, जहाँ मेरी पूज्य माता ने मुझे शैशव में ही छोड़ इस लोक से विदाई ली थी और जो हम सब भाइयों की जन्मभूमि थी, तथा जहाँ अब भी मेरे सहोदर भाई और बहिन रहते हैं। मातृभूमि भारत की विदाई की मूक-वेदना के साथ-साथ नयी भूमि के देखने के चाव में और भाइयों के मधुर मिलन की आशा से हृदय उछल रहा था। शैशव-काल में की हुई समुद्र-यात्रा की कोई स्मृति हृदय में अङ्कित न थी। ऐसी अवस्था में अनन्त जलराशि के सुखस्वप्नों और साहित्यिक समुद्र की उत्ताल तरङ्गों के चित्र बार-बार आँखों के सामने आने लगे।

बम्बई पहुँच कर रामशरण नामक एजेण्ट के होटल में ठहरे। इस होटल में भिन्न-भिन्न देशों को जानेवाले मुसाफ़िर इकट्ठे ठहरे हुए थे। कोई इङ्गलैण्ड को, कोई आस्ट्रेलिया को और कोई फ्रांस आदि यूरोपीय देशों को जानेवाले पञ्जाबी यात्री थे। परन्तु अधिकतर ईस्ट अफ्रीका की तरफ़ जाने वाले ही थे। यह देखकर बड़ी हैरानी होती थी कि निपट निरक्षर जाट भी यूरोप की तरफ़ व्यापार के लिए जा रहे हैं। उनसे बातचीत करने से पता चला कि उनके भाई या साथी पहिले से ही वहाँ जाकर साधारण-साधारण कार्य करते हुए—विशेषकर फेरी का काम करते हुए—पर्याप्त कमाते हैं। इस होटल में ठहरनेवाले मध्यम या दरिद्र श्रेणी के व्यक्ति ही देखने को मिलते थे। पञ्जाब से सिक्ख और जाट भाई विशेष तौर पर विदेशों की तरफ़ जाते हुए प्रतीत होते हैं। कई व्यक्ति अपने शहरों से पासपोर्ट न बनवा कर सीधे बम्बई आ जाते हैं और एजेण्टों

को कुछ भेंट देकर पासपोर्ट बनवाते हैं। ऐसे समय अनपढ़ व्यक्तियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। कइयों को महीनों वहीं रुकना पड़ता है और काफ़ी मात्रा में व्यर्थ का खर्च करना पड़ता है।

बम्बई से मुम्बासा तक का डेक का किराया और कुलियों आदि का खर्च मिलाकर ७५) रु० पड़ जाता है। जहाज़ का टिकट होटल के एजेण्ट ही लाकर दे देते हैं। इनको जहाज़ों की कम्पनियों की तरफ़ से कुछ कमीशन मिल जाता है।

७मार्च को दुपहर ईस्ट अफ्रीका के लिए 'टेरिया' जहाज़ जानेवाला था। इसी दिन प्रातः १० बजे के लगभग अफ्रीका के यात्रियों का शरीर-निरीक्षण किया गया। प्रत्येक प्रवासी का यह निरीक्षण आवश्यक है। फ़र्स्ट क्लास और सैकण्ड क्लास के यात्रियों पर विशेष पाबन्दियाँ नहीं हैं, परन्तु डेक या थर्ड क्लास के यात्रियों का विशेष तौर से निरीक्षण किया जाता है। एक बाड़े में डेक के यात्रियों को इकट्ठा किया गया और पंक्तियों में खड़ा कर दिया गया। सब व्यक्तियों को अधोवस्त्र को छोड़कर सब कपड़े उतार कर, नङ्गे हुए-हुए, अपने-अपने पासपोर्ट लेकर खड़े हो जाने के लिए कहा गया। उस जँगले के चारों तरफ़ दर्शकों की भीड़ खड़ी थी। मुझे भारतीय जेल का दृश्य याद आगया, जिसमें 'सी' क्लास के प्रत्येक क़ैदी को प्रत्येक सप्ताह अपना वृत्त-पत्र लेकर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को दिखाना पड़ा करता है। वही नज़ारा था। लेखक भी डेक का ही यात्री था। वह नज़ारा देखकर हृदय में 'अपमान' का अनुभव होता था। पास में खड़े एक अपरिचित मुस्लिम भाई से मैंने पूछा, 'क्या हमेशा ऐसा ही होता है?' उसने कहा, 'अब से ऐसा ही हो गया है।' उसके हृदय में क्रोध था, उद्वेग था और अन्त में उसने कहा, 'हम पराधीन हैं, गुलाम हैं, हमारे अपमान और सन्मान की कोई क़ीमत नहीं।' डाक्टरों ने शरीरों का निरीक्षण किया और विशेषरूप से Vexination (चेचक के टीके) को देखा गया। इन टीकों का सार्टीफ़िकेट होना ज़रूरी है। कम-से-कम जहाज़ पर चढ़ने से १५ दिन पूर्व ये टीके लगे हुए होने चाहिएँ। कई यात्रियों ने कुछ विलम्ब से टीके लगवाये थे, इसी से उन्हें अगले जहाज़ के लिए रुकना पड़ा। शरीरों का निरीक्षण भी बड़े ध्यान से किया जाता है। आँखें, पेट, छाती और जांघों का भी निरीक्षण करते हैं। निरीक्षण में विशेष ध्यान इसलिए दिया जाता है कि कहीं कोई फैलनेवाली बीमारी का सताया हुआ सारे जहाज़ में ही बीमारी न फैला दे। निरीक्षण के बाद पासपोर्ट पर एक मोटा और बड़ा 'C' का अक्षर अंकित कर दिया जाता है। डाक्टरी निरीक्षण के बाद दूसरे बाड़े में सब व्यक्तियों को जाना पड़ता है। यहाँ Immigration (इमिग्रेशन) के अफ़सर आकर प्रत्येक के पासपोर्ट को बड़े ध्यान से देखते हैं, उसके विषय में तहक़ीक़ात करते हैं। यदि कोई समाधानकारक उत्तर न मिले, या कोई शक हो, तो कठिनाई से ही आज्ञा मिलती है। इन दो निरीक्षणों के बाद रोटी आदि खाकर सब व्यक्ति जहाज़ पर चले जाते हैं। सामान चढ़ाने का प्रबन्ध एजेण्ट लोग ही कर देते हैं। जब सब समान ठीक स्थान पर रखा जाता है, तो यात्री लोग भी जहाज़ पर चढ़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। हरेक यात्री अपना पासपोर्ट और जहाज़ का टिकट दिखाता हुआ पहिले दरवाज़े को पार करता है। इस दरवाज़े पर पंजाब के तीसरे दर्जे के डब्बे में घुसने की तरह ही धक्कापेल हुआ करती है। उसके बाद अपने-अपने पासपोर्ट पर 'C' अक्षर दिखाते हुए जहाज़ में प्रवेश करते हैं। यात्रियों की

पंक्ति जब लगातार 'C' अक्षर दिखाते हुए जहाज़ में प्रविष्ट हो रही थी, तो ऐसा मालूम होता था मानों 'सी' क्लास के सैकड़ों क़ैदी जहाज़ में भरे जा रहे हों। सैकण्ड क्लास या फ़र्स्ट क्लास के यात्रियों को चढ़ने या उतरने में कोई दिक़्क़त उठानी नहीं पड़ती। इन क्लासों के यात्री महीनों पहिले या बम्बई आकर जहाज़ों की कम्पनियों को लिखकर अपने लिए सीटें रिज़र्व करवा लेते हैं। जहाज़ पर भी इन दो क्लासों के यात्रियों को हर तरह से आराम दिया जाता है।

एक ही स्थान पर जहाज़ में ढेर किये हुए सामान में से अपना-अपना सामान ढूँढकर अलग कर लेते हैं, और डेक पर अपनी-अपनी सँभाली हुई जगहों पर ले जाते हैं। पंजाबी लोग विशेष रूप से डेक के ऊपर सैकण्ड क्लास के पास के स्थानों को ही सँभालने का प्रयत्न करते हैं। अपने-अपने सामान को ढूँढते समय कोई-कोई मनचले यात्री औरों का सामान भी उठाकर हड़प जाते हैं। इसलिए अपने-अपने सामान के सँभालने में बहुत सचेत रहना चाहिए। अगर सामान अच्छी तरह से बँधा न हो, या सन्दूक़ आदि हो तो उसका बहुत बुरा हाल होता है। मैंने अपना सामान सँभाला और स्वयं ही उठाकर सबसे ऊपर डेक पर आ पहुँचा। ऊपर निर्मल गगन सूर्य की तीव्र ज्योति से चमक रहा था। समुद्र की ठण्डी-ठण्डी हवा उस गर्मी में भी आनन्द दे रही थी। स्थान सँभाल कर और अपनी आराम कुर्सी बिछाकर मैं निश्चिन्त हो गया। जहाज़ के नीचे और दूर खड़े अपने पूज्य पिताजी को इशारे से बता दिया कि सब सामान मिल गया है और बैठने को स्थान भी बना लिया गया है। धीरे-धीरे सभी यात्री डेक पर आ गये और अपने बन्धुजनों से विदाई लेने लगे। किसी पिता का पुत्र अफ्रीका को जा रहा था, तो किसी बहिन का भाई, और कोई अभागी अपने पति को प्रवास के लिए जाते हुए देख कर विकल हो रही थी। कोई हार पहिना रही थी, कोई गुलदस्ते दे रही थी और कोई-कोई अपने आँसुओं के मोती पिरो रही थीं। ऐसे समय सचमुच विदाई अपने हृदय-स्पर्शी और मधुर रूप में भी साक्षात् करुणा की मूर्ति बनकर जहाज़ से मिल रही थी। इस नव-युवक यात्री का हृदय इस दृश्य को देखते हुए पञ्जाब में प्रियजनों को याद कर रहा था। शरीर जड़वत् होकर जहाज़ पर खड़ा था, परन्तु मन और चेतना बन्धु और मित्रजनों से गले मिल रहे थे। 'टेरिया' जहाज़ ने पहिला बिगुल दिया, ध्यान बँट गया और मैंने अपने पूज्य पिताजी को देखा, वे सामने खड़े थे। यद्यपि आँखों में आँसू न थे, परन्तु अपने प्रिय-पुत्र की 'विदाई' उनसे बातचीत कर रही थी। वात्सल्य-रस का मधुर स्वरूप था। पुत्र के हृदय में भी पितृ-प्रेम उमड़ कर बह रहा था। दूसरा बिगुल बजा, सबने अपने-अपने प्रेम का वचनों से आदान-प्रदान किया। जहाज़ के लंगर उठा लिये गये और तीसरे बिगुल के बजते ही जहाज़ जल-तल पर चलने लगा। इष्ट-मित्रों और बन्धुजनों ने आपस में हर्ष-शोक आदि भिन्न-भिन्न भावों में भरकर 'नमस्कार'-सूचक वचन कहे और 'टेरिया' धीरे-धीरे चल पड़ा। यात्रियों को छोड़ने के लिए आये हुए व्यक्ति बन्दर-गाह के किनारे की ओर जहाज़ के साथ-साथ चले जा रहे थे। कोई अपना हाथ हिला रहा था, तो कोई अपने रूमाल हिला-हिलाकर विदाई का सन्देश पहुँचा रहा था। धीरे-धीरे जहाज़ ने किनारा छोड़ना शुरू किया। दोनों तरफ़ से रूमाल हिलते जा रहे थे और जहाज़ किनारा छोड़कर अथाह, अपार समुद्र

की तरफ़ बढ़ा जा रहा था। किसी-किसी यात्री ने दूरबीन निकाली और अपने प्रियजनों को उसी में झाँकता रहा। धीरे-धीरे बन्धुजन ओझल होते गये और केवल मात्र भारतभूमि अकेली ही दीखती रही। भारत का किनारा और उस पर सिर उठाये हुए दूरस्थ पर्वतों की छोटी मालायें ही हमें देख रही थीं। इनका प्रिय-दर्शन भारतभूमि की याद दिला रहा था। अब बन्धुजन स्मृति-पटल पर न थे, परन्तु एक मातृभूमि ही अपने पुत्रों से बातचीत कर रही थी। ७ मार्च का दिन था, उसी दिन मैंने साक्षात् रूप में अनुभव किया कि मातृभूमि की विदाई भी एक मार्मिक वेदना है। इस वेदना में एक अनुभूति थी कि 'मुझे भूल न जाना'। पराधीन मातृभूमि उस समय अपने दुःखों की कहानी सुना रही थी। उसने कहा, जिस जहाज़ पर तू जा रहा है, 'वह मेरा नहीं'; वह दिन कब आयेगा, जब मैं तुझे अपने जहाज़ों में देश-देशान्तरों की सैर कराऊँगी। एक देश-भक्त का हृदय इस अनुभव से विदीर्ण हो जाता है। मातृभूमि के दुःखों की कहानी सुनते-सुनते और एकटक उनकी पहाड़ियों को चिरकाल तक निहारते हुए धीरे-धीरे मातृभूमि की वे पहाड़ियाँ भी विदा हुईं। सूर्य भी हमसे विदा हो रहा था। उस सूर्य की लालिमा से नील-समुद्र और आकाश की नीलिमा परास्त होकर समुद्रतल में जा बैठी। इस रक्तवर्ण के सौभाग्य-सूचक मङ्गल के साथ-सथ उस ज्योति ने भी विदाई ली। विशाल 'नील सिन्धु' अपनी गोद में उस जहाज़ को लेकर अपनी लहरों से अठखेलियाँ खेलने लगा। इतने में सायंकालीन संध्या के साथ-साथ रात्रि ने अपना आँचल फैलाना शुरू किया और मैं भी अपने सायंकालीन भोजन की चिन्ता में जहाज़ के चलते-फिरते होटल की ओर झुका।

[क्रमशः

सूचना

समस्त हिन्दी-संसार को यह तो ज्ञात ही है कि कलकत्ते के बीसवें अधिवेशन के सुअवसर पर वहाँ के प्रसिद्ध रईस तथा महिला-शिक्षा-प्रेमी श्री बाबू सीतारामजी सेकसरिया ने पाँच वर्ष तक, हिन्दी में किसी भी विषय की, महिला-द्वारा लिखित सर्वोत्तम पुस्तक पर ५००) का प्रतिवर्ष, सेकसरिया महिला-पारितोषिक प्रदान करने की घोषणा की थी। और इसके कार्य्य-संचालन का भार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग को सौंपा था। इसी घोषणा के अनुसार सम्मेलन ने झाँसी में २१ वें अधिवेशन के अवसर पर 'मुकुल' (पद्य-रचना), तथा ग्वालियर में २२वें अधिवेशन के अवसर पर 'बिखरे मोती' (गद्य रचना) नामक ग्रन्थों पर श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान को पाँच-पाँच सौ रुपयों का पारितोषिक, और दिल्ली में २३वें अधिवेशन के अवसर पर, 'स्त्रियों की स्थिति'-नामक ग्रन्थ पर श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल को ५००) रु० का पारितोषिक प्रदान किया है। अब इस वर्ष चौथे पारितोषिक की बारी है। अतएव समस्त महिला-लेखिकाओं तथा विदुषियों से अनुरोध है कि वे इस वर्ष की रचित अपनी प्रत्येक पुस्तक की नौ-नौ प्रतियाँ ता० पहिली अक्टूबर १६३४ के भीतर सेकसरिया-महिला-पारितोषिक के विचारार्थ सम्मेलन-कार्य्यालय में भिजवाने की कृपा करें।

चन्द्रावती त्रिपाठी, एम० ए०
संयोजिका—
सेकसरिया-महिला-पारितोषिक
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन।

प्रयाग
९—८—३४

तिलक-महाराष्ट्र-विद्यापीठ, पूना

२६ अगस्त रविवार को सायंकाल ५½ बजे तिलक-स्मारक-मन्दिर में तिलक-विद्यापीठ का १३वाँ पदवीदान समारोह हुआ। विद्यापीठ के कुलगुरु श्री करंदीकर अध्यक्ष थे। गुजरात विद्यापीठ के आचार्य श्रीयुत कालेलकर ने नवीन स्नातकों को सम्बोधित करते हुए निम्न-लिखित भाषण किया—

"राष्ट्रीय प्रबन्ध में, राष्ट्रभाषा द्वारा राष्ट्र के लिए उपयोगी दिये गये ज्ञान का नाम ही राष्ट्रीय शिक्षण है। यह राष्ट्रीय शिक्षा की विस्तृत व्याख्या है। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में, राष्ट्रीय उन्नति के लिए अत्यन्त उपयोगी शिक्षण को ही, राष्ट्रीय शिक्षा कहना चाहिए। हमारा देश परतन्त्र है। यह पारतन्त्र्य भी अनेक प्रकार का है। राजकीय पारतन्त्र्य मुख्य है, परन्तु इसके सहचार से हम लोग आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक और धार्मिक—अनेक प्रकार की परतन्त्रताओं के बोझ से दबे हुए हैं। इनमें से किसी एक पारतन्त्र्य को दूर करने के लिए यत्न करने से विशेष लाभ नहीं होगा। यह सब परतन्त्रताएँ परस्परावलम्बी हैं। इनका गुप्त गुट बना हुआ है। इस परतन्त्रता के कष्ट को दूर करने के लिये हमें एक साथ सब दिशाओं में यत्न करना चाहिए।

इस आन्दोलन का मुख्य आधार यह होना चाहिए कि साधारण जनता को विशेष रूप से शिक्षित कर, उन्हें परतन्त्रताओं का अनुभव कराया जाय। समाचार-पत्रों-द्वारा यह कार्य हो रहा है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय प्रचारक देश के गाँव-गाँव में घूमकर जनता को शिक्षित करें।

हमारे देश में प्राचीन काल से शिक्षा-प्रणाली में एक भारी त्रुटि रही है। पहले संस्कृत में शिक्षा दी जाती थी। वह शिक्षा कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित थी। मुसलमानी शासन के शुरू होने पर, फ़ारसी-भाषा-द्वारा शिक्षा दी जाने लगी। आज कल अँगरेज़ी में शिक्षा दी जाने लगी है। यह दोनों भाषाएँ कुछ व्यक्तियों तक सीमित रहीं। आज तक हमारे देश में, देशी-भाषा-द्वारा सामान्य जनता को ज्ञान देने का यत्न नहीं किया गया। परिणामतः साधारण जनता उच्च-ज्ञान से लाभ न उठा सकी।

उच्च-शिक्षा की भव्य इमारत खड़ी करने के लिए राष्ट्र में प्राथमिक शिक्षा का प्रचार होना आवश्यक है।

इस समय देश के विचारक इस बात पर सहमत हैं कि गाँवों की उन्नति के बिना राष्ट्र की उन्नति नहीं हो सकती। कइयों का यह विचार है कि गाँवों में काम करनेवाले प्रचारक साधारण योग्यता वाले होने चाहिए। परन्तु यह बात ठीक नहीं। गाँवों में काम करनेवाले व्यक्ति सुशिक्षित, कार्य-चतुर और बुद्धिमान् होने चाहिए। सफलता के लिए

सेवा और त्याग की भावना से भी काम करना आवश्यक है।

प्रचारकों को यह समझ कर कार्य नहीं करना चाहिए कि हम अज्ञानी देहातियों को शिक्षा दे रहे हैं, अपितु दीन-दरिद्र तथा निर्बलों की सेवा करने की भावना से काम करना चाहिए।

कई लोग यह पूछते हैं कि गांवों में जाकर हमें क्या काम करना चाहिए। इस का निश्चित उत्तर देना कठिन है। प्रचारकों को गांवों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार कार्य करना चाहिए।

कइयों को यह आशंका है कि यदि यह प्रचारक गांववालों के धन्धे करते हुए काम करेंगे, तो उनमें व्यापारी स्पर्धा पैदा होगी। परन्तु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रचारक गाँवों में धंधे के रूप में अर्थ-लाभ की दृष्टि से काम नहीं करेंगे, अपितु ग़रीब ग्रामीणों की सहायता के लिए इन कामों को करेंगे। इसलिए ऐसे प्रचारकों की गांव के धंधे वालों से स्पर्धा पैदा न होगी।

हमें अपने अन्दर सहिष्णुता के गुण का विशेष रूप से विकास करना चाहिए। राष्ट्रीय उद्धार के लिए अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार काम करने-वालों को भी राष्ट्र-सेवक समझना चाहिए।

प्राचीन दीक्षान्त उपदेश में—मातृदेवो भव, पितृ-देवो भव, अतिथिदेवो भव का उपदेश दिया गया है। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में हमें इसमें यह वाक्य बढ़ा देने चाहिएँ—दलितदेवो भव, दीनदेवो भव। दलित जातियों की शिक्षित भाइयों की सेवा की विशेष आवश्यकता है। राष्ट्रीय शिक्षणालयों का मुख्य उद्देश्य इस प्रकार के सेवक और प्रचारक उत्पन्न करना है। समय तथा अवस्था के अनुसार वाह्य रूप-रंग में परिवर्तन हो सकता है; परन्तु उद्देश्य व ध्येय सदा स्पष्ट रूप में सामने रहना चाहिये।

आज जिन स्नातकों को प्रमाणपत्र दिये जा रहे हैं, उन्हें परस्पर बन्धुभाव से रहते हुए निरालस भाव से राष्ट्र-सेवा करनी चाहिये और अपने अर्जित ज्ञान-द्वारा समाज की सेवा करनी चाहिए। यही उच्च शिक्षा है, यही प्राप्त उच्च शिक्षा का ठीक उपयोग है। इसके बाद राष्ट्रीय गीत के साथ समारोह समाप्त हुआ।

—

शुद्धबोध-स्मृति-ग्रन्थ

यह विदित ही है कि 'सचित्र शुद्धबोध' में हमने उपर्युक्त स्मृति-ग्रन्थ के विषय में लिखा था कि समय और शक्ति देखकर हम इस ग्रन्थ के तैयार करने के लिए उद्यत होंगे। यह ग्रन्थ एक वर्ष में तैयार होगा। एक वर्ष तक विमर्श परामर्श के लिए पड़ा रहेगा और तीसरे वर्ष जाकर प्रकाशित होगा। इस स्मृति ग्रन्थ में बिना किसी भेदभाव के प्राचीन संस्कृति के परम उपासक, प्रकाण्ड विद्वानों के भिन्न-भिन्न विषयों पर गम्भीर गवेषणा-पूर्ण निबन्ध रहेंगे।

आशा है इस विषय में आप हमारी सहायता करेंगे। जिस विषय में आपकी रुचि हो, उस विषय में आप निबन्धरूप में स्वप्रबन्ध को भेजने की कृपा करेंगे। यह स्मृति-ग्रन्थ महाविद्यालय के स्वर्गीय आचार्य तथा कुलपति श्री१०८ स्वामी शुद्धबोधतीर्थ जी महाराज की स्मृति का रक्षक रहेगा।

आप इस विषय में जो भी परामर्श देंगे, उस पर हम पूर्ण विचार करेंगे।

—नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ ज्वालापुर

—

—बिहार विद्यापीठ की पढ़ाई पहली नवम्बर से शुरू होगी।

—

गुरुकुल काँगड़ी

गुरुकुल काँगड़ी के महाविद्यालय-विभाग में २८ अगस्त से बृहत् अवकाश (छुट्टियाँ) हो गये हैं। प्रायः सब उपाध्याय तथा ब्रह्मचारी बाहर चले गये हैं। इस समय ९-१० ब्रह्मचारी गुरुकुल में ठहरे हुए हैं, जो कि भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन करने तथा निबन्ध लिखने में पुस्तकालय की सहायता लेते हुए अपने-अपने कार्य में लगे हुए हैं।

शेष ब्रह्मचारी या तो अपने घरों में गए हुए हैं, या निम्नलिखित दलों मे यात्रा करने गये हुए हैं।

सात यात्री दल

१—दो दल कश्मीर यात्रा के लिये गए हैं। उनमें से एक दल रावलपिण्डी से होता हुआ कश्मीर जा पहुँचा है तथा दूसरा दल शारीरिक व्यायाम प्रदर्शन करता हुआ अम्बाला, लुधियाना, जालन्धर आदि नगरों में होता हुआ काश्मीर जा रहा है।

२—एक दल बम्बई को रवाना हुआ है, जो मार्ग में आनेवाले भारतवर्ष के प्रसिद्ध नगरों को देखता हुआ बम्बई पहुँच गया है।

३—तृतीय दल साईकिल यात्रियों (Cycle tourists) का है। यह दल साईकल पर देहरादून से आगरा की तरफ़ रवाना हुआ है। पर मथुरा जाकर इन्होंने आगरा की तरफ़ जाने का विचार छोड़ दिया है। अब यह दल भरतपुर की ओर रवाना हो गया है।

४—तीन ब्रह्मचारियों का एक पहाड़-यात्री-दल कुल्लू की ओर रवाना हुआ है। इसे गंगोत्तरी से कुछ इधर ही रहकर लौट आना पड़ा; क्योंकि उधर से आगे रास्ता बन्द हो गया था। परन्तु अब फिर कालिका की ओर से पुनः यह दल कुल्लू की ओर रवाना हो गया है।

५—पाँचवाँ दल मध्य-प्रान्त में वर्धा गया है। वहाँ ये ब्रह्मचारी महात्मा गांधी के वर्धा-आश्रम में रहेंगे। गांधीजी तथा विनोबाजी की अध्यात्म-विद्या का अध्ययन करने के लिये सत्संग प्राप्त करते हुए उस आश्रम-जीवन से लाभ उठायेंगे और लौटते हुए पैदल आवेंगे।

६—दो ब्रह्मचारी काशी में वेदान्त तथा व्याकरण के अध्ययन के लिए गये हैं।

७—एक ब्रह्मचारी ज्योतिष का अध्ययन, तथा दो ब्रह्मचारी आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिये जयपुर गए हैं।

छोटे ब्रह्मचारी

गुरुकुल काँगड़ी के बालक-विभाग में भी १२ सितम्बर से छुट्टियाँ प्रारम्भ हो गयी हैं। इस बार छोटे ब्रह्मचारी राजपुर या किसी अन्य जगह नहीं जायेंगे, किन्तु गुरुकुल काँगड़ी को ही अपना मुख्य स्थान रख कर आस-पास कुछ-कुछ समय के लिए जायेंगे।

—

गुजरात-विद्यापीठ

श्री काका कालेलकर ने गुजरात-विद्यापीठ तथा गुजरात की अन्य कई राष्ट्रीय संस्थाओं के ट्रस्टी-शिप से इस्तीफ़ा दे दिया है, जिससे बड़ी सनसनी फैल गई है। गुजरात विद्यापीठ के पुस्तकालय को अहमदाबाद म्युनीसिपैलिटी को देने का जो निश्चय किया है, कहा जाता है, उसी के विरोध में यह इस्तीफ़ा है।

—

ग्राम सेवक शिक्षणालय

पूर्व सूचना के अनुसार २४ अगस्त श्रावणी के दिन से गांधी-सेवाश्रम में ग्राम सेवक-शिक्षणालय प्रारम्भ हो गया है । शिक्षणालय का स्थापना दिवस हवन, नवागत शिक्षार्थियों की दीक्षा, भजन, उपदेश तथा झंडा-प्रार्थना-द्वारा सार्वजनिक रूप से मनाया गया था। यद्यपि शिक्षार्थियों के प्रार्थनापत्र बहुत से आये थे, उनमें से १० को स्वीकृत किया गया था, परन्तु इस समय पाँच विद्यार्थी पढ़ रहे हैं, शेष पाँच विद्यार्थी विभिन्न कारणों से अभी तक उपस्थित नहीं हो सके हैं। उपस्थित पाँच विद्यार्थी बिहार, राजस्थान, गढ़वाल बिजनौर और सहारनपुर के हैं। देहरादून, मुज़फ्फरनगर, प्रतापगढ़, गाज़ीपुर के स्वीकृत ५ परीक्षार्थी नहीं पहुँचे हैं।

अगस्त मास के अन्त तक निम्न विषयों पर निम्न व्याख्यान हुए हैं—

विषय	संख्या	व्याख्याता
राजशास्त्र	४ व्याख्यान	गु०कु० काँगड़ी के अर्थशास्त्रोपाध्याय पं० केशवदेवजी विद्यालंकार
स्वराज्य का स्वरूप	४ ,,	श्री दुर्गेशजी अध्यक्ष
त्यौहारों के सुधार	२ ,,	पं० देवशर्माजी
वानर-सेना-संगठन	५ ,,	मास्टर नारायण रावजी
ग्राम का प्रारम्भिक स्वरूप	५ ,,	पं० जयदेवजी वेदालंकार
ग्राम-जीवन-शिक्षा	५ ,,	श्री दुर्गेशजी
ग्राम के स्वास्थ्य	३ ,,	ला० ठाकुरदासजी मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कुरुक्षेत्र
लगान-मालगुजारी	२ ,,	,, ,, ,, ,,

इन व्याख्यानों को सुनने के लिए इन पाँच शिक्षार्थियों के अतिरिक्त कुछ गुरुकुल काँगड़ी के ब्रह्मचारी तथा कुछ बाहर के लोग भी आते रहे हैं।

आओ हम इस खाई को भर दें

गांधी-सेवाश्रम में २४ अगस्त को श्रावणी के दिन जो ग्राम-सेवक-शिक्षणालय की स्थापना की है, उस अवसर पर इस आश्रम के संचालक के तौर पर आचार्य देवशर्माजी ने जो भाषण किया था, उसका सारांश पाठकों के लाभ के लिये नीचे दिया जाता है।

बहुत-से लोग पूछताछ करते हैं कि आजकल मैं किस कार्य में लगा हूँ। ये प्रायः ऐसे लोग हैं, जो मेरे गुरुकुल के आचार्य होने पर ही मुझसे विशेष परिचित हुए हैं। नहीं तो मेरे सभी सुपरिचित भाई जानते हैं कि मैं सन् १९३० से ग्राम-सेवा को अपना मुख्य कार्य बना चुका हूँ, बल्कि इस ग्राम-सेवा के कार्य में सन् १९२१ से ही पड़ चुका हूँ। आज इस अवसर पर जब कि इस आश्रम की तरफ़ से इस ग्राम-सेवक-शिक्षणालय का एक चिनगारी के-से अतिक्षुद्र किन्तु तेजस्वी रूप में प्रारम्भ हो रहा है, मुझसे यदि आप कुछ सुनने की आशा करते हैं, तो मैं आपके सामने एक ही बात उपस्थित कर सकता हूँ, वह यह कि मैं आपको सुनाऊँ कि मैं क्यों अन्य सब काम छोड़कर ग्राम-सेवा में लगा हूँ। आपको बताऊँ कि क्यों ये सामने बैठे पं० जयदेवजी, मास्टर विश्वम्भरसहायजी, पं० पूर्णचन्द्जी, पूज्य दुर्गेशजी आदि (जो यदि चाहते तो अन्यों की तरह बड़ी सफलता के साथ पढ़े-लिखों का, रुपये कमाने और आरामतलबी का जीवन व्यतीत कर सकते थे) ग्रामीणों का-सा परिश्रमी और कठिन जीवन बिता रहे हैं।

मेरा ख़याल है कि यदि हमने सचमुच अपने देश को स्वाधीन करना है, सच्चा स्वराज्य स्थापित करना है, तो हमारे लिये यह मार्ग पकड़ना अनिवार्य है। यदि हम सचमुच देश की ही सेवा में अपना जीवन अर्पित करना चाहते हैं, तो हमें ग्राम-सेवा में लगना पड़ेगा। गांधीजी चिरकाल से हमारा ध्यान ग्राम-सेवा की तरफ़ खींच रहे हैं। चित्तरंजनदास अपने अन्तिम दिनों में ग्राम-सेवा की ही योजना लेकर खड़े हुए थे, जवाहरलालजी ग्रामों में ही प्रवेश करने को बार-बार कह रहे हैं। और इस अन्तिम सत्याग्रह की लड़ाई के बाद तो यदि किसी देश-सेवक का ध्यान इस तरफ़ नहीं खिंचा है, तो मुझे आश्चर्य है। हल्ले गुल्ले के

साथ पिकेटिंग करने, नारे लगाने, जलूस निकालने-जैसे कार्यों से यदि कुछ सार्वजनिक भाव-जागृति का काम हो सकता था, तो वह हो चुका है; पर इतने से स्वराज्य तो कभी नहीं मिलनेवाला है। इसके लिए तो हमें दृढ़ रचनात्मक कार्य करना होगा। अभी तक हमने खादी के रचनात्मक कार्य की भी ऊपरली सतह को ही छुआ है। अब समय आ गया है जब कि हमें चर्खे का झण्डा उठाकर ग्रामों में प्रवेश करना पड़ेगा, असली भारतवर्ष को, जो कि सात लाख गाँवों में बसता है, जगाना पड़ेगा। हमारे गाँववालों के यों ही प्रतिनिधि बने रहने से अब काम नहीं चलेगा, हमें तो अब गाँववालों को अपना लेना होगा, गाँववाले बन जाना होगा। हम शहरवाले लोग विदेशी शासन और विदेशी सभ्यता के वशीभूत होकर दिनोंदिन निर्बल होते हुए जो एक विचित्र अस्वाभाविक जीवन बिताने लग पड़े हैं, उससे हम गाँववालों से दूर—बहुत दूर होते गये हैं। हम पढ़े-लिखे सफ़ेद-पोश, चालाक और शारीरिक परिश्रम से शून्य शहराती लोगों और ग्रामीण लोगों के (जो अज्ञान-भरे और जैसे-तैसे शारीरिक श्रम करनेवाले होते है) बीच में एक बड़ी भारी खाई बन गयी है। इस खाई को बिना भरे यह हमारा राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता है। यदि राष्ट्र का उत्थान होना है —और यह अवश्य होना है—तो यह अपने और ग्रामीणों के इस भारी अन्तर को पूरने एवं करोड़ों ग्रामवासियों को साथ लेने-द्वारा ही होना है। यह खाई जैसे हुई है, उसी तरह इसे हमें भरना होगा। अब तक हमने गाँवों का उपकार प्राप्त किया है, पर हमने उन्हें धोखे के सिवाय कभी कुछ दिया नहीं है। हमने अन्न-वस्त्र तथा सब सुख-भोग के सामान सदा ग्रामवासियों के परिश्रम से ही निरन्तर उपलब्ध किये हैं, अतः उनके ऋणग्रस्त होते आये हैं; पर उस ऋण को हमने कभी उतारा नहीं है। इसलिए यह खाई बन गई है। अब प्रकृति इस ऋण को बिना चुकाये हमें आगे नहीं बढ़ने देगी। ज़रा कठोर (किन्तु किसी प्रकार भी असत्य नहीं) शब्दों में कहें, तो हम अब तक ग्रामवालों को चूसते रहे हैं, अतः जब तक कि हम उनके सूखे हाड़ों में फिर नया रक्त संचार नहीं करेंगे, तब तक हमारा—इस राष्ट्र का—जीवित रहना कठिन है। हम जो पढ़े-लिखे बनकर सफेद कपड़े पहिने बैठे हैं, शारीरिक परिश्रम से शून्य एक कृत्रिम सुख-चैन का जीवन बिता रहे हैं, पंडित बने, बाबू बने या लाला बने एक निर्जीव आरामतलबी के दिन काट रहे हैं, यह सब गाँववालों की बरबादी पर ही कर रहे हैं। इस देश का—भारत के एक-एक ग्रामवासी का—जो भयंकर शोषण हो रहा है, उसमें हम शहरवाले जाने या अनजाने माध्यम का काम कर रहे हैं। इस शोषण-कार्य में अनुकूल रहने के लिए हमने अपने को एक कृत्रिम जीवन बिताते हुए अपने एक-एक कृत्य-द्वारा ग्रामों को चूस रहे हैं और उस चूस का कुछ अंश अपने लिए पाकर उसे आगे पहुँचा रहे हैं। हम शायद इसे जानते नहीं हैं, जानना चाहते भी नहीं हैं या जान कर भी इसे अनुभव करना चाहते नहीं हैं। परन्तु जो इसे अनुभव कर रहे हैं, उनके लिए तो अब सिवाय ग्राम-सेवा में पड़ जाने के और कोई चारा नहीं है। गाँववालों की अपेक्षा हममें जो कुछ बड़प्पन व अच्छाई दीख पड़ती है, उसका एक-मात्र कारण यह है कि हमने लगातार ग्रामवासियों के अज्ञान और दारिद्र्य का लाभ उठाया है। इस अनुचित लाभ उठाने से ही हम धनी, बली, विद्वान् व प्रतिष्ठित बने हैं। हम ज़रा सोचें तो देखेंगे कि

हमें जो-कुछ पढ़ने-लिखने की सहूलियत मिली है, उसके मूल में गाँववालों का ही पसीना है। परन्तु वे सब स्कूल-कालिजों के पढ़े हुए (और कुछ हद-तक गुरुकुल आदि पवित्र संस्थाओं के पढ़े हुए भी) उन गाँववालों को चूसने में ही अपनी पढ़ाई को सार्थक कर रहे हैं। नाना प्रकार से उन्हें ठगने में अपनी विद्या का उपयोग कर रहे हैं। सरकारी बाबू लोग तरह-तरह के तरीक़ों से पीड़ित कर गाँव वालों से रिश्वतें खींच रहे हैं। हमने आर्थिक नियमों को ऐसा रूप दे दिया है कि ग़रीब निरन्तर ग़रीब ही होता जा रहा है। हर सौदे में बिचारा ग़रीब घाटा ही उठाता है। हमने ऐसी व्यवस्था कर ली है कि सारा नफ़ा हमें मिले और सारा परिश्रम ग़रीब करें। ऐसा पाप-चक्र चल रहा है कि गाँववाले भी इस प्रकार के कपट, पर-पीड़न, आरामतलबी और दासता की मनोवृत्ति में ही दीक्षित होते जा रहे हैं। यही कारण है जिससे कि मैं अपने को ग्राम-सेवा में खिंच आया पाता हूँ, जिससे गांधी-सेवाश्रम के ये भाई अपना "कैरियर" बनाना छोड़ कर, दुनियाबी महत्वाकांक्षाओं को छोड़कर सूखी रोटियाँ खाते हुए और नाना मुसीबतें झेलते हुए गाँव में ही रहने में सुख पाते हैं। हमें और कोई दूसरा कार्य ही नज़र नहीं आता है। हम देखते हैं कि हम गाँवों के इतने ऋणी हैं कि यदि हमने दो अक्षर पढ़े हैं, कुछ सत्यज्ञान पाया है, तो हमारे उस सब पर सबसे पहिला अधिकार ग्राम-वालों का है। हमारे और ग्रामीणों में जो परस्पर अज्ञान का बड़ा भारी अन्तर पड़ गया है, उसे हमें शीघ्र-से-शीघ्र परस्पर ज्ञान देने-द्वारा पूरा करना चाहिए। यदि हममें से किसी ने व्यापार, नौकरी आदि द्वारा रुपया जमा किया है, तो उसके उपयोग के सर्व-प्रथम अधिकारी दरिद्र किये गये ग्रामवासी ही हैं। किसी प्रकार की ग्राम-सेवा में लगाकर ही हमारा कमाया हुआ वह धन सार्थक किया जा सकता है। इस तरह यदि हम अपने ज्ञान, बल और धन को ग्राम-सेवा में समर्पित कर देंगे, तो हम कोई उन पर कृपा या उपकार नहीं करेंगे। केवल अपने एक अन्याय का प्रतीकार करेंगे, केवल अपने एक ऋण को कुछ उतारेंगे। इसलिए मैं आप लोगों से निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि आपको मेरे इस कथन में कुछ सचाई लगती है, यदि आपको देश की इस दुरवस्था का दर्द अनुभव होता है, तो आप भी अपनी शक्ति-भर कुछ-न-कुछ ग्राम-सेवा अवश्य करें और आज ही से करें। खूब सोचें कि आप ग्रामों का प्रत्युपकार किस रूप में कर सकते हैं। अधिक आप जो-कुछ कर सकें, वह तो करें; पर आप में से ऐसा तो कोई न होना चाहिये, जो कि खादी पहिनने के द्वारा ग्रामवासियों से सहानुभूति भी प्रकट न कर सके। नहीं, अब तो हममें से हज़ारों-लाखों को केवल खद्दरधारी नहीं किन्तु पूरा ग्राम-सेवी बन जाना पड़ेगा। याद रखिए कि भारत का स्वराज्य न कौंसिलों से मिलना है और न राउण्डटेबल कान्फ्रैंसों से। भारत का मुक्तिद्वार खोलने की सामर्थ्य यदि किसी में है, तो वह है—एक-मात्र जागी हुई भारतीय जनता, जागे हुए ग्रामवासी। आओ हम अब उन्हीं का दरवाज़ा खट-खटावें, और उन्हीं की सेवा में तत्पर होवें। क्योंकि भारत की सेवा का अर्थ है भारत के ग्रामों की सेवा। भारत के स्वराज्य का अर्थ है भारत के ग्रामवासियों का स्वराज्य।

पं०पूर्णचन्द्रजी और पं०रामेश्वरजी का त्याग—

जात-पात-तोड़क-मण्डल के दोनों (हिन्दी और उर्दू) पत्रों में मेरे विरुद्ध बहुत लिखा गया है यह मैं जानता हूँ। पर मुझे उसका कुछ भी उत्तर नहीं देना है। दो बार जो ज़रा-सा मुझे इस सम्बन्ध में लिखना पड़ा है, उसका कारण यह है कि मेरे कारण मेरे साथ में जो आचार्य रामदेवजी पर असत्य आरोप आते थे, उनका प्रतिवाद करना मेरा कर्तव्य था। अब फिर श्रीयुत बनवारीलालजी का एक लेख मुझ पर निकला है, जिसमें मेरे नाम से दो ऐसी बातें लिखी गई हैं कि यदि वे सचमुच मेरे शब्दों में लिखी जातीं, तो उनका मतलब उनसे ठीक उल्टा निकलता। पर उन पर भी मुझे कुछ उत्तर नहीं देना है। मेरा जीवन ही उनका उत्तर-रूप है। जो मुझे जानते हैं, वह उन पर विश्वास नहीं करेंगे, जो मुझे नहीं जानते, उनको बताने की मुझे कोई जल्दी नहीं, और उनको भी केवल शब्दों द्वारा विश्वास कराने की मेरी इच्छा भी नहीं। किन्तु उस लेख में मेरे साथ में, जो गुरुकुल के दो अन्य स्नातकों से अन्याय किया गया है, उसके लिये इस टिप्पणी-द्वारा कुछ प्रकाश डालना मैं आवश्यक समझता हूँ। स्नातक पूर्णचन्द्रजी और रामेश्वरजी के विषय में लिखा गया है कि ये दोनों मेरी सिफ़ारिश पर कांग्रेस से काफ़ी वेतन लेते हैं। परन्तु यह बनवारीलालजी को मालूम नहीं है कि बात इससे उलटी है। दोनों काफ़ी त्याग करके गांधी-सेवाश्रम में आये हैं। पं० रामेश्वरजी आर्य-प्रतिनिधि-सभा में ७५) मासिक की स्थिर-सेवा में लगे हुए थे। पर अब वे सपरिवार लगभग ३५) माहवार में ही गान्धी-सेवाश्रम से (कांग्रेस से नहीं) अपना खर्च चलाते हैं। इन ३५)में से भी १०)या १५) उन्हें अपनी विधवा बहिन को देने होते हैं। इसी तरह पूर्णचन्द्रजी भी अधिक नहीं, तो ७०), ७५) तो आसानी से कमा ही सकते थे। पर वे प्रायः प्रारंभ से ही देश-सेवा में लग गये है और अपने भाई के (जो गुरुकुल कुरुक्षेत्र में पढ़ता है) १६) के शुल्क के देने के अलावा अपने पर अधिक-से-अधिक ५), ७) रुपया ही व्यय करते होंगे। बात यह है कि गान्धी-सेवाश्रम में किसी को कोई वेतन (तनख्वाह) नहीं दी जाती है, जो वास्तविक खर्च होता है, वही दिया जाता है। और हरएक सभासद् सदा कम-से-कम खर्च करने की कोशिश में रहता है। सब सभासद् एक परिवार के रूप में रहते हैं, अतः यदि किसी पर कोई विपत्ति आती है, तो दूसरे सभासद् अपना खर्च और भी कम करके उसकी मदद करते हैं। जैसे प० रामेश्वरजी की बीमारी तथा अन्य मुश्किलों में दूसरों ने मदद की है। फिर भी आश्रम के सब सभासदों और कार्यकर्त्ताओं का औसतन मासिक व्यय १५) के लगभग ही पड़ता है। इसे तो काफ़ी वेतन लेना नहीं कहना चाहिए। अच्छा होता कि श्री बनवारीलालजी इन अपने गुरुकुल के दो त्यागी स्नातकों के विषय में उलटा न लिखकर इनके त्याग की प्रशंसा में कुछ लिखते।

इसी तरह ये दोनों स्नातक गुरुकुल के कट्टर भक्त मशहूर हैं। पं० रामेश्वरजी तो आर्यसमाज के भी वैसे ही भक्त हैं। कभी आर्यसमाज की किन्हीं त्रुटियों को बतलाना भी वे प्रेमवश ही करते हैं। पर इनमें से कोई अश्लील शब्दों में गुरुकुल व आर्य-समाज को बुरा कहेगा, यह तो बिलकुल असंभव है। शायद श्री बनवारीलालजी को अश्लील शब्द का अर्थ मालूम नहीं है।

क्या यह अच्छा न होता कि श्री सन्तरामजी इतनी उलटी विपरीत और मिथ्या बातों से भरे लेख को छापने से पहिले इसकी प्रामाणिकता के लिए इसे मुझे एक बार दिखला देते? पर न-जाने क्यों मैं श्री सन्तरामजी के इतने मामूली प्रेम-व्यवहार का भी पात्र नहीं बन रहा हूँ? मैं तो उनका प्रेम ही चाहता हूँ।

—

गुरुकुल की स्वामिनी सभा—

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि श्री मान्य महाशय कृष्णजी मन्त्री पंजाब प्रतिनिधि सभा ने अपने साप्ताहिक "प्रकाश" में मेरे लिखे 'गुरुकुल की स्वामिनी सभा' लेख पर अपने विचार प्रकट करने की कृपा की है। महाशयजी-जैसे आर्य-समाज के बड़े नेता ने मेरे लेख पर इतना ध्यान दिया है, यह देख कर मैं सचमुच अपने को सम्मानित अनुभव करता हूँ। मैंने ध्यान से उनके लेख को सुना है। एक अंश में मेरा वह लेख अवश्य अपूर्ण है, जैसा कि मैंने अपने उस लेख में अधिक फिर लिखने की बात कहकर स्वयं संकेत किया है। मैं उसे पूर्ण करूँगा और गुरुकुल स्वा-मिनी सभा का अपना प्रस्ताव बनाकर भी उपस्थित करूँगा या उपस्थित कराने का यत्न करूँगा। परन्तु उससे पहले मुझे अन्य विचारकों के विचार अपने कथन पर जान लेने आवश्यक हैं। जितने अंश में मेरा लेख पूर्ण है, उतने अंश में ही विचार करने की बहुत ज़रूरत है, उस पर विचार हो जाय, तो फिर कोई योजना बनाकर उपस्थित करना कोई बड़ी बात नहीं रहती है। मान्य महाशयजी भी यदि उसी पर अपने विचार प्रकट करते तो अच्छा होता; मैंने गुरुकुल को संचालिका सभा के लिये जो चार बातें लिखी हैं, उन पर अपनी सम्मति प्रकट करके आर्य-जनता का पथ-प्रदर्शन करते तो अच्छा होता। मेरी समझ में वे आधारभूत बातें हैं, उन पर काफ़ी विचार होना आवश्यक है। पर यदि उन पर महाशयजी का कुछ न लिखना महाशयजी की स्वीकृति का द्योतक हो, तो यह मेरे लिए बहुत ही ख़ुशी की बात है। साथ में यह भी निवेदन कर दूँ कि यद्यपि अपना यह लेख छपने से पहले मैं आचार्य रामदेवजी को नहीं दिखा सका और न दिखाने की आवश्यकता ही समझी, तो भी इस विषय में मैं समय-समय पर उन से बातचीत करता रहा हूँ और इस सम्बन्ध में उनके विचार अच्छी तरह जानता हूँ, वे मुझ से कितने अंशों में सहमत हैं और कितने में नहीं यह सब जानता हूँ। आचार्य रामदेवजी से तथा अन्य सभा के बड़े अधिकारियों से मेरी इस विषय में भी बातें होती रही हैं कि विद्या-सभा अब तक क्यों नहीं बन सकी, पर इन बातों पर उस लेख में अपने विचार प्रकट करना किसी तरह ठीक नहीं था। इस लेख में मैंने जो कुछ प्रकट करना आवश्यक समझा, और प्रकट करने का प्रयत्न किया है, वह यह है कि हमारी सभा इतने वर्षों से प्रारम्भ हुए विचार को अभी तक अमल में नहीं ला सकी; अब उसे अवश्य अमल में लाना चाहिये। अतः मैं आर्य-नेताओं से और आर्य-पत्रकारों से प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे उस लेख पर

अपनी राय अवश्य प्रकट करें, और इस बात पर प्रकाश डालने की कृपा करें कि जो चार गुण मैंने गुरुकुल की संचालिका सभा के सदस्यों में होने आवश्यक बताये हैं, वे उनकी सम्मति में ठीक हैं या नहीं।

—'अभय'

श्रीयुत हरमुकन्दजी शास्त्री का शुभ-दान—

पंजाब के प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी श्री हरमुकन्दजी शास्त्री ने जम्मू-कश्मीर में हिन्दी प्रचार के लिए ५०००) का दान किया है। इसके द्वारा हिन्दी-वर्णमालाएँ, धार्मिक पुस्तकें, प्रवेशिका-पुस्तिकाएँ बिना मूल्य वितीर्ण की जायेंगी। इस निधि से हिन्दी-पाठशालाओं को सहायता भी दी जायगी। इस निधि का उपयोग श्री पं० विश्वम्भरनाथजी, उपप्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब, श्री श्रीचन्द्र तर्कतीर्थ, पं० लोकनाथजी तथा स्वयं दानी महानुभाव करेंगे।

श्री हरमुकन्दजी शास्त्री का यह शुभ-दान पंजाब में अपने ढंग का पहला दान है। आज तक पंजाब में हिन्दी-प्रचार के लिए किसी सज्जन ने इतना बड़ा दान नहीं किया। पण्डितजी ने हिन्दी-प्रेमी दानियों के सामने अनुकरणीय उदाहरण रखा है। पण्डित हरमुकन्दजी शास्त्री इससे पूर्व भी समय-समय पर हिन्दी-प्रचार के लिये दान करते रहे हैं। पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अमृतसर में हुए वार्षिक-अधिवेशन में आपने हिन्दी-प्रचार के लिए सम्मेलन को १००) का दान दिया था। पिछले वर्ष आपने सम्मेलन को १०००० वर्णमालाएँ हिन्दी सीखनेवालों में बिना मूल्य वितीर्ण करने के लिए दी थीं।

इस समय जम्मू-कश्मीर रियासत में मुसलमानों के आन्दोलन के कारण हिन्दी-भाषा को नुक़सान पहुँचने की सम्भावना है। सन् १९३२ ई० में पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन जम्मू में हुआ था। उस समय जो प्रस्ताव स्वीकार किये गये थे, उनमें एक प्रस्ताव इस आशय का था कि जम्मू-दरबार की हिन्दी-विरोधी नीति का प्रतिवाद किया जाय तथा रियासत के आधीन चल रही कन्या-पाठशालाओं में उर्दू को आवश्यक विषय बनाने का विरोध किया जाय।

आशा है जम्मू की स्थानीय नागरी-प्रचारिणी सभा इस दान से लाभ उठा कर रियासत में हिन्दी-प्रचार के कार्य को स्थिर रूप देगी। पण्डित हरमुकन्दजी शास्त्री को हम इस शुभ-संकल्प पर बधाई देते हैं। आशा है, पंजाब के अन्य हिन्दी-प्रेमी भी अपने-अपने ज़िलों में इसी भाँति हिन्दी-प्रचार को स्थिर रूप देने का यत्न करेंगे।

प्रकृति का कोप—

अभी बिहार की जनता प्रलयकारी भूकम्प की यातनाओं से दम भी न लेने पाई थी कि अगस्त मास में सोन और गंगा की भयंकर बाढ़ ने सैकड़ों ग़रीब ग्रामीणों को बे-घर-बार कर दिया। विपद् विपदमनुबध्नाति के अनुसार बिहार पर मुसीबतों के पहाड़ टूट रहे हैं। यह जल-प्रलय केवल बिहार में ही नहीं आयी, आसाम की जनता को भी इस प्राकृतिक विपत्ति के दुःख झेलने पड़े हैं। श्रीयुत राजेन्द्र बाबू जी, श्रीमती अमरकौर तथा अन्य लोक-सेवक सभाएँ पीड़ित भाइयों की यथाशक्ति सहायता कर रहे है। सरकार तथा जनता को चाहिए कि पीड़ित-प्रजा को यथाशक्ति सहायता देने के लिए संगठित आन्दोलन करे, धन, जन और अन्न की सहायता से पीड़ितों के दुःख में हाथ बटाएँ। हरेक भारतीय को अपने पीड़ित भाइयों के इस कष्ट को हलका करने का यत्न करना चाहिए।

दक्षिण-अफ्रीका में हिन्दी-प्रचार—

इसी अंक में श्री पं० सत्यदेवजी विद्यालंकार का "दक्षिण-अफ्रीका की यात्रा" लेख प्रकाशित हुआ। सत्यदेवजी ने अफ्रीका में धर्म-प्रचार के साथ-साथ हिन्दी-प्रचार का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है। पंडितजी ने अफ्रीका जाते ही ५ अगस्त १६३४ को नैरोबी में हिन्दी-सम्मेलन की योजना की। इस सम्मेलन में ६ प्रस्ताव स्वीकृत किये गए इनमें से दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव यह हैं—

१—यह सम्मेलन पूर्वी-अफ्रीका के पंजाबी और गुजराती भाइयों से साग्रह अनुरोध करता है कि वे अपनी प्रान्तीय भाषाओं की लिपि को देवनागरी लिपि में बदल कर भारत के 'एक लिपि' आन्दोलन में सहयोग प्रदान करें।

२—इस सम्मेलन की सम्मति में एक 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' का संगठन किया जाय, जो इस देश में हिन्दी-प्रचार के आयोजन का पूर्ण प्रबन्ध करे।

प्रवासी भारतीयों को भारतीय संस्कृति तथा भारतीय राष्ट्रीयता के साथ सम्बद्ध रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। देवनागरी-प्रचार इसका अचूक साधन है। अफ्रीका-प्रवासी-भारतीयों के इस शुभ-संकल्प का हम हार्दिक स्वागत करते हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा तथा अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इलाहाबाद को चाहिए कि अपने प्रचार-विभाग को इस दिशा में भी काम करने की प्रेरणा करें।

—

अर्ध-शताब्दियों का समारोह—

१६३५ ई. में अर्ध-शताब्दियों के समारोह की धूम-धाम रहेगी। आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब, कन्यामहाविद्यालय जालंधर 'राष्ट्रीय महासभा' डैकन एजुकेशनल सोसायटी फर्ग्युसन कालेज, तथा युक्त-प्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि सभा ने १९३५ में अर्ध शताब्दी महोत्सव मनाने की सूचनाएँ प्रकाशित की हैं। पिछले ५० वर्षों में इन संस्थाओं ने भारतीय जनता की सेवा के लिए जो श्लाघनीय कार्य किया है, वह किसी से छिपा नहीं है। राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति का श्रेय अधिकांश में इन संस्थाओं को है। परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि बदली हुई अवस्थाओं के अनुसार इन संस्थाओं के संगठन तथा कार्यक्रम में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। इस समय तक दक्खन-एजुकेशन-सोसाइटी फर्ग्युसन कालेज के सिवाय और किसी ने अर्ध-शताब्दी मनाने की विस्तृत योजना जनता के सामने नहीं रखी। इस समय तक समारोहों को मनाने की जो पद्धति चली हुई है, उसके अनुसार बहुत-सा समय तथा शक्ति, क्षणिक-प्रदर्शन में व्यय हो जाती है। इस से जनता को क्षणिक आनन्द तथा संतोष मिलता है, परन्तु कोई स्थिर काम नहीं किया जाता। यदि हम इन संस्थाओं को राष्ट्र के लिए उपयोगी बनाना चाहते हैं, तो हमें इन संस्थाओं के लिए नया कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए। सामान्य रूप से हम इतना कह सकते हैं कि अभी तक इन संस्थाओं की शक्ति अधिकतर मध्य-श्रेणी की जनता के लिए व्यय होती रही है। धन तथा संगठन का प्रयोग ज़्यादातर मौखिक तथा साहित्यिक प्रचार मे ही हुआ है। अब हमें इस पद्धति में परिवर्तन करना चाहिए। शक्ति तथा समय का अधिकतर व्यय गाँवों तथा व्यवहारोपयोगी रचनात्मक कार्यक्रम के लिए होना चाहिए। आशा है इन योजनाओं के संचालक इस सिद्धान्त से सहमत होंगे और अपनी संस्थाओं में उचित परिवर्तन करा कर उन्हें राष्ट्र के लिए उपयोगी बनाएँगे।

—

यूरोप में खूनी बादल—

आज यूरोप के नभोमण्डल में चारों ओर खूनी बादल मँडरा रहे हैं। निकट-भविष्य में युद्ध होने की संभावना तथा राष्ट्रों के पारस्परिक अविश्वास के कारण यूरोप, अमेरिका तथा एशिया की स्वतन्त्र-सरकारें अपनी-अपनी सैन्य-शक्ति को बढ़ाने में घुड़दौड़ कर रही हैं।

यूरोप की हालत अन्दर से धधकते हुए ज्वालामुखी अथवा वडवानल से संतप्त समुद्र की भाँति है। भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं के संघर्ष से यूरोप का वातावरण गरम हो चुका है। चिनगारी लगने को देरी है। जर्मनी के स्वेच्छाचारी एकाधिकारी हिटलर तथा उसके नाज़ी-दल की खूनी प्रवृत्तियों ने यूरोप को स्तम्भित कर दिया है। हिटलर ने नाज़ी-दल के कुछ सदस्यों को मतभेद तथा विद्रोह की आशंका से तलवार के घाट उतारने में संकोच नहीं किया। इसके कुछ समय बाद ही नाज़ी-दल के सदस्यों ने आस्ट्रिया में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये प्रेज़िडेण्ट डलफ़स का खून कराया है।

यूरोप के किसी सभ्यराष्ट्र तथा राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य ने स्पष्ट रूप से इसका प्रतिवाद करने का साहस नहीं किया। इसके बर्ख़िलाफ़ जर्मनी की इन खूनी-प्रवृत्तियों के नाम पर अपने शस्त्र तथा सैन्य-बल को बढ़ाने का अवसर प्राप्त किया है।

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यूरोप के सब राष्ट्र इस घातक-प्रवृत्ति के शिकार बने हुए हैं। यूरोप की वर्तमान स्थिति को देखते हुए हमें एच. जी. वेल्स का यह कथन ही सत्य मालूम होता है कि 'यूरोप में युद्ध की आग, सारे यूरोप को भस्म करके ही शान्त होगी। निःशस्त्री-करण-सम्मेलन तथा शान्ति-सभाएँ इसे शान्त नहीं कर सकेंगी।'

—

यूरोपियन राष्ट्रों के जोड़-तोड़—

आजकल यूरोप का वातावरण भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की संधि-चर्चाओं से गूँज रहा है। प्रेज़िडेण्ट हिण्डनबर्ग की मृत्यु के बाद हर हिटलर के जर्मन-राष्ट्र के प्रधान बनने पर मध्य-यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्र तथा फ्रांस विशेष रूप से सतर्क तथा चिन्तित हो रहे हैं। जर्मन राष्ट्र ने ३,८३,६२,७६० सम्मतियों से हर हिटलर को राष्ट्र का प्रधान बनाया है। (आज तक किसी राष्ट्र के प्रधान को इतनी सम्मतियाँ नहीं मिली। अमेरिका के प्रसिद्ध प्रधान रूज़वेल्ट को २०,०००,००० सम्मतियाँ मिली थीं तथा हूवर को १२,०००,०००, दोनों की सम्मतियाँ मिलाकर हिटलर से कम रहती हैं) जर्मन राष्ट्र को इस प्रकार संगठित देखकर, फ्रांस, इटली और आस्ट्रिया में संधि-चर्चा शुरू हुई है। दूसरी तरफ़ जर्मनी की सरकार भी फ्रांस के मुक़ाबले में अपने मित्र-राष्ट्रों की संख्या बढ़ाने में व्यग्र है। इसी भावना से वह ब्रिटिश-जाति की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए भारतीयों के स्वतन्त्रता-आन्दोलन तथा भारतीय व्यापार के रास्ते में रुकावटें डालने में भी संकोच नहीं कर रही है। हाल ही में जर्मन सरकार ने भारतीयों को यहूदियों के समान घृणित-दृष्टि से देखने की चर्चा छेड़ी है। हिन्दुस्तान को बदनाम करने वाले लेख प्रकाशित किये जाते हैं। अभी एक नाज़ी-समाचार पत्र ने यह ख़बर छापी थी कि भारतवर्ष में विधवाएँ जलाई गईं और उनके शरीर बम्बई के बाज़ारों में फेंके गये। हिन्दुस्तानियों के साथ नीग्रो तथा यहूदियों का-सा व्यवहार किया जाने लगा है। भारतीय व्यापार के रास्ते में रुकावटें डाली जा रही हैं। भारतीय सरकार के प्रतिनिधि ने ऐसम्बली में इस सम्बन्ध में जो असन्तोष-जनक उत्तर दिया है, वह जनता के सामने है। जर्मन-

सरकार अन्तर्राष्ट्रीय संसार में ब्रिटिश जाति को साथ रखने की योजनाएँ कर रही है। दूसरी ओर रूस तथा अमेरिका की संधि ने यूरोपियन राष्ट्रों को भी रूस के साथ मित्र-राष्ट्र का व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया है और अब राष्ट्र-संघ में उसे सदस्य बनने की भी मंजूरी दी जानेवाली है। भारतवर्ष यूरोपियन राष्ट्रों की इस जोड़-तोड़ में कुचला जा रहा है।

यूरोपियन राष्ट्र उपनिवेशों तथा एशियाई राष्ट्रों को अपने अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक दाँव-पेचों के उतार-चढ़ाव का साधन बना रहे हैं।

भारतीय देशभक्तों का यह कर्तव्य है कि वह विदेशों की सहायता पर अवलम्बित न रहें और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय तथा स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर काम करें, तभी हमारा राष्ट्र इन दाँव-पेचों के हानिकारक परिणामों से बच सकेगा।

—

भारतीय कमाण्डर-इन-चीफ़ के उद्गार—

ऐसम्बली में तथा कौंसिल आफ़ स्टेट में सरकार ने इण्डियन आर्मी बिल पेश किया। भारत के निर्वाचित प्रतिनिधियों ने इसका विरोध किया, क्योंकि इस बिल द्वारा फ़ौज के भारतीय अफ़सरों तथा अँगरेज़ अफ़सरों में स्थिति-भेद किया गया था। निर्वाचित मैम्बरों की उदासीनता के कारण यह बिल पास हो गया। वर्तमान ऐसम्बली सरकार के अनुकूल है, इसलिए इस बिल का स्वीकार होना कोई ताज्जुब की बात नहीं, ना ही हम इसकी विशेष चर्चा करना चाहते हैं, हम यहाँ पर इस बिल की बहस के बारे में कौंसिल आफ़ स्टेट में कमाण्डर इन-चीफ़ सर चीटवुड द्वारा की गई निम्नलिखित घोषणा की ओर भारतीयों का ध्यान खींचना चाहते हैं :—

"A war-worn, and war-wise nation like Britain, who won the Empire at the point of Sword, and kapt by the Sword all these years, is not going to be turnd out by arm-chair cretics."

"ब्रिटिश जाति युद्ध-प्रिय, लड़ाकू जाति है। इसने तलवार के ज़ोर से साम्राज्य बनाया और उसी के सहारे इस समय तक इसे कायम रखा है। आराम-पसन्द समालोचकों-द्वारा इसको मिटाया नहीं जा सकता।"

ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्थापना कितनी सच्ची है, इस पर बहस करने की आवश्यकता नहीं। दुनिया जानती है कि यूरोपियन क़ौमों ने तलवार की बजाय दम्भ और छल से ही एशिया में साम्राज्य बनाए और उन्हें भेदनीति द्वारा क़ायम रखा है। हाँ, इस प्रकार की घोषणाओं से ब्रिटिश-जाति के हृदय के भाव का पता लगता है।

ब्रिटेन लोग भारतीयों को महकूम या विजित-जाति समझते हैं, वह लोग समझते हैं कि ऐसम्बली के सदस्य केवल-मात्र वाक्शूर हैं—इनमें भारत की स्वतन्त्रता के विरोधियों का विरोध करने की बिलकुल शक्ति नहीं। ह्वाइट-पेपर तथा इस-जैसे अन्य खरीते केवल-मात्र दिखावे के खिलौने हैं।

भारतीयों को कमाण्डर-इन-चीफ़ की घोषणा को हर समय सामने रखना चाहिए और अँगरेज़-जाति के असली रूप को आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए। यही इस घोषणा का सदुपयोग है।

—

काँग्रेस में फूट—

कम्युनल एवार्ड की समस्या ने महात्मा गांधी तथा पं० मदनमोहन मालवीय-जैसे एकता और शांति के उपासकों को भी एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी बना दिया है। दोनों नेताओं ने दूसरी राउण्डटेबल कान्फ्रेंस में कांग्रेस के प्रतिनिधि बनकर भाग लिया था। इस कांफ्रेंस के बाद ब्रिटिश प्राइममिनिस्टर ने कम्युनल एवार्ड की घोषणा की। यह निर्णय शासन-व्यवस्था में भारतीय राष्ट्र की भिन्न भिन्न जातियों तथा समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करने के लिए बनाया गया है। परन्तु साम्प्रदायिक निर्णय के पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त ने समुदायों तथा जातियों को एक दूसरे के समीप लाने के स्थान पर, उनके भेद-भावों को गहरा कर दिया है। साम्प्रदायिक निर्णय के राष्ट्रीयता-विरोधी-स्वरूप का विरोध करने के लिए श्री पंडित मदनमोहन मालवीय तथा श्रीयुत अणे ने, न चाहते हुए भी कांग्रेस नैशनलिस्ट-पार्टी का निर्माण किया है। कांग्रेस-कार्यकारिणी समिति ने साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय नहीं किया। मुसलमानों को साथ रखने के लिए, कांग्रेस-टिकट पर खड़े होनेवाले मुसलमान प्रतिनिधियों की सुविधा के लिए कम्युनल एवार्ड को रद्द नहीं किया गया, और घोषणा की गई कि हम राष्ट्र के घरेलू मामलों में बाहर के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते। जब तक और कोई हल नहीं सूझता तब तक इसे रद्द नहीं करना चाहिए। रद्द न करने का मतलब एकरूप से इसे स्वीकार करना है। ब्रिटिश-जाति के प्रधानामात्य द्वारा दिये गये निर्णय को कार्य-रूप में स्वीकार करना, राष्ट्र के घरेलू मामलों में बाहर के हस्तक्षेप को स्वीकार करना नहीं है, तो और क्या है? यदि कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति घरेलू मामलों में बाहर का हस्तक्षेप नहीं चाहती, तो उसे इस निर्णय को रद्द कर भारतीय राष्ट्र की भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करने के लिए नेहरू-कमेटी की भाँति नयी समिति की योजना करनी चाहिए। कहा जा सकता है कि कान्स्टीच्युएण्ट ऐसम्बली की माँग इसी दृष्टि से की गयी है। परन्तु यह माँग पं० जवाहरलाल जी जैसे राष्ट्रीय नेताओं की सम्मति में भारत में ब्रिटिश-शासन के रहते, अव्यवहार्य तथा बेमतलब की है। वर्तमान अवस्था में न तो मुसलमान ही विशेष रूप से काँग्रेस के साथ हुए हैं और ना ही कांग्रेस-कार्यकारिणी समिति कांग्रेस की राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को निष्कलंक रख सकी है। केवल यही नहीं, कांग्रेस के इस निर्णय ने श्री पी.सी. राय, सुभाषचन्द्र बोस तथा श्री अणे तथा पं० मालवीय-जैसे कांग्रेसी नेताओं को पृथक् पार्टी बनाने के लिए बाधित किया है। इस पर हरेक देशभक्त को शोक तथा दुःख है। —भीमसेन

—

हैदराबाद में आर्यसमाज का प्रचार-कार्य—

हैदराबाद में जो विशेषतः आर्यसमाज के प्रचार कार्य में रुकावट डाली जा रही है, उसे हटाना अभीष्ट है, इसमें शायद दो मत नहीं होंगे। प्रश्न है कैसे हटाया जाय? अन्याय के विरोध करने के धार्मिक (या आत्मिक) प्रकार का नाम आजकल सत्याग्रह हो गया है। आर्यसमाज के पास यदि क्षात्र-शक्ति के साधन हों, तो वह चाहें तो क्षात्र तरीक़े से भी हैदराबाद सरकार का प्रतिरोध कर सकती है, परन्तु यह आर्यसमाज जैसी धार्मिक संस्था को शोभा नहीं देता। आज-कल तो राजनीति में भी महात्मा गांधी के नेतृत्व के कारण धार्मिक (ब्रह्म-शक्ति के) हथियार वर्त्ते जा रहे हैं, तो आर्यसमाज

जैसी ब्राह्मणभूत धार्मिक संस्था को तो अवश्य तपोमय ब्रह्म-शक्ति के द्वारा ही अपने विघ्नों को दूर करना चाहिए।

कई आर्यसमाजी भाइयों को सत्याग्रह नाम से नफ़रत दीखती है, तो भी आर्यसमाज को जो कुछ करना है, वह ब्राह्मण भाव से सत्य का आग्रह ही करना है। यदि सत्याग्रह नाम अच्छा न लगे तो बेशक उसे तपःशक्ति, ब्राह्मण-शक्ति आदि किसी अन्यनाम से पुकार लीजिए, पर अब उस शक्ति का उपयोग अवश्य करना चाहिए। इसके लिए आर्यसमाज के उन नेताओं को अग्रसर होना चाहिए, जो कि अपना सारा समय आर्यसमाज के कार्य में ही लगा रहे हैं और जो आर्यसमाज को राजनीति से अलग रखने से अपने सिद्धान्त पर अमल करते हुए मातृभूमि की पुकार होने पर भी आर्य-समाज के रचनात्मक सेवा-कार्य में पूर्ण-रूप से लगे रहने के कारण कभी अग्रसर नहीं हो सके, अब उनके लिए अपने कथन की सचाई प्रकट करने का समय आ गया है। इससे उन समालोचकों का भ्रम भी हट जावेगा, जो कि इन महारथियों के विषय में यह शक करते व समझते रहे हैं कि ये आर्यसमाज को राजनीति से जुदा रखने की बात कहीं अपने को कष्ट-सहन से बचाने के लिए तो नहीं कहते हैं? आर्यसमाज की सेवा में निरन्तर लगने वाले वे महानुभाव जब इस बार आर्यसमाज के लिए जेल जाने आदि का कष्ट सह लेंगे, तो जहाँ बहुतों का भ्रम निर्मूल हो जायगा—वहाँ आर्यसमाज भी एक तरह से पुनरुज्जीवित हो जावेगा। नहीं तो पं० नरदेवजी शास्त्री का कथन सत्य हो जावेगा कि आर्यसमाज सत्याग्रह कर ही नहीं सकता। मुझे तो पं० नरदेवजी के सयुक्तिक कथन को पढ़ लेने पर भी आशा लगी हुई है कि उनका कथन असत्य हो जायगा। और पं० नरदेवजी ने भी वह लेख शायद अपने आर्य-महानुभावों में स्फूर्ति पैदा करने के ही विचार से लिखा होगा, निराश हो जाने से नहीं। पर यह हो तब सकता है, जब कि आर्यसमाज के नेता-गण अपने हाथ में लिये सभा, संस्था आदि के सामान्य कार्यों को इस विशेष कार्य के लिए स्थगित कर सकें। यदि नेता लोग अपने-अपने पद के कार्यों को या अपने घरेलू कार्यों को आर्यसमाज की रक्षा से भी अधिक महत्त्व-पूर्ण समझेंगे और मामूली आर्य-वीरों को आगे कष्ट सहने के कार्यों पर भेजेंगे तो यह काम कभी न चलेगा। देखें, १७ ता० की बैठक में सार्वदेशिक की कार्य-समिति हमें क्या सन्देश सुनाती है।

ब्राह्मण का सात्विक-दान—

चतुर्वेद-भाष्यकार श्री पं० जयदेवजी विद्यालङ्कार को हमारे पाठकों में से कौन नहीं जानता है? वे आर्य-साहित्य-मण्डल अजमेर से लिखते हैं—

"आपके भेजे 'अलंकार' के केवल दो अङ्क प्राप्त हुए हैं। आप बराबर अङ्क भेजते रहिए। ३) रु० आपके कहीं नहीं गए। वे आपकी सेवा में अवश्य पहुँचेंगे। पर पहुँचेंगे कुछ प्रतीक्षा के बाद।" <u>यह वेदपाठी ब्राह्मण अच्छे सात्विक यजमान के सात्विक दान में से ३) रु० निकाल कर भेजेगा।</u>

"आपके 'अलंकार' के कुछ प्रेमी-जनों को भी पैदा करूँगा।"

मेरा विचार है कि अगले महीने में 'अलंकार' के ग्राहकों की संख्या, स्नातक-ग्राहकों की संख्या आदि बातें सार्वजनिक रूप से प्रकाशित कर सकूँ, सम्पूर्ण आय-व्यय भी समय-समय पर प्रकाशित कर सकूँ। 'अलंकार' किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है, यह उन सब भाइयों की सम्पत्ति है जो इसके उद्देश्यों से सहमत होते हुए इससे सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं। अतः इसके आय-व्यय आदि सब आवश्यक बातों का सब को पता रहना ही चाहिए।

—'अभय'

लेखकों के सम्बन्ध में

(१) जब मन में उमंग हो, कुछ नयी लाभदायक बात जनता को सुनाने की प्रेरणा हो, तभी लिखिये।

(२) काग़ज़ के एक तरफ़, हाशिया और पंक्तिओं के बीच में जगह छोड़ कर, सुवाच्य अक्षरों में लिख कर भेजिये।

(३) एक प्रति अपने पास रख कर ही लेख आदि भेजिये, अप्रकाशित लेख आदिक वापिस किया जाना आवश्यक नहीं है।

(४) लेख आदि रचना को छापने न छापने, इस अंक में छापने, उस अंक में छापने, घटाने बढ़ाने, लौटाने न लौटाने का अधिकार सम्पादक को रखने दीजिये, इसके बिना काम नहीं चल सकता है।

विज्ञापनों के सम्बन्ध में

केवल अपनी आमदनी करने की दृष्टि से अलंकार में विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे। इस लिये—

(१) अधार्मिक, अश्लील, पतनकारी विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(२) असत्य, अतिशयोक्ति पूर्ण, भ्रमोत्पादक विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(३) स्वदेशी के विरोधी, विदेशी के प्रचारक गरीबों को हानि पहुँचाने वाले विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(४) पुस्तकों के विज्ञापन भी वे ही लिये जायेंगे जिनके विषय में हमने स्वयं पढ़ कर या किसी अन्य तरह पूरा संतोष प्राप्त कर लिया होगा।

अलंकार के नियम

(१) अलंकार प्रत्येक सौर महीने के प्रारंभ (अंग्रेजी महीने के मध्य) में प्रकाशित होता है।

(२) डाक खर्च सहित अलंकार का वार्षिक मूल्य ३) है, एक प्रति का ।-) विदेश से ६ शिलिंग या ४)।

(३) ग्राहकों को चाहिये कि वे वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजें, वी० पी० न मंगावें। वी० पी० से मंगाने में कम से कम ≈) अधिक व्यय उनको व्यर्थ में करने पड़ेंगे, अन्य जो असुविधा होती है, वह जुदा है।

(४) ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या तथा पूरा पता साफ़ लिखना चाहिये।

(५) उत्तर पाने के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें, अन्यथा उनके लिखे अनुसार कार्य कर दिया जावेगा, उत्तर नहीं दिया जा सकेगा।

(६) लेख कविता तथा रचनायें

संपादक 'अलंकार'
गांधी सेवाश्रम
डा० खा० गुरु कुल कांगड़ी
जि० सहारनपुर

के पते पर भेजनी चाहिये तथा मनीआर्डर व विज्ञापन तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र प्रबंधक 'अलंकार' १७ मोहनलाल रोड लाहौर के पते पर आने चाहियें।

(७) यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक न पहुँचे तो उन्हें इस बात की सूचना १५ दिन के भीतर देनी चाहिये। इस के बाद मूल्य ले कर ही वह अंक भेजा जा सकेगा।

'अलंकार' पर लोक-मत

उभानी के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता, तपस्वी श्री चौधरी तुलसीरामजी लिखते हैं :—

" 'अलंकार' ही एक ऐसा मासिक-पत्र है जिसने मुझे ग्राहक बनने को प्रेरित किया है। हाँ, बहुत समय पहिले 'साधु' उर्दू का रिसाला भी मँगाता था। पर यह (अलंकार) तो पिपासा को बुझाने के वास्ते पानी ही नहीं, बल्कि जीवन को रक्षावाला पानी दीखता है। ईश्वर इस चश्मे को मीठा जल देनेवाला ही जीवित रखे।"

श्री विश्वम्भरसहायजी, मन्त्री आर्यसमाज हापुड़ लिखते हैं :—

"श्री महाशय प्यारेलालजी-द्वारा अगस्त का 'अलंकार' मिला, पढ़ा। हृदय को शान्ति हुई। पत्र में पूरी मात्रा मे आध्यात्मिक सामग्री का समावेश पाया। पत्र क्या है हृदय को शान्ति प्रदान करने की वस्तु है। लेखों में पूर्णतया त्याग और तपस्या की झलक रहती है। लेखकों का आदर्श पूर्णतया सात्विक है। ऐसे पत्रों की आर्य-समाजों को अति आवश्यकता है। 'अलंकार'-जैसे पत्र ही सोए हुए आर्य-समाज में जाग्रति ला सकते हैं। 'अलंकार' से पूर्ण आशा है कि यह आर्य-समाज में जीवन की लहर फूँककर क्रान्ति पैदा कर देगा। ईश्वर 'अलंकार' को पूर्ण सफलता प्रदान करे, मेरी यही हार्दिक अभिलाषा है। जहाँ आप-जैसे...........................।"

"आपसे निवेदन है कि 'अलंकार' के प्रथम अङ्क से ही ग्राहक-श्रेणी में नाम लिख लीजिये और पिछले 'अलंकार' के सब अङ्क भेजने की कृपा कीजियेगा।"

The 'Tribune' of Lahore writes :—

" 'Alankar' is a new Hindi Journal appearing form Lahore. The Journal has put before it the two laudable objects viz to promote national education and encourage Hindi literature. Editad by such eminent Hindi writers as Pt. Dev Sharma 'Abhaya' aud Pt. Bhim Sen Vidyalankar, the Journal has every Prospect of achieving success.

"We have before us the last two numbers of the Journal. The title-page is especially attractive. Acharya Narendra Dev's article on 'The practice of Yoga' and Prof. Satya Ketui's Contribution on 'The origin and growth of nationalism in Europe' are thought-provoking."

"The Journal has received many messages of goodwill. including one from Mahatma Gandhi."

लाहौर का 'ट्रिब्यून' लिखता है :—

"लाहौर से प्रकाशित होनेवाला 'अलंकार' राष्ट्रीय शिक्षा और हिन्दी-साहित्य के प्रचार के उद्देश्य से प्रकाशित हो रहा है। श्री आचार्य देवशर्माजी 'अभय' और पं० भीमसेनजी विद्यालंकार जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ सम्पादकों के सम्पादकत्व से प्रकाशित पत्र की सफलता निश्चित ही है।

"हमारे सामने 'अलंकार' के दो अंक हैं। 'अलंकार' का मुख-पृष्ठ विशेष-रूप से आकर्षक है। आचार्य नरेन्द्रदेव के 'योग के सर्वोत्कृष्ट साधन' तथा श्री प्रो० सत्यकेतुजी का 'यूरोप में राष्ट्रीयता का विकास' लेख स्फूर्तिदायक हैं।

" 'अलंकार' की मंगल-कामना के लिए देश-नेताओं के संदेश भी प्रकाशित हुए हैं। महात्मा गांधीजी का संदेश विशेष-रूप से पढ़ने लायक हैं।"
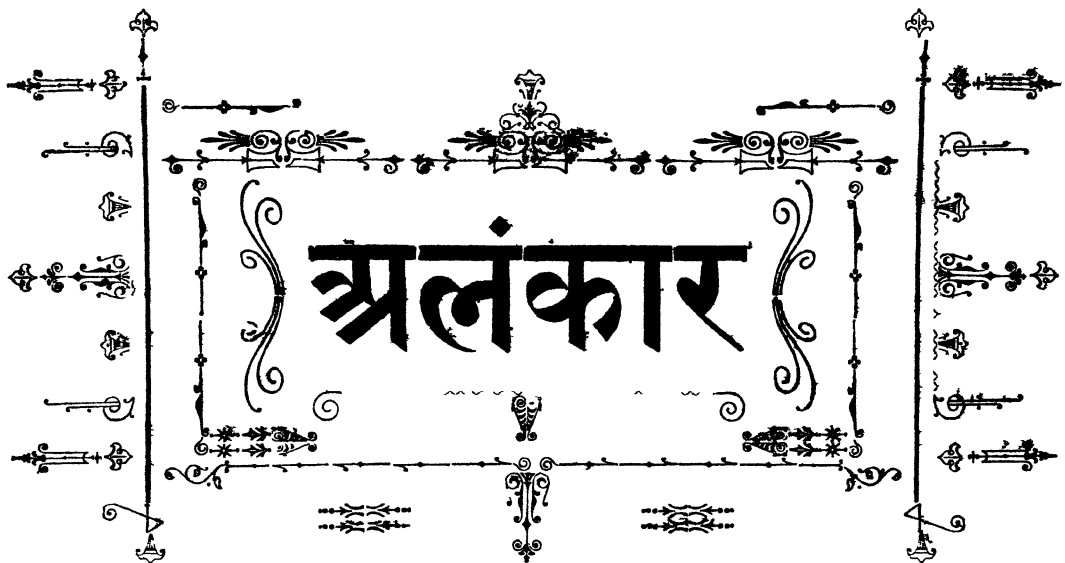
... प्रेस, लाहौर में भीमसेन विद्यालंकार मुद्रक तथा प्रकाशक-द्वारा मुद्रित होकर 'अलंकार'-कार्यालय,

का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः, कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ?

"सुन्दर वचनों से हम तेरा क्या अलंकार कर सकते हैं ? हे इन्द्र ! वह समय कब आवेगा जबकि हम तुझे अपने आप को दे देंगे, पूर्ण आत्मसमर्पण कर देंगे ?" ऋ० ७-२९-३॥

वर्ष ४] कार्तिक, १९९१ : : नवम्बर, १९३४ [संख्या १०

प्रियतम !

प्रियतम !

तुम्हारे साथ

नरक भी स्वर्ग होगा ।
तीव्र ज्वाला जलधारा होगी ॥१॥
भग्न कुटीर प्रासाद होगी ।
आँधी मन्द समीर होगी ॥२॥
अमावस्या भी पूर्णिमा होगी ।
रूखी रोटी स्वादु भोजन होगी ॥३॥
उग्र विष भी अमृत होगा ।
भीषण मृत्यु जीवन होगा ॥४॥

प्रियतम !

तुम्हारे बिना

स्वर्ग भी नरक होगा ।
जलधारा तीव्र ज्वाला होगी ॥१॥
प्रासाद भग्न कुटीर होगा ।
मन्द समीर आँधी होगी ॥२॥
पूर्णिमा भी अमावस्या होगी ।
स्वादु भोजन भी रूखा होगा ॥३॥
मधुर अमृत विष होगा ।
जीवन भीषण मृत्यु होगी ॥४॥

धर्मेन्द्रनाथ विद्यालंकार

भारतवर्ष इसका सेवन कैसे करे ?

साम्यवाद

[ले०—आचार्य देवशर्माजी 'अभय']

साम्यवाद की लहर एक पवित्र लहर है। यह पश्चिम से उठी है। यह एक घोर बुराई को दूर करने के पवित्र उद्देश्य से वहाँ उठी है। चूँकि आजकल सब संसार बहुत ही निकटतया सम्बन्धित है अतः यह लहर पूर्व पर, और फिर भारत पर भी, अपना प्रभाव किये बिना नहीं रह सकती। किन्तु इस लहर का प्रभाव भारत पर पवित्रता-कारक ही होगा। यह बात इस पर आश्रित है कि हम इस लहर को किस रूप में अपनाते हैं, किस ढंग से इसका सेवन करते हैं।

जब हम किसी बाहिरी वस्तु को अभीष्ट समझ अपनाना चाहते हैं, तो केवल उसके अपने लिए प्रयोजनीय भाग (सार) को ग्रहण करते हैं और उसे इस तरह सेवन करते हैं कि वह हमारी अपनी हो जावे, आत्मसात् हो जावे, हमारे रस-रुधिर का भाग बन जावे। यदि केवल केले का सेवन मैं अपने लिए हितकर समझता हूँ, तो मैं वृक्ष से आये केले को सेवन द्वारा अपनाना चाहता हूँ और अपनाने के लिए मैं पहिले उसके ऊपरी छिलके को हटाकर उसके मेरे पेट में हज़म होने योग्य सार-भाग अर्थात् गूदे को खाता हूँ और फिर खाता भी इस तरह चबाकर हूँ तथा इसके मेल की वस्तु के साथ इसे इस तरह सेवन करता हूँ कि वह मेरे शरीर में हज़म होकर मेरे शरीर का भाग बन जाय। इसी तरह भारतवर्ष अथवा भारतीय राष्ट्र-सभा (कांग्रेस) साम्यवाद को अपनावे, इस विषय में भी हमें उपर्युक्त दोनों बातों का विचार कर लेना उचित होगा।

साम्यवाद का जिस तरह भारत ने स्वागत किया है, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कम-से-कम भारत के बहुत-से शिक्षित लोग इसे भारत के लिए हितकर समझते हैं। इसके अच्छे स्वागत का इससे अधिक और क्या प्रमाण होगा कि भारत की सबसे अधिक प्रभावशाली संस्था (कांग्रेस) में एक साम्यवादी-दल संगठित हो गया है। इसलिए यह मान लेना चाहिए कि भारत साम्यवाद को अपनाना चाहता है। तो अब देखना यह है कि पश्चिम से आये इस साम्यवाद-रूपी फल को हम किस प्रकार खावें और खाकर किस प्रकार हज़म करें। क्या पश्चिम से जिस रूप में यह आया है हम उसी रूप में इसे स्वीकार कर लेवें। ? यह पहिला प्रश्न है फिर दूसरा प्रश्न है कि इस साम्यवाद का हम भारतीयकरण कैसे करें ? भारत को गाँव-गाँव इसे सचमुच स्वीकार कर लेवे, यह कैसे करें ?

मैंने साम्यवाद का बहुत अध्ययन नहीं किया है, दो एक पुस्तकें पढ़ी हैं तथा इसके अध्येताओं से बातचीत की है इतना ही कह सकता हूँ, तो भी मैं आशा करता हूँ कि मैं काम लायक साम्यवाद को जानता हूँ और जितना जानता हूँ, वह ठीक जानता हूँ। फिर भी यदि कहीं भूल होगी, तो विशेषज्ञ उसे सुधार देंगे। असल में मैं जो कुछ नीचे लिखने लगा हूँ उसके लिए साम्यवाद के विस्तृत अध्ययन की ऐसी आवश्यकता ही नहीं है साम्यवाद के सामान्य सिद्धान्तों का ज्ञान ही पर्याप्त है। बात यह है कि साम्यवाद के इन सामान्य सिद्धान्तों

को जानकर मैंने इन पर कुछ अमल करने का यत्न किया है और उससे जो कुछ मुझे क्रियात्मक अनुभव हुआ है, उसी के आधार पर मैं यह लिखने लगा हूँ। अतः मैं नम्रता-पूर्वक कह सकता हूँ कि यदि विस्तृत किताबी अध्ययन के आधार पर नहीं तो इस क्रियात्मक अध्ययन के आधार पर ही मैं अपने भारतवर्ष के साम्यवाद को अपनाने के सम्बन्ध में निम्न विचार प्रकट करने लगा हूँ।

आस-पास के बहुत-से ग़रीबों के बीच में जब मैं कुछ अमीरों को देखता हूँ। उदाहरणार्थ हरिद्वार के जागीरदार साधुओं को देखता हूँ या रुड़की के पूँजीपति रईसों को देखता हूँ, तो मेरे भी जी में आता है कि क्यों न इनका धन अन्य योग्य सुपात्र ग़रीबों के काम में आ सके, (वैज्ञानिक साम्यवाद की बात करता हूँ) क्यों न दूसरे हज़ारों ग़रीबों के लिए भी ये ही पूँजीपतियों के उत्पत्ति के साधन सुलभ हो सकें? पर मैं अपने मन की इस इच्छा को कैसे पूरा करूँ? क्या मैं हिंसा को संगठित करके ज़बर्दस्ती इनके धन को छीन कर साम्यवादी शासन स्थापित करूँ? मेरा मन इसे कभी स्वीकार नहीं करता। मैं उन जागीरदार व रईसों के दिलों से अपना दिल मिलाकर एकता अनुभव करके देखता हूँ, तो पाता हूँ कि यदि मैं पूँजीपति होता, तो मैं भी यह पसन्द न करता कि मुझसे धन ज़बर्दस्ती छीना जावे। मेरे पास पैसा होता, तो मैं उसे अपनी ख़ुशी से ही ग़रीबों की सेवा में लगा देना पसन्द करता। कम-से-कम मेरे साम्यवादी कांग्रेसी भाई (उन्हीं से मेरा मुख्यतः निवेदन है क्योंकि वे ही मेरे नज़दीकी हैं), तो मुझसे इसमें सहमत हैं कि हमने हिंसा-द्वारा साम्यवाद को नहीं प्रचारित करना है, दूसरे शब्दों में हमने पश्चिम से आये साम्यवाद रूपी फल के हिंसा-रूपी छिलके को तो ज़रूर उतार कर फेंक देना है और उसके असली सार-भाग (गूदे) को ही सेवन करना है। साम्यवाद-फल का वह गूदा है (आचार्य नरेन्द्रदेव जी के शब्दों में) धन के उत्पत्ति के साधनों को सार्वजनिक बनाने द्वारा सबको सुलभ करना। जब मैं सोचने लगता हूँ कि जागीरदार की इतनी भूमि में तथा रईस के इतने बड़े-बड़े मकान, दूकान, व्यापार, ठेके आदि में आम लोग भी हिस्सेदार कैसे हो सकें, तो मैं सोचते-सोचते दूसरे प्रश्न पर जा पहुँचता हूँ अर्थात् इस प्रश्न पर आ जाता हूँ कि साम्यवाद का भारतीय संस्करण कैसे किया जाय।

यदि हम अनुभव करते हैं कि हिंसा-द्वारा साम्यवाद नहीं फैलाया जा सकता, तो हम यह भी समझते हैं कि लोकमत न होते हुए क़ानून की ज़बरदस्ती से भी साम्यवाद नहीं चलाया जा सकता, इसके लिए जो आवश्यक है, वह है लोगों की मनोवृत्ति को बदलना। मैं स्पष्ट देखता हूँ कि सामने जो एक गाँव का आदमी खड़ा है, जो बड़ा ग़रीब है, किन्तु चतुर है और पढ़े-लिखों की संगत में आकर अपने को साम्यवादी कहता है और समझता है, यदि वह स्वयं कल धनवान् हो जावे, तो वह रुड़की के उस पूँजीपति व रईस की तरह ही निर्दयता का बर्ताव करेगा, जिसको कि कोसता हुआ वह आज साम्यवादी बना हुआ है। शायद वह तभी तक साम्यवादी है, जब तक कि वह धनहीन है, या एक धनवान् भी प्रायः तभी तक साम्यवादी है, जब तक कि साम्यवाद को अमल में लाने का समय नहीं आ जाता। असल में साम्यवाद की तरह पूँजीवाद भी एक मनोवृत्ति का नाम है। यह पूँजीवाद की मनोवृत्ति धन होने पर 'पूँजीवाद' कहानेवाले एक हृदयहीन रूप में प्रकट होती

है। और धन न होने पर दूसरी तरह की निर्दयता में प्रकट होती है।

धनवान् लोग धनमद से मस्त हुए धन की शक्ति से ग़रीबों की हिंसा कर रहे हैं, तो ग़रीब लोग लोभवश दलबन्दी आदि अन्य शक्ति-द्वारा धनवानों की हिंसा करना चाहते हैं। दोनों की मनोवृत्ति मूलतः एक जैसी है, भेद केवल धन होने व न होने का है। इसलिए साम्यवाद का प्रयोजन पूरा करने का एक-मात्र उपाय यह है कि मन को बदला जाय—हृदय को परिवर्तित किया जाय। बिना मनोवृत्ति के बदले, किये गये अन्य सब ऊपरी साधन दुःख को कभी दूर नहीं कर सकेंगे; केवल दुःख का रूपान्तर कर देंगे। और यदि मनोवृत्ति बदल जाय, तो धनी (पूँजीपति) और निर्धन (श्रमी) दोनों साथ-साथ सुख-चैन से रह सकते हैं, क्योंकि तब पूँजीपति अपने ग़रीब भाई को सचमुच छोटा भाई समझकर अपने धन के सुखों से उसे कभी वंचित नहीं रखेगा, और तब ग़रीब भी उसके धन को ईर्ष्या की दृष्टि से नहीं देखेगा, किन्तु उसके धन को कुछ हद तक अपना ही धन समझेगा। क्या यह मैं शेख़चिल्ली की बातें करता हूँ? नहीं, ये बातें बिलकुल प्रत्यक्ष व्यवहार में आती देखी गयी हैं। मैं बहुत से घरों में और बहुत जगह गाँवों में आज (इतनी दुरवस्था होने पर भी) ऐसे सुखद दृश्य बहुत बार देखता हूँ। भारतवासियों के नस-नस में ऐसे सच्चे साम्यवाद की मनोवृत्ति छुपी पड़ी है। आप कहेंगे कि अब ज़माना बदल गया, दुनिया बदल गयी, अब हिन्दुस्तानियों की वह पुराने ढंग की सहिष्णुता की बातें नहीं टिक सकती हैं, और न टिक सकी हैं। मैं भी कहता हूँ कि समय अवश्य बदल गया है, पर ईश्वर के (प्रकृति के) सनातन नियम नहीं बदले हैं। अतः यद्यपि अब एक नयी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता है और बड़ी सख्त आवश्यकता है, पर तो भी भारतवासियों को फिर भारतवासी बनाना आसान है, किन्तु भारतवासियों को पाश्चात्य बनाना आसान नहीं है। दूसरे शब्दों में, हमें भीतर की वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को न्यायानुकूल बदलना तो अवश्य पड़ेगा, पर वह परिवर्तन भारतीय सभ्यता के आधार पर होगा, पाश्चात्य-सभ्यता के आधार पर नहीं। भारतीय सभ्यता में धन ही सब कुछ नहीं है, भौतिक सुख ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य नहीं है, धन और भौतिक सुख भी जिसके बिना निरर्थक हैं, वह है प्रेम, सौहार्द, सहानुभूति की भावनाएँ, वह है अन्दर से मिलने वाला आध्यात्मिक सुख। अतः भारत का साम्यवाद केवल आर्थिक आधार पर नहीं खड़ा होगा किन्तु उसका आर्थिक आधार भी आध्यात्मिक आधार पर आश्रित होगा। अपने दृष्टान्त को आगे जारी रखते हुए कहूँ, तो भारतवर्ष साम्यवाद को अपना सके इसलिए यह आवश्यक है कि वह इस साम्यवाद के केले को (मूंदे को) आध्यात्मिक नींबू के रस के साथ मिला कर सेवन करे, तभी भारतवर्ष का जनता-रूपी उदर इसे हज़म कर सकेगा। इसी प्रकार साम्यवाद का भारतीयकरण हो सकेगा।

सोशिलिज़्म की तरह कांग्रेस भी एक विदेश से आयी हुई लहर थी। जब तक कांग्रेस भारतीय सभ्यता के आधार पर नहीं जमी, तब तक वह देश में नहीं फैल सकी। तब तक वह अँगरेज़ी बोलनेवाले, विदेशी की जगह स्वदेशी शराब पीने वाले, थोड़े-से लोगों की बनी रही और बधाई, विरोध व असंतोष के प्रस्ताव-मात्र पास करती

रही। परन्तु जब से भारतीय सभ्यता में रमे हुए और भारतीय आत्मा से आत्म-सम्बन्ध रखने वाले तिलक और गांधी के नेतृत्व में आ गयी, तब से यह कांग्रेस (राष्ट्रीय सभा) गाँव-गाँव में फैल गयी। और तब से यह स्वदेशी-प्रचार, विदेशी-बहिष्कार, खद्दर-व्यवहार, असहयोग, सत्याग्रह आदि बहुत-से क्रियात्मक कार्य करनेवाली जीती-जागती संस्था हो गयी। इसी तरह साम्यवाद की लहर का जब भारतीय सभ्यता के अनुसार भारतीयकरण हो जावेगा, तभी यह देश में कुछ क्रियात्मक प्रभाव उत्पन्न कर सकेगी अन्यथा कभी नहीं।

पश्चिमीय सभ्यता के भौतिकवाद और भारतीय सभ्यता के अध्यात्मवाद का व्यवहार में जो सब से बड़ा भेद है, वह यह है कि भौतिकवाद अधिकार पर ज़ोर देता है, पर अध्यात्मवाद कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है ? अतः भारत में साम्यवाद सफल होवे, अपना पवित्रताकारक प्रभाव उत्पन्न करे, इसके लिए यह आवश्यक है कि भारत के अमीर-ग़रीब (न केवल आर्थिक दृष्टि से अमीर-ग़रीब किन्तु सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी सब अमीर-ग़रीब) अपने अधिकारों को ही न देखें और अधिकारों के लिये परस्पर न लड़ें, किन्तु अपने-अपने कर्त्तव्यों को विशेषतया देखें और अपने कर्त्तव्य पालन के लिए अपने जीवनों को नियंत्रित व आत्मवश करें। अतः भारत में साम्यवाद जब अपने सच्चे रूप में प्रकट होवेगा, तब उसमें जीवन-नियंत्रण को सबसे अधिक महत्त्व दिया जायगा।

इस विधि से साम्यवाद का भारतीयकरण हो जाने पर जो-कुछ इस का रूप हो जावेगा, उसका निश्चय तो भारतीय सभ्यता के बहुत-से अनुभवी साम्यवादी नेतागण मिलकर समय-समय पर करेंगे; परन्तु इस जीवन-नियंत्रण के विषय में कुछ शब्द मैं भी निवेदन करना चाहता हूँ। कांग्रेस के साम्यवादी-दल के अग्रणी आचार्य नरेन्द्रदेवजी-जैसे महानुभाव हैं, यह बात मुझे जबसे मालूम हुई थी, तबसे मैंने भी साम्यवादी-दल के विषय में गम्भीर विचारना प्रारम्भ कर दिया था। मैं साम्यवादी-दल में हो जाऊँगा, तो मेरा क्या कर्त्तव्य होगा—इस प्रकार बहुत-कुछ विचार किया था। तब मैं इस परिणाम पर पहुँचा था कि हमारे साम्यवादी-दल के सभासदों के लिए निम्न चार शर्तें अनिवार्य होनी चाहिएँ:—

(१) साम्यवादी-दल के सभासद् को अपनी कोई जायदाद या सम्पत्ति निजी नहीं रखनी चाहिए। उसे अपना सब धन-जायदाद किसी सार्वजनिक संस्था को (या साम्यवादी-दल को ही) दे देना चाहिए।

(२) उसे अपने लिए एक परिमित धन-राशि—जैसे अकेले के लिये २५) और सपत्नीक के लिए ५०) माहवार से अधिक व्यय न करना चाहिये।

(३) उसके लिए कम-से-कम प्रतिदिन एक घण्टा शारीरिक श्रम का कार्य करना आवश्यक होना चाहिए। (यह शारीरिक श्रम खादि-उत्पत्ति या कृषि में हो तो अच्छा है)।

(४) उसे प्रतिदिन ½ घंटा या महीने में ४ दिन या वर्ष में एक महीना प्रेमवश की गयी किसी निःस्वार्थ-सेवा में अर्पित करना चाहिए। (तीसरा और चौथा कार्य मिलाकर भी किया जा सकता है)।

यह भी हो सकता है कि अभी प्रारम्भ में ये चारों नियम साम्यवादी दल के सब अधिकारियों और अन्तरंग-सदस्यों के लिए ही अनिवार्य किये जायँ। परन्तु यह स्पष्ट है कि जब तक इन नियमों

की जीवन-द्वारा पालन करनेवाले साम्यवादी नहीं पैदा होंगे, तब तक साम्यवाद कोई भी प्रभाव नहीं पैदा कर सकेगा, भारत का कुछ कल्याण नहीं कर सकेगा, भारत का अपना नहीं बन सकेगा। साम्यवाद का भारतीयकरण शायद इन चार बातों के आधार पर ही किया जा सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि (i) धन-शक्ति की अनुचित तौर पर बढ़ी हुई महत्ता को हटाने या उसे उसके यथोचित स्थान पर पहुँचा देने के लिए (ii) सच्ची समता का मंत्र 'अपरिग्रह' व्रत है, इसे जीवन द्वारा सिद्ध करने के लिए; (iii) शारीरिक श्रम के न्यायोचित महत्त्व को पुनः स्थापित करने के लिए तथा (iv) निःस्वार्थ-सेवा, प्रेम-प्रेरित निष्काम कर्म, यज्ञ कर्म ही उत्कर्ष और सुख का मूल है, न कि अधिकार लिप्सा और लड़ना। इस सचाई को प्रकट करने के लिए ही उपर्युक्त चार जीवन नियमन-सम्बन्धी नियम निर्दिष्ट किये गये हैं। ये चारों बातें भारतीय सभ्यता के चार महान् सिद्धान्त हैं, जिनके आधार पर हमें साम्यवाद का भारतीयकरण कर लेना चाहिए।

विजयादशमी

[श्रीजगन्नाथप्रसादजी, एम् ए.]

विजया ! नूतन विजय कीर्ति दे—
बिना किसी के रक्तपात के, बिना दाँव के बिना घात के।
प्रेम अहिंसा शुभप्रभात के, चमक दमक से तिमिर मिटा दें ॥
विजया ! नूतन……दे
भारत के सवर्ण हरिजन में, दलित दीनता गर्वित धन में।
काले गोरे के भी मन में, अन्तर जो है उसे हटा दें ॥
विजया ! नूतन……दे
दुनिया का जन जन स्वतन्त्र हो, इसी हेतु विज्ञान यन्त्र हो।
यही हमारा मूल मन्त्र हो, यही सभी को हम दिखला दें ॥
विजया ! नूतन……दे
वह लख श्री रघुवर सम फिर से, कोई निकला है सब तज के।
विश्व-सुधार-यज्ञ का व्रत ले, आ ! उसकी मिल बात बना दें ॥
विजया ! नूतन……दे
उन्नति-युद्ध हेतु तय्यारी, शान्ति हेतु यह क्रान्ति हमारी।
विश्व-शान्ति सुन्दर सुखकारी, दे सकती कैसे दिखला दें ॥
विजया ! नूतन……दे
शासन की विधि शान्तिमयी हो, साम्राज्य विधि शान्तिमयी हो
अश्वमेध की उक्ति नई हो, जग में यज्ञ-सुधा बरसा दें ॥
विजया ! नूतन……दे
धन, स्वतन्त्रता, यश, बल पाके, साम्राज्य हम नहीं बनाते।
आर्य्य-विजय के प्रेम भाव से, विजय-गर्व पर विजय दिखा दें ॥
विजया ! नूतन विजय कीर्ति दे ॥

संस्कृति का विस्तार

[श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर]

वृक्ष अपने-अपने स्थान ही पर रहते हैं, पर वायु वृक्षों के बीज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड़ा ले जाती है। फूल अपनी जगह पर ही रहते हैं, पर तितली के पाँव पर फूल के जो परमाणु लगे रह जाते हैं उन के द्वारा दूर-दूर के फूलों के नाग-केसर और स्त्री-केसर का संयोग हो जाता है और इस प्रकार पुष्प-सृष्टि का विस्तार होता है। मानवी संस्कृति की भी यही बात है। मनुष्य के अन्दर दोनों वृत्तियाँ देखने में आती हैं—स्थावर और जंगम। स्थावर वे मनुष्य होते हैं जो एक ही जगह रहते हैं। वह अपने काम की ही बात का विचार करते हैं। उनके अन्दर संरक्षकवृत्ति होती है। स्थावर लोग पुराणप्रिय होते हैं, शान्ति के उपासक होते हैं। जंगम लोग इनसे बिल्कुल विपरीत होते हैं। इनमें स्थिरता नहीं होती। चाहे कितना लाभ क्यों न हो, जंगम मनुष्य एक स्थान को पकड़ कर रहेगा ही नहीं। स्थावर मनुष्य का पेशा खेती है, जंगम मनुष्य का शिकार अथवा पशु-पालन है। शिकार जंगली स्थिति है। पशु-पालन उससे अधिक सुधरी हुई स्थिति है। स्थावर और जंगम दोनों वृत्तियां ईश्वर निर्मित हैं। दोनों द्वारा ईश्वर का हेतु ही फलीभूत हो रहा होता है। इस तत्व को ध्यान में रखकर हम भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का विचार करेंगे।

संसार में तीन संस्कृतियां देखने में आती हैं—मुसलमानी, ईसाई और हिन्दू। इन संस्कृतियों को हमने धर्म का ही नाम दिया है, पर धर्म और संस्कृति दोनों का नित्य साहचर्य होता ही है, यह बात नहीं। इतना ध्यान में रखेंगे, तो यहां प्रस्तुत किए गये विचारों में गड़बड़ का आभास भी न रहेगा।

मुसलमानी संस्कृति अरब लोगों के तम्बुओं में तैयार हुई और घोड़े की पीठ पर उसका विस्तार हुआ। जहां-जहां घोड़े पहुँच सके वहां-वहां मुसलमानी संस्कृति गई। प्रत्येक जन्म जिस प्रकार दो व्यक्तियों के संयोग से होता है उसी प्रकार संस्कृति का भी है। मुसलमानी धर्म के अरबी वीर्य का ईरानी संस्कृति के साथ संयोग हुआ और इस्लामी संस्कृति तैयार हुई।

अब ईसाई-संस्कृति को देखें। ईसाई-संस्कृति का जन्म भूमध्य-समुद्र के किनारे हुआ और इस का विस्तार समुद्र के देह पर फिरनेवाली नौकाओं द्वारा हुआ है। ईसाई-धर्म के तत्व को ग्रीक-संस्कृति का पोषण मिला और आगे जाकर रोमन-संस्कृति के अखाड़े में शिक्षा पाकर तैयार हुआ। ईसाई संस्कृति पर माता-पिता की अपेक्षा गुरु के शिक्षण का अधिक परिणाम दीख पड़ता है। जहां-जहां नौका की गति है वहाँ-वहाँ इस संस्कृति का विस्तार हुआ है।

तीसरी संस्कृति हिन्दुओं की है। मुसलमानी संस्कृति का चित्र तम्बू के पास घोड़ा बांध कर बताया जा सकता है, ईसाई-संस्कृति का चित्र समुद्र की तरंगों पर डोलती हुई नौका से व्यक्त किया जा सकता है, तो हिन्दू-संस्कृति का चित्र वट-वृक्ष के नीचे एक-आध झोंपड़ी के पास गौ बांध कर दिखाया जा सकता है। आर्य-धर्म का

द्राविड़-संस्कृति के साथ विवाह हुआ, उससे हिन्दू-संस्कृति तैयार हुई है।

ईसाई-संस्कृति के प्रसार के लिए नौका है, मुसलमानी संस्कृति का प्रसार करने के लिए घोड़ा है, हिन्दू-संस्कृति का प्रसार करनेवाला कौन है? जंगलों को साफ़ कर के शहर और कृषि का स्थापन करनेवाले आर्यों ने हिन्दू-संस्कृति का थोड़ा-बहुत विस्तार अवश्य किया, पर हिन्दू-संस्कृति का विस्तार करनेवाला सच्चा प्रसारक तो झोंपड़ी की छत पर उगी हुई तूम्बी का ही भिक्षापात्र बनाकर शरीर के वस्त्रों को गेरुए रंग से रँगकर 'न धनेन न प्रजया त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः' कह कर धर्म और अमृतत्त्व का प्याला संसार को पिलाने के लिए निकलनेवाला सर्व संगपरित्यागी परिव्राजक है। इस मार्ग का आद्य-परिव्राजक तो उत्तर-हिन्दुस्तान में ही घूमा, पर इस के शिष्य 'अक्रोधेन जिने क्रोधम्' बोलते हुए सारे यूरेशिया में फैल गये।

विविधता सृष्टि का मूल-मन्त्र है। एक ही संस्कृति का सारे संसार में प्रचार हो ऐसी इतिहास की इच्छा नहीं है। विविधता के विषय में एकता स्थापन करने में ही प्रभु का आनन्द बसा हुआ है।

जिसे एकांगी साक्षात्कार हुआ है, उसे यह तत्त्व समझ में नहीं आता, और इसी लिए अपने ही तत्त्व का सार्वभौमत्व प्रस्थापित करने के लिए वह बाहर निकलता है। यह प्रचारक सर्वदा निःस्वार्थ होता है यह बात भी नहीं। नई तत्त्व-प्राप्ति का आनन्द पुत्रोत्सव के आनन्द के समान जब पेट में समा न सका तो मुसलमानी धर्म को सारी दुनिया में फैलाने के लिए इस्लामी धर्मवीर आगे आए। आस-पास की जंगली जातियों को मुसलमानी धर्म की उच्चता शीघ्र ही पसन्द आ गई और वे उस में मिल गईं। दूसरी तरफ़ मुसलमानों ने ईरानी संस्कृति को स्वीकार किया। पर मुसलमानी धर्म को आलमगीर (सार्वभौम) बनाना हो, तो हिन्दू और ईसाई इन पूर्व और पश्चिम के किनारों की रक्षा करनेवाली दो संस्कृतियों पर विजय पानी ही चाहिए। उस समय के मुसलमानी समाज का कुरान में जितना विश्वास था, उतना ही तलवार में भी था। और दैवयोग से हिन्दुस्तान और यूरोप में संघ-शक्ति नष्ट हो चुकी थी। यूरोप में छोटे-छोटे राज्य एक दूसरे से लड़-झगड़ रहे थे और हिन्दुस्तान में अनेक जातियां और अनेक राजे-रजवाड़े 'मैं बड़ा कि तू' कह कर आपस में कलह मचा रहे थे। स्वाभाविक तौर पर ही साहसी मुसलमानों को कुरान, तलवार और व्यापार का प्रसार करना सरल हो गया। मुसलमानों ने स्पेन के बीच में अलहम्ब्रा (लालमहल) चुना और आगरे में ताजमहल। ताजमहल चाहे कितना ही सुन्दर रहा हो पर आख़िरकार वह एक क़बर ही है। मुमताज़ बेगम को ही नहीं अपितु मुसलमानी संस्कृति के विस्तार को भी इसके गर्भ में दफ़ना दिया गया।

यूरोप में तो ईसाई-धर्म का प्रचार ख़ूब ही हुआ था, पर ईसाई-धर्म के नम्र नीतिशास्त्र पर यूरोपियन लोगों का विश्वास नहीं जमा। एक गाल पर थप्पड़ लगे तो दूसरी गाल सामने रखने की तैयारी यूरोप में कभी नहीं रही। ऐसी स्थिति में मुसलमानी तलवारों के वार शुरू होते ही यूरोप में रही हुई क्षात्रवृत्ति जाग उठी और शार्लमेगन राजा के समय से मुसलमानी सत्ता को धकेल-धकेल कर यूरोप के बाहर हांक निकालने का प्रयत्न इस समय तक जारी रहा है। अब तो मुसलमानी संस्कृति को

यूरोप के बाहर हाँक कर ही यूरोपियन राष्ट्र सन्तोष मान कर आराम से बैठ जायँगे, यह भी नहीं दीख पड़ता। अफ्रीका में ईसाई और मुसलमान अपने-अपने धर्म का विस्तार करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उसमें ईसाई धर्म की अपेक्षा मुसलमानी धर्म को अधिक सफलता मिल रही है इससे ईसाई लोगों को बहुत दुःख होता है। अनेक मुसलमान राष्ट्रों को यूरोप की प्रजा ने व्याप्त कर लिया है। इस के परिणाम-स्वरूप मुसलमान-राष्ट्र किसी-न-किसी समय ईसाई राष्ट्रों पर हमला किये बिना न रहेंगे। आघात-प्रत्याघात के निर्दय नियम के शिकंजे में जकड़ी हुई ये दोनों संस्कृतियाँ कब तक इस प्रकार लड़ती ही रहेंगी, यह कहा नहीं जा सकता। उत्साह के प्रथम जोश में सारे जगत् को जीतने के लिए निकली हुई मुसलमानी संस्कृति को जिस प्रकार यूरोप में रुकावट मिली और उसका गर्वज्वर उतरा, उसी प्रकार हिन्दुस्तान में मुसलमानी सत्ता का सिक्खों और मराठों की तरफ़ से महान् विरोध हुआ और यहाँ भी मुसलमानी संस्कृति का अभिमान नष्ट हुआ। 'मुसलमान बनो', नहीं तो मरने को तैयार हो जाओ' इस प्रकार की जनूनी उक्ति शान्त हो गई और 'तुम अपना धर्म पालो, अपना धर्म हम पालेंगे' हिन्दू-धर्म का यह स्वधर्म-रहस्य मुसलमानों को अच्छी तरह समझ में आ गया।

ईसाई-धर्म में वस्तुतः देखें, तो लड़ाई का स्थान ही नहीं। मुसलमानी धर्म में धर्म-प्रसार के लिए लड़ना पुण्यप्रद माना गया है, इतना ही नहीं पर इसे कर्तव्य माना गया है। हिन्दू-धर्म ने बीच का मार्ग अपनाया है। हिन्दू-धर्म में धर्मानुकूल रक्षण करने के लिए युद्ध विहित है। आत्म-रक्षण अथवा धर्म-रक्षण के लिए युद्ध को हिन्दू-धर्म 'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गं द्वारमपावृतम्' मानता है।

"That thou mayest injure none, dove-like be,
And serpent-like that none may injure thee."

इस बाईबल के वचन में हिन्दू-तत्त्व का यथास्थित वर्णन है। हिन्दू लोगों ने अपने बचाव का प्रयत्न किया है। पर बदला लेने की बुद्धि इन्हें कभी नहीं सूझी, इसी लिए आज हिन्दू-मुसलमानों के इकट्ठे रहने की शक्यता कल्पना में आ सकती है।

पाश्चात्य संस्कृति अर्थ-प्रधान है। हिन्दू और मुसलमान-संस्कृतियों ने आर्थिक पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उसके प्रायश्चित के तौर पर आज दोनों को पाश्चात्य सत्ता के पाश में फँसना पड़ा है। जीवन को परिपूर्ण बनाने के लिए, परमार्थ के साथ ऐहिक कल्याण भी सिद्ध करना चाहिए। जिस प्रकार श्री वेदव्यास कह गए हैं:—

"धर्मार्थ कामाः सममेव सेव्याः।"

हमने इनमें से एक की तरफ़ दुर्लक्ष्य किया। अपनी ख़ुशी से जिस अंग का हमने अनुशीलन नहीं किया, उसका अनुभव पराभव और पारतंत्र्य की कठोरशाला में परमात्मा ने हमसे कराया। पैन-इस्लामिक चाहे कुछ भी कहें, पर मुसलमानी संस्कृति में जहाँगीर बनने का मोह अब नहीं रहा है। हिन्दुओं ने जिस प्रकार वैरबुद्धि न रखकर अपने बचाव के लायक़ ही विरोध किया, उसी प्रकार आज हिन्दू-मुसलमानों को इकट्ठे होकर सात्विक-वृत्ति और आत्मिक बल का प्रयोग कर के पाश्चात्य संस्कृति का विरोध करना चाहिए। उसका गर्व भी परमात्मा हरण किए बिना न रहेगा।

इस जंगम-संस्कृति का तीसरा नमूना हिन्दू-धर्म में से ही निकला हुआ बौद्ध-धर्म है। इस धर्म को भी सार्वभौम होने की शुरू से ही लालसा थी। पर इस के साधन सौम्य और सात्विक थे, इसलिए इनके विस्तार अथवा संकोच में रक्तपात की आवश्यकता नहीं दीख पड़ी। इस धर्म में सत्य का

ज़ितना अंश है, उसका अपने-आप प्रसार होता है और भ्रामक कल्पनायें अथवा अहंकार तल में बैठ जाता है। जिस प्रकार समुद्र में शुद्ध पानी की भाप बनकर आकाश में उड़ जाती है और खारा-नमक नीचे पड़ा रह जाता है, वही बात बौद्ध-धर्म की आज तक रही है। हिन्दुस्तान ही सब धर्मों की जन्मभूमि है। धर्मों की व्यवस्था करने की शक्ति हिन्दुस्तान में है। भारतीय संस्कृति में जंगम की अपेक्षा स्थावरतत्त्व विशेष है, और मुख्य बात तो यह है कि हिन्दू संस्कृति में अहंकार नहीं है। सब संस्कृतियों के समन्वय का प्रथम प्रयोग परमेश्वर हिन्दुस्तान में नहीं करेगा तो और कहाँ करेगा ?

अनुवादकर्त्ता—नरेन्द्रदेव विद्यालंकार
शंकरदेव विद्यालंकार

भक्ति-भेंट

[गुर्जर कविसम्राट् श्री नानालाल दलपतरामजी के कर-कमलों मे
गुरुकुल विद्यामन्दिर सूपा की भक्ति-पुष्पाञ्जलि]

(रचयिता—श्री पं० प्रियव्रत जी विद्यालंकार—आचार्य गुरुकुल सूपा)

(१)

भक्ति-भाव भीनी भक्तों की, भक्ति-भेंट यह लाया हूँ।
मानस-सुमन ग्रथित मृदु मंजुल, नेह-माल यह लाया हूँ।
कम्पित कर-पल्लव से कविवर ! कण्ठ निकट अब आया हूँ,
बनवासी की आस न टूटे, इसी आस से आया हूँ॥

(२)

कवि-कुल कानन के तुम कोकिल, राजहंस इन मानस के,
विमल व्योम की दिव्य प्रभा तुम, संहारक जग-तामस के।
मन-मन्दिर के उच्चासन पर, आज तुम्हें बिठलाते हैं,
स्नेह-सुधा से आज तुम्हारी, हृदय-प्रदीप जगाते हैं॥

(३)

कष्ट सहे इतने जो आकर, इस निर्धन कुल-कानन में,
कविवर ! आभार दिखावें क्या, जयकार भरे हैं आनन में।
इस दीन-कुटी के स्वामी तुम, यह बालक पुत्र तुम्हारे हैं,
वह प्रेम-पीयूष पिला दीजै, हम आपके, आप हमारे हैं॥

(४)

मन हार के हार लिया तुमने, हम धन्य हुए कविवर जग में,
जब जीत लिया जयनादों से, फिर मस्तक क्यों न झुके पग में।
स्नेह भरे नयनों से आरती, आज उतारत कुलवासी,
तुम हृदय-देव ! स्वीकार करो, "प्रेमी" हैं गर हैं बनवासी॥

अभय

[ले०—पं० देवराजजी मुनि विद्यावाचस्पति]

अभय किसको प्यारा नहीं है ? अभय को कौन नहीं चाहता ? सब अभय को चाहते हैं। भय को कोई नहीं चाहता। अभय जीवन है, भय मृत्यु है। जहाँ अभय दीखता है, प्राणी उधर ही दौड़ता है। जहाँ भय समझता है, वहाँ से भागता है, उसे छोड़ देता है। अभय प्रतिष्ठा है, अभय में ही सब प्रतिष्ठित हैं, अभय के बिना स्थिति नहीं है। अभय है, तो शान्ति है। अभय नहीं, तो अशान्ति, दुःख, कलह है। अभय, प्रेम, अहिंसा एक ही पदार्थ हैं।

बालक अपनी माँ की गोद में बैठता है, वहाँ अभय है। कहीं दुःख, कष्ट वा भय अनुभव करता है, तो माँ को पुकारता है। दौड़कर माँ को लिपट जाता है; क्योंकि माँ अभय है, आलम्बन है। जब बालक के कष्ट उसकी सांसारिक माँ भी दूर नहीं कर सकती, तब उसका मुख जगज्जननी माँ की ओर फिरता है। वहाँ उसको अभय मिलता है, आश्रय का आलम्बन मिलता है। जब मनुष्य को कहीं आश्रय नहीं मिलता, तब उसे स्वाश्रय मिलता है स्वावलम्ब मिलता है, वह अभय नहीं होता है। स्वावलम्बी अभय होता है और अभय वही होता है, जो स्वावलम्बी है। अभय की ढूँढ है अभय नहीं मिला, वह बाहिर कहाँ मिले वह तो अन्दर है। अभय अपने में है, अभय को अपने से पृथक् मत देखो। अभय मिला-मिलाया है, केवल अपनी दृष्टि अपने में करने की आवश्यकता है। परन्तु अभय मिलता उसे ही है, जो सब जगह से निराश हो जावे। स्वावलम्बी को अभय मिलता है, परावलम्बी को नहीं।

संसार में अभय क्यों होता है ? दूसरा भाव रखने से भय होता है; अपना भाव रखने से भय नहीं होता।

"द्वितीयाद्वै भयं भवति।"

यह दूसरा है, यह ग़ैर है—ऐसा भेद-भाव भय को पैदा करता है। जिसको हम ग़ैर नहीं समझते, वह हमारी वस्तु उठाले तो कुछ दुःख नहीं होता, वह पास खड़ा हो, तो कुछ भय नहीं होता कि यह हमारी वस्तु उठा लेगा। परन्तु जिसके प्रति आत्म-बुद्धि नहीं है, उससे तो भय लगता है कि यह कुछ

उठा न ले जावे, चुरा न ले जावे। बस! दुःख का वा भय का कारण दूसरेपन का भाव है। दूसरेपन के भाव को अनात्मभाव कहते हैं और अपनेपन को आत्मभाव कहते हैं। राग-द्वेष में अनात्म-भाव है, समता में, प्रेम में, आत्म-भाव है। समदृष्टि का वा प्रेम का प्रसार करते-करते जहाँ सब आत्मा-ही-आत्मा हो जावे अर्थात् अपना हो पन दीखने लगे, तो कौन किसको किस लिए रखवाली करे? कौन किसकी कब चोरी व झूठ समझे। जहाँ भेदभाव होता है, वहाँ ही 'यह और है, मैं और हूँ'—ऐसा देखना है।

"यत्र खलु अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्र कः केन कं पश्येत्,
कः केन कं विजानीयात्।
यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति।"

अभय से मिलना है, तो भेद-भाव को दूर कीजिए, आत्मभाव का प्रसार कीजिए। प्रेम-दृष्टि के पसार से अभय को अपनाइए, अभय तो आपको अपनाता ही है। अभय महान् शक्ति है, वह प्रेम की शक्ति है, वह अमर-शक्ति है, वहाँ भेद-भाव नहीं है। अभय एकरस है, उससे कुछ पृथक् नहीं है, वह किसी से पृथक् नहीं है। वह अभय एक-जैसा रहनेवाला, सबसे उत्तम, सबका आलम्बन है, उससे मनुष्य की सब कामनाएँ पूरी होती हैं।

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥"

संसार में मनुष्य अभय होने के लिए शक्ति को बढ़ाते हैं। डरावनी भयात्मक शक्ति लोगों के दिलों को कँपा देती है। भय दिखानेवाला समझता है, वह अभय हो गया, अब उसे किसी का भय नहीं, उसे कोई भय दिखानेवाला नहीं। अपने चारों ओर भय के सामान उपस्थित करके उसके बीच में अपने-आपको निर्भय समझना भारी भूल है। भय तो मृत्यु है! अभय अमृत है।

"भयं मृत्युरभयममृतम्।"

जो मनुष्य स्वार्थ-भाव से वा भेद-भाव से स्वयं अभय होने के लिए मृत्यु को उपस्थित करता है, वह उस भेद-भाव के कारण उपस्थित हो जानेवाली ऐसी मृत्यु को प्राप्त होता है, जो उस मनुष्य से उपस्थित की गई मृत्यु की भी मृत्यु है अर्थात् उस से उपस्थित किये गये मृत्यु के सब साधनों को नाश करनेवाला है।

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।"

आजकल संसार में मृत्यु से अमृत-प्राप्ति का प्रयत्न किया जा रहा है। भय से निर्भय होने का प्रयत्न जारी है। यह प्रयत्न ऐसा ही है जैसा बालुका-निष्पीडन से तेल निकालने का प्रयत्न हो। डाकुओं को सामने से आते हुए देखकर या सुनकर लोग सचेत हो जाते हैं, अपने-आपको शस्त्रास्त्र से सुसज्जित कर लेते हैं, परन्तु सामान्य रूप में आते हुए आदमियों को, देखकर कोई सचेत नहीं होता। जङ्गली जानवर के मन में भी जब तक यह नहीं आता कि उस पर वार करने के लिए दूसरा कोई प्राणी तैयार है, तब तक वह निश्चिन्त, निर्भय रहता है; अपने-आपको सँभालने का प्रयत्न वह नहीं करता।

संसार में अभय की प्रतिष्ठा सब कोई चाहते हैं। परन्तु भय के साधन उपस्थित करके अभय में प्रतिष्ठित होने का हर कोई प्रयत्न करते हैं। भय के साधन उपस्थित करने से प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे के लिए भयङ्कर बन जाता है। यदि सचमुच इस प्रकार की भयङ्कर अवस्था उपस्थित हो जावे, तो फिर अभय कैसे रह सके? अभय चाहते हो, तो भय के प्रयोगों को हटाओ, दूसरों को अपने से निर्भय करो, तो तुम स्वयं अभय हो जाओगे। अभय से अभय मिलता है, भय से नहीं।

भयङ्कर साधन निर्माण करने का मूल-कारण अशक्तता है। अशक्त कभी अभय नहीं हो सकता, सशक्त ही अभय हो सकता है। युद्ध के मैदान में खड़े हुए वीर और तत्वज्ञानी श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं:—

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥"

श्रीकृष्ण ने शस्त्रास्त्र से सुसज्जित न किसी वीर-जाति को और न किसी मनुष्य-विशेष को वैरी बतलाया, उसने काम और क्रोध को वैरी बतलाया है। काम और क्रोध के वशीभूत हुई-हुई जातियाँ शस्त्रास्त्रों के प्रयोग से एक-दूसरे का संहार करने को उद्यत होती हैं। काम और क्रोध-शक्तियाँ संहारक शक्तियाँ हैं। इन संहारक शक्तियों का प्रतीकार शस्त्रास्त्रों से नहीं, प्रत्युत ब्रह्मचर्य और मनोनिग्रह अथवा त्याग और तपस्या से होता है। संसार में जिन्होंने काम और क्रोध पर विजय पाई, वे वीर हुए और विजेता हुए। काम और क्रोध से पराजित मनुष्य अशक्त और नपुंसक हो जाता है, उसमें वीरता, शूरता, पराक्रम, धैर्य, उत्साह, साहस आदि गुण प्रायः लुप्त हो जाते हैं। मन में भय स्थान घेर लेता है, बुद्धि अव्यवस्थित, संशय और आशङ्का-युक्त बन जाती है। जिस दिन से स्वावलम्बन पर मनुष्य आरूढ़ होता है, उसी दिन से उसमें आश्चर्य जनक परिणाम उत्पन्न होते हैं, उसकी काया पलट जाती है। दूसरे देशों की कथा छोड़कर हम अपनी ओर दृष्टि डालें तो अच्छा है। भारतवर्ष स्वराज्य के लिए यत्न कर रहा है। स्वराज्य का स्वरूप स्वावलम्ब में छिपा बैठा है। भारतीयों का प्रयत्न अलग-अलग और मिलकर के एक-एक दिशा में जितना हो सके, उतना स्वावलम्बी बनने का है। जितनी-जितनी मात्रा में भारतीय अपने-आपको स्वावलम्बी बनावेंगे। उतनी-उतनी मात्रा में स्वराज्य उनके हाथ में आवेगा। स्वराज्य की कुञ्जी स्वावलम्ब है, और कुछ नहीं। स्वावलम्बन के मार्ग में प्रतिष्ठित होते ही भारतीय लोग वीर और अभय बन जावेंगे। परन्तु आरामतलबी से न कभी कोई स्वावलम्बी बना और न बन सकता है। स्वावलम्बन के लिए त्याग और तपस्या चाहिए। त्यागी और तपस्वी को आपसी झगड़े आकर नहीं घेर सकते। त्यागी और तपस्वी सबके प्रेम का पात्र बनता है, सबको अपने प्रेम का पात्र बनाता है। इस प्रकार वह अभय हो जाता है।

पीड़ितों की पुकार

[रचयिता—श्रीयुत योगेन्द्रनाथ "काञ्चन"]

भूख से जो मारे मारे, देश के ग़रीब मांगें।
आंख को दिखा के फूटी, कौड़ी न उधार दो ॥
पूंजीपति और क्रूर, ज़मीन्दार मिल हमें।
अपनी ज़मीनों और मिल से निकाल दो ॥
फांसों गोलमाल ऐक्ट, प्रेस के बनाके और।
श्रमियों की थोड़ी बात बनी भी बिगाड़ दो ॥
छेद दो भले ही भाले प्यासी तलवारें हमें।
चाहो तो भले बोटी बोटी भी उतार दो ॥

देख के तुम्हारे पाप एक दिन देख लेना।
चांद तारे एक होके आसमां से आग बरसायेंगे।
चंडी मुख खोल देगी जीभ भी निकाल देगी।
खून सने—भरे जो कपाल पास आयेंगे ॥
ईंट से बजेगी ईंट, आग सुलगेगी तब।
सूर्य चांद दोनों मुंह बाये रह जायेंगे ॥
अन्त में हमारा हर स्थान बोलबाला होगा।
सेठ ज़मींदार निज शीश को झुकायेंगे ॥

नवीन राष्ट्रपति—तपस्वी राजेन्द्र !

[लेखक—श्रीयुत रामवृक्ष बेनीपुरी]

सदाक़त-आश्रम से पटना-नगर की ओर आने वाली सड़क से, किसी भाड़े के पटनिया टमटम पर, यदि आप तीन-चार खद्दरपोश आदमियों को गांधी टोपी लगाये हुए आते देखें, और, यदि उसमें से दुबला-पतला, साँवला-सा एक ऐसा व्यक्ति दीख पड़े, जो ऊँचाई में उन सबसे बड़ा हो, किन्तु जिसकी काली आँखें नम्रता की वर्षा करती हों; जिसके कमज़ोर शरीर को दमा के दौरे रह-रह कर झकझोर देते हों, किन्तु जिसकी दृढ़ आत्मा का तेज उसके उभरी पेशानी पर झलक रहा हो; और, इस तेज को अगल-बगल आने-जानेवाले लोग हाथ जोड़ कर सिर नवाते हों, पर जो इस अभिवादनों और सम्मानों के बोझ से दबा जाता-सा, हँस-हँसकर, मूक शब्दों में ही, अपनी हार्दिक कृतज्ञता उन्हें अर्पित करने की चेष्टा करता हो—तो, आप समझ जायँ कि आपने अपने मनोनीत राष्ट्र-पति को पा लिया ! यह वही उन्नत आत्मा है, जिस के गले में देश के सभी प्रान्तों ने, एक स्वर से, एक हृदय से, अपनी सबसे बड़ी इज्ज़त की जयमाला डाली है। इतना सीधा सरल, सादगी और सौम्यता से इतना शराबोर व्यक्ति इतने ऊँचे पद के लिये भी पुकारा जा सकता है, पहले-पहल यह आश्चर्य-जनक मालूम होता है ! किन्तु जिन्होंने इस आत्मा को निकट से देखा है, जिन्होंने इसके कारनामों को सुना और समझा है—वे बतायेंगे, राष्ट्र ने, धूल में से भी, अपने हीरे को पहचान लिया ! एक-न एक दिन इसे मुकुट में स्थान मिलना ही था !

* * * *

राजेन्द्र बाबू का जन्म अगहन पूर्णिमा १९४१ वि० तदनुसार ३ दिसम्बर १८८४ ई० को बिहार के सारन-ज़िले के जीरादेई-नामक गाँव में हुआ। आपके खानदान की एक विशेषता यह रही कि हर पुश्त में कोई-न-कोई, किसी राज्य का, दीवान ज़रूर रहा ! क्या स्वराज्य-सरकार के प्रधान मंत्रित्व का पद भी इसी कुल को मिलनेवाला है ? कम-से-कम बिहार में तो यही होगा ! राजेन्द्र बाबू के पिता एक उदार सज्जन थे और उनकी माता एक दयाशीला देवी। इन दोनों के जीवन का सम्मिश्रण बाबू राजेन्द्रप्रसाद मे पाया जाता है। शुरू में आप को उर्दू के एक मकतब में बैठाया गया और एफ़० ए० तक उर्दू ही इनकी देशी भाषा थी। शायद, इसी का फल है कि राजेन्द्र बाबू ऐसी हिन्दी का प्रयोग करते हैं, जिसे मुसलमान-भाई भी मज़े में समझ लेते हैं। इस लेखक को याद हैं कि किस प्रकार बिहारी-छात्र-सम्मेलन के अवसर पर एक मुसलमान दोस्त ने लेखक की भाषा पर एतराज़ करते हुए राजेन्द्र बाबू की भाषा में बोलने के लिए अनुरोध किया था ! स्कूल में प्रवेश करने पर, आप प्रायः डबल प्रोमोशन—दुहरी तरक्की—पाते रहे। सचमुच, आज सौम्य राजेन्द्र बाबू को देखकर यह कोई अनुमान भी नहीं कर सकता कि विद्यार्थी अवस्था में यह व्यक्ति दुहरी तरक्कियाँ पाता, सदा अपने वर्ग में प्रथम रहता। यही नहीं, उस समय कलकत्ता-विश्वविद्यालय में भी—जब कि उसका दायरा बंगाल, बिहार, आसाम, उड़ीसा और बर्मा तक विस्तृत था—वह तीन-तीन बार सर्व-प्रथम आता

रहा होगा। एंट्रेंस की परीक्षा में प्रथम होने पर ३०) रु०, एफ़० ए० में सर्व-प्रथम होने पर ५०) रु० और बी० ए० में सर्व-प्रथम होने पर ९०) रु० मासिक के स्कालरशिप आपको लगातार मिले थे—अँगरेजी-साहित्य में भी आप सदा सर्व-प्रथम होते थे! बी० ए० की परीक्षा में दो विशेषताएँ रहीं। एक तो यह की एफ़० ए० तक आप उर्दू को ही अपनी देशी-भाषा की हैसियत से पढ़ते रहे; किन्तु बी० ए० में आपने एकाएक हिन्दी ले ली। यद्यपि उस समय हिन्दी पढ़ाने का कोई प्रबन्ध नहीं था! यों ही, एफ़० ए० में आपने विज्ञान के विषय लिए थे और उसी वर्ष में ही बी० ए० ऑनर्स तक की क़िताबें पढ़ चुके थे! किन्तु, बी० ए० में एकाएक विज्ञान छोड़ कर आप कला पर उतर आये थे—जिस पर खिन्न होकर उस ज़माने के आपके अध्यापक और आज के 'आचार्य' सर पी० सी० राय ने कहा था—"Rajendra, why have you deserted our standeard." साथ ही बी० ए० में आपने मेहनत भी नहीं की थी; तो भी, यह आप ही की प्रतिभा थी फिर भी, सर्व-प्रथम हुए। कलकत्ता-विश्वविद्यालय से ही आप एम० ए० हुए और बाद मे क़ानून की सबसे बड़ी परीक्षा पास कर एम० एल० की उपाधि प्राप्त की। जिस प्रकार आजकल के सौम्य राजेन्द्र बाबू को देखकर कोई उनकी प्रतिभा पर विश्वास नहीं कर सकता, उसी प्रकार उनके रुग्ण शरीर को देखकर कोई भी यह मानने को तैयार न होगा कि अपने ज़माने के ये अच्छे फुटबॉल के खिलाड़ियों में थे और अपने स्कूल के कैप्टन होने का भी गौरव इन्हें प्राप्त था।

* * * *

आज बाबू राजेन्द्रप्रसादजी को देश ने नेतृत्व का सर्वश्रेष्ठ सेहरा अर्पित किया है। कुछ लोगों को आश्चर्य होता है कि अरे, यह कहाँ से एक अज्ञात व्यक्ति टपक पड़ा! कुछ लोग यह भी कहते हैं—यह गांधीजी की कृपा का फल है किन्तु, जिनका राजेन्द्र बाबू के जीवन से परिचय है, वे इन कथनों पर मुस्कुराकर रह जायँगे। हाँ, यह बात ज़रूर है कि बिहार की संस्कृति ही कुछ ऐसी है कि वह आत्म-विज्ञापन से सदा दूर रहती है। अतः, यदि कुछ अंशों में, राजेन्द्र बाबू अज्ञात व्यक्ति-से दीख पड़ें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं? किन्तु, उनमे नेतृत्व का गुण बचपन से ही इस प्रकार साफ़-साफ़ दमकता था कि आज से ३० वर्ष पहले, उन्हें देख कर स्वामी विवेकानन्दजी की वह विश्व-विख्यात अमेरिकन शिष्या सिस्टर निवेदिता ने कहा था—'He is the future leadar of India.'—'यह भारत का भावी नेता है!' राजेन्द्र बाबू उस समय मुश्किल से २० वर्ष के रहे होंगे।

यों ही, कुछ लोगों का विश्वास है कि राजेन्द्र बाबू को वर्तमान त्याग और तपस्यामय जीवन गांधीजी की जादू की छड़ी का परिणाम है। स्वयं गांधीजी ने एक बार राजेन्द्र बाबू को अपने हाथों से अपने बर्तन माँजते-धोते देखकर कहा था—'वहा क्या यह तारीफ़ की बात नहीं है कि मैंने हाईकोर्ट के वकीलों से उनका अपना बर्तन मँजवाया और साफ़ कराया?' किन्तु राजेन्द्र बाबू के चरित पर बारीकी से दृष्टि डालनेवाला इस त्याग और तपस्या का अंकुर उनके प्रारम्भिक जीवन से ही देखता है। आज से पचीस वर्ष पहिले, जब कि उनका विद्यार्थी-जीवन समाप्त ही होने जा रहा था, अपने को, '३० कोटि के हितार्थ उत्सर्ग करने' की भावना उनके दिल में इतनी प्रबल हो गई थी कि उन्होंने अपने अग्रज बाबू महेन्द्रप्रसादजी (जिनका अभी ही स्वर्गवास हुआ है) को एक लम्बा पत्र लिखकर इस

काम के लिए आज्ञा माँगी थी। वह पत्र भारत के राष्ट्रीय इतिहास का एक चमकीला पृष्ठ होगा! पूरा पत्र उद्धृत करने के लिए जगह नहीं (यद्यपि वह पत्र है, इसी योग्य) अतः, कुछ अंश ही पाठक देखें—

"लगातार २० दिनों तक सोचते रहने के बाद मैं समझता हूँ कि मेरे लिये यही अच्छा होगा कि मैं अपने भाग्य को देश के साथ मिला दूँ। मैं जानता हूँ कि मुझसे—जिस पर कि परिवार की सारी आशाएँ केन्द्रित हैं—ऐसी बातें सुनकर आपके हृदय को एक भारी धक्का लगेगा; लेकिन मेरे भैया, मैं एक उच्चतर और महत्तर पुकार भी अपने हृदय के अन्दर महसूस करता हूँ।......इसलिए मैं आपके सामने प्रस्ताव रखता हूँ कि ३० कोटि के हितार्थ आप मुझे उत्सर्ग कर दें।

"भले के लिए या बुरे के लिए, मुझे इस तरह की शिक्षा पाने को सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि मैं जैसी भी परिस्थिति में रहूँ, मैं अपने को उसी के अनुकूल बना ले सकता हूँ। मेरा रहन-सहन ऐसा सीधा-सादा है कि मुझे आराम के लिए किसी ख़ास साज़ोसामान की ज़रूरत नहीं पड़ सकती।

"यदि मैं कमाऊँ, तो मैं जानता हूँ, मैं कुछ रुपया हासिल कर सकूँगा और शायद इसके द्वारा मैं उस तथाकथित समाज में अपने परिवार का दरजा ऊँचा करने में भी समर्थ हो सकूँगा, जहाँ लोग अपनी लम्बी थैली के कारण ही बड़े गिने जाते हैं, अपने विशाल हृदय के कारण नहीं। पर इस क्षण-भंगुर संसार में सम्पत्ति, पद, मर्यादा सभी नष्ट हो जाते है।......सुख वाह्य कारणों से नहीं मिलता, वह हृदय की उपज है। दरिद्रता को तुच्छ नहीं समझना चाहिए। दुनिया के महापुरुष पहले महादरिद्र ही रहे हैं, वे आरम्भ में खूब सताये गये हैं, और नीची नज़र से देखे गये हैं। पर हँसी उड़ानेवाले और सतानेवाले धूल में मिल गये, वे कभी उठ नहीं सके और न उनका नाम अब सुना जा सकता है; पर उनके निर्यातन और उपहास के पात्र लाखों मनुष्यों के हृदय में आज भी वास कर रहे हैं।

"मेरे भैया, आप विश्वास रखें, यदि मेरे जीवन में कोई महात्वाकांक्षा है, तो यह कि मैं कुछ देश की सेवा में काम आ सकूँ।...... यदि आप मुझे रोक रखेंगे, तो मेरा शेष जीवन दुखमय हो जायगा।......अतएव, दरिद्रता को स्वेच्छा से अपनाकर और थोड़े समय के लिए सामाजिक हीनता को भी स्वीकार कर आप देवोपम महानता दिखलावें। दिखलादें, कि मनुष्य स्वतन्त्र विचार रखता है और रखता है महान् हृदय। साबित कर दें कि ऐसे मनुष्य भी हैं, जिनके लिए रुपये-पैसे तुच्छ वस्तु हैं—जिनके लिये सेवा ही सब कुछ है।"

यद्यपि, राजेन्द्र बाबू की यह इच्छा उस समय कई कारणों से पूर्ण नहीं हुई, प्रारम्भ में कुछ दिनों तक कई कॉलेजों में प्रोफ़ेसर और बाद में कलकत्ता-हाईकोर्ट तथा पटना-हाईकोर्ट खुलने के बाद पटना में ही आपने वकालत की और सहज ही आपकी वकालत खूब चली थी; किन्तु ज्योंही देश ने बलिदान की पुकार की आपने अपने को वेदी के सामने ला खड़ा किया! आज इस दुबले-पतले व्यक्ति को देख कर लोग आश्चर्य में हैं, किन्तु, जिन्होंने इसके हृदय को देखा, वे बचपन से ही आश्चर्य-चकित हैं।

* * * *

सार्वजनिक क्षेत्र में, यों तो, राजेन्द्र बाबू विद्यार्थी-जीवन से ही प्रवेश कर चुके थे—१९०६ ईस्वी में ही आपने अपने मित्रों की सहायता से बिहार-छात्र-सम्मेलन की नींव डाली। यह संस्था १९२० ईसवी तक बिहार की एक प्रमुख संस्था रही और इसके

द्वारा विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता और सेवा-भाव का बहुत ही उन्मेष हुआ। यह संस्था भारत-भर में अनोखी थी और देश की तत्कालीन सभी प्रमुख आत्माओं ने इसके सभापतित्व का आसन सुशोभित किया था। किन्तु राजेन्द्र बाबू का यथार्थ सार्वजनिक जीवन चम्पारण में महात्मा गांधी के पदार्पण के समय से शुरू होता है। यों तो, गांधीजी अपनी अफ्रीका को कार्रवाइयों के लिए विख्यात थे ही; किन्तु भारतीय इतिहास में एक शक्ति के रूप में वे प्रथमतः चम्पारण में ही अवतरित हुए। भारत की भूमि पर सत्याग्रह का सर्व-प्रथम प्रयोग चम्पारण ही में हुआ। इस प्रयोग में राजेन्द्र बाबू ने सानन्द और सम्पूर्ण रूप से भाग लिया। महात्मा जी के सहवास से आपके हृदय में छिपी हुई, देश-सेवा के लिए आत्म-बलिदान करने की पुरानी भावना पुनः जाग्रत हुई। सत्याग्रह के साथ ही तपस्वी जीवन का एक ज्वलंत आदर्श भी आपने अपनी आँखों देखा। तभी से, आप महात्माजी के अनुयायी हो गये। चम्पारण के सत्याग्रह के बाद गांधीजी गुजरात लौट गये और आप भी पुनः अपने पेशे में लग पड़े; किंतु यह अस्थायी बात थी। तीन वर्षों के बाद ही, १९२० में, ज्योंही असहयोग की दुंदुभी बजी, आपने वकालत पर सदा के लिए लात मार दी। राजेन्द्र बाबू देश के प्रमुख शिक्षा-प्रेमियों में से समझे जाते हैं। असहयोग के पहले आपने पटना-विश्वविद्यालय को एक आदर्श-विश्वविद्यालय बनाने के लिए घोर आन्दोलन किया था और उस में सफलता भी मिली थी। असहयोग के युद्ध में पूर्ण भाग लेते हुए भी आपने, राष्ट्रीय शिक्षा के लिए एक स्थायी आयोजन की आवश्यकता महसूस की। फलतः बिहार-विद्यापीठ का जन्म हुआ—जो आज तक भी अपना कार्य सुचारु-रूप से करती जा रही है—केवल, सरकार द्वारा ज़ब्त कर लिए जाने के कारण, बीच में १९३२-३४ तक बन्द रही। १९२२ में विद्यापीठ के अन्तर्गत ४५ हाई-स्कूल और ६०० मिडल एवं प्राइमरी स्कूल थे। आज भी पांच-छः हाई-स्कूल इसके अन्तर्गत चलाये जा रहे हैं, और पटना में एक अच्छा-सा कॉलेज भी चलाया जाता है। असहयोग के ज़माने में बिहार ने जो नाम पाया, उसका श्रेय आप ही को है। गया-कांग्रेस के सर्वेसर्वा आप ही थे। आप कौंसिल-प्रवेश के खिलाफ रहे; किन्तु इस बात पर गृह-युद्ध मचाने के पक्ष में कभी नहीं रहे। स्वराज्य-दलवालों के लिए, अच्छी चेष्टा कर, उन्हें कौंसिल में भेज, आप खादी-संगठन, राष्ट्रीय शिक्षा-प्रचार आदि कार्यों में लगे रहे। राजेन्द्र बाबू के इन संगठनात्मक कार्यों का ही प्रभाव था कि १९३० के आन्दोलन में बिहार ने, बम्बई के बाद, सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। जिस समय इरविन-गांधी समझौता हुआ, उस समय कॉंग्रेस के डिक्टेटर आप ही थे। उसी समय, लोगों का ध्यान, एक बारगी, बिहार के इस मौन तपस्वी की ओर आकृष्ट हुआ और पुरी-कॉंग्रेस के सभापतित्व के लिए इन्हें मनोनीत किया गया। किन्तु, १९३२ के युद्ध के कारण, पुरी-कॉंग्रेस हो नहीं सकी। पुनः इस युद्ध में भी बिहार ने अपनी वीरता का ज्वलन्त परिचय दिया। फलतः, उसके नेता को आज यह सम्मान दिया जा रहा है!

* * * *

राजेन्द्र बाबू के हृदय में कठोर-राजनीति के लिए जितना स्थान है, सरस-साहित्य के लिए भी उससे कुछ कम नहीं। अखिल-भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थायी-समिति के आप आरम्भ से ही सदस्य रहे हैं, और कलकत्ता में होने वाले तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और पटना में

होनेवाले दशम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान-मन्त्री आप ही थे। कोकनाड़ा-कांग्रेस के अवसर पर जो राष्ट्रभाषा-सम्मेलन हुआ था, उसका सभापतित्व आप ही को अर्पित किया था। "चम्पारण में महात्मा गांधी"-नामक एक प्रामाणिक पुस्तक भी आपने लिखी है, जिसका अँगरेज़ी और गुजराती में अनुवाद हो चुका है। पटना से निकलनेवाले अँगरेज़ी द्विदैनिक पत्र 'सर्च लाइट' के संस्थापकों में आप भी हैं। और अब तो उसका पूरा कार्य आप ही के अँगुली-निर्देश पर होता है। 'देश'-नामक साप्ताहिक हिन्दी के सम्पादन और संचालन भी आप ही की कृपा का फल था। बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के उन्नायकों में आपका प्रमुख स्थान है—यद्यपि उसका संस्थापन कुछ नवयुवकों के द्वारा हुआ था। आप बंगाली भाषा बहुत अच्छी जानते हैं, और गुजराती का भी ज्ञान है।

यों तो, विलायत जाने की इच्छा आपको छात्रावस्था से ही थी। लोगों ने इनकी प्रतिभा देखकर सिविल-सर्विस में जाने के लिए इन्हें प्रेरित भी किया। आपने अपने कपड़े तक बनवा लिये थे! किन्तु माता-पिता के आग्रह और देश के सौभाग्य से, आप विलायत जाकर सिविल-सर्विस के चक्कर में नहीं पड़ सके। किंतु, विलायत देखने की इच्छा बनी ही रही। फलतः, १९२८ में आप एक निजी ज़रूरी काम से, इँगलैण्ड गये और उस अवसर पर फ्रांस, आस्ट्रिया, स्वीज़रलैंड, हालैंड, जर्मनी, इटली आदि देशों का भ्रमण किया। सुप्रसिद्ध फ्रेंच-विद्वान् रोम्यां-रोलां और आज की कुमारी मीरा बहन (किंतु उन दिनों की मिस स्लेड) से भी भेंट की। वियना में होनेवाले युद्ध-विरोधी-सम्मेलन में आपने भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया था। वहीं, आस्ट्रिया में ही, एक युद्ध-विरोधी-सभा में जब आप व्याख्यान देने गये, तब कुछ उद्दण्ड सैनिकों ने आप पर तथा आपके यूरोपियन साथियों पर प्रहार किया। एक महिला ने अपनी जान पर खेल-कर राजेन्द्र बाबू को बचाया—यद्यपि इनके शरीर के कई स्थानों से खून टपकने लगा था। इस घटना से संसार-भर में खलबली मच गई थी और महात्मा जी ने 'यंग इण्डिया' में एक लम्बा लेख लिखा था। यूरोप के अपने अनुभवों को आपने 'देश' पत्र में प्रकाशित किया था।

* * * *

साधुमना बाबू राजेन्द्रप्रसादजी आज बिहार के ही नहीं रहे, वे सम्पूर्ण के हो चुके हैं। किन्तु, उनके जीवन में आप बिहारी-जीवन की झलक देखेंगे—वह बिहारी जीवन जिसका बीज आज से अढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध ने उस हरी-भरी, शश्य श्यामला भूमि में डाला था और जिसकी फसल के रूप में अशोक और महेन्द्र से लेकर वे लक्ष-लक्ष युवक-युवतियाँ थे, जिनके त्याग और तपस्या ने समुद्र की तुंग-तरंगों को मर्दित कर दूर-दूर के द्वीपों में तथा हिमालयों की बर्फ़ानी चोटियों को पैरों से रौंद कर तिब्बत, चीन, मंगोलिया आदि देशों में, शान्ति और अहिंसा का स्वर्गीय सन्देश पहुँचाया! राजेन्द्र बाबू के शरीर पर बौद्ध-भिक्षुओं का वह पीला पट नहीं है, किंतु उनके हृदय में वही तपस्या, वही कठोर संयम, वही धार्मिक उत्साह, वही बलिदान की भावना अठखेलियाँ करती है! 'लाइट आफ एशिया' के यशस्वी लेखक ने उस दिव्य दृश्य का मनोरम वर्णन किया है, जब गृद्ध-कूट-शिखर से भगवान बुद्धदेव अपना भिक्षा-पात्र लिए राजगृह आते और नर-नारी, सम्भ्रम से, उनका अभिवादन करते हुए उनके पात्र में अपनी

श्रद्धा-भेंट अर्पित करते! उस समय युवतियाँ अपने अश्रुओं को पोंछती सखियों से कहती—"सखि, यह वही जादूगर है, जिसने मेरे पति को विरागी बना दिया! क्या इतना कठोर कर्तव्य करनेवाला व्यक्ति ऐसा सरल, सीधा, शान्त और संत हो सकता है?" जिन्होंने राजेन्द्र बाबू को बिहार के कोने कोने में घूमते और बिहारी-जनता से राष्ट्र के नाम पर जीवन-अर्पण की भीख माँगते हुए देखा है, उन्हें उपर्युक्त दृश्य की याद बार-बार आती है! क्या वहाँ की युवतियों के हृदय में भी ऐसे विचार नहीं उठते होंगे? १९३०-३२ के सत्याग्रह-युद्ध में, बिहार के आधे दर्जन से अधिक जगहों में गोलियाँ चलीं, जिनमें कितने ही दर्जन नौजवानों को बलि होना पड़ा; एक पटना कैम्प जेल को ही पचासों बलिवीरों की बलिभूमि होने का गर्व प्राप्त है! जेल और जुर्माने ने कितने ही सुनहले घरों को मिट्टी में मिला दिया! फिर, यदि ऐसी सिसकियाँ आज भी सुन पड़ें, तो आश्चर्य क्या? किन्तु आश्चर्य तो यह है कि शताब्दियों से पर्दे में बन्द रहनेवाली बिहारी-बालाओं की आँखों में भी, शहादत का कुछ रंग छाया है कि आँसू टपकाने के बदले उन्होंने भी राष्ट्र-युद्ध के हर नाके पर, युवकों से प्रतिद्वंद्विता की है।

('कर्मवीर' से)

सखा के प्रति—

(विवेक-वंचक)

(१)

प्रचण्ड आँधी भरपूर वेग से, उखाड़ती ज्यों द्रुम-दण्ड को सखे!
तथैव जो पाप उखाड़ फेंक दे, स्वचित्त से, है वह धन्य लेख लो॥

(२)

विशाल-शैलेन्द्र-समान देह से, महाम्बुदाकार, मदान्ध नेत्र हो।
यथा मसलता गज, पद्म नाल को, तथा मसल दो, इस भोग को सखे!

(३)

शरीर रक्षा करते हुए, सखे! स्वधर्म साधो, इस विश्व में सदा।
इसी लिए नित्य सुशास्त्र गा रहे,—"शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्॥"

(४)

"अरण्य में ही तप-तप्य है सदा," त्रिकाल में भी मत भावना इसे।
किया यदा निग्रह चित्त-वृत्ति का, स्व वेश्म में ही, तप हो गया सखे!

(५)

नहीं कभी भी उपयुक्त मोह[1] है, न नव्यता में, न पुरातनत्व में।
नियाम के आरि-विकार दुग्ध का, सुपान ही धार्मिक-कृत्य है सखे!

१. अज्ञान अविवेक।

—प्रे० आनन्द

सेवा-विधि

[ले०—श्री प्रभुदासजी गांधी]

> भाई प्रभुदासजी गांधी न केवल महात्मा गांधी के रक्त से सम्बन्धी हैं—उनके पोते हैं—अपितु क्रिया और जीवन से भी उनके सम्बन्धी हैं, उनके उच्च जीवन आदर्श के नम्र किन्तु दृढ़ अनुयायी हैं। प्रभुदासजी को बचपन से गांधीजी के संपर्क में रहने का अवसर प्राप्त हुआ है। वे उन बहुत थोड़े लोगों में से हैं, जोकि सच्चे भाव से ग्राम-सेवा में लगे हुए हैं। सौभाग्य से सौभाग्यवती विदुषी अम्बादेवीजी उन्हें वैसी ही सच्ची जीवन-सहचरी प्राप्त हुई हैं। वे दोनों व्यक्ति जिन कठिनाइयों में अपना सेवा-कार्य चला रहे हैं, उनका ज्ञान पाठकों को होवे, तो वे आश्चर्य करें और इनमें श्रद्धान्वित होवें। ये दोनों बदायूँ जिले के 'गुलरिया'-नामक ग्राम में बैठे हैं और वहाँ ग्राम-सेवा अर्थात् मुख्यतः हरिजन-सेवा और खादी-सेवा बड़ी तत्परता से कर रहे हैं। हमारे लिए यह प्रसन्नता की बात है कि भाई प्रभुदासजी ने अपने गुलरिया-आश्रम का यह कार्य हमारे हरिद्वारीय गांधी-सेवाश्रम से संबद्ध होकर करना पसंद किया है। उनके कार्य के विषय में तो शायद फिर कभी हम पाठकों को अधिक परिचित करने का अवसर प्राप्त कर सकेंगे, किन्तु उनकी प्रस्तुत लेखमाला में यदि पाठक चाहेंगे, तो वे देख सकेंगे और सीख सकेंगे कि सेवा का मर्म क्या है, सेवाभाव का स्रोत कहाँ से प्रवाहित होता है और विशेषतः हरिजन-सेवा किस विधि से सम्पन्न करनी चाहिए। वास्तव में भाई प्रभुदासजी-जैसे सत्कर्म करते हुए सानुभव लेखकों के लेखों से ही 'अलंकार' अलंकृत होता है। —अभय

'अलंकार' की सेवा करते रहने का आदेश संपादकजी ने मुझे दिया है। भला मैं क्या सेवा करूँ? न मैं गुरुकुल का स्नातक हूँ, न विद्यापीठ का; न शास्त्री हूँ, न ग्रेज्युएट। यदि किसी विशिष्ट विषय का अभ्यासी या अन्वेषक होता, तो लिखने का अधिकारी माना जाता, किंतु ऐसी संपत्ति भी मेरे पास नहीं है। किस बूते पर 'अलंकार' को अलंकृत करने का साहस करूँ?

यदि गुजराती में लिखना होता, तो किसी तरह लिख लेता। अपनी जन्म-भाषा में लिखते समय व्याकरण के भय से दिल न काँपता, शब्दों का अकाल प्रतीत न होता और मुहावरों का मुहताज न रहना पड़ता। सबसे बढ़कर विपत्ति तो हिन्दी का राष्ट्रभाषा होना है। अपने छोटे परिचित समाज के समक्ष छिछली बातें—बकवास भी क्षम्य हो सकती हैं, किंतु विराट् समाज के सामने पेश होते समय वाक्-संयम की, सत्य-शीलता की, गंभीर, विनय की और गहरे चिंतन की अत्यधिक आवश्यकता है। विशेषतः मेरे-जैसा अन्य-भाषा-भाषी अविद्वान् जब राष्ट्रभाषा में लिखने को उतारू हो, तब उसे स्वेच्छाचार से पूर्णतया बचना चाहिए। उसका लेख चाहे 'स्वांतः सुखाय' हो, चाहे 'परोपकाराय' हो, वह नक़ली नहीं असली; बेगार नहीं, उपहार; कृत्रिम शब्द-रचना नहीं उमड़ते हुए हृदय का मधुर निनाद होना ज़रूरी है। ऐसे भारी दायित्व को महसूस करते हुए मैं संपादकजी की आज्ञा का पालन करने चला हूँ। जान-अनजान से मुझे जहाँ ठोकरें लगेंगी, अपने पथ से जहाँ मैं लुढ़क जाऊँगा, वहाँ संपादकजी और पाठक-गण मुझे बचा लेंगे, यह श्रद्धा से अपनी व्यग्रता का निवारण करके लिखने का साहस करता हूँ।

+ + +

कई बरस बीत गये। सत्याग्रहाश्रम की स्थापना हुए चार-पाँच महीने शायद ही हुए हों। उस समय आश्रम में चेचक—शीतलादेवी—के दर्शन हुए। मद्रास की ओर का एक बालक चेचक से बुरी तरह घिर गया। उसके शरीर पर असंख्य

फोड़े फूट निकले। हाथों पर, पैरों पर, पेट पर, मुँह पर, आँखों पर—सारी त्वचा पर मवाद बहने लगा। लाल छोटी चींटियाँ उस मवाद को खाने के लिए व्रणों में बैठ गईं और तीक्ष्ण दंश दे-देकर रोगी को चिल्लाने के लिये मजबूर कर दिया। सारा आश्रम उस रोगी की शुश्रूषा में लग गया। आश्रम-वासियों की संख्या उन दिनों में मुश्किल से २५ थी। विद्यार्थियों की पढ़ाई में विक्षेप हुआ ही और नित्यकर्मों में भी शिथिलता आ गयी। रोगी की परिचर्या करने के लिए बारी लगाई गई। स्वयं गांधीजी घंटों तक परिचर्या करने लगे। मवाद के ऊपर राख डालना, चींटियों से व्रणों की रक्षा करना, रोगी को कपड़े बदलवाना, उसके मल-मूत्र का सफ़ाई करना, मवादसने कपड़ों को उबाल कर धोना इत्यादि प्रत्येक कार्य बड़ी सावधानी और दक्षता से होने लगा। काम गंदा था, बड़ा ख़तरनाक था परंतु गांधीजी की उपस्थिति और प्रेरणा के कारण घृणा और हिचक को आश्रमवासी अपने पास फटकने तक नहीं देते थे। सारा सेवा-कार्य भली-भाँति हो जाता था।

परंतु गांधीजी को इससे भी अधिक सेवा अपेक्षित थी। उन्होंने सायं-प्रार्थना के बाद अपने प्रवचन में कहा :—

' रोगी की सेवा बाक़ायदा कर देने से ही हमें संतोष न कर लेना चाहिए। हमें अपना मन भी रोगी की सेवा में लगा देना चाहिए। सेवा करते समय 'हे ईश्वर, तू इसका दुःख दूर कर दे', इतनी प्रार्थना करना भी पर्याप्त नहीं है। हमें ईश्वर से कहना चाहिए 'इसका दुःख तू मुझे दे दे, तूने इसे रोगी क्यों बनाया? इसके बदले मुझे ही यह कष्ट देता तो अच्छा था।' ऐसा कहना—प्रार्थना करना—केवल औपचारिक न हो, बल्कि हमें सच्चे दिल से आतुर होना चाहिए कि 'वह मर्ज़ मैं उठा लूँ, उसे न रहे।' एक माता अपने बच्चे की शुश्रूषा इसी भाव से करती है; हमें भी अपना हृदय माता का-सा कोमल और आर्द्र बनाने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा किए बिना हमारी रोगी-परिचर्या बहुत ही अपूर्ण रह जायगी।"

गांधीजी के इस उपदेश की महत्ता निर्विवाद है। किन्तु मैं इस उपदेश का रत्ती-भर अमल आज तक कभी नहीं कर पाया हूँ। जब-जब बीमार की सेवा का मौक़ा आता है, तब-तब अपनी स्वार्थ-परता और देह-लोलुपता के कारण दुर्बल वृत्तियाँ बुद्धि को उलटे प्रवाह में बहाती है और निम्न प्रकार विचार आते हैं :—

"यह ठीक है कि मैं सेवा करूँ, यथा-शक्ति उपचार करूँ, रोगी को दुःखमुक्त करने का भर-सक प्रयत्न करूँ; लेकिन यह कैसे प्रार्थना करूँ कि 'उसका दुःख मुझे मिले! चेचक के वे बहते व्रण मेरे शरीर पर आ जायँ; वे चींटियाँ मेरे व्रणों में चिपट कर मुझे मर्माहत करें, बिलकुल नींद न आवे और सारी रात चीखते ही कटे।"

उस दिन स्टेशन पर एक भिक्षुक की अँगुलियाँ रक्त-पित्त से सड़-गल गयी थीं। अपने पैर के तलुवों में से वह सड़ा मांस खुरच-खुरच कर ज़मीन पर फेंक रहा था। उसकी या ऐसे रोगी की सेवा से भागना हमारी नामर्दी है; किन्तु वैसे रोगी की सेवा करते वक़्त यह कैसे चाहूँ कि वह 'आग में भूने जाने की-सी वेदना मैं अपना लूँ?' अथवा टाईफॉईड—निमोनिया—आदि ख़तरनाक मर्ज़ों को अपने शरीर में किस हिम्मत से निमंत्रण दूँ? इतना ही क्या, परसों बिच्छू के काटने से उस औरत का हाथ कोहनी तक फटा जा रहा था। उसे गारे की बाल्टी में रखवाया। तब सिर्फ़ चन्द घंटे के

लिए भी उस पीड़ा को उठाने की मेरी हिम्मत नहीं थी। सच्चे दिल से क्या, खोटे दिल से भी मैं अपने को ऐसी आफ़त में डालना नहीं चाहता हूँ। मेरे कायर दिल की भय-भरी आवाज़ यही निकलती है—'अच्छा हुआ उस बिच्छू के काटने से मैं बच गया, ईश्वर का बड़ा उपकार कि इस टाईफॉईड से या चेचक से या रक्त-पित्त से उसने मुझे बचा लिया; कृपा करके वह आयंदा भी बचावे।'

दूसरी ओर गांधीजी के रोगी-परिचर्या के आदर्श को अस्वाभाविक क़रार देकर उसका विरोध भी कैसे किया जाय ? क्या परिचारक अपनी छाती पर हाथ रख कर यह कह सकेगा कि "रोगी के प्रति बिना इतनी हमदर्दी दिखाये ही मैं उसकी पूरी सेवा कर लूँगा ?" क्या ऐसा कहना आत्मवंचना नहीं है ? मेरा छोटा भाई जब किसी बीमारी से विकल हो उठता है, तब स्वाभाविक तौर से मेरे हृदय में उथल-पुथल मचती है। जी चाहता है कि उसके सारे कष्टों को चूस-चूसकर अपने शरीर में भर लूँ, जिससे फ़ौरन वह दौड़ धूप करने लग-जाय तो अच्छा।' दिल की यह भावना कृत्रिम नहीं, इसके विपरीत भावना ही कृत्रिम और विकृत होगी। अगर मेरे दिल में भाई के सब दुःख झेल लेने की आतुरता न होगी, तो उसकी बीमारी को दूर करने के प्रयत्न में मैं कुछ भी उठा न रखूं, ऐसा न होगा। मेरे प्रयत्नों में कुछ कसर रह ही जायगी। बल्कि मेरे वात्सल्य में, मेरे प्रेम में समाज भी न्यूनता और विकृति देख लेगा। सारांश, भाई के प्रति वात्सल्य में मुझे अपना स्वार्थ, अपना देह-प्रेम न भूलना ही विकृति होगी। गांधीजी ने इसी स्वभाव का अनुशीलन प्रत्येक रोगी की सेवा के समय चाहा है। अधिक नहीं चाहा है। तात्पर्य यह निकलता है कि रोगी के रोग का भय मेरे दिल से तब तक नहीं निकलता, जब तक मैं रोगी को निज भ्राता बराबर नहीं अनुभव कर सकता।

गांधीजी की महत्ता इसी में है कि वे परायों को स्वकीय से अधिक चाह सकते हैं; हमारी क्षुद्रता इसमें है कि हम स्व और स्वकीय के अति संकुचित घेरे को विस्तृत और विकसित नहीं कर पाते।

\+ + + +

रोगी-परिचर्या का जो आदर्श गांधीजी ने क़रीब २० वर्ष पहिले आश्रम की प्रार्थना में सुनाया था, उसी का विकसित स्वरूप इन दो-तीन वर्षों की उनकी विराट् हरिजन-सेवा में प्रत्यक्ष होता है। यह सर्व-विदित है कि गांधीजी जो उपदेश देते हैं, उसका अनुशीलन उनके श्रोतागण थोड़ी-बहुत मात्रा में करें या न करें, वे स्वयं अपने उपदेशों को दिन-दूना रात-चौगुना आचरण में लाते ही रहते हैं। और इस तरह थोड़े ही समय में वे अपना अत्यधिक विकास साध लेते हैं। इस तरह कुछ ही बरसों में उनका कार्यक्षेत्र आश्रम से विकसित होकर भारतवर्ष की चारों सीमाओं तक व्याप गया है। आश्रम के उस चेचक-ग्रस्त बालक की उन्हें जैसी चिन्ता थी, वैसी ही चिन्ता आज उनके हृदय में सारे राष्ट्र के पीड़ित समाज की है। उस चेचक से लड़ते हुए बालक को बचाने के लिए जैसे उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी—सारे आश्रम को उसकी सेवा में लगा देने पर भी उन्हें जैसे सेवा-कार्य में बड़ी अपूर्णता प्रतीत होती थी, वैसे ही आज उन्होंने अपनी संपूर्ण शक्ति इन पीड़ित हरिजनों के लिए लगा देने पर और सारे राष्ट्र को हरिजन-सेवा में प्रोत्साहित कर देने पर भी उनको अपने हिसाब से कार्य ना कुछ-सा दीखता है। यही कारण है कि

हरिजन-सेवा-निमित्त उपवास के ऊपर उपवास होते चले जा रहे हैं।

इन उपवासों के प्रयोजन अनेक माने जाते हैं। गांधीजी स्वयं विविध स्वरूपों से अपने उपवासों के उद्देश्य समझाते हैं। सुना जाता है कि सबसे बड़ा प्रयोजन उनका अपना अन्तर्नाद है। लेकिन मुझे तो प्रत्येक समय इस अन्तर्नाद का निमित्त भी वही उग्र वात्सल्य-भावना प्रतीत होती है कि "किसी तरह इस रोगी का रोग मैं भुगत लूँ और यह बेचारा रोग-मुक्त होकर जल्द-से-जल्द पूरी फुर्ती और आज़ादी से अपनी उत्साह-भरी जीवन-यात्रा में चलने लगे।"

"हे ईश्वर! मुझे दूसरा जन्म लेना ही पड़े, तो भंगी का ही देना!" यह उद्‌गार मज़ाक नहीं है। हरिजनों को संतुष्ट करने के लिए या उन्हें विश्वास में लेने के लिए भी यह उद्‌गार नहीं है। सचमुच गांधीजी के तड़पते दिल की यह चाहना है। वह चेचक-ग्रस्त बालक के व्रणों में चींटी के काटने से जो पीड़ा होती थी, उसे अनुकम्पा से देखने और परवरिश करने पर भी उन्हें जैसे संतोष न था और वह पीड़ा अपने बदन पर उठा लेने की जैसे उनकी ख्वाहिश थी, वैसे ही चिरकाल से कुचले हुए, क्षण-क्षण अपमान और अन्याय से पीसे जाने वाले, भौतिक और नैतिक घुरों में सड़ते हुए भंगी-चमार भाई की वेदना के प्रति केवल अनुकंपा दिखाने और शुश्रूषा करने से उन्हें सन्तोष नहीं है। उसकी प्रत्यक्ष स्वानुभूति करने की उनकी महेच्छा है। गांधीजी के विचारों के इस सिलसिले को ध्यान में रख कर अगर हम उनके निम्न आदेश पर ग़ौर करेंगे, तो हमारा अंतर अच्छी तरह प्रकाशित हो जायगा कि "हरिजन-सेवा धार्मिक है, राजनीतिक और सामाजिक लाभ गौण बात है; बिना आत्मशुद्धि के हरिजन-सेवा न हो सकेगी।"

यद्यपि हम क्षुद्रजीव हैं, हमारा यह आत्मबल नहीं कि एक बार भी हम सच्चे दिल से चाहें कि "भंगी का कष्ट हमें मिल जाय और इसी क्षण भंगी हमारी सुखी परिस्थिति का भोक्ता बने।" तो भी हमें अगर हरिजन-सेवा करनी हो, तो कल्पना से हरिजन बनना ही पड़ेगा। जैसे परियों की कहानी में जादुई लकड़ी से बालक का कुत्ता और कुत्ते का बालक बन जाता है, वैसे ही हमें भी कल्पना-परी की लाठी माँग कर तनिक देर के लिए भंगी बन जाना चाहिए। तब ही हम उनके दुःखों को यथार्थ रूप से समझ सकेंगे। वैसे तो हरिजन-जातियाँ अनगिनत हैं; लेकिन हरिजनों के भी हरिजन भंगी हैं। कुचली हुई जातियों में सब से नीची सतह भंगियों की है। इसलिए मैंने पाठकों को भंगी बनने का आह्वान दिया है।

यह आह्वान देकर मैं भंगियों के मुख्य पेशे पर—पायखाना सफ़ाई पर—थोड़ा साहित्य 'अलंकार' में क्रमशः प्रकाशित करना चाहता हूँ। संभव है कि पाठकवृन्द ऐसे विषय के साहित्य को तिरस्करणीय और तुच्छ समझेंगे। किन्तु ज़रा स्वस्थ चित्त से सोचने पर प्रत्येक मानव को पता चलेगा कि "मैल की सफ़ाई' अपने जीवन का अत्यावश्यक अंग होने के कारण एतद्-विषयक साहित्य गर्ह्य नहीं, आदरणीय है।

पं० गौरिशंकर भट्ट और नागरी-लिपि-विज्ञान

[ले०—श्री महाव्रतजी विद्यालंकार, सीनियर इंजीनियर (लंदन)]

प्रत्येक भाषा की उन्नति में उसकी लिपि की सरलता, सौन्दर्य और वैज्ञानिक रचना अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान रखती है। प्राचीन-काल से यद्यपि हिन्दी-लिपि के अनेक सुलेखक हुए हैं, जिनका परिचय प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों के देखने से मिलता है; परन्तु रोमन अक्षरों की तरह नागरी-लिपि को सुन्दर—वैज्ञानिक रीति से आलेख्य-योग्य बनाने का प्रयत्न नगण्य-मात्र ही था। इस का प्रमाण प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों से ही मिलता है। नागरी-अक्षरों का वैज्ञानिक रीति से लेखन और वर्गपत्र पर उनकी यथानुपात आलेख्य-योग्यता इस शताब्दी के प्रारम्भ में श्री पं० गौरी-शंकर भट्ट की लेख-कुशलता से हुआ। तब से इस दिशा में भट्टजी के अनथक प्रयत्न से एक चमत्कार-पूर्ण उन्नति हो चुकी है, जिस पर हिन्दी-भाषा-भाषी जनता को सच्चा अभिमान होना चाहिए।

हिन्दी-लिपि के सुलेखाचार्य पं० गौरीशंकरजी का जन्म कार्तिक कृष्ण ५मी सोमवार को संवत् १९२६ में मसवानपुर ज़िला कानपुर में हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्री ललिताप्रसाद भट्ट सदावर्ती था। १९ वर्ष की आयु तक भट्टजी को हिन्दी, फ़ारसी और अँगरेज़ी इत्यादि की शिक्षा मिली। इसके बाद कतिपय मास तक झाँसी में बन्दोबस्त के दफ़्तर में काम किया और फिर पाँच वर्ष तक एक प्रसिद्ध डाक्टर के यहाँ काम करते रहे। साहित्य-सेवा की ओर भट्टजी का नैसर्गिक झुकाव था, अतः कुछ काल तक आपने अपने जातीय मासिक-पत्र 'भट्ट-भास्कर' का सम्पादन भी किया। इसी समय में भट्टजी ने व्रजभाषा के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों से एक हज़ार उत्तमोत्तम पद्यों का संग्रह कर 'मनरंजन संग्रह' के नाम से प्रकाशित किया। तदनन्तर सन् १८८५ से १८९० ई० तक आप चरखारी रियासत में राज्य की ओर से यंत्रालय में हिन्दी, उर्दू और अँगरेज़ी के कापीस्ट रहे। इन्हीं दिनों श्री भट्टजी का ध्यान नागरी-लिपि के सुधार की ओर गया और उन्होंने अनेक काट की क़लमों से अक्षरों को सुन्दर और सुडौल बनाने के लिए अनेक परीक्षण किये; जिनके नमूने आपकी महत्त्व-पूर्ण पुस्तक 'लिपि-बोध' में दिये हुए हैं। इन्हीं दिनों भट्टजी का परिचय चरखारीवासी बाबू कृष्णगोपालजी से हुआ, जिन्होंने भट्टजी को वर्गपत्र पर अक्षर अंकित करने में अमूल्य सहायता प्रदान की। इसी का परिणाम था कि सन् १९०१ ई० में 'लिपिबोध'-नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। नागरी-लिपि के इतिहास में 'लिपि-बोध' प्रथम पुस्तक थी, जिसने नागरी-अक्षरों को चमत्कार पूर्ण सौन्दर्य प्रदान किया। उस समय तक नागरी लिपि प्रत्येक सुलेखक की वैयक्तिक रुचि से चलती रही थी, परन्तु 'लिपि-बोध' ने एक सर्व-ग्राह्य और सर्वानुकरणीय पथ का प्रदर्शन किया और क़लम की ढाग और अक्षरालेख्यता में परस्पर-संबन्ध स्थापित कर नागरी-लिपि को एक दृढ़ आधार पर खड़ा कर दिया। यद्यपि लिपि-बोध के अनन्तर भट्टजी ने अपने अक्षरों की

रचना में अनेक छोटे-मोटे सुधार किये; किन्तु उनकी मौलिक आधारभूत प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। नागरी-अक्षरों को ज्यामितिक ४५ अंश के काट की कलम से सरलता के साथ लिखने की प्रथा भट्टजी का ही आविष्कार था; जिसके अनुसरण से लेख-सौन्दर्य में अनायास ही सहायता मिलती है और अक्षर स्वतः सुन्दरता की ओर ढलने लगते हैं। कई मास तक भट्टजी ने बम्बई के 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार-पत्र' में प्रधान लेखक का काम किया और प्रेस के स्वामी श्री सेठ खेमराजजी की आज्ञा से 'संगीत-रत्नाकर', 'ग़ज़ल संग्रह', 'प्रभाती संग्रह' और 'श्रीराम जन्म-पद संग्रह'-नामक पुस्तकें बनाईं। 'संगीत-रत्नाकर' इनकी एक अच्छी कृति है, जिसमें प्राचीन और अर्वाचीन कवियों के सब समयों और सब ऋतुओं में गानेयोग्य उत्तमोत्तम भजनों का संग्रह है; जो श्री वेंकटेश्वर-समाचार के ग्राहकों को उपहार में दी गई थी।

परन्तु श्री भट्टजी का स्वाभाविक झुकाव चूंकि लेखन-कला की ओर था, अतः सन् १९०५ ई० में उन्होंने अपनी लिपि-प्रणाली को सर्व-साधारण तक पहुँचाने और विशेषतः स्कूलों में बच्चों को विधि-पूर्वक सुलेख सिखाने के उद्देश्य से 'नागरी-लिपि-पुस्तक'-नामक पुस्तक का प्रकाशन किया। सन् १९०७ ई० में यह चार भागों में प्रकाशित हुई। 'नागरी-लिपि पुस्तक' की सर्वोच्च और आदर्श-लिपि-प्रणाली को देखकर अनेक प्रान्तों के शिक्षा-विभागों ने इन्हें स्वीकार कर सरकारी स्कूलों में जारी किया।

भट्टजी ने यहीं बस नहीं की, उन्होंने अपनी लिपि-प्रणाली के अनुसार बच्चों को सुलेख लिखने के उद्देश्य से श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी भूत-पूर्व महात्मा मुन्शीरामजी जिज्ञासु आचार्य गुरुकुल-विश्वविद्यालय की प्रेरणा से गुरुकुल कांगड़ी में सुलेखाध्यापक का पद स्वीकार कर लिया। विश्वविद्यालय में श्री भट्टजी १४ साल तक रहे। यहाँ उन्होंने अपनी सुलेख-प्रणाली के शिक्षण से अनेक सुलेखक और लिपि-विज्ञान के धुरन्धर-मर्मज्ञ पैदा कर दिये और गुरुकुल को अपनी वैज्ञानिक-लिपि-प्रणाली का एक प्रधान गढ़ बना दिया। इस अवसर में क्रियात्मक शिक्षण और अनवरत प्रयत्न से भट्टजी ने अपनी लिपि-प्रणाली में अनेक सुधार अलंकरणता और नवीनताएँ उपस्थित कर दीं। जिनके आधारभूत 'आलेख्यपुस्तक' ५ भागों में, 'सूक्ति-सुधा', 'चित्रलिपिप्रवेशिका' और 'बालोद्यान'-नामक पुस्तक इत्यादि की रचना हुई। गुरुकुल-भूमि में सन् १९१३ ई० में जब संयुक्तप्रान्त के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन साहब गुरुकुल भूमि के दर्शन के लिए पधारे, तो गुरुकुल-अद्भुतालय में भट्टजी की कृतियों और दिये गये अभिनन्दनपत्र (जो भट्टजी के हाथ से लिखा गया था) की सुन्दरता को देख, मुग्ध हो उन्होंने मुक्तकण्ठ से नागरी-लिपि की वैज्ञानिक आलेख्य योग्यता पर आश्चर्य और प्रसन्नता प्रकट की और उसके लिए भट्टजी को बधाई दी। उसी वर्ष गुरुकुल-विश्वविद्यालय के वार्षिक उत्सव पर श्री महात्मा मुन्शीराम जी ने इन्हें एक स्वर्ण-पदक प्रदान किया। संवत् १९७२ वि० में गुरुकुलोत्सव पर महात्मा गांधीजी ने भी आर्य-भाषा सम्मेलन के सभापति की हैसियत से गुरुकुल के अनन्य-भक्त इन्दौर निवासी श्री भवानीप्रसादजी गुप्त के उपहार-स्वरूप पदक को अपने कर-कमलों से इनके वक्षःस्थल पर लटकाया था। संवत् १९७२ से लेकर अब तक भट्टजी को अनेक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों तथा अन्य

संस्थाओं और प्रसिद्ध व्यक्तियों की ओर से स्वर्ण और रजत-पदक प्राप्त होते रहे हैं, जिनसे उनका वक्षःस्थल भर जाता है। बनारस के महाराजा प्रभुनारायणसिंह की ओर से आपको एक बहुमूल्य ज़री का सुनहला दुपट्टा और प्रमाणपत्र उपहार में दिया गया था। इसके साथ अनेक अवसरों पर भारत के अनेक धनी और मान्य पुरुषों ने आपके अक्षर-विज्ञान के चमत्कारों को देखकर पुरस्कार और प्रशंसापत्रों द्वारा सम्मानित किया है।

यद्यपि हिन्दी-जगत् में भट्टजी ने अनेक पुरस्कार और प्रशंसापत्र प्राप्त किये हैं, सामयिक प्रमुख समाचारपत्रों ने आपकी लिपि-प्रणाली की वैज्ञानिकता और सौन्दर्य को स्वीकार किया है, परन्तु हिन्दी-जगत् ने नागरी-लिपि के अक्षरों के सुधार के प्रयत्न को उस प्रकार नहीं अपनाया, जैसा अपनाना चाहिए था। कोरे प्रशंसापत्रों और उपहारों से इस कार्य की इति-श्री नहीं हो सकती। हमारी दृष्टि में हिन्दी और नागरी-प्रचारक संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि वह भट्टजी की लेखन-प्रणाली को अपनाएँ। यदि हो सके, तो उसमें आवश्यक संशोधन पेश करें और उनकी प्रदर्शित दिशाओं में उसके अलंकरण को उत्तेजना दें और जहाँ-जहाँ हिन्दी बोली, लिखी-पढ़ी और पढ़ाई जाती है, वहाँ उसका प्रचार करें और कराएँ। हमें इस दिशा में पश्चिमीय देशवासियों का अनुकरण करना चाहिए, जो किसी नवीन और अच्छी प्रणाली को स्वीकार करने में इतनी तत्परता से अग्रसर होते हैं, जिसका फल यह होता है कि कुछ काल में ही वह उनके जीवन का अंग बन जाती है। यही पश्चिमीय देशों की उन्नति का मूल-कारण है।

भट्टजी की आदर्श-शंकर-लिपि का आविष्कार हुए आज चौतीस वर्ष हो रहे हैं, परन्तु उनकी कृतियों के प्रचार के मुक़ाबिले में अत्यन्त हेय लिपि-पुस्तकों और स्लिपों (हिन्दी-कापी-स्लिप गुलाबसिंह ऐंड संस लाहौर तथा कामताप्रसाद कानपुर रचित, हिन्दी-लिपि-प्रबोध तथा हिन्दी-कापी-बुक इंडियन प्रेस प्रयाग, सरल-लिपि-पुस्तक मिश्रबन्धु कार्यालय जबलपुर, मेकमिलन की कापी-बुक मेकमिलन ऐंड कम्पनी लिमिटेड कलकत्ता, बम्बई मद्रास लंडन, लॉगमैन के मराठी किते, सुखराम चौबे का लिपिप्रबोध, आदर्श लिपि-माला इंडियन प्रेस जबलपुर, माडल-कापी-स्लिप स्कूल-बुकडिपो लखनऊ आदि) के कबाड़खाने और उसके बाज़ारू प्रचार को देखकर शोक हुए बिना नहीं रह सकता। निस्सन्देह मनुष्य के लिए आजीविका कमाना आवश्यक है, परन्तु उसके नाम पर सचाई, शुद्धता, वैज्ञानिकता और सुन्दरता का घात कर भ्रष्टता का बाज़ार गर्म करने से बढ़कर घृणास्पद बात और कोई नहीं हो सकती। भट्टजी के मुक़ाबिले में इन लिपि-पुस्तकों और स्लिपों के लेखक सुलेख-सुन्दरता, आलेख्ययोग्यता और वैज्ञानिकता का दावा नहीं कर सकते। इन हेय लिपिपुस्तकों और स्लिपों के प्रचार को देखकर एक हिन्दी-भाषा का अनुरागी यही अनुमान कर सकता है कि या तो उन स्थानों के शिक्षा-विभाग के अधिकारी जहाँ, इन कूड़े-करकट भरी, बच्चों को सुलेखमार्ग से भ्रष्ट करनेवाली कापियों और स्लिपों का प्रचार है, भट्टजी की सुघड़ आदर्श वैज्ञानिक लेखन-प्रणाली से अपरिचित हैं; अथवा यदि उन्हें उनकी किसी कृति के अवलोकन का अवसर मिला है, तो वह जान-बूझ कर अच्छी चीज़ को अपनाने में प्रमाद कर रहे हैं—जो किसी शिक्षा-विभाग के अधिकारी के लिये योग्य नहीं।

उपर्युक्त अवैज्ञानिक और भद्दी लिपि-पुस्तकों

और स्लिपों के बढ़ते प्रचार को देखकर श्री भट्टजी ने चार वर्ष हुए एक 'लिपिसमीक्षा'-नामक पुस्तक भी प्रकाशित की, जिसमें उपर्युक्त कापियों और स्लिपों के नमूने देकर स्पष्ट-रूप से उनके दोष और उनकी अवैज्ञानिकता और अस्वाभाविकता का प्रदर्शन किया है, और अन्त में उनके मुक़ाबिले में अपनी शंकर-लिपि के आदर्श वैज्ञानिक अक्षर भी दिखलाये हैं। हिन्दी-लिपि का प्रत्येक प्रेमी इस पुस्तक को एक सरसरी नज़र से देखकर बाज़ारू कापियों की अस्वाभाविक और भद्दी लिपियों को देखकर कह सकता है कि उनमें क़लम की लाग से विरुद्धता, अनुपातहीनता, अस्वाभाविकता और अनालेख्यता इत्यादि अनेक दोष भरे हुए हैं, जिनके होते हुए उनकी लिपि या स्लिपों का प्रचार अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हो रहा है। उस पर भी आश्चर्य यह है कि अनेक स्थानों के शिक्षा-विभाग के अधिकारी इन रद्दी कापियों और स्लिपों को पक्षपात-वश अपनाये हुए हैं।

यदि शिक्षा विभाग के ऐसे अधिकारियों के पास भट्टजी की आदर्श-लिपि-प्रणाली की अपेक्षा कोई उत्तम लिपि-पुस्तक हो, तो उसे पेश करने का साहस करें और उसकी खूबियाँ बतलाने की कृपा करें; अन्यथा कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि वह सर्वोच्च आदर्श लिपि-प्रणाली के होते हुए उसके मुक़ाबिले में रद्दी लिपि-पुस्तकों और स्लिपों का प्रचार कर भारतीय शिशु-जनता को कुलेखन की ओर प्रवृत्त करें। हमारा विश्वास है कि जिन स्थानों पर इन उपर्युक्त कापियों और स्लिपों का अन्धाधुन्ध व्यवहार हो रहा है, वहाँ के सुयोग्य शिक्षाधिकारी अपनी उत्तरदायिता को समझते हुए हिन्दी-साहित्य के अभिनवयुगी सुलेखाचार्य श्री पं० गौरीशंकरजी भट्ट की आदर्श-नागरी-लिपि-पुस्तकों को अपना कर उनके यथोचित उपयोग से भारतवर्ष की शिशु-जनता को लाभ उठाने का अवसर प्रदान करेंगे। साथ ही हिन्दी-जगत् के नेताओं और योग्य हिन्दी-प्रचारकों का कर्त्तव्य है कि वह भी भट्टजी की लेखन-प्रणाली का समुचित आदर कर उसका सर्वात्मना प्रचार करें।

भीख

[कवयित्री—कुमारी शान्ति देवी भार्गव, हिन्दी-प्रभाकर]

भरदो ! पागलपन हिय में प्रभु ! प्रथम दर्शनों ही में,
आँखों में छवि बस जाए, भर जाए श्रद्धा हिय में।
देते रहो प्रणत भक्तों को, पद-रज सदा तुम अपने,
दो वरदान रहें शुचि छवि के नित्य देखते सपने।
भूलें चाहे हम भक्ति को, भक्ति हमें न भूले,
मानव-हृदय-मरुस्थल में, प्रिय-भक्ति-वाटिका फूले।
इस नश्वर जीवन की सारी, वैभव शाली घड़ियाँ,
वह विलास की कल-क्रीड़ाएँ, वह सुख की फुलझड़ियाँ।
हों विलीन सब क्षणभंगुर, मायावी वैभव जग के,
जहाँ न सुख-दुख जहाँ न माया, बनें पथिक उस मग के।

सस्ता और महँगा

[लेखक—तरंगित हृदय]

मैं खद्दर बेचने पहुँचा, तो एक भाई बोला, 'हम तो जो कपड़ा सस्ता होगा उसे खरीदेंगे, हम खद्दर ही क्यों लें?' एक अछूत भाई को मैं शराब न पीने को समझाने लगा तो वे बोले, 'हम ग़रीब लोग महँगी शराब कहाँ खरीद सकते हैं? हमारे पास शराब के लिए पैसा ही कहाँ है।' एक आदमी विदेशी व मिल का (अर्धविदेशी) कपड़ा इसलिए खरीदता है चूँकि वह सस्ता है, दूसरा शराब केवल इस लिए नहीं खरीदता (?) चूँकि यह महँगी है। सस्ती को खरीदो और महँगी को छोड़ो; यह कैसा सीधा, सरल और सुन्दर सिद्धान्त है! अतः आज सब दुनिया आँख मींचकर इसी का अनुसरण कर रही है। लोग सस्तेपन के देवता का ही आराधन कर रहे हैं। यहाँ तक कि बहुत-से लोग सस्ता-सा स्वराज्य पा लेना चाहते हैं। और क्या कहूँ, कई लोग सस्ते परमेश्वर को ढूँढ़ कर उसे अपनाकर बेफ़िक्र हो गये हैं। वे ग्रहण करने और त्यागने की एक ही कसौटी जानते हैं; अर्थात् जिसमें कम दाम लगें, उसे ले लो और जिसमें अधिक पैसे खर्च हों, उसे छोड़ दो। इसी लिए आज दुनिया के चतुर-चालाक लोगों की बन आयी है। वे सस्तापन दिखला कर दुनिया को खूब उल्लू बना रहे हैं। पश्चिमीय व्यापारी सस्ता देखनेवाले भारतवासियों की आँखों में दिन-दहाड़े धूल झोंक रहे हैं और पढ़े-लिखे होशियार लोग सस्ते के नाम पर बेचारे अनपढ़ ग़रीबों को नित्य ठग रहे हैं।

∴

ऐ सस्तेपन के पीछे दीनता के साथ दौड़ने वालो! क्या तुम कभी यह भी सोचते हो कि अमुक वस्तु सस्ती क्यों हुई है? क्या तुम नहीं जानते, उस मिल का माल सस्ता होगा, जिसके मालिक अपने मज़दूरों को कम भृति देते हैं, उन्हें सताते हैं और ठगते हैं? क्या तुम नहीं समझ सकते कि चोरी का सामान परिश्रम से बनाये सामान की अपेक्षा बहुत सस्ता बेचा जा सकता है? क्या तुम नहीं देखते कि उस होटल का खाना अवश्य सस्ता पड़ेगा जो कि चर्बी मिले घी का

और बुरादा मिले आटे का इस्तेमाल करता है ? तो क्या यह चीज़ें वास्तव में सस्ती हैं ? सस्ते के नाम से लेने लायक़ हैं ?

ज़हर सस्ता मिलेगा, तो क्या इतने से तुम उसे खा लोगे ? अभक्ष्य, हानिकारक, स्वास्थ्यनाशक वस्तुओं को सस्ता समझकर खा लेना ज़हर खाना नहीं तो क्या है ?

क्या तुम ख़ूनसनी वस्तु को सस्ता होने के कारण ले लोगे ? तो ग़रीबों को भूखा मारनेवाला देशी-विदेशी मिलों का कपड़ा थोड़ा-बहुत ख़ून-सना नहीं है, तो और क्या है ?

घर को आग लगा देने से निःसन्देह कोयला सस्ता मिल जायगा, क्या तुम ऐसे सस्ते कोयले को पाना चाहोगे ? तो फिर विदेशी (विशेषतः व्यवसायवादी कारख़ानों में बनी) चीज़ों को चाहना घर-फूँक सस्ता कोयला चाहना नहीं है, तो और क्या है ?

मैं यह नहीं कहता हूँ कि तुम सस्ती चीज़ न ख़रीदो, तुम महँगी ख़रीदो। नहीं, तुम अवश्य सस्ती ख़रीदो, पर ज़रूर यह भी देख लो कि अमुक वस्तु सस्ती क्यों हुई है। याद रक्खो कि तुम यदि एक लुटेरे से सस्ता कपड़ा ख़रीदोगे, तो तुम लूट को उत्तेजित करोगे, दुनिया में लुटेरेपन को बढ़ाओगे और यदि तुम एक ग़रीब श्रमी की महँगी रोटी ख़रीद लोगे, तो तुम ईमानदारी को उत्तेजित करोगे और श्रम के महत्त्व को दुनिया में बढ़ाओगे।

∴

मैं भी कहता हूँ कि तुम महँगी वस्तु कभी मत ख़रीदो, तुम कभी घाटे का सौदा मत करो। पर तुम यह तो अच्छी तरह देख लो, भाल लो कि कौन-सी वस्तु वास्तव में महँगी है। जो भोजन प्राणशक्ति देता है, आरोग्यवर्धक है, जिसके सेवन से मनुष्य बीमारी से बचता है, अतएव दवाइयों के दामों, डाक्टर की बड़ी-बड़ी फ़ीसों से भी बचता है, वह भोजन महँगा क्यों कर है ? जो कपड़ा मज़बूत है देर तक चलता है, और जिसके पहिनने से और बहुत-से ख़र्च घट जाते हैं, वह कपड़ा महँगा क्यों है ? यदि कोई स्वदेशी वस्तुएँ इस दृष्टि से भी कुछ महँगी पड़ें, तो भी चूँकि उनके लिए कुछ अधिक ख़र्च किया गया पैसा अपने ही देश में रहता है, इसलिए कोरी आर्थिक दृष्टि से भी हमें अन्त में वह लाभ ही पहुँचाता है, अतः वे स्वदेशी वस्तुएँ भी आर्थिक दृष्टि से भी किसी तरह महँगी नहीं हैं।

एवं विदेशी कपड़ा यदि सस्ता ही नहीं किन्तु मुफ़्त मिले, तो भी वह हमारे लिए महँगा है। एक समझदार पुरुष उसे बरतने की जगह उसी तरह जला देना ठीक समझेगा, जैसे कि प्रबल प्लेग फैलने पर कभी-कभी सम्पूर्ण बस्ती को जला देना आवश्यक हो जाता है। विषमय अखाद्य पदार्थ सस्ता ही नहीं किन्तु मुफ़्त दिया जाय, तो भी हम फेंक देने के सिवाय उसका अन्य कुछ उपयोग न कर सकेंगे। ऐसी वस्तुएँ असल में हमारे लिए उतनी महँगी पड़नेवाली होती हैं कि हम उन्हें छूना तक नहीं चाहेंगे।

∴

असली बात यह है कि हम लोग—हम धन के रोब में आये हुए ग़रीब लोग—सब चीज़ों को रुपये-आने-पाई से ही मापना चाहते हैं। हर एक वस्तु की क़ीमत टके-पैसे में ही आँकना चाहते हैं। पर ऐसी वस्तुएँ संसार में बहुत हैं जहाँ कि रुपये-पैसे की पहुँच तक नहीं है। हमारे जीवन से प्रतिक्षण सम्बन्ध रखनेवाली परमावश्यक वस्तुएँ ऐसी-ऐसी हैं, जो कि कभी भी रुपये से ख़रीदी या बेची नहीं जा सकती हैं।

अपनी धर्मपत्नी, अपनी बहिन, अपने भाई, अपने पिता, अपनी माता की प्रेम-पूर्वक भेंट की गयी वस्तु को, यादगार में समर्पित की गयी वस्तु को, क्या तुम किसी भी भाव बेच सकते हो ?

दीक्षा के समय कल्याण और वात्सल्य भाव से दिये गये यज्ञोपवीत का मूल्य क्या तीन धागों का ही मूल्य होता है ?

प्राणपण से रक्षा करने-योग्य राष्ट्रीय झण्डे की क़ीमत क्या गज़-भर कपड़े की ही क़ीमत होती है ?

क्या धर्म के सम्बन्ध में कभी सस्ता महँगा देखा जा सकता है ?

क्या प्रेम में कभी सौदा किया जा सकता है ?

क्या सत्य के विषय में कभी भाव-ताव किये जाने की गुंजायश हो सकती है ?

क्या ईश्वर-भक्ति करते हुए, प्रभु को सब-कुछ सौंपते हुए कभी थोड़े पैसे और बहुत पैसे का विचार किया जा सकता है ? चाँदी और सोने का फ़र्क़ किया जा सकता है ?

हमारी सब मूर्खता यह है कि हमने रुपये-पैसे को सबसे क़ीमती वस्तु समझ लिया है, इसलिए हम हरएक वस्तु की क़ीमत आर्थिक दृष्टि से ही देखने लगते हैं।

∴

अथवा यों कहना चाहिए कि इन बहुमूल्य वस्तुओं में—रुपये-पैसे की दृष्टि से इन अमूल्य वस्तुओं में—हम सस्ता-मँहगा इसलिए देखने लगते हैं चूँकि हम इनकी बहुमूल्यता को, अमूल्यता को अनुभव नहीं करते । जैसे कि पामर पुरुष पाये हीरे को तीन पैसे में बेच देता है; किन्तु पारखी पुरुष उसे सँभाल कर रख लेता है, वैसे ही इन रुपये-पैसे से उपरितन वस्तुओं की अनगिनत क़ीमत को जो लोग समझते हैं, वे ही इनकी क़द्र करते हैं, कर सकते हैं।

खद्दर में दो-चार पैसे अधिक देने में वे ही लोग हिचकते हैं, जो खद्दर के मूल में विद्यमान देश-प्रेम व दरिद्रनारायण को नहीं देखते। देश-प्रेम तो वह अमूल्य वस्तु है कि इसके लिए दो-चार पैसे क्या सब धन-सम्पत्ति दे दी जाय, सर्वस्व अर्पण कर दिया जाय, तो वह सब भी थोड़ा है। पर सस्ता स्वराज्य चाहनेवाले इसे कैसे समझ सकते हैं ?

अपने-आप बनाया खद्दर तो निःसंदेह अमूल्य है। मैंने एक घण्टे में २०० गज़ काता, जो मेरे अर्थशास्त्री साथी कहते हैं कि आपने घण्टा-भर खर्च करके आधे पैसे का भी काम नहीं किया। पर मैं कहता हूँ कि मेरे यज्ञार्थ काते हुए २०० गज़ की क़ीमत एक लाख रुपया क्यों नहीं ? जो वस्तु पैसे टकों में नहीं मापी जा सकती। उसे पैसे-टकों से नापने का यत्न करने से ही ऐसा मतिभ्रम होता है।

प्रेम ऐसी क़ीमती वस्तु है कि उसके लिए यदि सर्वधन-सम्पत्ति ही नहीं किन्तु हज़ार बार अपना सिर भी उतार कर दे दिया जाय, तो भी शायद उसकी पूरी क़ीमत अदा नहीं की जा सकती। पर क्या हम उसके लिए इतनी क़ीमत देने को तैयार है ? इसलिए नहीं, चूंकि हम उसकी इस क़ीमत को समझते ही नहीं।

धर्म ऐसी क़ीमती सम्पत्ति है कि धर्म की क़ीमत समझनेवाले सदा से उस पर सर्वस्व न्यौछावर करते रहेंगे।

सत्य वह हीरे-मोतियों का अटूट खज़ाना है कि उसके लिए रुपये-पैसे दिखाना सचमुच बच्चों का ठीकरियों के रुपये पैसेवाला खेल करना है। पर क्या हम सत्य की यह क़ीमत समझते हैं ?

प्रभु-प्रेम के मूल्य का क्या कभी अन्दाज़ा लगाया जा सकता है ? पर वे मनुष्य कितने मूर्ख हैं, जो कि बहुत-से जीवनों की साधना से मिलनेवाली वस्तु को रुपये-पैसे के बल से प्राप्त करना चाहते हैं। ओह, ये वस्तुएँ अमूल्य हैं, महार्घ हैं, बेशक़ीमती हैं। इनके विषय में टके-पैसे की बातें करना केवल अपनी मूर्खता बताना है। अतः यदि सामर्थ्य है तो, उनकी पूरी क़ीमत देकर उन्हें ले लो नहीं तो चुप रहो यही अच्छा है।

∴

हाँ, स्वामी रामतीर्थ ने क़ीमत दी थी। उसने एक दिवाली के अवसर पर जुआ खेला था। रुपये-पैसे का जुआ नहीं, किन्तु सर्वस्व का जुआ। उन्होंने एक मित्र को लिखा, 'मैंने इस दिवाली पर अपने को पूरी तरह हार दिया है, जुए में अपना सब कुछ दे दिया है और प्रभु को पा लिया है, परमेश्वर को जीत लिया है।'

यही बात मीरा ने अपने प्रभु गिरधर नागर के विषय में आनन्द-मग्न होकर गायी है—

> "माई मैंने गोविन्द लीनो मोल,
>
> मैंने गोविन्द लीनो मोल।
>
> कोई कहे सस्ता, कोई कहे महँगा
>
> लियो- तराजू तोल ॥"

मीरा ने अपना सर्वस्व देकर जब अपने गोविन्द को पाया है, तो उस पर सब संसार अपनी-अपनी टीका-टिप्पणी करता है। कोई मीरा के इस सौदे को सस्ता कहता है, कोई महँगा कहता है। पर वहाँ तो सस्ते-महँगे का कुछ काम नहीं है। वहाँ तो वह सौदा हर हालत में लेना है। वह बाज़ारी सौदा नहीं है, वह प्रेम का सौदा है। वह हर भाव लेने-योग्य सौदा है। असल में वह सौदा ही नहीं है। वह तो प्रतिफल की ज़रा भी इच्छा किए बिना प्रेमवश होकर अपने को सौंप देना है, आत्म-समर्पण करना है।

ऐ आर्थिक सङ्कट के नीचे कराहनेवाले संसार! याद रख, तेरा दुःख तब तक नहीं दूर होगा, जब तक कि तू अर्थ से कुछ ऊपर उठकर हर बात में सस्ता और महँगा देखना नहीं छोड़ देगा, जब तक कि तू उन ऊँची वस्तुओं को उनका ठीक-ठीक मूल्य देना न स्वीकार कर लेगा, जो कि रुपये-पैसे से अधिक क़ीमती है, बहुत अधिक क़ीमती है और अतएव जब तक कि तू इन पवित्र वस्तुओं के विषय में बेचने खरीदने की भाषा बोलना न छोड़ देगा और बिना प्रतिफल की इच्छा किए, केवल प्रेमवश होकर देना और लेना न सीख लेगा।

∴

वैदिक प्रार्थना करनेवाला कहता है :—

> "महेचन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
>
> न सहस्राय नायुताय वाजिवो न शताय शतामघ।'
>
> ऋ० ८।१।५

'हे इन्द्र! मैं तुझे कभी न बेचूँ! किसी भाव न बेचूँ! चाहे कोई मुझे हज़ार देवे, लाख देवे, करोड़ देवे, असंख्य देवे। हे इन्द्र! तू अपरिमित ऐश्वर्य-वाला है, तू अपरिमित मूल्यवाला है, तू तो अमूल्य है।'

सचमुच आत्मा को कभी बेचा नहीं जा सकता। आत्मा की आत्मा, परमात्मा को कभी बेचा नहीं जा सकता। अतएव सत्य को, प्रेम को, धर्म को भी कभी बेचा नहीं जा सकता, महँगे-से-महँगा भी बेचा नहीं जा सकता। सत्य, प्रेम और धर्म की भावना से बनायी वस्तुओं को भी कभी बेचा नहीं जा सकता।

इस संसार की हाट में यदि तुम धर्म, प्रेम, सत्य या प्रभु को ख़रीदना चाहो, तो उनकी उचित क़ीमत देकर ख़रीद तो सकते हो। इनकी क़ीमत टका-धेला नहीं है। धर्म की क़ीमत धर्म-पालन है, प्रेम की क़ीमत प्रति-प्रेम है, सत्य की क़ीमत सत्याचरण है और प्रभु-प्राप्ति की क़ीमत सच्चा आत्म-समर्पण है। इन क़ीमतों के देने में केवल अपनी सब धन-दौलत को नहीं किन्तु सस्ता-महँगा मूल कर अपना जीवन, प्राण, मन, ज्ञान नाना कष्टों को सुख से झेलते हुए दे देना होता है। बहुत-से जन्मों की कठोर तपस्या से प्राप्त की जानेवाली यह दिव्य क़ीमत यदि तुम्हारे पास है, तो उससे तराज़ू तोल कर इन दिव्य वस्तुओं को ले लो। पर इन्हें कभी बेचो नहीं, किसी भाव भी बेचो नहीं। यही इस संसार-हाट का सर्वोत्कृष्ट व्यापार है, हे मनुष्य! यही सब-कुछ पा लेने का द्वार है।

अग्निस्वरूप

तुम्हारे एक ही उच्छ्वास ने पवन के सबल पंखों में,
विमल व्योम की शून्यता में, शीतल भस्म भर दी···
सन्तप्त-संसार की लगी हुई आग बुझा दी······।

तुम्हारा भैरव-नाद था—

जब निश्शब्द नभ-मण्डल बादलों की गम्भीर गर्जना से
गूंज उठा था···जैसे कातर नैन हृदय के भय-भाव से,
जब दामिनी की दन्त-कान्ति से प्रकृति के अन्धे नैन
और भी भयङ्कर दिखाई देते थे···जैसे पुण्य-प्रभा में पाप···

तुम्हारा प्रणय-रोष था—

जब चातक स्वाति-नक्षत्र की मङ्गल छाया में भी
बेतरह तड़प रहे थे—जैसे पिय-दरश पर मूक-अधर।
जब जीव घनघोर घटाओं की घनी सरसता में भी
जल रहे थे—जैसे सघन पथ में श्रान्त विरही।
जब कृषक की प्यासी निगाहें, उसकी प्रज्वलित-भूमि,
तुम्हारे वर्षा-कणों में आस लगाए बैठी थी—और
आप—इन सब को चुपचाप देख रहे थे······।

तुम्हारा इन्द्र-जाल था—

जब आप आग बन कर "सहृदय" में, धूआँ बन कर वायु में,
भ्रम बन कर संसार में, और पुरुष बन कर प्रकृति में रम रहे थे,
जब आपका प्रति-प्रति विन्दु तेज बनकर रजकणों में समा जाने को था..

उस समय "पूर्व-पुरुष" ने हाथ फैला कर "हे इन्द्र! तुम से अमृत-वर्षा की भीक मांगी और तुम्हारा भरा हुआ दिल उसकी अञ्जलि में छलकने लगा···"।

हां! अब तक भी उसी "कृतज्ञता" से हमारी आंखें तुम्हारे चरणों से नहीं उठतीं···।

—मनमोहन आनन्द

जीवन के उस पार

[लेखक—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार]

"राम नाम सत्य है ! श्रीराम नाम सत्य है !!"

यह बनारस का एक होटल है। मुख्य बाज़ार के ठीक बीच में। आज सुबह ही मैं बनारस पहुँचा हूँ। दिन-भर खूब घूमा-फिरा, मिला-जुला। बिलकुल थक गया था। पहली रात रेल में काटी थी। इससे खा-पी कर जल्दी ही सो गया था।

मालूम नहीं, इस समय कितने बजे होंगे। शायद ११ बज रहे हों। मैं सहसा चौंक कर जाग उठा। नीचे, ठीक बाज़ार में से, बीसों कण्ठों की मिली हुई एक गम्भीर और ऊँची स्वर ने मेरी नींद तोड़ डाली। यह आवाज़ प्रतिक्षण निकट आती आ रही थी—

"राम नाम सत्य है ! श्रीराम नाम सत्य है !!"

अपने बिस्तरे पर से उठकर मैंने खुली हुई खिड़की में से नीचे की ओर झाँका। बाज़ार में अब भीड़-भड़क्का और चहल-पहल नहीं है। दूकानें प्रायः बन्द हो चुकी हैं। बाज़ार के बीचोंबीच एक अरथी को लेकर ४०, ५० मनुष्यों का एक समूह क्रमशः इसी ओर बढ़ता चला आ रहा है। अरथी के साथ कुछ हरिकेन लैम्प हैं और कुछ मशालें। इन मशालों से घना और गहरे काले रंग की धूआँ निकल रहा है।

बनारस का यह मुख्य बाज़ार एक ही स्वर में गूँज उठा—

"राम नाम सत्य है ! श्रीराम नाम सत्य है !!"

रात के उस सन्नाटे में, धूआँ उगल रही मशालों के साथ एक जनाज़े का वह जलूस मुझे सचमुच एक बहुत भयंकर सत्य के समान जान पड़ा। क्रमशः यह जलूस बिलकुल निकट आ गया और उसके बाद आगे भी बढ़ गया।

मेरा दिल धड़क रहा है। मैं अपने बिस्तरे पर आकर लेट गया हूँ। बाज़ार में अब फिर से सन्नाटा छा गया है। मगर मुझे तो ऐसा सुनाई देता है, जैसे इस समय भी सारा बनारस एक स्वर से पुकार पुकार कर कह रहा है—

"राम नाम सत्य है ! श्रीराम नाम सत्य है !!"

हाँ, सिर्फ़ राम नाम ही तो सत्य है। बाक़ी जो कुछ है, वह सब मिथ्या है, सब झूठ है। यह होटल, यह सामने का सिनेमा-हॉल, यह बाज़ार, यह बनारस का शहर सभी-कुछ मिथ्या है, झूठ है। यह सब आज है, कल नहीं रहेगा। मिट जायगा, नष्ट हो जायगा।

मैं बेचैनी सी अनुभव कर रहा हूँ। अब सो नहीं सकूँगा। ओह, अरथी के साथ के इन मामूली से लोगों को इतना गहरा तत्वज्ञान कहाँ से हो गया, जो आज, वे सब-कुछ भूल कर, गला फाड़-फाड़ कर इस सत्य का सन्देश बनारस-भर के निवासियों को सुना रहे हैं कि दुनिया में सिर्फ़ परमेश्वर ही सत्य है। बाक़ी सब कुछ झूठ है, असत्य है, भ्रान्ति है, मिथ्या है,—क्योंकि वह मिट जायगा, एक दिन नहीं रहेगा।

हाँ, ठीक तो है। अभी-अभी जिस व्यक्ति की निर्जीव देह को इतने लोग अपने कन्धों पर उठा कर ले गये हैं, अब से कुछ ही घण्टा पहिले तक वह भी एक जीता-जागता व्यक्ति रहा होगा, पर अब वह निर्जीव है। उसमें और कम्पनी

बाग़ की सफ़ेद पत्थर की परी में सिर्फ़ इतना ही अन्तर बाक़ी रह गया है कि वह पाषाण-मूर्ति अभी बरसों तक उसी तरह खड़ी रहेगी और यह निर्जीव देह अब प्रतिक्षण अधिक विकृत होती जायगी। इस निर्जीव देह को लेकर जो लोग उसकी अन्तिम क्रिया करने के लिए इस समय श्मशान की ओर जा रहे हैं, उनमें से किसी का वह भाई रहा होगा, किसी का पुत्र और सम्भवतः किसी का पिता भी। वह इन सबका साथी था, वह इन्हीं में से था। मगर अब वह किसी का नहीं रहा, किसी में भी नहीं रहा।

\+ + +

अँगरेज़ी में इस आशय की एक कहावत है कि मौत के समान निश्चित और मौत के समान अनिश्चित संसार-भर में और कुछ भी नहीं है। मौत निश्चित है। जिसका जन्म हुआ है, वह एक दिन अवश्य मरेगा। साथ ही मौत पूरी तरह अनिश्चित भी है। किसी को नहीं मालूम कि उसकी मौत कब होगी। जीवन-नाटक की यवनिका पर मौत का परदा किसी भी समय पड़ सकता है। उसका निश्चित समय कोई भी नहीं है।

मानव-जीवन की यह सबसे बड़ी घटना, जिसका नाम मौत है, अभी तक मनुष्य के लिए एक असाध्य पहेली है। हम सभी लोग जसे एक बड़ी नदी में बहते चले जा रहे हैं और किसी जगह उस नदी का भयंकर प्रपात (फ़ाल) है। यह निश्चित है कि उस प्रपात में हम सबने गिरना है। कब, किस तरह और कहाँ—कुछ भी नहीं मालूम। मगर गिरना है और गिर कर समाप्त हो जाना है—यह निश्चित है। उतना ही निश्चित है, जितना निश्चित हमारा यह जन्म है।

\+ + +

आज का मनुष्य भौतिक दृष्टि से बड़ी उन्नति कर गया है। समय और व्यवधान—ये दोनों अब उसके लिए उतनी बड़ी रुकावटें नहीं रहे, जितना पहले थे। आज का मनुष्य हज़ारों मीलों की दूरी से बातचीत कर सकता है। वह हज़ारों मीलों का अन्तर कुछ घण्टों में ही पार कर सकता है। समुद्र और पहाड़ अब उसके मार्ग में रुकावटें नहीं डालते। भाप, बिजली, गैस, एलक्ट्रोन्स—और भी न-जाने क्या क्या—सभी उसके वशवर्ती हैं; निःसंदेह भौतिक विज्ञान की दृष्टि से आज का मनुष्य अपने पूर्वजों की अपेक्षा बहुत अधिक साधन-सम्पन्न हो गया है।

मगर, यह सब कर लेने पर भी आज का मनुष्य उतना ही कमज़ोर है, जितना बूचड़खाने की बहुत शीघ्र क़त्ल करदी जानेवाली बकरी। सच-मुच वह उतना ही निस्सहाय है। मनुष्य ने हवाई-जहाज़ बनाए हैं, रेलगाड़ी बनाई है और गगन-चुम्बी महल बनाये हैं। मगर स्वयं अपने लिए उसे कल का भी तो भरोसा नहीं है। वह कुछ ही समय का तो मेहमान है। जैसे वह सराय में आकर महल बना रहा हो।

और फिर मनुष्य का यह शरीर भी तो कितना कमज़ोर है। दुमंज़िले मकान पर से अचानक गिर गई २½ सेर की ईंट या तेज़ी के साथ आती हुई एक तोले की गोली उसका प्राणान्त कर देने के लिए काफ़ी है। इस कमज़ोर और क्षणभंगुर देह को लेकर मनुष्य महान् प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेने का ढोंग रच रहा है, यह एक बड़ी विडम्बना नहीं तो और क्या है ?

\+ + +

आज से हज़ारों साल पहले आर्य-युवक नचिकेता ने अपने आचार्य से पूछा था—

"किं तेनाहं कुर्यां येनाहं नामृतः स्याम् ?"

'मैं उस चीज़ को लेकर क्या करूँ, जिसे लेकर मैं अमर नहीं हो जाता ?'

नचिकेता से कहा गया—हाथी, घोड़े, ज़मीन, जायदाद, महल, सुन्दरी दासियाँ—यह सब तुम्हें दी जा सकती हैं। इन्हें लेकर अपने यौवन का सुखोपभोग करो। परन्तु ज़िद्दी नचिकेता अपने हठ पर अड़ा रहा। उसे तो यह समझ ही नहीं आता था कि जिस चीज़ को लेकर वह अमर नहीं हो जाता, उसे लेकर उसका बन ही क्या जायगा ?

नचिकेता बार-बार पूछता था—

'किं तेनाहं कुर्यां येनाहं नामृतः स्याम् ?'

नवयुवक नचिकेता के इस सवाल का सन्तोष-जनक उत्तर मनुष्य का दिमाग़ आज तक भी नहीं दे सका। परन्तु व्यवहार में मनुष्य ने इस प्रश्न की महत्ता का आदर कभी नहीं किया। वह चाहता है, जितना अधिक-से-अधिक हो सके, उसे मिल जाय। वह जोड़ता है। सिर्फ़ जोड़ता ही नहीं, लूटता है, खसोटता है, जिस तरह से हो सकता है, लेता है। मगर इस सबका नतीजा क्या होता है; कुछ भी तो नहीं। संसार की अनेक वस्तुओं पर अपना क़ानूनी अधिकार स्थापित कर लेने के बाद, अनेक व्यक्तियों को बिलकुल अपना और कुछ को शत्रु बना लेने के अनन्तर, किसी दिन बिलकुल अचानक यह मानव-देह संज्ञा शून्य होकर चित पड़ जाती है और उसके बाद और सब-कुछ यहीं-का-यहीं धरा रह जाता है।

मैं तो कहता हूँ कि सवाल यह नहीं कि मैं उस चीज़ को लेकर क्या करूँ, जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो जाता। वास्तविकता तो यह है कि "वह चीज़ मेरी बन ही नहीं पाती, जिसे लेकर मैं अमर नहीं हो जाता।" वह आर्य-नवयुवक इस तथ्य को समझता था। इसीसे उसने इस संसार की किसी वस्तु पर अपना स्वत्व जमा लेने की कामना ही नहीं की।

+ + +

इस महान् विश्व में हमारे जीवन के ये छोटे-छोटे दीपक टिमटिमा रहे हैं। सिर्फ़ थोड़े-से समय के लिए। कोई कुछ क्षण पहिले बुझ जायगा और कोई कुछ क्षण और टिमटिमा लेने के बाद। यह विश्व महान् है। इतना महान् है कि मनुष्य का दिमाग़ उसकी महत्ता का पूरा-पूरा अन्दाज़ा भी नहीं लगा सकता। वह व्यक्ति सचमुच मूर्ख है, जो समझता है कि उसने काल और स्थान पर विजय प्राप्त कर ली। काल अनन्त है और यह विश्व भी अनन्त है। इस अनन्त विश्व और अनन्त काल की सत्यता के बीचोंबीच हम मनुष्यों के ये ५½, ५½ फ़ीट के देह और ६०-७० सालों के जीवन मज़ाक नहीं तो और क्या हैं। फिर इतने समय का भी तो भरोसा नहीं है। इस अनिश्चित जीवन और स्वल्प आयु को लेकर मनुष्य को इतना अहंकार कहाँ से हो गया, यही एक आश्चर्य का विषय है।

हे महान्, तुम जो-कुछ भी हो—मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। तुम क्या हो—मुझे नहीं मालूम। इस महान् विश्व का जो भाग मैं देख पाता हूँ, इस अनन्त काल की जो अधूरी-सी कल्पना मैं कर पाता हूँ, वह ही इतनी बड़ी है कि मेरा दिमाग़ भय से भर जाता है। तुम्हारी इस महत्ता के सन्मुख मैं इतना तुच्छ हूँ कि मुझे अपनी सत्ता सत्ता ही प्रतीत नहीं होती। तुम जितने बड़े हो, मैं उतना ही तुच्छ हूँ। इसी से हे महान्, अपनी हीनता स्वीकार करने में भी मुझे सन्तोष अनुभव होता है। मैं तुम्हें पुनः प्रणाम करता हूँ।

मैंने तुमसे क्या सीखा ?

[ले०—श्री सत्यदेवजी शास्त्री]

प्रातःकाल का सुहावना समय था। प्राची दिशा भुवन-भास्कर के शुभागमन की सूचना दे रही थी। नित्य नियमानुसार घूमने के लिये घर से बाहर निकला। सैर करते-करते एक सुरम्य उपवन में जा पहुँचा। उपवन में नाना रंग के फूल खिले थे। फूलों पर भौंरे मधुर गुंजार कर रहे थे। उपवन की शोभा देखते-देखते एक कली पर दृष्टि जा पड़ी। सारा ध्यान उसी ओर आकृष्ट हो गया। बड़ी उत्सुकता हुई, कि इस कली के विकास का क्रम देखना चाहिये, किस प्रकार शनैः शनैः यह कली विकास-पथ की ओर अग्रसर होते हुए पूर्ण खिले हुए पुष्प के रूप में परिणत हो जाती है। इस जिज्ञासा-भावना से उत्प्राणित होकर नित्य उस कली के विकास-क्रम का निरीक्षण करने के लिए उपवन में जाने लगा। पहिले उसका रंग पीला लिए सफ़ेद था; धीरे-धीरे वह बढ़ने लगी। पँखड़ियाँ निकलने लगीं और उस फूल में सफ़ेदी भी आने लगी। दस दिनों में वह कली पूर्ण-रूप से खिल गयी। अब वह खिले हुए पुष्प के रूप में दिखाई पड़ने लगी। फूल खिल गया। उसमें सुगन्धि भी आ गई थी और रंग भी सफ़ेद हो गया था।

फूल के इस विकास-क्रम के निरीक्षण करने पर हृदय-सरोवर नाना प्रकार के नैसर्गिक तरंगों से उत्प्लावित होने लगा। यह फूल ही मेरे लिए विश्व-विद्यालय बन गया। इससे जीवन को वह उत्तमोत्तम और दिव्य शिक्षाएँ मिलीं, जिनका असर आज तक हृदय पर है, और आगे भी रहेगा। वही पुष्प मेरे जीवन का पथ-प्रदीप हो गया। पुष्प जिस समय शैशवावस्था में था, क्या उसे कभी इस बात की चिन्ता भी हुई थी कि मैं कब खिलूँगा। कभी नहीं, वह तो प्राकृतिक नियमों के आधार पर स्थिर था। जल, वायु और आकाश उसके विकास में सहयोग प्रदान कर रहे थे। वह मंदगति से ऊर्ध्वगामी हो रहा था और अपने-अपने प्रयत्नों तथा प्रकृति की सहायता के फलस्वरूप वह एक दिन खिल गया। इससे अपने जीवन-विकास पर आस्था हुई।

दृढ़ विश्वास हुआ कि एक-न-एक दिन मैं भी इस पुष्प की तरह खिलूँगा और जगत् में सौरभ-संचार करूँगा। इसके लिए आवश्यक है कि मैं भी निश्चिन्त भाव से उन्नति-पथ की ओर अग्रसर हूँ और फूल की भाँति अपने-आप को प्रकृति की गोद में छोड़ दूँ। प्रकृति नियमानुसार जीवन व्यतीत करने से विकास अवश्यम्भावी है।

पुष्प ज्यों-ज्यों विकास के निकट पहुँचता गया उसमें उज्ज्वलता, सुन्दरता और सफ़ेदी भी आती गई और पूर्ण खिल जाने पर वह बिलकुल उज्ज्वल और सौरभयुक्त हो गया। इसी प्रकार मनुष्य भी जो अपने सच्चे स्वरूप की ओर बढ़ता है, और ज्यों ज्यों वह निकट पहुँचता जाता है; उसका चरित्र उज्ज्वल एवं निर्मल होता जाता है और विकसित होने पर उसमें अपूर्व सौन्दर्य एवं तेज का आविर्भाव होता है। उसका मुख-कमल खिल

जाता है। लोगों को अपनी ओर खींचने की उसमें एक अपूर्व आकर्षण-शक्ति आ जाती है।

पुष्प से दूसरी जो अमूल्य शिक्षा मुझे प्राप्त हुई, वह है कर्त्तव्य परायणता की। पुष्प शीतोष्ण द्वंद्वों की कुछ परवाह न करते हुए आगे बढ़ता ही जाता है। शीतोष्ण के चपेटों तथा झंझावात के झकोरों से वह विचलित न हुआ। क्योंकि वह कर्त्तव्य-परायण था। इसी प्रकार हमें भी कर्त्तव्य-परायण होना चाहिए। संसार के द्वन्द्वों सर्दी, गर्मी, हानि, लाभ, जय, पराजय की तनिक भी परवाह न करके कर्त्तव्य पर डटे रहना चाहिए।

हमें अपने मन-रूपी समुद्र में नाना प्रकार की वासना-रूपी तरंगें उठती दिखाई पड़ती हैं, एक के बाद दूसरी तरंग उठती रहती है। परिणाम यह होता है कि मन सदैव चंचल रहता है, उसमें शान्ति नहीं रहने पाती है। पुष्प को मैंने वासना-रहित पाया। उसके अन्दर कोई कामना नहीं। उसको मैंने इधर-उधर दायें-बायें झुकते नहीं देखा। वह एक सुर से ऊपर की ओर बढ़ता गया। अपनी ही गति में मस्त था, पूर्ण विकसित होने पर स्थिर हो गया।

इसी प्रकार हमें भी वासना रहित होकर अपने आदर्श की प्राप्ति में निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए; निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ, जय, पराजय की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखना चाहिए। आदर्श की प्राप्ति पर पूर्ण-स्थिरता एवं गम्भीरता सम्भवनीय हैं।

पुष्प! मैंने तुम्हारे गुण गान में इतना लिखा। और जो कुछ मुझे तुझ से शिक्षायें मिली हैं, उसके लिए मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। किन्तु अन्तिम शिक्षा देकर जो तुम अन्तर्ध्यान होकर प्रभु-पाद-पद्मों में विलीन हो गये, उसके लिए तो मैं तुम्हारा चिरऋणी रहूँगा। तुमने मुझे यह अन्तिम शिक्षा दी कि मेरी ही तरह लोग संसार में फलते-फूलते और नष्ट हो जाते हैं। चाहे कोई श्रीमन्त हो, गुणज्ञ हो, विद्वान् हो, सर्वगुण-सम्पन्न हो, शक्तिमान् हो, किन्तु सबको एक दिन संसार से कूच करना होगा। तुमने मुझे संसार की असारता एवं अनित्यता में विश्वास दिलाया।

क्या मैंने तुमसे भ्रम-पूर्ण शिक्षा तो नहीं ली। क्या तुम मुझे यह शिक्षा तो नहीं दे गये कि पूर्ण-विकास होने पर मेरी तरह फिर इस संसार में कोई ठहर नहीं सकता। यह भी तो ठीक ही जँचता है कि पूर्ण-विकास होने पर महात्मा पुरुष ज़्यादा दिन तक वसुन्धरा पर नहीं टिकते। पांचभौतिक शरीर को छोड़कर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाते हैं। ऐसा शास्त्रों का कथन है।

पुष्प! तुम उपवन में दो दिन खेलकर चले गये। किन्तु मैंने तुम्हें अपने हृदय-मन्दिर में सदा के लिए रख लिया है। तुम्हारी सुगन्धि से हृदय-मन्दिर को सुवासित करूँगा। और तुमसे जो नैसर्गिक और अनुपम शिक्षायें प्राप्त हुई हैं, उन पर आचरण करते हुए विकास-पथ की ओर अग्रसर हूँगा।

तुम्हारा—'प्रेमी'

चौथा ताप

[लेखक—श्री वसिष्ठजी, एम्. ए.]

नाथ! तीन तापों की स्मृति से अन्तस्तल काँप रहा था। उनसे त्राण पाने की सोच रहे थे कि चौथे ताप ने जन्म ले लिया। अब तो यह चौथा ताप, शरीर पर त्वचा की तरह, हमको घेरे बैठा है।

\+ + +

आध्यात्मिक ताप हमारे चित्त की एकाग्रता को छिन्न-भिन्न करता रहता था, हमारी मानसिक शृङ्खला को बिखेर देता था, परन्तु इस चौथे ताप ने हे तात! हमें ही—सचमुच हमको ही बिखेर रक्खा है—छिन्न-भिन्न कर दिया है। इस चौथे ताप के सामने आध्यात्मिक ताप के राग-द्वेष तथा रोग आदि कुछ भी कष्टकर नहीं प्रतीत होते। ये तो क्षणिक आवेश से मालूम होते हैं।

\+ + +

सम्पादकजी के नाम

श्रीमान् जी, सादर प्रणाम!

सब लेख चौकोर होते हैं और मस्तिष्क होता है गोल। गोल वस्तु में चौकोर चीज़ का बैठना बड़ा कठिन है, इसी लिए 'अलंकार' के लिए अब तक कुछ नहीं लिख सका। समय का अभाव-सा है। सबसे अधिक अभाव है चित्त की एकाग्रता का। आखिर लिखना तो उसे ही है। मेरे विचारों को प्रकाशित करनेवाले सम्पादक नहीं मिलते। यदि आप मिले, तो चित्त के हाथ-पाँव फूल गये। आपने दो बार लेख लिखने को कहा पर चित्त यही निश्चय नहीं कर सका कि क्या लिखूँ और विशेषकर 'अलंकार' के लिये क्या लिखूँ। बिखरा चित्त भी कुछ-न-कुछ करता ही है। अत: उसकी कुछ पंक्तियें आपकी सेवा में भेजता हूँ।

आपका कृपाकांक्षी—

वसिष्ठ

कहाँ है वह?

मुझे व्याघ्रादि का कष्ट, स्वप्न-राज्य या आकाश-कुसुम ही प्रतीत होता है। वे बेचारे हिंसक कहलानेवाले मेरे भाई मुझे कभी नहीं सताते। इस चौथे ताप की वेदना ने तो उनकी विस्मृति ही कर दी।

और शत्रु?

मित्र मेरे! मेरा तो शायद कोई शत्रु ही नहीं। किसे दुश्मन कहूँ? मैंने किसी का कुछ बिगाड़ा हो तब! यदि आधिभौतिक ताप कुछ है भी, तो वह दग्ध-दाह के सामने तृण चुभने की पीड़ा से अधिक नहीं।

दीनानाथ! मैं इस चौथे ताप की पीड़ा से मर रहा हूँ—सचमुच जला जा रहा हूँ।

\+ + +

दिन-भर और रात को भी हाड़ तोड़ कर—हड्डियाँ पीसकर कमाता हूँ, पर हाय! मुझे भर-पेट आधा-पेट भी अन्न नसीब नहीं होता। राजा मेरे! तेरे इस विशाल भूगोल पर मेरे लिए साढ़े तीन हाथ भूमि नहीं मिलती, जहाँ इस टूटी हुई कमर को सीधी कर लिया करूँ, जहाँ चैन से बैठ कर यह सोच लिया करूँ कि मैं भी आदमी हूँ और कुछ भला करने योग्य हूँ।

हे अन्नदाता! पिस-पिस कर काम करनेवाले

को भरपेट भोजन न मिलना, कहीं ठौर-ठिकाना न होना, तो तीनों तापों में नहीं आता। तब यह चौथा ताप नहीं है तो क्या है?

बन्धुवर! इस पेट की ज्वाला से जला जा रहा हूँ। राग-द्वेष का आध्यात्मिक ताप मुझे क्या तपायेगा? भर-पेट अन्न न मिलने से मेरी ज्वाला बुझ रही है, द्वेष की जलन कहाँ से पैदा हो?

मेरा किसी ने कुछ छीना नहीं, कुछ चुराया नहीं। और अन्न? अन्न तो वह ले गया, जिसकी भूमि थी। उसी ने तो कहा था कि भूमि का मालिक मैं हूँ, पर मेरी नेक कमाई—मेरे खून-पसाने की कमाई—क्या हुई?

\+ + +

अन्तर्यामी! देखो! तनिक उधर तो देखो! सखा मेरे! वे भी चौथे ताप से तड़प रहे हैं। उन्हें दिन-रात उस अन्न की चिन्ता है, जो उनके सिर पर लदा है, वे उसे सम्भाल नहीं सकते। वे उसे जला रहे हैं। हाय! वे उसे जला रहे हैं, जिसके बिना मैं भूखा मर रहा हूँ। मुझे कहीं ठौर नहीं, पर वे लीपा-पोती करते-करते मरे जा रहे हैं।

सुनता हूँ, वे डाका नहीं डालते, किसी का कुछ चुराते नहीं; पर दुनिया का, मेरा सब-कुछ खिंचा चला जा रहा है। कैसे चला जा रहा है, यह मैं भी नहीं जानता।

उन्हें मुझसे द्वेष नहीं, वैर नहीं, तीनों तापों का उन पर कोप नहीं। पर यह चौथा ताप उन्हें कहाँ चैन से सोने देता है?

\+ + +

दण्ड देना है तो भोगों को छीन लो, यदि मेरे पास हों। कुसंस्कारों का कोप दिखाना है, तो मुझे राग-द्वेष से तपाओ। मेरी ईर्ष्याग्नि में मुझे जलाओ। प्रारब्ध के पापों को भुगतवाना है, तो हिंसक जीवों को भेज दो। तस्करों से मुझ फक्कड़ को—मुझ दीन कंगाल—को लुटवा दो, पिटवा दो, या मेरी इस जीर्ण-शीर्ण हस्ती को—मेरे इस अस्तित्व को, उस पुनीत आधिदैविक ताप की अतिवृष्टि से—शीतोष्ण के अतिरेक से सदा के लिए अमूर्त कर दो; पर इस चौथे ताप से उबारो। जब जीवन दिया है नाथ! तो जीने दो। नहीं तो, तुम्हारे तीनों ताप क्या जलायेंगे?

संचित पाप तो तीनों तापों में आ ही गये, फिर यह चौथा ताप क्या बला है? न यह आध्यात्मिक है, न आधिभौतिक और न आधिदैविक ही। बस, इसे दूर कर दो, नहीं तो, हे सहस्रबाहो! अपनी दक्षिण-भुजा से अपने अतीत शास्त्र में इस ताप का नामकरण कर दो।

\+ + +

कमल को कमलपति जीवन, रंग-रूप देता है, किन्तु जब सूख जाने पर वही सूर्य कमल के प्राणों का लेवा हो जाता है। हे नाथ! तेरे जिस आधिदैविक ताप के प्रति सहिष्णु रह कर—शीतोष्ण को सह कर तपस्वी बनता था। आज तेरा वही आधिदैविक दैत्य मेरी उधार ली हुई पराई भूमि पर बनायी हुई पर्णकुटी को जला देता है—बाढ़ में बहा ले जाता है।

फिर भी इन सबका मुझे कुछ भी गिला, कुछ भी शिकवा न होगा, यदि तुम इस चौथे ताप से—बस इससे—केवल इससे त्राण दे दोगे।

मालिक मेरे! यदि बावन बालाखानेवाले अपने लायक़ कुटीर नहीं, महल भी ले लें, तो मुझे भी साढ़े तीन हाथ भूमि मिल जाय। वे खायें, दबायें और जलायें नहीं। वे 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' न कर सकें, न करें, पर 'भुक्त्वा शेषं त्यजेत्' तो कर दें।

बस नाथ ! इस भीषण विषमता को मिटा दो। प्रियतम ! तब फिर उस सम्यक् भाव में द्वेष किससे होगा ? वैर कौन करेगा ? विषमता के मिटते ही द्वेष और वैर मिट जायेगा। द्वेष और वैर के दूर होते ही आध्यात्मिक और आधिभौतिक तापों का अस्तित्व ही मिट जायगा।

और !

आधिदैविक ताप ?

वह तो ताप है ही नहीं। गुरुदेव ! वह तो आप का प्रसाद है, सच्चा उपचार है। इस फूल-सी काया को वज्र बनाने का विधान है। कठोर मुष्टी के प्रहारों से देह वज्र बन जायगी और यदि यह नश्वर नटनी उस व्यापार में डोल गई, तब भी इस देही का कल्याण ही होगा।

बस, अब देर न करो। इस विषमता को मिटा दो। इस चौथे ताप को समेट लो। फिर तो शाप आशीर्वाद और ताप प्रसाद बन जायेंगे। बस, बहुत हो गई साईं मेरे ! अब इसे तो समेट लो !

कवि की पुकार

[महाकवि शेक्सपियर की 'अण्डर दि ग्रीनवुड ट्री' इस कविता का छायानुवाद]

हरित घने वन-द्रुम के नीचे
बैठा चाहे मो संग कौन ?
हर्षोत्फुल्ल बचन को अपनी
मिलाया चाहे कल कूजित में—
यहँ आवे , यहँ आवे , यहँ आवे !
शत्रु रहित यहँ सब पायेगा
पर शीत कठिन और कड़ी वायुएँ।

कौन घिनावे उच्चाकांक्षा
दिनकर ज्योति में बसना चाहे
श्रम-जल सींचे सात्विक अन्न
पाये जो कुछ करे सन्तोष—
यहँ आवे , यहँ आवे , यहँ आवे !
शत्रु रहित यहँ सब पायेगा
पर शीत कठिन और कड़ी वायुएँ।

अनु० 'द्विरेफ' वि० अ०

बाबा मुझे ऐसा रुपया नहीं चाहिए

एक बार एक धनी गृहस्थ मुझसे कहने लगे—'मुझे कुछ रुपया देना है।' मैंने कहा, अच्छा है; दीजिए।' वे बोले, 'इमारत पर मेरे नाम का पत्थर लगवा दीजिएगा।' मैंने साफ़ कह दिया, कि 'बाबा, मुझे ऐसा रुपया नहीं चाहिए।' इस दान का लेना तुम्हारी आत्मा का घोर अपमान है, और मुझे भी इससे पाप लगेगा। तुम पाप करने के लिये, अपनी आत्मा का अपमान कराने के लिए तैयार हो गये, पर मैं इसमें भागी नहीं होना चाहता। यह पाप है। इतना समझाकर कह देना तुम्हारे प्रति मेरा कर्त्तव्य है।' यह आत्मा का कितना बड़ा अपमान है। तुम्हारी अनन्त आत्मा, और उस पत्थर में बैठने की लालसा! इसलिए हमारे पूर्वजों ने गुप्तदान का आदेश दिया है। आजकल के ये दान दान ही नहीं हैं।

\+ \+ \+

दान के नाम पर अलग कुछ नहीं कहना पड़ता। समाज में योग्य परिश्रम करनेवाले को पारिश्रमिक देना ही दान है। दान जैसी कोई चीज़ फिर बाक़ी नहीं रह जाती। समाज के व्यवहार में ऐसे ही गुप्तदान होता रहता है।

'हरिजन-सेवक'] विनोवाजी

—

पातिव्रत तथा पत्नीव्रत

पातिव्रत्य धर्म के संस्कार डालने के लिए शास्त्रों ने, शिक्षकों ने, या गुरुजनों ने चाहे कितना प्रयत्न किया हो, तो भी एक बात तो याद रखनी ही चाहिए कि जहाँ पुरुष-जाति शील, मर्यादा में ढीली हो, वहाँ स्त्री-जाति शील में दृढ़ हो ही नहीं सकती। यह कहीं देखने में नहीं आया कि पुत्री को अपने पिता के गुण, दोष उत्तराधिकार में न मिले हों। जब पुरुषवर्ग की पत्नीव्रतविषयक भावना तीव्र होगी, तभी स्त्रीवर्ग की पातिव्रत्यविषयक भावना तीव्र हो सकती है। आज पुरुष-जाति में पत्नीव्रत-विषयक तीव्र भावना तो कहीं देखने में आती नहीं। इसी लिए स्त्री-जाति को अपनी पातिव्रत्य की भावना पर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए।

'हरिजन-सेवक'] किशोरलाल घ० मशरूवाला

—

वर्णव्यवस्था और साम्यवाद

मैं यह मानता हूँ, कि उच्च-नीच भावों के समर्थन में जो स्मृति-वचन आज दिखाई देते हैं, वे सब-के-सब प्रक्षिप्त हैं। वर्ण की मान्यता का आधार एक वैदिक ऋचा है। उसमें चार वर्णों की शरीर के चार मुख्य अंगों से उपमा दी गई है। यह कोई नहीं कहेगा कि शरीर का एक

अंग दूसरे अंग से ऊँचा है अथवा नीचा। सब एक-सरीखे ही हैं। वर्ण में समानता का मानना ही धर्म हो सकता है। उच्च-नीच का भेद-भाव निश्चय ही अभिमानमूलक है, इसलिए अधर्म है।

ब्राह्मण हो या शूद्र, जिसने स्वधर्म तज दिया है, वह पतित हो गया। पतित दशा में वह किसी भी वर्ण का नहीं है। वह पुनः स्वधर्म का पालन—अपने धंधे का पालन—करके अपनी भूल सुधार सकता है।

'हरिजन-सेवक'] मोहनदास गांधी

—

सत्य, केवल सत्य

जर्मनी के एक छोटे-से ग्राम में बैठा हुआ आपका 'अलंकार' पढ़ रहा हूँ। आँखें तो अच्छी हैं नहीं, पर क्या करूँ, पढ़े बिना जी नहीं मानता।

मेरी हार्दिक कामना है कि मेरे देश में एक ऐसा पत्र निकले जो 'सत्य—केवल सत्य' का प्रतिपादन करे। आपसे यह आशा करता था, इसी कारण बड़े शौक़ से आपका पत्र पढ़ने लगा। पर शोक! मुझे निराश होना पड़ा।

उदाहरण के तौर पर आप तपस्वी जाफ़र-सादिक़ की जीवनी के विषय में छापते हुए उनकी तपस्या के प्रमाण में मंसूर का भयङ्कर सर्प को देखना—ऐसी बालकों को बहकानेवाली बात लिख रहे हैं। क्या आपका मस्तिष्क ऐसी असत्य मनघड़न्त बात को स्वीकार करता है? सादिक़ के किसी मनचले भक्त ने ऐसी कथा गढ़कर उनका तपस्वीपन सिद्ध करने करने का यत्न किया होगा, सो आप भी साथ ही बह गये!

हमारे अभागे देश में बड़े-बड़े आदमी हिन्दू-मुस्लिम एकता के खब्त के कारण ऐसी बातें जनता में फैलाते हैं, कुछ डरपोक हैं जो मुसलमानों को खुश रखने के लिए अपने जालिम मुसलमान बन्धुओं में Rationalism (बुद्धिवाद) का प्रचार नहीं करते, बल्कि उनका अन्ध-विश्वास बढ़ाते हैं। मैं महात्मा गांधीजी को भी इस पाप से मुक्त नहीं समझता। केवल पोलिटीकल पालिसी के कारण उन्होंने पीर-पैग़म्बरों के व्यर्थ गुण गाये हैं। एक ओर तो महात्माजी अपने आश्रम के बालकों की थोड़ी-सी सदाचार-हीनता के कारण व्रत करने लगते हैं और दूसरी ओर मुसलमानों के पैग़म्बरों का आदर्श उन्हीं बालकों के सामने धर देते हैं—दो विरोधात्मक बातें। केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता के कारण सत्य की अवहेलना की जाती है। हा! दुःखद दोस्ती के कारण हमें क्या-क्या पाप करने पड़े हैं!

मेरे इस लेख से यह मत समझिये कि मैं तपस्वियों का सम्मान नहीं करता। यह बात नहीं है। सादिक़जी का निर्जनस्थली में रहकर जीवन व्यतीत करना ही उनकी तपस्या का काफ़ी प्रमाण था। उसके लिए भयंकर साँप की कथा जोड़ने की आवश्यकता न थी। जंगली योद्धाओं से लड़नेवाला खलीफ़ा एक साँप से डर गया और तपस्वी सादिक तो अपने वातावरण से ही सब-कुछ कर सकते थे, उन्हें साँप की सहायता दरकार न थी। लेकिन उनकी जीवनी लिखनेवाला बेवकूफ़ साँप को ही बड़ी चीज़ समझता था। उसकी बुद्धि उससे परे जा नहीं सकती थी। उसने समझा साँप की कथा जोड़ने से वह अपने तपस्वी को बड़ा तपस्वी बना देगा।*

सत्यदेव परिव्राजक, जर्मनी

—

* तपस्वी जाफ़र सादिक़ की जीवनी एक पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद है। अनुवाद करते हुए मूल-पुस्तक में परिवर्तन करना सत्य का अपलाप करना है। यह कथा तथा कथा-संविधान तात्कालिक मनोवृत्ति को चित्रित करता है। 'अलंकार' यथाशक्ति सत्य-पथ पर चलता है। —सम्पादक

चुने हुए फूल

१—जिनको दूसरों की निन्दा करने में आनन्द आता है, वह मित्र बनाने का सरल-मार्ग नहीं जानते, वह द्वेष का बीज बोकर अपने पुराने दोस्तों को भी दूर कर देते हैं।

२—ऐ मेरे स्वामी! तेरे आगे हाथ जोड़ कर सच्चे हृदय से मैं इतना ही चाहता हूँ कि मैं माँगूँ या न माँगूँ, मुझे ऐसी वस्तु कभी न देना, जो प्रिय लगने पर भी परिणाम मे बुरी हो और मेरी बुद्धि को बुरे मार्ग पर ले जानेवाली हो।

३—क्रोध की अवस्था में हृदय ईर्ष्या और द्वेष के काले रंग से भरा होता है, जिससे वाणी दूषित हो जाती है और अग्नि के तीर छूटने लगते है।

४—दर्शनों का अध्ययन—सुविचार—शुभ और मंगल भावों का अभ्यास—प्रार्थना—सबसे बढ़ कर निरतर ध्यान यह मानसिक विकास के साधन हैं, इनसे मन शीघ्र पवित्र होता है।

५—पवित्र हृदय का निश्चय वाणी, मुख और आँखों से ही हो सकता है; इन चिन्हों से निर्दोष मन के सम्बन्ध में सम्मति दी जा सकती है।

६—जो मनुष्य दूसरों की निन्दा, चुग़ली और असत्य भाषण नहीं करता और ऐसे शब्द को नहीं बोलता जिससे दूसरों को कष्ट हो, उससे प्रभु प्रसन्न रहते हैं।

७—सन्त-पुरुषों की संगति, दूसरों के गुणों में प्रेम, गुरु के आगे नम्रता, लोक-निन्दा का भय, मनोनिग्रह और ईश्वर-भक्ति यह सज्जनों के गुण हैं।

८—चंदन के वृक्ष जब उगते हैं, तभी वह आस-पास सुगंध चारों ओर नहीं फैला देते, परन्तु जब उनकी क़लम की जाती है, तब ही वह अपने चारों ओर खुशबू फैलाते हैं, इसी भाँति आपत्ति में ही मनुष्य का विकास होता है।

९—दया, नम्रता, दीनता, क्षमा, शील और संतोष इन छः गुणों को प्राप्त कर के जो प्रभु स्मरण करता है वह निश्चय ही मोक्ष को पाता है।

गणेशदत्त आर्य सेवक

—

ग्रन्थालय

सच पूछा जाय तो पुस्तकालय एक सार्वभौम और सार्वकालिक नगर है। जहाँ पर पृथिवी में सभी देशों और सभी कालों के ज्ञानी, कवि और ऋषि एक साथ ही निवास करते हैं। वहाँ गौतम और व्यास के साथ बैठने हुए कोई विवाद नहीं होता! वेदान्त के साथ न्याय समानभाव से रहता है। कुरान और वेदशास्त्र एकत्र रहते हैं। चीन के सन्त कानफूची (कॉनफ्यूशियस) के साथ ईसाइयों की बाइबल बैठी रहती है। किसी को किसी के साथ विरोध नहीं है। मनुष्य की ऐसी चिन्मयी मुक्ति पुस्तकालय के सिवाय अन्यत्र कहाँ है? कोई भी व्यक्ति बिना बाधा के इस चिन्मय मार्ग पर जा सकता है।

परन्तु यदि अनुक्रमणिका सजीव न रहे। साधक अपना प्राण खो डाले तो यही पुस्तकालय उसके लिए भार-रूप बन जायगा! वह पुस्तकालय अनेक साधकों को सहायक सिद्ध हुआ है? या साथ ही इसी पुस्तकालय से बहुत-से साधक दब-कर मर भी गए हैं, जिस प्रकार कि कवच के भार से बहुत वीर मर गए हैं।

एक सन्त की कहानी है। एक बार एक धान्य-कोष्ठ में से अनाज बाहर निकालते हुए एक मरा हुआ और सूखा हुआ चूहा निकला। उसे देखकर बालक कल्लोल करते हुए हँसने लगे और कहने लगे कि अनाज की कोठी में से मरा हुआ मूषक निकला। साधु ने कहा—इस शुष्क चूहे को देखकर परिहास

न करो। यह जैसा-तैसा मनुष्य नहीं है। यह तो ज्ञान और शास्त्र के बोझ से दबकर पिसा हुआ पंडित है। यह प्राण की आशा रखकर उसने शास्त्र के कोष्ठ में प्रवेश किया होगा। जो वह शनैः-शनैः शास्त्र को पचा सका होता, तो धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त कर सकता और शक्तिशाली बन जाता। परन्तु बात विपरीत ही हुई ! समस्त शास्त्र के भार से उसका प्राण पिस गया !! [गुजराती 'प्रस्थान'

—

मसजिद और संगीत

इस विषय पर "डॉन ऑफ़ इंडिया" पत्र में डाक्टर आर० अहमद लिखते हैं कि मैं पेरिस में जारदिन डि प्लैण्ट्स के समीप बनी हुई एक मसजिद में गया था। यहां पर प्रतिदिन हज़ारों श्रद्धालु लोग आते हैं। इस मसजिद से लगा हुआ ही एक विश्रान्तिगृह (रेस्टोरां) चलता है। इस रेस्टोरां की व्यवस्था मसजिद के कार्यवाहकों के हाथ में ही है। प्रभात के प्रथम प्रहर तक यहाँ पर संगीत होता रहता है, पर कोई भी व्यक्ति इसके विरुद्ध कुछ नहीं कहता। इसका कारण स्पष्ट है कि "मसजिद के आगे संगीत नहीं" इस प्रकार का उन्माद और असंभवता से भरा विचार किसी भी देश में प्रचलित नहीं है। मोरक्को, मिश्र और तुर्किस्तान के मुसलमान इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं मानते। तो भी अपने यहाँ भारत में तो अभी तक आग्रहपूर्वक यह माना जाता है कि मसजिद के आगे वाद्य और संगीत नहीं हो सकता; यह इसलाम का रिवाज है।" मैं अपने धर्मोन्मादी जनों को कहता हूँ कि वे अलजीरिया, केहटो और इस्तंबुल के बाज़ारों का अवलोकन करें। वहाँ की स्थिति देखकर वे अपने मताग्रह को अवश्य परिवर्तित कर देंगे !!

[गुजराती 'प्रस्थान'

—

'अनुभूति'

(१)

यों तो सुनता हूँ सुर नित नव,
पर करता हूँ स्मरण उसे जो कर्ण कुहर में कलरव—
बनकर पहिले जीवन की वनिका में बरसा आसव—
सम, रस चखे रसना असृत, रहा न अब दुःख-दव,
जब से अविकल वर्ण-रूप में विलय हुआ मनु-भव,
यों ही सुनता हूँ सुर नित नव।

(२)

कैसे नाथ सजाऊँ ?

सुरभित सुमनों या गहनों से क्या मैं तुझे रिझाऊँ ?
मृदु मनकों या स्तुतिवचनों से क्या मैं हार पिरोऊँ ?
अक्षत, चन्दन मणि-मुक्ता की या मैं भेंट चढ़ाऊँ ?
पिक-रव-पुलकित स्नेह राग से तव कीरति क्या गाऊँ ?
तू प्रभु पूरन, क्या मैं लाऊँ, नैनन नीर बहाऊँ ?

द्विरेफ विद्यालंकार

—

धर्म के पुजारी

[लेखिका—श्रीमती उमा नेहरू]

(२)

पं० कृष्णनारायन तिवारी की बारात रोके जाने को अभी एक हफ़्ता हुआ है। तरह-तरह की रोज़ की अफ़वाहों ने शहर की अजब हालत बना दी है। बाहर से लोगों ने आ-आकर तरह-तरह की सलाहें दी हैं। इन्हीं वजहों से इस थोड़े ही से समय में फ़िरोज़ाबाद के नागरिक जीवन में एक विचित्र परिवर्तन हो गया है। मुसलमान-मोहल्लों में से बहुत-से हिन्दू और हिन्दू-मोहल्लों में से बहुत-से मुसलमान अपने घर छोड़-छोड़ कर इधर-उधर के रिश्तेदारों के पास चले गए हैं। हर घर में एक-दो लाठियाँ, छुरियाँ, चाकू मौजूद हैं। जहाँ नहीं हैं, वहाँवालों को इनके हासिल करने की तलाश है। दोनों तरफ़ के रईसों के यहाँ दस-दस, पाँच-पाँच आदमी गाँव से बुलाये हुए मौजूद हैं। दोनों तरफ़ के ज़िम्मेदार लोगों के यहाँ दो-दो चार-चार घबराये हुए लोगों के ग़ोल आते हैं और बहस-मुबाहिसा करके चले जाते हैं। शहर-भर में एक अजब सनसनी-सी फैली हुई है। हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे से कुछ बोलते नहीं। मगर जहाँ एक-दूसरे के पास से गुज़रते हैं, आँखों और जिस्म से चिनगारियाँ-सी निकलने लगती हैं। सारा ज़हर अब फूट बहने का अवसर आ गया है।

आज यह तय हो चुका है कि शाम को ठीक सूर्य अस्त होने के समय बाज़ार की मसज़िद के सामने ठाकुर महाबीरसिंह की बारात बाजा बजाते हुए निकलेगी। इस वक्त के आगे का इन्तिज़ार कोई क्रोध, कोई शोक, कोई भय के साथ कर रहा है। ठाकुर महाबीरसिंह के मकान पर तरह-तरह के लोग जमा हैं और शाम के जुलूस का बड़े उत्साह से इन्तिज़ाम हो रहा है। फुलवाड़ी की जगह लठैतों की तलाश हो रही है। मुसलमान बाजेवालों के स्थान पर हिन्दू बाजेवाले तलाश करके लाये गये हैं। क्षण-क्षण पर दूसरी ओर की भी तैयारियों की ख़बरें आ रही हैं। इन्हें सुन-सुन कर लोग तरह-तरह के विचार प्रगट करते हैं। कोई कहता है कि हमारी समझ में नहीं आता कि इस प्रकार के दंगे से क्या हासिल होगा। यह ऐसी बात है, जिसे आपस में मिल-जुलकर तय कर लेना चाहिए। दूसरा जवाब देता है कि अजी मिलना-जुलना कैसा—तेल और पानी में भी कभी मेल हुआ है। जब हज़ार वर्ष में मिल-जुल न सके, तो अब कैसे मिल जायेंगे। तीसरा कहता है कि भाई हज़ार वर्ष में मेल न हो सकने की ख़ूब कही। फ़िरोज़ाबाद में तो हमारी व हमारे बुजुर्गों की याद में भी कोई दंगा नहीं हुआ। मेरी ख़ुद उम्र सत्तर वर्ष की है और मैंने तो हिन्दू-मुसलमानों को यहाँ सदा मिल-जुलकर ही रहते हुए देखा। चौथा कहता कि बस, जाने दीजिये। अगर मुसलमान ऐसे मेल़ी-मोहब्बती हैं, तो अब किस शैतान ने इन्हें उँगली दिखाई है। छेड़ हमने शुरू की है

था उन्होंने। पाँचवां कहता है कि क्यों भाई, अगर वह पागल हो गये हैं, तो क्या हम भी पागल हो जायें। मामले अक़्ल और समझ से सुलझते हैं। जूत-पैज़ार से नहीं। छठा कहता है कि लातों के भूत कभी बात से नहीं मानते। एक दफ़ा अच्छी तरह मरम्मत हो जाने के बाद इनकी अक़्ल ठिकाने आ जायगी। इतने में तिवारीजी आ गये और उन्होंने ठाकुर महाबीरसिंह को समझाना शुरू किया। इनकी सुलह की बातों पर लोग और भी भड़क गए। एक कहने लगा कि पंडितजी, बस, रहने दीजिए। आप हमेशा मुसलमानों की तरफ़दारी करते हैं। मैं पूछता हूँ कि आख़िरी चार साल में जितने बल्वे हुए हैं, किसने किये? लूट किसने की? मार-पीट किसने की? किसने घरों में आग लगाई? मन्दिर-मूर्तियाँ कौन तोड़ता है? और अब यह नया तमाशा निकाला है कि सड़क पर बाजा मत बजाओ। हमारी शादी-ग़मी सभी का ख़ात्मा हो गया। आप एक दफ़ा जुलूस लौटा कर हिन्दुओं को ज़लील कर चुके, अब मेहरबानी कीजिए। हमसे जिस प्रकार हो सकेगा, अपनी रक्षा करेंगे। पं० तिवारीजी ने कहा कि भाई हम लोग जितना समझा सकते थे, समझा चुके। हमारे ख़याल में मामला आपस में मिलकर ख़ूबसूरती से तय हो सकता था। तुम लोग नहीं मानते, तो न मानो। तुम जानो तुम्हारा काम जाने। मगर इतना याद रक्खो कि आपस की लड़ाई में दोनों का नुक़सान है। किसी का फ़ायदा नहीं हो सकता।

उधर मौलाना मुख़्तार अहमद और अहमद अली बड़ी सरगर्मी के साथ मुसलमानों को समझाने और क़ाबू में लाने की कोशिश कर रहे हैं। लोगों का ताँता इनके मकानों पर बँधा हुआ है। थोड़ी-थोड़ी देर बाद शहर के मुख़्तलिफ़ हिस्सों में जाते हैं और वहाँ के लोगों को तरह-तरह से समझा कर वापस आते हैं। यों तो मुसलमानों की कमेटियाँ कई मुहल्लों में हो रही हैं, मगर कलेक्टर गंज में उस्ताद क़मरअली ने तमाम शहर के और आस-पास के गाँव के अखाड़ेवालों को इकट्ठा किया है। सत्तर-अस्सी पहलवान वहाँ जमा हैं और बड़े ज़ोर-शोर से इनकी पंचायत हो रही है। मियाँ मुसहिब अली इन्हें समझा रहे हैं कि किस तरह से हिन्दुओं ने एकदिल होकर मुसलमानों के मिटाने की ठान ली है। दरियाओं पर मेला-तमाशा देखने से रोका जा रहा है। ग़ाज़ी मियाँ की खुल्लम-खुल्ला तौहीन की जाती है। बूचड़ख़ाने बन्द करवाए जाने की तरकीबें हैं। तरकारी का पेशा हाथ से छीना जा रहा है। मुसलमान किरायेदार मकानों से निकाले जा रहे हैं। मुसलमान काश्तकारों को खेत नहीं दिये जाते। मुसलमान दूकानदार से ख़रीद-फ़रोख़्त बन्द करने की कोशिश हो रही है। ख़ैर, वह सब-कुछ तो था ही, अब नया हमला इस्लाम पर यह है कि मसजिदों की तौहीन की दिल में ठान ली है। तमाम क़ौम-की-क़ौम इस बात पर तुल गई है कि बग़ैर मसजिदों की तौहीन किए हरगिज़ न मानेगी।

इसके जवाब में ख़ुदाबख़्श बेचारे ने कहा कि भाइयो! ताली एक हाथ से नहीं बजती। ज़रा सोचो कि अगर यह बातें सब सच भी हैं, तो वह हिन्दू क़ौम, जो अब तक तुमसे इतने मेल से रहती थी, तुम्हारी क्यों दुश्मन हो गई? फ़िरोज़ाबाद ही को ले लो, वहाँ बाजे का सवाल उठाने में क़सूर किसका है? यह कहना था कि इधर-उधर से आवाज़ें आईं कि "हिन्दुओं का।" ख़ुदाबख़्श ने पूछा, वह कैसे? इधर-उधर से जवाब आये कि

अगर यह दम-भर के लिए मसजिद के सामने बाजा बन्द कर दें, तो इनका क्या बिगड़े? मगर इनकी ज़िद है, हमें मिटाना चाहते हैं। खुदाबख्श ने कहा, यह सब ग़लत है। चारों तरफ़ से आवाज़ें आईं कि तुम झूठे हो। बैठ जाओ। इसके बाद गुल इतना बढ़ा और तमाम मज़मे में इतना जोश फैला कि मालूम होता था कि अभी कोई वार-दात हो जायगी। खुदाबख्श आदमी पर-आदमी मौलाना मुख्तार अहमद को बुलाने को भेजते जाते थे। मगर उनका यही जवाब बार-बार आया कि मैं सूरज डूबने के क़रीब वहाँ आऊँगा।

[४]

सूर्य अस्त होने का समय निकट आ रहा है। ठाकुर महाबीरसिंह की बारात अपनी जगह से चलकर बाज़ार के क़रीब पहुँच चुकी है। बाज़ार बन्द है, सड़कों पर सन्नाटा है। जो ग़ोल इधर-उधर घूम रहे हैं, उनके हाथों में लाठियाँ हैं और चेहरे गुस्से से तमतमाये हुए हैं। बारात के साथ लठबन्दों की ख़ासी तादाद है। जुलूस बहुत बड़ा है और बाजे ज़ोर-शोर से बज रहे हैं। इसी तरह से जुलूस मसज़िद के क़रीब पहुँचा। अज़ान के वक़्त मसजिद के सामने पहुँचा और वैसी ही धूम-धाम से बाजा बजता हुआ मसजिद के सामने से निकल गया, मगर किसी ने कोई रोक-थाम न की। मौलाना मुख्तार अहमद और अहमद अली दोनों मसजिद में मौजूद थे और यह उन्हीं की कोशिशों का नतीजा था। जुलूस तो निकल गया मगर तरह-तरह की अफ़वाहें शहर में फैलने लगीं। कोई कहता था कि खूब लड़ाई हुई और सैकड़ों का ख़ून हुआ। कोई कहता था कि मुसलमान मसजिद छोड़ कर भाग गए और हिन्दुओं ने उन्हें दौड़ा दिया। कोई कहता था। कि मसजिद के पास पहुँचते ही बाजेवाले और बराती सब भाग गये और जुलूस मसजिद तक पहुँच ही न पाया। उधर लड़ाई दंगे की खबरों की वजह से शाम के वक़्त दफ़ा १४४ की रूह से पुलिस को लोगों से लाठियाँ ले लेने का हुक्म निकल गया। शहर में हर तरफ़ लोगों से लाठियाँ जमा की जाने लगीं। और उस जुलूस के पास स्वयं कोतवाल ने आकर लाठियाँ ले लीं। मसजिद के सामने निकल जाने की वजह से जुलूसवालों को यह ख्याल हो गया था कि अब दंगा न होगा। इसलिए ग़ोल-के-ग़ोल अपने-अपने घरों को चले गये। लठबन्दों की लाठियाँ ले लेने के बाद उनमें से भी बहुत-से अपने-अपने ठिकाने को लौट गये। जो लोग बाक़ी बचे, वह बाजा बजाते हुए शादीख़ाने की तरफ़ को कलेक्टर गंज से होते हुए जा रहे थे। मसजिद की घटना की ख़बरें नये-नये रंग-रूप में उस्ताद क़मरअली के मकान पर पहुँच गईं। लोग उन्हें सुन सुन कर बेचैन हो रहे थे। खुदाबख्श ने मौलाना के पास आख़िरी ख़बर भेजी थी कि अगर अब आप न आयेंगे, तो ग़ज़ब हो जायेगा। जवाब का इन्तज़ार था कि इतने में दूसरे बाजे की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। इन्ही के साथ-साथ बदहवास लोगों के ग़ोल यह ख़बर लेकर पहुँचे कि हिन्दुओं ने मसजिद के सामने बाजा बजाया, वहाँ के मुसल-मानों को मारा और अब यह सुनकर कि यहाँ मुसलमान जमा हैं, इधर का आते हैं। यह सुनते ही सब-के-सब लाठियाँ लेकर खड़े हो गये। खुदा-बख्श ने कहा कि भाइयो! खुदा के वास्ते ज़रा ठहरो। मैंने मौलाना मुख्तार अहमद साहब को बुलवाया है और उनका जवाब आया है कि वह दम-के दम में वहाँ पहुँच रहे हैं। अभी खुदाबख्श यह कह ही रहा था कि कुछ लोग भागते हुए

वहाँ पहुँचे और कहने लगे कि खबर आई है कि मौलाना मुख्तार अहमद और अहमद अली दोनों बाज़ार की मसजिद में थे और उन्हें भी हिन्दुओं ने शहीद कर दिया और सब कलेक्टर गंज पर चढ़े आ रहे हैं। इस खबर को सुनते ही एक तूफ़ान की तरह यह सब-के-सब लाठियाँ सँभाल आते हुए जुलूस की तरफ़ दौड़ पड़े। हिन्दुओं को अब झगड़े का खयाल न था। निहत्थे भी हो चुके थे और तादाद में भी बहुत कम बाक़ी रह गये थे। उन्होंने पहुँचते ही उन्हें मारना शुरू किया। ठाकुर महाबीरसिंह ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबिला किया उनका लड़का भी, जिसकी बारात थी, खूब लड़ा। आखिर में बाप-बेटे ज़ख्मी होकर गिरे और बाक़ी बाराती कुछ घायल हुए कुछ जान बचाकर इधर-उधर भाग गये।

[५]

आज इस झगड़े को हुए सात रोज़ हो गये हैं। लेकिन फ़िरोज़ाबाद की सारी दूकानें अभी तक बन्द हैं। सड़कों पर सन्नाटा है। इधर-उधर गलियों की नुक्कड़ पर दस-दस, बीस-बीस आदमियों के गोल खड़े हैं। जिनका सिवाय इक्का-दुक्का निकलनेवालों को घूर से घूरने के और कोई काम मालूम नहीं होता। सड़क के चौरस्तों पर गोरे संगीनें लिए खड़े हैं। और सड़कों पर फ़ौजी सवार भाले लिए गश्त लगा रहे हैं। बीसों आदमी क़त्ल हो चुके हैं। सैकड़ों ज़ख्मी हस्पताल में पड़े हैं। मगर अभी तक इन दोनों मज़नून सम्प्रदायों का जनून नहीं उतरा। फ़िरोज़ाबाद में अब एक भी व्यक्ति ऐसा बाक़ी नहीं, जो इस लड़ाई के भँवर में खिंच न आया हो। पं० कृष्णनारायन तिवारी, जिन्होंने शक्ति-भर शान्ति क़ायम रखने और सुलह कराने की चेष्टा की थी, अब हज़ारों रुपये लड़नेवाले गिरोह की सहायता में सर्फ़ कर रहे हैं। मौलाना मुख्तार अहमद और अहमद अली मुसलमानों की मदद के लिए घर-घर चन्दा जमा कर रहे हैं।

तंज़ीम और संगठन के नेता दूर-दूर से आकर इन दोनों अभागी जातियों को यह सलाह दे जाते हैं कि अखाड़े खोलो, लकड़ी चलाना सीखो, क्योंकि इन्हीं बातों में तुम्हारे उद्धार का रहस्य है। अगर तुम अपनी हिफ़ाज़त करने के खुद क़ाबिल न बनोगे, तो कोई दूसरा तुम्हारी जान-माल और इज़्ज़त की हिफ़ाज़त नहीं कर सकता। फ़िरोज़ाबाद की खबरें और इन नेताओं की आवाज़ें सारे देश में गूँज रही हैं। बिचारे बे-समझ और सीधी-साधी जनता इन घटनाओं को देख और इन आवाज़ों को सुनकर आपे से बाहर हुई जा रही है। देश के दुश्मन यह हाल देख-देखकर बहस्त हो रहे हैं। देश का भला चाहनेवाले व्याकुल हैं और इस कोशिश में हैं कि इसे किस प्रकार इन आपत्तियों से बचा लें।

और अगर तुम्हारा पालनकर्त्ता चाहता तो इस पृथिवी पर जितने भी मनुष्य हैं सब-के-सब तुम्हारी बात मान लेते, (लेकिन तुम देख रहे हो कि उसके कौशल का यही निश्चय है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी समझ और अपनी-अपनी राह रखे)। फिर क्या तुम चाहते हो कि लोगों को मजबूर कर दो कि सब तुम्हारी ही बात मानें? (सू० १०, आ० ९९)

असली भारतवर्ष

राष्ट्रीय महासभा और देहात

महात्मा गांधीजी ने राष्ट्रीय महासभा को अधिक प्रभावशाली तथा कार्यसाधक बनाने के लिए कांग्रेस के वर्तमान संगठन में परिवर्तन करने के लिए राष्ट्र के सामने कुछ प्रस्ताव रखे हैं। इन प्रस्तावों में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि राष्ट्र-सभा को अपने-आपको राष्ट्र के देहातों के साथ एक-रूप कर देना चाहिए। इसके लिए महात्माजी ने कुछ योजनाएँ भी राष्ट्र के सामने रखी हैं। ग्रामों में काम करनेवालों के लिए उन प्रस्तावों का संक्षिप्त विवरण हम यहां देते हैं :—

"इस समय स्थिति यह है कि बड़े-बड़े गांवों तथा छोटे-मोटे ज़िलों के लिए राष्ट्रसभा को निमन्त्रण देना असम्भव है। नतीजा यह है कि राष्ट्रसभा का प्रभाव मुख्य शहरों से बाहर नहीं पहुँच सका। क्या वजह है कि कांग्रेस का अधिवेशन राष्ट्र के किसी गांव में न हो सके। कांग्रेस को निमन्त्रित करने के लिए गांवों में स्पर्धा का होना बहुत अच्छा है। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को बुलाने से गांव को आर्थिक दृष्टि से नुकसान होने के स्थान पर लाभ ही होगा। देश में मुख्य रेलवे लाइन के किनारे कई ऐसे स्टेशन हैं, जहां कांग्रेस के मेम्बर बिना दिक्कत के वार्षिक अधिवेशन में आसानी से पहुँच सकें। यह सब कुछ तभी सम्भव हो सकता है, जब कि हम अपने आपको राष्ट्र की आम जनता के साथ एक रूप कर लें और उनकी आवश्यकताओं को जानना चाहें और ग्रामीण-जीवन की—ग़रीबी तथा गन्दगी को दूर कर—सुन्दरता को सराहना सीखें।

मैंने इसी भाव से 'ऑल इण्डिया विलेज एसोसिएशन' (अखिल-भारतीय देहाती-व्यवसाय संघ) बनाने का प्रस्ताव राष्ट्र के सामने उपस्थित किया है। यह संघ देहाती व्यवसायों की देखभाल करेगा। इस प्रस्ताव की तह में काम करनेवाली भावना शत-प्रति-शत स्वदेशी है। आज तक जिस भावना के साथ स्वदेशी शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है, वह भी अच्छा भाव है। स्वदेशी का यह भाव कांग्रेस के विशेष यत्न के बिना भी, स्वयं फैल रहा है, तथा फैलता रहेगा।

प्रारम्भ के दिनों में इस दिशा में, विशेष यत्न की आवश्यकता थी। उन दिनों स्वदेशी से घृणा करना

फैशन समझा जाता था। उन दिनों विदेशी वस्तुओं तथा विदेशी रहन-सहन के रंग-ढंग तथा रीति-रिवाजोंको अपनाना—देशभक्ति का चिह्न तो नहीं—पर हाँ, सभ्यता का चिह्न समझा जाता था।

मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन के वह दिन अच्छी तरह स्मरण हैं, जब कि विद्यार्थी लोग विदेशी वेश-भूषा में सजे हुए, अपने अध्यापकों को श्रद्धा तथा भक्ति के भावों से देखते थे और उस दिन की प्रतीक्षा करते थे, जब कि उन्हें अध्यापकों की भाँति आज़ादी के साथ विदेशी वेश-भूषा से सजने के साधन तथा अवसर मिलें। निःसन्देह इस सारी स्थिति को बदलने तथा जनता में स्वदेशी का भाव जागृत करने का श्रेय अधिकांश में कांग्रेस को मिलना चाहिए। परन्तु हमें भूतकाल की इन सफलताओं से ही सन्तुष्ट होकर नहीं बैठ जाना चाहिए। अब राष्ट्र-सभा को देहातों को अपना कार्यक्षेत्र बनाना चाहिए और केवल-मात्र विदेशी वस्तुओं की नक़ल में शहरों में व्यवहारोपयोगी स्वदेशी वस्तुओं के बनाने से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। उनको अब यह पता लगाना चाहिए कि कौन-सा देहाती धंधा क्यों नष्ट हो रहा है ?

गांवों को ग़रीब तथा निर्धन बनाने में भारतीय गवर्मैण्ट का बड़ा हिस्सा है; परन्तु इन देहातों की तबाही की राख पर विकसित होनेवाले शहर, गाँवों को निर्धन बनाने की अपनी ज़िम्मेवारी को नहीं टाल सकते। अभी भी गांवों के देहाती-व्यवसायों को संगठित करके जीवित-जागृत बनाया जा सकता है। इस प्रकार हम लाखों रुपया देहातियों की जेबों में पहुँचा सकते हैं।

मैं यहां इस सम्बन्ध में कुछ महत्व-पूर्ण गणनाएं उद्धृत करता हूँ :—

अखिल-भारतीय चर्खा-संघ ५००० हज़ार गाँवों में काम कर रहा है। इन पिछले १० सालों में संघ ने देहातियों में २$\frac{1}{4}$ करोड़ रुपया मज़दूरी की शकल में बाँटा है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अखिल-भारतीय चर्खा-संघ ने देहातियों के खाली समय का उपयोग कर इतना धन देहातियों को पहुँचाया है। ऐसा करते हुए उसने किसी देहाती धंधे को नुक़सान नहीं पहुँचाया। इस २$\frac{1}{4}$ करोड़ की राशि में से $\frac{3}{4}$ करोड़ रुपया जुलाहों के पास गय; १५ लाख रुपया किसानों को रुई के लिये दिया गया। औसतन यह कहा जा सकता है कि किसानों, जुलाहों तथा कतवैयों ने अपनी साल की आमदनी मे वार्षिक १२) की वृद्धि की। अन्दाज़न कहा जा सकता है कि प्रति व्यक्ति की वार्षिक आमदनी में २० फ़ी-सदी वृद्धि हुई। गणनाओं से पता चलता है कि जुलाहों की वार्षिक आमदनी में ४३ फ़ी-सदी वृद्धि हुई है। यह कोई अलौकिक काल्पनिक बात नहीं है। यह गणनाएँ खोज के साथ तैयार की गयी हैं। कोई भी विद्वान् इनकी सचाई को परख सकता है।

अखिल-भारतीय चर्खा सघ गाँवों के केन्द्रों तक पहुँचता है। मैं यह मानता हूँ कि इस संघ में ग्रामीण जीवन की भावनाओं से रहित व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति नहीं है। परन्तु अब जिस संगठन की स्थापना की मैं चर्चा कर रहा हूँ, इसमें भारतीय कारीगरों की बुद्धि-विकास के लिये काफ़ी क्षेत्र है। यदि देहातों को जीवित रखना है, तो दिन-दिन नष्ट हो रहे देहाती धंधों को फिर से चालू करना होगा। मुझे विश्वास है कि कई देहाती धंधे थोड़ी-सी वैज्ञानिक खोज तथा संगठन-शक्ति की सहायता से पुनर्जीवित किये जा सकते हैं।

प्रस्तावित संघ बहुत-कुछ कर सकता है बशर्ते कि उसको राष्ट्र की सहानुभूति का सहारा हो। यह कार्य उन लोगों के हाथों में होना चाहिए जिनके हृदयों में देहातियों के लिए प्रेम हो, तथा जिन्हें अपने कार्य में पूर्ण विश्वास हो।

अखिल-भारतीय चर्खा-संघ की तरह यह संस्था स्वतन्त्र तथा पृथक् होनी चाहिए। कांग्रेस-जैसी संस्था इसको नहीं चला सकती।

इसलिए एक संगठन अखिल-भारतीय देहाती व्यवसाय-संघ (All India Village Industries Association) नाम से पृथक् संस्था बननी चाहिए। इस प्रस्ताव के अनुसार इस कार्य के लिए श्री जे. सी. कुमार अप्पा को, कांग्रेस की छत्रछाया में महात्मा गांधी की सलाह तथा निरीक्षण में, अखिल-भारतीय देहाती व्यवसाय-संघ बनाने का अधिकार दिया गया है। संघ को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए, धन-संग्रह करने, नियम बनाने तथा अन्य आवश्यक कार्य करने का अधिकार होगा।

—

प्रोफ़ेसर काले अर्थशास्त्र के एक विख्यात विद्वान् हैं। किसानों की क़र्ज़खोरी, ऋण-ग्रस्तता पर आपने एक भाषण बम्बई में दिया है। आपका कहना है कि देहात के पुनर्निर्माण की समस्या, जो ८९ प्रतिशत भारतीयों की समस्या है, तब तक हल नहीं हो सकती, जब तक किसानों पर जो क़र्ज़े हैं, उन्हें एकदम दूर नहीं किया जाय। भारत में सूदखोरी निकृष्टतम रूप में प्रचलित है। सूद का दर ५० प्रतिशत से लेकर १०० प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त, जिस क्षण भारतीय किसान क़र्ज़ लेता है, उसी क्षण से उसका औज़ार, उसकी पैदावार, यहाँ तक कि उसका घर भी, उसके नहीं रह जाते। इससे उसकी मेहनत करने की ताक़त नष्ट हो जाती है, और उसकी कार्य-साधनी शक्ति भी लुप्त हो जाती है। वह साहूकारों के क्रूर हाथों का दयनीय खिलौना बन जाता है। आगे आपने कहा—सरकार को चाहिए कि वह इस समस्या को अपने हाथ में ले। किसान भूखों मर रहे हैं; इधर व्यापारिक क्षेत्रों में रुपये बेकार पड़े हुए। सरकार क़र्ज़ लेकर इन रुपयों से किसानों का क़र्ज़ चुकावे और फिर बड़ी मुद्दत की छोटी-छोटी किश्तों में अपने रुपये चुकता रहे। किंतु उसका सूद चार रुपया सैकड़ा सालाना से अधिक न हो। अन्त में आपने कहा—"भारत के किसान भिक्षुक नहीं हैं। वे दान नहीं माँगते, वे न्याय माँगते हैं।" किन्तु ब्रिटिश-न्याय पसीजे तब तो!

"एक रुपये का विदेशी कपड़ा ख़रीदा जाय, तो सिर्फ़ ‍≈)॥ हिन्दुस्तानी के पल्ले पड़ेगा और साढ़े चौदह आने सीधे विदेशी व्यापार की वृद्धि में चले जायँगे।"

"एक रुपये का देशी मिल का कपड़ा ख़रीदें, तो ॥) तो मिल-मालिक की जेब में जायँगे, ।≈) मज़दूर को मिलेंगे, और ≈) विदेशियों की पाकेट में चले जायँगे।"

"एक रुपये की खादी ख़रीदी जाय, तो व्यवस्था ख़र्च को बन्द करके बाक़ी का सारा पैसा खादी के उत्पादक को ही मिलेगा।"

हमारे राष्ट्रीय शिक्षणालय

ग्राम-सेवक-शिक्षणालय

सितम्बर महीने में ग्राम-सेवक-शिक्षणालय में निम्न-लिखित व्याख्यान हुए—

विषय	संख्या	व्याख्यान दाता का नाम
ग्राम्य-जीवन तथा ग्राम्य-समस्याएँ	८	श्री दुर्गेशजी
राजशास्त्र	२	श्री पं० केशवदेवजी
अर्थशास्त्र	९	,, ,, ,,
त्यौहारों का सुधार	१	,, ,, देवशर्माजी
वर्तमान भारत का इतिहास	१५	,, ,, विश्वम्भर सहायजी
ग्रामों को बुरे प्रभावों से बचाना	६	,, ,, देवशर्माजी
आदर्श ग्राम की कल्पना	८	,, ,, दुर्गेशजी
ग्रामसभा-संगठन	८	,, ,, ,,
अहिंसात्मक युद्ध-पद्धति	६	,, ,, देवशर्माजी
सत्याग्रह का इतिहास	६	,, ,, ,,
ग्राम्य नवयुवकों को सन्मार्ग पर संगठन करना	४	,, ,, दुर्गेशजी
अमावस्या सम्मेलन	३	,, ,, ,,
बालकों की शिक्षा	४	,, ,, ,,

शिक्षणालय में २६ सितम्बर से २ अक्तूबर तक गांधी-जयन्ती के कारण पढ़ाई बन्द रही तथा छात्रों ने खादी की फेरी की एवं आश्रम के अखण्ड चर्खे में मदद की।

गुरुकुल-कुरुक्षेत्र-समाचार

१. षाण्मासिक परीक्षाएँ ११ अगस्त को समाप्त हो गई थीं। परीक्षा-परिणाम सामान्यतया उत्तम रहा।

२. षाण्मासिक परीक्षा के पश्चात् १२ अगस्त को गुरुकुल का जन्मोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। इस अवसर पर आस-पास के इलाक़े के बहुत से आर्य्य सज्जनों को भी निमन्त्रित किया गया था। बाहर से लगभग ६० आदमी अम्बाला छावनी, शाहाबाद, लाडवा आदि स्थानों से मोटरों तथा साइकिलों से जन्मोत्सव में सम्मिलित होने के लिये गुरुकुल आये थे। प्रातःकाल यज्ञ के पश्चात् मध्याह्न को कुलपताका के अभिवादन से कार्य्यवाही प्रारम्भ हुई। जन्मोत्सव की सभा के सभापति अम्बाला छावनी के Oriental Science Apparatus Workshop के मालिक श्री नन्दलालजी थे। सभा में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों तथा बाहर से आए हुए सज्जनों के गुरुकुल के सम्बन्ध में व्याख्यान हुए। सभा के अनन्तर सब कुलवासियों तथा बाहर से आये हुए सज्जनों का एक प्रीतिभोजन हुआ। शाम को बाहर से आये हुए सज्जनों के साथ गुरुकुल वालों का रस्सा-कशी में सान्मुख्य हुआ और भी मनोरंजक खेलें की गईं। श्री मा० नन्दलालजी ने इस शुभ अवसर पर १००) रु० गुरुकुल को दान सुनाया तथा चिकित्सालय में रोगीगृह की खिड़की तथा दरवाज़ों पर जालीदार दरवाज़े लगवा देने का ख़र्च अपने ऊपर लेने का संकल्प किया। इस प्रकार बड़ी सफलता-पूर्वक यह उत्सव समाप्त हुआ।

३. पन्द्रह अगस्त से डेढ़ मास की गर्मियों की छुट्टियें प्रारम्भ हो गई थीं। इन छुट्टियों में प्रथम से चतुर्थ तक के छोटे ब्रह्मचारी श्री डाक्टरजी तथा दो अन्य अध्यापकों के साथ सपाटू पहाड़ पर यात्रा के लिये गये थे। वहाँ से ब्रह्मचारी कसौली, शिमला, सोलन आदि आसपास के स्थानों में घूमने के लिये जाते रहे।

४. बड़ी श्रेणियों के ब्रह्मचारी श्री पं० सोमदत्तजी विद्यालङ्कार मुख्याध्यापक तथा श्री पं० विक्रमादित्य-जी के साथ यात्रा के लिये क्वेटा गये। क्वेटा में इन दिनों आर्यसमाज का अर्द्धशताब्दी महोत्सव मनाया जा रहा था। ब्रह्मचारियों ने इस उत्सव को काम-याब बनाने के लिये बहुत भाग लिया। २५ तथा २६ अगस्त को दोनों दिन ब्रह्मचारियों के शारीरिक व्यायाम के खेल हुए। ब्रह्मचारियों की लाठी की ड्रिल, संगीत के साथ लेज़म, मुँगरी, तलवार तथा बनैटी के हाथ ग्रुपमेकिङ्ग के खेल तथा तीर-कमान के आश्चर्यजनक खेलों का लोगों के ऊपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। जलसे में ब्रह्मचारियों के संस्कृत में व्याख्यान-श्लोक तथा भजन आदि होते रहे। ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य और मानसिक विकास तथा रहन-सहन को देखकर बहुत से महानुभावों ने अपने बालकों को गुरुकुल में दाख़िल करने का संकल्प किया। चार सज्जनों ने अपने बालकों को ब्रह्मचारियों के साथ ही गुरुकुल भेज भी दिया। क्वेटा से गुरुकुल के लिये लगभग १३००) रु० दान में प्राप्त हुआ। क्वेटा से १९ सितम्बर को चलकर सक्खर के दर्शनीय स्थान देखते हुए ब्रह्मचारी २१ को डेरानवाब पहुँचे। यहाँ भी दो दिन तक ब्रह्म-चारियों ने शारीरिक व्यायामों का प्रदर्शन किया। गुरुकुल के लिए लगभग १५०) भी दान में प्राप्त हुआ। २५ को ब्रह्मचारी लाहौर पहुँचे। लाहौर में दर्शनीय स्थानों को देखा। तथा किलागूजरसिंह

के आर्य-पुरुषों के विशेष आग्रह पर शारीरिक व्यायाम का प्रदर्शन भी किया। इस प्रकार २८ तारीख़ को पुनः कुलभूमि में पहुँच गये।

५. पहिली अक्तूबर से पुनः विद्यालय खुल गया है और नियमानुसार पढ़ाई प्रारम्भ हो गई है।

गुरुकुल सूपा के समाचार

पावस का अवसान आया है। शीतकाल आने की तैयारी है। पथ सूखते जा रहे हैं। पूर्णानदी का पानी दिनोंदिन निर्मल होता जा रहा है। प्रभात में कुछ-कुछ शीत प्रतीत होता है। गुरुकुल-भूमि के चारों ओर धान की खेतियाँ लहलहा रही हैं। ब्रह्मचारीगण प्रसन्नचित्त है।

विजय-दशमी से पूर्व ही छमाही परीक्षाएँ समाप्त हो जायेंगी। इस वर्ष विजय-दशमी का पर्व बड़े उल्लास और उत्साह के साथ मनाने की तैयारी है। कुलबन्धुओं ने हॉकी, क्रिकेट, वॉलीबॉल, बेसबाल, खिड़वी, कबड्डी, लंका-विजय आदि क्रीड़ाओं में सान्मुख्य करने का आयोजन किया है। छोटे ब्रह्मचारीगण ओलंपिक क्रीडाओं की प्रतियोगिताओं में भाग लेनेवाले हैं। इसी शुभ अवसर पर संगीतगोष्ठी, श्लोक, गायन तथा प्रीतिभोज भी होगा।

इस मास में गुर्जर-भाषा के महाकवि श्री० नानालालजी गुरुकुल में पधारे थे। आपको कुलवासियों की ओर से संस्कृत श्लोकों में रचा हुआ सुन्दर अभिनन्दनपत्र अर्पित किया गया था। इस अवसर पर कवि-श्री ने "संस्कृत की विजय सर्वोपरि है" इस विषय पर एक मननीय प्रवचन किया था। इसके सिवाय इस मास में गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर के सुयोग्य प्रोफ़ेसर श्री० गुलबहारसिंह जी यहाँ पधारे थे। आपने यहाँ पूरे एक महीने तक निवास किया और यहाँ का पठन-पाठन, प्रबन्ध और प्राकृतिक वातावरण देखकर बहुत परितोष और हर्ष प्रकट किया। गुरुकुल की ग्रन्थमाला के लिए तरुणोपयोगी पुस्तकों के लिए आपने १०१) रु० प्रदान किए हैं।

गुरुकुल काँगड़ी के महाविद्यालय-विभाग के ब्रह्मचारियों की एक मंडली दक्षिण-पश्चिम-भारत की यात्रा करती हुई यहाँ आई थी। इन बन्धुओं का कुलवासियों ने सुन्दर स्वागत किया था। क्रिकेट, हॉकी, वॉलीबॉल आदि की क्रीड़ाएँ रक्खी गई थीं। हॉकी के मैच में सूपा के छात्रों ने चार-गोल से विजय प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त संगीत-गोष्ठी, स्वागत-सभा, व्यायाम-कला के प्रयोग तथा प्रीतिभोजन का भी आयोजन किया गया था। यात्रा-मंडली के बन्धुओं ने यहाँ के ब्रह्मचारियों की संगीत और व्यायामकला की कुशलता को देखकर चार छात्रों को रजत पदक प्रदान किए हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा ही भारतीय राष्ट्रीयता का मूल-मन्त्र है!

युरोपियन राष्ट्र और अमेरिका का युद्ध-ऋण

जर्मन-महायुद्ध के दिनों में युरोप के मित्र राष्ट्रों ने युद्ध चालू रखने के लिए अमेरिका से क़र्ज़े लिये थे। इस युद्ध-ऋण की समस्या ने युरोप के राजनीतिज्ञों के दिमाग़ों को परेशान किया हुआ है। हर वर्ष कम-से कम दो तीन बार इसकी चर्चा हो ही जाती है। कई विद्वानों का यह कहना है कि जब तक युद्ध-ऋण की समस्या का हल नहीं होता, तब तक यूरोप में राजनैतिक और आर्थिक शान्ति क़ायम नहीं हो सकती है। इन युद्ध-ऋणों का स्वरूप क्या है इसको स्पष्ट करने के लिए मि० अर्विंग् ग्राण्ट ने प्रश्नोत्तरी के रूप में एक पुस्तिका लिखी है। यह पुस्तिका प्रतिमास कार्नेगी एण्डउमैण्ट फार इण्टर नैशनल पीस वारसेसर, यू. एस ए. की तरफ़ से प्रकाशित की जाती है। यह लेख विनोदपूर्ण तथा व्यवहारिक बुद्धि की सूझों से ओत-प्रोत हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-ऋण का लक्षण करने के बाद प्रश्नोत्तरी इस प्रकार प्रारम्भ की गई है।

प्रश्न—अमेरिका ने युरोप को धन किस प्रकार भेजा था?

उत्तर—रुपया युरोप में नहीं भेजा गया था। अमेरिकन वार इंडस्ट्रीस बोर्ड नाम की समिति ने यह रुपया अमेरिका के व्यवसाय-पतियों, किसानों तथा अन्य व्यापारियों को दिया था।

प्रश्न—किस लिए?

उत्तर—मित्र दल के राष्ट्रों को युद्ध सामग्री भोजन, रुई तथा अन्य रसद आदि सामान भेजने के लिए, तथा सामान भेजने के समय, जहाज़ तथा माल पहुँचाने के लिए हुए मार्ग-व्यय तथा इन चीज़ों की उत्पत्ति में लगाये रुपये के सूद की रक़म को अदा करने के लिये।

प्रश्न—आर्मिस्टिस (क्षणिक-संधि) के बाद अमेरिका ने युरोपियन राष्ट्रों को कितना धन उधार में दिया था?

उत्तर—२,५०,००,००,००० डालर। इसके अलाव युद्धपीड़ितों की सहायता के लिये ७४,००,००,००० डालर पृथक् दिये।

प्रश्न—यह रक़म युरोप में किस प्रकार किस रूप में भेजी गई थी?

उत्तर—यह रक़म भी सीधी युरोप में नहीं भेजी गई थी। यह सारी रक़म अमेरिका में ख़र्च की गई थी। इस धन-राशि से युद्ध-सामग्री, अनाज तथा कपास मित्र-दल को ख़रीद कर भेजे गये थे।

प्रश्न—आर्मिस्टिस (क्षणिक-संधि) के बाद भी यह क़र्ज़े युरोप के मित्र-राष्ट्रों को क्यों दिये गये थे?

उत्तर—अमेरिका के अर्थ-विभाग तथा कोष-विभाग के मन्त्री ने इस क्षणिक-संधि के बाद दिए जानेवाले युद्ध-ऋण के देने के सम्बन्ध में निम्न-लिखित दलील दी थी। अमेरिका के व्यापारियों ने युद्ध के दिनों में मित्र-राष्ट्रों के साथ माल तैयार करने के लिए बड़े-बड़े ठेके किए थे। उन ठेकों को पूरा करने के लिए ही यह क़र्ज़ा दिया गया था। यदि यह ठेके एकदम रद्द किये जाते, तो अमेरिकन व्यवसाय को भारी नुक़सान पहुँचता।

सूद की दर

प्रश्न—इँगलैण्ड से ३.३ फ़ी-सदी सूद क्यों लिया जाता है जब कि फ़्रांस से १.६ फ़ी सदी।

उत्तर—क्योंकि इँगलैण्ड समृद्ध, शक्तिशाली राष्ट्र समझा जाता था; फ्रांस ग़रीब और ज़द्दोजहद में उलझा हुआ है।

प्रश्न—इँगलैण्ड ने अमेरिका को कितना रुपया देना है?

उत्तर—४३,००,००,००० डालर।

प्रश्न—इँगलैण्ड के पास कितना सोना है?

उत्तर—८०,००,००,००० डालर।

प्रश्न—फ्रांस ने अमेरिका को कितना कर्ज़ा देना है?

उत्तर—३,८०,००,००,००० डालर।

प्रश्न—फ्रांस के पास कितना सोना है?

उत्तर—८,४०,००,००,००० डालर।

प्रश्न—तब क्या यथार्थ में फ्रांस इँगलैण्ड को अपेक्षा अधिक ग़रीब और मुसीबत में फँसा हुआ है?

उत्तर—ज़्यादा निर्धन तो नहीं है, परंतु जीवन-संघर्ष में ज़्यादा फँसा हुआ है। फ्रांस अपने सोने को अपने देश में ही रखने के लिए हर समय यत्नशील रहता है।

फ्रांस जर्मनी से प्राप्त हर्जाना की रक़म वसूल कर अमेरिका का क़र्ज़ा चुकता करने की उम्मीद लगाए बैठा है।

प्रश्न—फ्रांस ऐसी उम्मोद क्यों रखता है?

उत्तर—उसके लिये इस प्रकार युक्ति व तर्क करना स्वाभाविक ही है क्योंकि जर्मनी को फ्रांस को युद्ध का ख़र्चा देना चाहिए। अमेरिका का क़र्ज़ा युद्ध के ख़र्च में ही शामिल है। इसलिए जर्मनी को ही फ्रांस का यह क़र्ज़ा चुकता करना चाहिए। फ्रांसीसी लोग इसी प्रकार से सोचते हैं।

प्रश्न—क्या जर्मनी अब तक इस ढंग से कार्य करता रहा है।

उत्तर—हाँ, जर्मनी से हर्जाने (Reparations) की रक़म लेकर ही फ्रांस अमरीका को कर्जे की रक़म देता रहा है।

प्रश्न—जर्मनी ने धन कहाँ से प्राप्त किया?

उत्तर—जर्मनी ने अमेरिका से उधार लिया?

प्रश्न—इस प्रकार अमेरिका ने फ्रांस से क़र्ज़ा वसूल करने के लिए जर्मनी को उधार दिया; जिससे फ्रांस अमेरिका का क़र्ज़ा उतार सके।

उत्तर—हाँ, निस्सन्देह!

प्रश्न—इँगलैण्ड की इस सम्बन्ध में क्या स्थिति है?

उत्तर—वहाँ भी यही ढंग है। वहाँ ज़रा चक्कर इससे ज़्यादा लम्बा है। अमेरिका ने जर्मनी को यह क़र्ज़ा दिया। जर्मनी ने फ्रांस को दिया। फ्रांस ने इस रक़म का एक भाग इँगलैण्ड को क़र्ज़ा उतारने के लिये दिया। इँगलैण्ड ने इस भाग को अमेरिका के पास युद्ध-ऋण के हिसाब में भेज दिया।

प्रश्न—आर्मिस्टिस के बाद यूरोपियन जातियों ने युद्ध-ऋण के हिसाब में अमेरिका को ३ बिलियन डालर दिया था। इसमें से कितनी रक़म जर्मनी ने अमेरिका से उधार में ली थी।

उत्तर—सारी रक़म अमेरिका से ही उधार में ली गई थी।

प्रश्न—इस अवस्था में असल में अमेरिका ने एक सैण्ट क़र्ज़ा भी वसूल नहीं किया।

उत्तर—एक सैण्ट भी नहीं! हमें जो रक़म मिली वह हमने फिर उधार में दूसरों को दे दी।

प्रश्न—अब जर्मनी ने हर्जाना की रक़म देनी क्यों बन्द कर दी है।

उत्तर—क्योंकि अमरीका ने जर्मनी को उधार देना बन्द कर दिया है।

प्रश्न—तो क्या इस प्रकार अमरीका को युद्ध-ऋण की रकम मिलनी बन्द केवल इसलिए हुई है कि उसने क़र्ज़ई राष्ट्रों का क़र्ज़ा उतारने के लिये जर्मनी को रुपया देना बन्द कर दिया है।

उत्तर—हाँ बिलकुल इसी लिए।

प्रश्न—हमने उन युरोपियन राष्ट्रों को इस प्रकार की चालाकी क्यों करने दी।

उत्तर—यह चालाकी नहीं, यह तो सम्पत्ति-शास्त्र के स्वाभाविक आर्थिक नियम का परिणाम है।

प्रश्न—कौन-सा आर्थिक नियम? क्या कारण है कि हम अपने युद्ध-ऋण को वसूल नहीं कर सके।

उत्तर—इस समस्या का मूल कारण यह है कि हमने क़र्ज़ा तो वस्तुओं की शकल में दिया, और हम उस क़र्ज़े की वसूली सोने की शकल में करना चाहते हैं।

प्रश्न—क्या कोई ऐसा ढंग है जिससे हम युद्ध-ऋण को वसूल कर सकें?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—हम सिक्के के स्थान पर वस्तुओं की शकल में क़र्ज़े की रकम वसूल करें। दूसरे शब्दों में हम अपने देश का आयात (Import) बढ़ाएँ और निर्यात (Export) घटाएँ। अर्थात् अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आर्थिक संतुलन में अधर्मणता (Unfavourable balance) की स्थिति स्वीकार करे।

प्रश्न—क्या अमेरिका में इस बात के महत्व को समझा जाता है।

उत्तर—पिछले १० सालों में यह बात हज़ारों बार कही जा चुकी है परन्तु इस पर विश्वास नहीं किया जाता।

प्रश्न—जब हम स्वयं ही क़र्ज़े की रक़म को वस्तुओं की सूरत में लेने से इनकार करते हैं तो क्या एक तरह से हम स्वयं क़र्ज़े को रद्द करने का प्रस्ताव नहीं करते।

उत्तर—हाँ, बात तो यही है। कहने को तो हम कहते हैं कि क़र्ज़ा की रक़म दो परन्तु, व्यवहार में हम कहते हैं इसे रद्द करो।

प्रश्न—यह समस्या किस प्रकार हल होगी?

उत्तर—क़र्ज़े रद्द करने पड़ेंगे। क़र्ज़े की रक़म अदा करने के बख़िलाफ़, काम करनेवाली आर्थिक शक्तियाँ अति प्रबल हैं।"

युद्ध-ऋण का आख़िरी फ़ैसला किसी ढंग से हो; परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि अमेरिका में कई ऐसे विचारक हैं, जो इस बात को अच्छी तरह महसूस करते हैं कि यह क़र्ज़ा कभी वसूल नहीं होगा।

के नेतृत्व में नेशनलिस्ट-दल से पूरी आशा है कि यह सब अनुचित और हानिकारक संघर्ष से देश को बचावेगा। पंजाब के लोगों को—जिनका कि पंजाब की विशेष परिस्थितियों के कारण नेशनलिस्ट-दल की तरफ़ झुकना स्वाभाविक-सा कहा जा सकता है—हम कहना चाहते हैं कि वे राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू के निम्न शब्दों को ध्यान से पढ़ने की कृपा करें और फिर सोचें कि क्या साम्प्रदायिक निर्णय को हटाने का वही तरीक़ा नहीं है, जो कि कांग्रेस ने (म० गान्धीजी ने) स्वीकार किया है। नेशनलिस्ट पार्टी कहीं अपने तरीक़े से अपने ही उद्देश्य को हानि तो नहीं पहुँचा रही है। राजेन्द्र बाबू कहते हैं:—

"यदि साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध हल्ला करने से और उसे रद्द करने के लिए एसेम्बली में प्रस्ताव पास करने-मात्र से साम्प्रदायिक निर्णय का अन्त होता हो, तो मैं निःसंकोचभाव से मालवीयजी के कार्यक्रम की ओर मत देने को तैयार हूँ। लेकिन मैं इस ग़लतफ़हमी से परे हूँ और जानता हूँ कि इससे कुछ बननेवाला नहीं है। इसी लिए मैं आप से कहता हूँ कि कांग्रेस के कार्यक्रम का समर्थन करो और उसके उम्मीदवार को वोट दो"। फिर राजेन्द्र बाबू कहते हैं "इतनी तो कांग्रेस तथा उसके आलोचकों में समानता है कि सब साम्प्रदायिक निर्णय को अराष्ट्रीय समझते हैं और चाहते हैं कि जल्दी-से-जल्दी इसमें परिवर्तन हो जाय। मत परिवर्तन कैसे हो सकता है, इस विषय में हमारा मतभेद है। मेरी सम्मति में मालवीयजी का तरीक़ा स्थिति को और अधिक पेचीदी और कठिन बना देगा। क्योंकि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों व जातियों में जो झगड़े की बातें हैं, उन पर ज़ोर देने से समझौता दूर-ही-दूर होता जायगा।"

—

मुसलमान भाई चेतें—

अभी जो कराची की अदालत में महाराज नाथूराम की सनसनी-पूर्ण हत्या हो गई, उसे सुनकर हृदय खेद और आश्चर्य से भर जाता है। एक धर्मान्ध पठान महाराज नाथूराम को केवल इसी लिए खुली अदालत में छुरी भोंक देता है चूँकि उन्होंने 'इस्लाम का इतिहास'-नामक पुस्तक लिखी है और उसकी समझ में उन्होंने यह बहुत बुरा किया है। अभी कसूर से एक धर्मान्ध मुसलमान के हाथों ला० पालाशाह के मारे जाने का भी समाचार प्राप्त हुआ है। ऐसी धर्मान्धता आज तक भी क्या जीवित है? इसे जल्दी-से-जल्दी कैसे नष्ट किया जाय? इस प्रकार के प्रश्न मन में उठने लगते हैं। हृदय कहता है कि इसके लिए सुधारक मुसलमानों को बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ करनी पड़ेंगी। शायद महाराज नाथूराम की ही तरह अपनी बलि चढ़ानी पड़ेगी। तभी मुसलमानों की वर्तमान धर्मान्धता की इति-श्री हो सकती है और इस्लाम-धर्म संसार में अपना स्थान क़ायम रख सकेगा। क्या हम आशा करें कि सब मुसलमान-नेता इस जघन्य-कृत्य की एक-स्वर से निन्दा करेंगे और अपने अमल-द्वारा यह घोषित करेंगे कि इस्लाम के पवित्र और शान्ति-स्थापक धर्म में ऐसी बर्बरता के लिए कोई स्थान नहीं है।

महाराज नाथूरामजी शहीद हो गये हैं। परमेश्वर उन्हें सद्गति प्रदान करें। देश भी उनकी शहादत को चिरकाल तक स्मरण रखता हुआ उन्नति का पाठ सीखे।

—

ग्राम-सेवा पर कविता के लिए इनाम—

यद्यपि अच्छे कवियों के लिए इनाम में—और विशेषतः निम्न-लिखित तुच्छ इनाम में—कोई प्रलोभन नहीं हो सकता, तो भी हम कवियों के प्रति

विनय-पूर्वक यह सूचित करना चाहते हैं कि ग्राम-सेवा पर सर्वश्रेष्ठ, मिलकर गायी जाने-योग्य और भावना-पूर्ण कविता लिखनेवाले को हमने २५) रु० का इनाम देने का संकल्प किया है। हम चाहते हैं कि सब कवि इस दिशा में अपनी कवित्व-शक्ति को संचालित करने की कृपा करें। इससे बड़ा भला होगा। जो बड़े कवि इनाम की स्पर्धा में न पड़ना चाहें, वे बेशक इनाम स्वीकार न करें; पर वे भी ऐसी कविता की रचना में अपना समय अवश्य देवें, यह हमारी प्रार्थना है। यह इनाम २५)रु० के यथाभिलाषित खादी के कपड़ों के रूप में तथा महात्मा गान्धी के हस्ताक्षरों से अंकित विजयपत्र के रूप में भेंट करना हम पसन्द करेंगे। पदक (मेडल) के रूप में या नक़द देने की अपेक्षा यही तरीक़ा हमें ठीक लगता है। 'पदक' के तरीक़े में जो अच्छाई है, उसे हम विजयपत्र-द्वारा प्राप्त कर-लेंगे। तो इनाम पानेवाले की इच्छा के लिए ही हम अवश्य गुंजाइश रखेंगे। यह पारितोषिक गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिक उत्सव आदि किसी सार्वजनिक अवसर पर भेंट किया जायगा।

सब कवितायें १ मार्च (१९९१) मकर संक्रान्ति तदनुसार १५ जनवरी १९३५ तक 'अलंकार' कार्यालय में पहुँच जानी चाहिएँ।

—

केवल एक स्वप्न—

गुरुकुल कांगड़ी के एक कुल-प्रेमी स्नातक भाई अपने एक पत्र के अन्त में लिखते हैं—

" 'अलंकार' में आपका हमारे कुल से विदाई का सन्देश पढ़ा। उस पर कुछ भी शब्द लिखने उसके महत्त्व को कम ही करना होगा। जीवन में बहुत थोड़ी बार रोया हूँ। आपके उस आध्यात्मिक अभिनन्दन को पढ़कर न-जाने क्यों आँसू छूट पड़े।

"मुझे आपकी विदाई में कितनीक भावनायें उद्बुद्ध होती दीख रही हैं, जिन्हें लिखे बिना मेरा दिल नहीं मानता।

"मेरी इच्छा है कि आप सब काम छोड़कर केवल इस बात के लिये दीवाने होकर दौरा लगावें कि हमारा गुरुकुल पार—, गंगा-पार चिल्लांवाली जगह में चला जावे। आप घूम-घूम कर लोगों में इसके लिए पुनीत वायुमण्डल बनावें और साथ ही धनराशि भी एकत्रित करें। स्नातकों से अपील करें कि वे एक-स्वर से इस प्रयत्न का समर्थन करें। जी खोलकर धन-राशि देवें। कुल के भामाशाह इस आड़े वक्त काम न आवेंगे तो कब? बाहरवाले सहायता न देवें, तो ऐसे स्नातक तैयार कीजिये, जो अपनी घर-जायदाद सब गुरुकुल को पार ले जाने के लिए दान दे देने को तैयार हों। मेरा नाम तो आप अभी से लिख लीजिए। मेरी जो भी वर्त्तमान जायदाद है, मैं उसे कांगड़ी के पार जाने की दशा में प्रसन्नता के साथ कुल की भेंट कर दिया चाहता हूँ।

"पार का गुरुकुल सादा, लेकिन पक्का बनाया जावे, उसका वातावरण विश्व-बन्धुत्व, उदारता, सदाचार, सादगी और आध्यात्मिकता की पुट लिए हुए होवे। विद्यालय (शाला) के मकान न बनाये जाकर पेड़ों, लताओं के नीचे पढ़ाई की जावे। वर्षा, धूप के लिए कोई खास परन्तु तकलीफ़वाला (जान-बूझ कर ही)—आरामवाला नहीं, प्रबन्ध कर लिया जावे। तकलीफ़वाले से मेरा अभिप्राय तपोभावनायुक्त स्थान से है।

'हे अध्यात्म देव, बताओ यह स्वप्न स्वप्न न रह कर सत्य हो सकेगा?"

उपर्युक्त भावुकता-पूर्ण वचनों को पढ़कर केवल एक स्वप्न का दृश्य सामने आ जाता है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता। जहाँ तक मेरे

इस बात से सम्बन्ध है, मैं यही जानता हूँ कि यद्यपि गुरुकुल के इस पार शहर के नज़दीक आ जाने की कई बुराइयों से मैं परिचित हूँ, तथापि मेरा कर्त्तव्य अभी तक अपनी शक्ति भर इस पार आये वर्त्तमान गुरुकुल को ही सच्चा गुरुकुल बनाने का यत्न करने में है। यह गुरुकुल यदि अपने आदर्श से ऐसा च्युत हो जावे कि गुरुकुल ही न रहे और नया गुरुकुल खोलना पड़े, तो बेशक़ मेरा ध्यान सबसे पहले उस चिल्लांवाली भूमि पर ही जायगा, जिसके साथ कई पवित्र भावनायें जुड़ी हुई हैं और जो जलपूर आदि प्राकृतिक बाधाओं से भी सुरक्षित है। वैसे मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि कई गुरुकुल के स्नातक भाइयों तथा अन्य गुरुकुल-प्रेमियों के अन्दर गुरुकुल को फिर उस पार देखने की भावना इतनी गहरी है कि वह आसानी से नहीं हट सकती। ऐसी ही भावनावाले किसी महानुभाव-द्वारा यदि अब भी वहाँ उस पार कोई उत्तम गुरुकुल खुल जावे, तो मुझे इससे हार्दिक प्रसन्नता ही होगी। पर जो कुछ होना है, वह तो केवल परमेश्वर ही जानता है।

—'अभय'

—

धार्मिक सम्प्रदाय और राजनैतिक धर्म—

इस समय देश की धर्मसभाओं ने राजनीति से पृथक् रहने की नीति स्वीकार की हुई है। इस नीति का परिणाम यह है कि धर्म सभाएँ सामाजिक तथा अन्य शिक्षा सम्बन्धी अन्यायों तथा अत्याचारों का तो विरोध करती हैं, परन्तु विदेशी सरकार के कारण भारतीय प्रजा पर होनेवाले राजनैतिक अधर्म को दूर करने का यत्न करना अपना फ़र्ज़ नहीं समझतीं। हमारी सम्मति में वह धर्म 'धर्म' नहीं, जो जनता को राजनैतिक अत्याचारों से सुरक्षित न करे। धर्म के विस्तृत कार्यक्षेत्र में से राजनीति को पृथक् करना, धर्म को संकीर्ण बनाना है। प्रसन्नता की बात है कि सितम्बर मास के अन्तिम सप्ताह में पंजाब के आर्यपुरुषों ने इस दिशा में परिवर्तन करने का श्रीगणेश किया है। आचार्य रामदेवजी के सभापतित्व में सरगोधा में आर्य-सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन में देश के राजनैतिक अधर्म को दूर करने के लिये प्रस्ताव स्वीकार किये गये तथा जनता को स्वराज्य-धर्म की स्थापना के लिये यत्नशील होने की प्रेरणा की गई। हम चाहते हैं कि देश की अन्य धर्म सभाएँ भी इसी प्रकार अपने कार्यक्षेत्र तथा विचारक्षेत्र को विस्तृत करें और जनता को जीवनोपयोगी, व्यवहारोपयोगी आवश्यकताओं को पूर्ण करने का यत्न करें। तभी वह यथार्थ में जीवित जागृत धर्म की प्रतिनिधि कहला सकेंगी; अन्यथा मतवाद की कीचड़ में फँसकर निर्जीव हो जायेंगी।

—

ह्वाइट पेपर का नग्न-रूप !!!

ह्वाइट पेपर (भावी प्रस्तावित शासन-सुधार की योजना) के अनुसार एसम्बली में २५० प्रतिनिधि निर्वाचित होंगे। साम्प्रदायिक निर्णय के अनुसार इसमें राष्ट्र की भिन्न-भिन्न जातियों के प्रतिनिधियों को इस प्रकार स्थान दिए जायेंगे।

१९¾ करोड़ हिन्दुओं के लिये १०० स्थान।

६¾ करोड़ मुसलमानों के लिये ८२ स्थान।

३२ लाख सिक्खों के लिये ६ स्थान।

३६ लाख हिन्दुस्तानी ईसाइयों के लिये ८ स्थान

१½ लाख यूरोपियनों के लिये १४ स्थान।

१⅓ लाख एँग्लो इंडियनों के लिये ४ स्थान।

प्रान्तीय कौंसिल में भी इसी प्रकार यूरोपियनों को ही ज़्यादा स्थान दिये गये हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ह्वाइट पेपर और साम्प्रदायिक

निर्णय के बनानेवाले १ यूरोपियन की स्थिति को १५५ हिन्दुओं ६० मुसलमानों और ९० शेष हिन्दुस्तानियों के बराबर समझते हैं। हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों को १½ गुणा रियायत दी गई है, क्योंकि हिन्दुओं ने भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध में सरकार के विरोध में विशेष भाग लिया था।

ह्वाइट पेपर और साम्प्रदायिक-निर्णय से न तो मुसलमानों को विशेष फ़ायदा है और न हिन्दुओं को। यदि किसी को फ़ायदा हुआ है, तो वह यूरोपियनों को। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से भारतवर्ष के सब सम्प्रदायों को मिलकर, इस राष्ट्र विरोधी तथा भारतीय राष्ट्र के अंग-अंग को छिन्न-भिन्न करनेवाली दोनों योजनाओं का विरोध करना चाहिये। विदेशी सरकार तथा यूरोपियनों के इस मायाजाल में फँस कर परस्पर एक दूसरे को नुक़सान नहीं पहुँचाना चाहिए। सबको मिलकर विदेशियों की शक्ति को कम करने का यत्न करना चाहिए।

—

यूरोप में क्रान्तिकारी घटनाएँ—

गत मास आस्ट्रिया के प्रैज़िडैण्ट मि० डाल्फ़स की हत्या ने यूरोप के वातावरण को विक्षुब्ध किया था। उसके कुछ दिन बाद ही प्रैज़िडैण्ट हिण्डनबर्ग की मृत्यु ने जर्मनी में हिटलर की स्वेच्छाचारिता को चरम-सीमा तक पहुँचने का मौक़ा दिया। इन घटनाओं के साथ-साथ पौलैण्ड का राष्ट्र-संघ से पृथक् होना, तथा रूस और अफ़ग़ानिस्तान का सदस्य होना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में होनेवाले भारी परिवर्तनों की सूचना दे रहे हैं। अभी संसार के राजनीतिज्ञ इन घटनाओं के सम्भावित परिणामों पर विचार कर ही रहे थे कि स्पेन की राजक्रान्ति और यूगोस्लेविया के राजा अलैक्जेण्डर और फ्रांस के पर-राष्ट्र-मन्त्री मि० बार्थो की हत्या ने यूरोप के वातावरण को और भी अधिक क्षुब्ध कर दिया। इसी समय फ्रांस के अनुभवी राजनीतिज्ञ प्रैज़िडैण्ट मि० पोंयनकेर की मृत्यु ने फ्रांस में नयी परिस्थिति पैदा कर दी। जर्मनी ने मि० पोंयनकेर की मृत्यु पर प्रसन्नता प्रकट कर जातीय विद्वेष की आग को और भी प्रदीप्त कर दिया है।

—

राजा अलैक्जेण्डर की मृत्यु के कारण—

स्पेन में साम्यवादियों ने कटलोनिया प्रान्त के लोगों को उत्तेजित कर, शासन में अपना अधिकार बढ़ाने को कोशिश की। परन्तु स्पेन के प्रधान मन्त्री लोरेकस ने कड़े नियंत्रण द्वारा इनकी कुछ नहीं चलने दी। स्पेनिश फ़ौज की सहायता से कटलोनिया के विद्रोह को शान्त किया। उन के सब नेताओं को गिरफ्तार किया। हड़ताल करनेवालों ने स्पेन की राजधानी मैड्रिड में भी शोर-गुल करना चाहा, परन्तु प्रधान-मन्त्री ने फ़ौजी शासन तथा दमन-चक्र की सहायता से विद्रोहियों को वहाँ भी सिर नहीं उठाने दिया।

इस चहल-पहल में दोनों पक्षों के लगभग १००० आदमी कुर्बान हुए होंगे। अभी इस घटना को हुए सप्ताह भी नहीं बीता था कि यूगोस्लेविया के राजा अलैक्जेण्डर का मासलीज़ में खून होने का समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ। राजा अलैक्जैंडर फ्रैंच राजनीतिज्ञों के साथ राजनैतिक सलाह करने के लिये समुद्र-मार्ग से मार्सलीज़ के बन्दरगाह में उतरे थे। वहाँ फ्रान्स के पर-राष्ट्र मन्त्री मि० एम बार्थो के साथ मोटर गाड़ी में सवार होकर जा रहे थे। यूगोस्लेविया के एक क्रोशियन (क्रोट स्थान के रहनेवाले) व्यापारी ने अपनी जान को हथेली पर रख कर राजा की गाड़ी पर चढ़ कर पिस्तौल

के वार किये। इसमें राजा अलैक्जेण्डर और मि० वार्थो ज़ख्मी होकर मारे गये।

इस घटना का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या असर होगा—यह कहना कठिन है। जिस प्रकार १९१४ ई० में सर्विया के राजा के खून ने यूरोप में युद्ध का श्रीगणेश किया था, सम्भावना थी कि यह हत्या भी ऐसे ही परिणाम पैदा करेगी। परन्तु कहा जाता है कि हत्यारा कॅलेमन मध्य-यूरोप के हत्यारों के एक अन्तर्राष्ट्रीय गुट का सदस्य है। यूगोस्लेविया का निवासी है। राजा अलैक्ज़ेण्डर ने कॅलेमन तथा उसके भाई को कई वार सख्त दण्ड दिया था। अनुमान किया जाता है कि उसी का बदला लेने के लिए यह हत्या की गई।

परन्तु कई लोग जर्मनी तथा इटली को भी इस हत्या के लिए ज़िम्मेवार ठहराते हैं। यूगोस्लेविया के कुछ विक्षुब्ध लोगों द्वारा इटली के प्रतिनिधि पर हमला किये जाने की भी खबर आई है। जर्मनी तथा इटली ने इस घटना का प्रतिवाद किया है, और अपने-आपको इस हत्या से पृथक् किया है।

परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि महायुद्ध के बाद विजयी राष्ट्रों ने वार्सेल्स की सन्धि के अनुसार यूगोस्लेविया आदि नवीन राष्ट्रों की रचना इस ढंग से की थी कि उससे कई जातियों के साथ अत्याचार तथा अन्याय हुआ था। वर्तमान यूगोस्लेविया में सर्विया, डालमाशिया, मौण्टनीग्रो, क्रोशिया तथा स्लेविनिया के भाग सम्मिलित किये गये थे। इन भिन्न-भिन्न संस्कृतिवाली जातियों में अल्पसंख्यावाले लोग समय-समय पर राजा अलैक्ज़ेण्डर के विरुद्ध विद्रोह की योजनाएँ करते रहे हैं। क्रोशिया प्रान्त के लोग यूगोस्लेविया से पृथक् होना चाहते हैं। यूगोस्लेविया की पार्लमेण्ट में सब प्रान्तों के प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं, परन्तु क्रोट निवासी अपना अलग स्व-लोकसत्तात्मक स्वराज्य स्थापित करने का ही यत्न करते हैं। राजा ने फ़ौजी शासन से उनके यत्न को सफल नहीं होने दिया। क्रोशिया के खिजे हुए नवयुवकों ने राजा अलैक्ज़ेण्डर का खून करने के लिए "पेवरिश" नाम एक गुट भी बनाया, परन्तु उसमें भी वह सफल न हो सके। क्रोट का प्रतिनिधि यूगोस्लेविया की पार्लमैंट में जाता है, परन्तु वहाँ भी वह अड़ंगे की—दाँव-पेच की—नीति से रुकावटें खड़ी करता है। राजा ने तंग होकर १९१९ ई० में सारी शासन-सत्ता अपने हाथ में ले ली। क्रोशिया की इस मनोवृत्ति से यह अनुमान भी किया जाता है कि यह खून क्रोशिया जाति के असन्तोष का परिणाम है। वार्सेल्स की अन्याय मूलक सन्धि का भी इस हत्याकांड में भाग है। देखें यह खून यूरोप में क्या रंग लाता है।

भीमसेन

आत्म-निर्णय तथा आर्थिक साम्यवाद ही संसार में शांति स्थापित कर सकता है!

लेखकों के सम्बन्ध में

(१) जब मन में उमंग हो, कुछ नयी लाभदायक बात जनता को सुनाने की प्रेरणा हो, तभी लिखिये।

(२) कागज़ के एक तरफ़, हाशिया और पंक्तिओं के बीच में जगह छोड़ कर, सुवाच्य अक्षरों में लिख कर भेजिये।

(३) एक प्रति अपने पास रख कर ही लेख आदि भेजिये, अप्रकाशित लेख आदिक वापिस किया जाना आवश्यक नहीं है।

(४) लेख आदि रचना को छापने न छापने, इस अंक में छापने, उस अंक में छापने, घटाने बढ़ाने, लौटाने न लौटाने का अधिकार सम्पादक को रखने दीजिये, इसके बिना काम नहीं चल सकता है।

विज्ञापनों के सम्बन्ध में

केवल अपनी आमदनी करने की दृष्टि से अलंकार में विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे। इस लिये—

(१) अधार्मिक, अश्लील, पतनकारी विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(२) असत्य, अतिशयोक्ति पूर्ण, भ्रमोत्पादक विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(३) स्वदेशी के विरोधी, विदेशी के प्रचारक गरीबों को हानि पहुँचाने वाले विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(४) पुस्तकों के विज्ञापन भी वे ही लिये जायेंगे जिनके विषय में हमने स्वयं पढ़ कर या किसी अन्य तरह पूरा संतोष प्राप्त कर लिया होगा।

अलंकार के नियम

(१) अलंकार प्रत्येक सौर महीने के प्रारंभ (अंग्रेजी महीने के मध्य) में प्रकाशित होता है।

(२) डाक खर्च सहित अलंकार का वार्षिक मूल्य ३) है, एक प्रति का ।-) विदेश से ६ शिलिंग या ४)।

(३) ग्राहकों को चाहिये कि वे वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजें, वी० पी० न मंगावें। वी० पी० से मंगाने में कम से कम ≈, अ [illegible] व्यय उनको व्यर्थ में करने पड़ेंगे, अन्य जो असुविधा होती है, वह जुदा है।

(४) ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या तथा पूरा पता साफ़ लिखना चाहिये।

(५) उत्तर पाने के लिये जबाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें, अन्यथा उनके लिखे अनुसार कार्य कर दिया जावेगा, उत्तर नहीं दिया जा सकेगा।

(६) लेख कविता तथा रचनायें

संपादक 'अलंकार'
गांधी सेवाश्रम
डा० खा० गुरु कुल कांगड़ी
जि० सहारनपुर

के पते पर भेजनी चाहियें तथा मनीआर्डर व विज्ञापन तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र प्रबंधक 'अलंकार' १७ मोहनलाल रोड लाहौर के पते पर आने चाहियें।

(७) यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक न पहुँचे तो उन्हें इस बात की सूचना १५ दिन के भीतर देनी चाहिये। इस के बाद मूल्य ले कर ही वह अंक भेजा जा सकेगा।

विषय-सूची

का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः, कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ?

"सुन्दर वचनों से हम तेरा क्या अलंकार कर सकते हैं ? हे इन्द्र ! वह समय कब आवेगा जबकि हम तुझे अपने आप को दे देंगे, पूर्ण आत्मसमर्पण कर देंगे ?" ऋ० ७-२९-३॥

वर्ष ४] मार्गशीर्ष, १९९१ :: दिसम्बर, १९३४ [संख्या ११

वन्दे मातरम्

(रचयिता—कवीन्द्र रवीन्द्र)

[बम्बई मे राष्ट्रीय महासभा के ४८वे अधिवेशन मे प्रथम दिन इस गीत से मंगलाचरण किया गया]

(१)

जहां रहे मास्तिष्क सदा निर्भीक और शिर ऊँचा हो,
जहां ज्ञान रहता है बन्ध मुक्त, स्वतन्त्र समूचा हो !
जहां संकुचित धरु-लित्ति से यम के खण्ड न बनते हैं,
जहां सचाई की गहराई से आ शब्द निकलते हैं ।

(२)

जहां पूर्णं की ओर अथक-श्रम अपने हाथ बढ़ाता है,
जहां ज्ञान का स्रोत, व्यसन-मरु में पथ नहीं भुलाता है ।
जहां ध्यान जाता विचार कर्तव्य ओर होकर तेरा,
उस स्वातंत्र्य-स्वर्ग में जागृत कर दो पिता, देश मेरा ।

अनुवादक—भगवानदास बालेन्दु

निर्वाण-संदेश

[ले०—आचार्य देवशर्माजी 'अभय']

प्रति वर्ष आती हुई कार्तिक-अमावस हमें दयानन्द के भव्य निर्वाण का स्मरण दिलाती आती है। यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्वाण का मतलब विनाश नहीं है। निर्वाण का अर्थ बेशक प्रकृति मे लीन हो जाना, अव्यक्त हो जाना, अप्रकट हो जाना है—पर किसी दूसरे रूप में दूसरे क्षेत्र में प्रकट होने के लिये पहिले रूप व क्षेत्र से अप्रकट हो जाना है। निर्वाण अति सूक्ष्म हो जाना है, पर अति विस्तृत होने के लिये सूक्ष्म रूप हो जाना है। जैसे कि जलता हुआ दीपक बुझ जाता है, वैसे इस कार्तिक अमावस्या के दिन दयानन्द का जड़ भौतिक स्थूल शरीर अपनी प्रकृति में लीन हो गया, अप्रकाशित हो गया, दूसरे रूप में व दूसरे क्षेत्र में विशेष चमकने के लिये अप्रकट हो गया। तो यह निर्वाण हमें क्या सिखाता है? हमें क्या संदेश सुनाता है?

यह संदेश आत्मसमर्पण का संदेश है, परिपूर्ण और सर्वभाव से किये गये आत्मसमर्पण का संदेश है। इस अमावस की सायंकाल ऋषि दयानन्द ने अपने ब्रह्मचर्य द्वारा पूर्ण किये गये जीवन को—ब्रह्मचर्यमय रस से भरपूर अपने जीवन-भाण्ड को—प्रभु के चरणों में यह कहते हुए प्रेम-पूर्वक समर्पित कर दिया था कि—

तेरी इच्छा पूर्ण हो,

हे प्रभो! तेरी इच्छा पूर्ण हो।

ये वचन, अपने प्रभु को अभिमुख करके कहे गये ये ऋषि वचन, बेशक दयानन्द के भौतिक जीवन के अन्तिम वचन के तौर पर संसार में सुने गये, पर वास्तव में ये वचन उनके संपूर्ण ही जीवन-संगीत की टेक थे, सतत गाये जानेवाले उनके जीवन-भजन के टेक-वचन थे। इसी लिये जब ऋषि का वह महान् संसारव्यापी जीवनसंगीत समाप्त हुआ जो कि अपनी सब इच्छा को प्रभु-इच्छा में मिलाने के स्वर-सम्मेलन द्वारा गंभीर स्वर में निकल रहा था, तो ये शब्द स्थूल रूप में भी उच्चारित किये गये कि—

"प्रभो! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो!"

सचमुच उस सर्वकल्याणमयी, सर्वभूतात्मिका, सर्वशक्तिमती इच्छा के सामने अपनी कोई भी दूसरी इच्छा रखना केवल मूर्खता है। सब प्रभु-भक्त यही अनुभव करते आये हैं। दयानन्द भी बचपन से ही प्रभु की खोज में लगे थे। प्रभु की खोज के लिये उन्होंने अनगिनत कष्ट सहे, प्रभु के प्रेम के लिये पग-पग पर आत्मत्याग किया। घर-बार छोड़ा, धन संपति त्यागी, ब्रह्मचर्य का व्रत लिया, जंगल, पहाड़ों में लोहूलुहान होकर विचरे, विरोधियों की ईंटे-पत्थरें खायीं, और अन्त में प्रभु-प्रेम के लिये ही विष पान करके अपने ऐहिक जीवन को भी समर्पण कर दिया। क्या हमने ऋषि के आत्मसमर्पणमय इस जीवन-संगीत को सुना है? उनके जीवन के इस सौन्दर्य को अनुभव किया है? उनके महान् महत्त्व के इस रहस्य को समझा है?

वे इतने निर्भीक, निश्चिन्त और बलवान् क्यों

थे ? इसी लिये क्योंकि उन्होंने अपने-आपको पूरी तरह प्रभु के हाथों में सौंप रखा था। उन्होंने अपना और अपने सब-कुछ का सब बोझ प्रभु के सर्वसह कन्धों पर आश्रित कर रखा था। जब हम गङ्गा में घड़ा डुबोते हैं; या कुएँ में डोल डुबोते हैं, तो जब तक कि वह भरा हुआ घड़ा या डोल पानी में रहता है, तब तक वह कितना हलका होता है। पर पानी से बाहर आते ही वह अत्यन्त बोझल हो जाता है। इसी तरह जो भक्त अपने-आप को इस सर्वव्यापी चेतन तत्त्व में पूरी तरह मग्न कर देते हैं, वे निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त हो जाते हैं, भार-रहित, हलके-फुलके और प्रसन्न होकर विचरते हैं। यह अपने को उससे जुदा रखना अथवा स्वार्थ ही है जो मनुष्य को भारवही चिन्ताग्रस्त और दुःखी बनाता है। पर जिसने अपनी सब इच्छायें, सब तृष्णायें, 'अपना' सब-कुछ उस अमृत-सागर में डुबो दिया है, उसने परम शान्ति प्राप्त कर ली है। इसी लिये दयानन्द निधड़क होकर अपने शत्रुओं के बीच जाते थे, जान लेनेवालों के झुण्ड में बेखटके पहुँचते थे। उन्होंने अपने-आपको एक प्रभु के सामने पूरी तरह झुका दिया था, अतः उन्हें फिर अन्य किसी के भी सामने झुकने की आवश्यकता न रही थी। उन्होंने अपनी सब इच्छायें एक प्रभु को समर्पित कर दी थीं, अतः उन्हें फिर अन्य किसी की इच्छाओं की, अन्यों की खुशी वा नाराज़गी की, कुछ भी परवाह न रही थी।

ये हमारी अपनी जुदी इच्छायें हैं, हमारी कामनायें हैं, हमारे 'अपने' स्वार्थ हैं, जो हमें अपने प्रभु से मिलने नहीं देते। हम असत् से सत् की तरफ़ अपनी इन कामनाओं के मारे ही नहीं पहुँच सकते। दयानन्द ने इस आत्मसमर्पण के मन्त्र द्वारा ही अपने बलवान् शरीर में अपने महिमाशाली मन में और अपने दिव्य आत्मा में सत् को स्थापित किया था। असत् से सत् को प्राप्त करने का उपाय अपनी सब क्षुद्र इच्छाओं को त्याग देना ही है।

ऋषि दयानन्द ने ज्ञान-ज्योति प्राप्त की थी, तम से ज्योति को पाया था। यह इसी लिये चूँकि उन्होंने आत्म-ज्योति जगाने के लिये लगातार अपनी सब इच्छाओं का परमात्माग्नि में हवन किया था।

और दयानन्द अपनी देह को छोड़कर भी मरे नहीं हैं, मृत्यु से अमृत को प्राप्त हुए हैं। यह भी इसी लिये, क्योंकि वे पूर्ण आत्मसमर्पण में ही पूर्ण जीवन अनुभव करते थे।

मरते मरते जग मुआ, मरना जाने न कोय।
ऐसा होय के न मुआ, बहुरि न मरना होय॥

दयानन्द ऐसा ठीक मरना जानते थे। इसी लिये दयानन्द की मृत्यु को हम निर्वाण कहते हैं, अमृत सागर में गोता लगाना कहते हैं। एक आर्य-कवि ने दीपावलि पर उत्प्रेक्षा करते हुए लिखा था कि इस अमावस के अँधेरे में उसका अनमोल रत्न 'दयानन्द' खो गया था, इसलिये भारतमाता मानों असंख्य दीपक जला कर उसे ढूँढ रही है। पर हमें तो दीपकों के जलने में भी आत्मसमर्पण की ही ध्वनि सुनाई देती है कि "अपने-आपको बिना भस्म किये प्रकाश नहीं हो सकता।" वह महा ज्योति बुझ गयी, तो हम असंख्यों आर्यसमाजियों को अपने को स्वाहा करते हुए जग उठना चाहिये और संसार में छाई हुई अँधियारी में वैदिक प्रकाश फैला देना चाहिये। यह उपदेश सुनाई देता है। बलिक यह अमावस की तिथि भी हमें पूर्ण आत्मसमर्पण की ओर ही संकेत करती दीखती है। जैसे कि अमावस्या को चन्द्रमा (इन्दु) अपनी सोलह कलाओं को (इन्द्र के लिये) अर्पित कर देता है और इस

प्रकार शुक्लपक्ष का प्रारम्भ करता है उसी तरह दयानन्द की आत्मा ने अपनी परिपूर्णता में, अपनी सोलह कलाओं में अपने को जब प्रभु-समर्पित कर दिया, तो संसार में वैदिक युग का नया शुक्लपक्ष प्रारम्भ होगा। क्या हम नहीं अनुभव करते कि ऋषि का महान् आत्मसमर्पण (निर्वाण) संसार में नये युग का प्रारम्भ करनेवाला हुआ है, उस युग का, जिसमें एक-एक कला करके वैदिक ज्योति का पुनर्विकास होना प्रारम्भ हो गया है।

कार्तिक अमावस्या की इस चर्चा में स्वामी रामतीर्थ का स्मरण आये विना नहीं रह सकता। एक दीपावलि के दिन स्वामी राम ने अपने एक मित्र को लिखा था—

"मैंने भी आज जुआ खेला है। और इस जुए में मैंने अपना सर्वस्व दे दिया है, अपना सब का सब बाज़ी पर लगा दिया है। एवं मैंने आज प्रभु को जीत लिया है, अपने आत्मा को पा लिया है।"

कहते हैं कि स्वामी राम एक दीपावलि के दिन ही लय को भी प्राप्त हुए थे, प्रभु का नाम पुकारते हुए आनन्द-मग्न हो कर जल-समाधि ले गये थे। सचमुच इसमें संदेह नहीं है कि पूर्ण आत्मसमर्पण ही पूर्ण प्राप्ति है।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यही तो कहा था जब कि उन्होंने सुनाया था—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इसी सनातन सत्य को ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन-द्वारा इस युग में प्रतिध्वनित किया है और इसकी चरम सीमा, अन्तकाल के समय, बोला है—

'तेरी लीला मंगल है, प्रभो! तेरी इच्छा पूर्ण हो!'

तो यही दयानन्द निर्वाण का संदेश है, यही कार्तिक अमावस्या का उपदेश है, और यही यदि आर्यसमाज समझे तो—भगवान् का आर्यसमाज को आदेश है।

क्या आर्यसमाज इस आदेश व संदेश को सुनेगा? क्या वह प्रभु की मंगल-इच्छा को जानेगा और उसे पूर्ण करने में लगेगा? क्या वह अपनी सब क्षुद्र इच्छाओं को उसकी महान् इच्छा में भक्ति-पूर्वक समर्पित कर सकेगा?

दयानन्द-निर्वाण का दिन तो यही कह रहा है और यही कहता रहेगा।

धन्य धन्य भारतभूमि!

१

धन्य धन्य भारत भूमि,
विजय शक्ति जीवन जोम,
हम बने हय कौम,
देश के ही सा.........रे।

२

येही जान येही प्रान,
मुल्क के लिये कुरबान,
हम सदा रहें मस्तान,
वतन ये हमा ....रे।

३

अनिल वायु मन्द मन्द,
मधुर गाय पंछी वृन्द,
नभ गिरि पर धवल शृंग,
फुल्ल प्रफुल्ल भ्रमर भृंग।

४

हम किसान देश नूर,
हम मजूर कर्म शूर,
हम सरूप क्रांति वीर,
हम स्वतन्त्र जंग धीर।

५

धन्य धन्य मनुज बाल,
पुण्य भूमि वृक्ष रसाल,
हम धरेंगे सब खुशाल,
मातृ भूमि प्या.........रे।

६

हृद स्फुरित नवल पान,
हम करेंगे अमर गान,
नित्य नवल धवल शान,
मुल्क में हमा.........रे।

उपयोग करने में बड़ी कंजूसी करते हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के भिन्न-भिन्न प्रकार के पायख़ानों की रचना के पीछे अगर कुछ सिद्धान्त देखा जाय तो सर्वमान्य सिद्धान्त यह एक ही पाया जाता है कि शौच क्रिया के समय, जहाँ तक हो सके मैला ग़लती से भी नज़र न पड़े, छींटों से शरीर बच जाय और साफ़ करते समय भी घर के आँगन में आने से भंगी को यथासम्भव टाला जा सके। इन तीनों बातों का ख़याल रखकर जो मकान मालिक टट्टी बनवायेगा, वह अपनी इस स्थापत्य-कला पर सन्तुष्ट हो जायेगा।

महल बनानेवाला एक बात और सोचेगा कि खाने, पीने, सोने की जगहों को बदबू से कैसे बचाया जाय। परन्तु बदबू, गंदगी पैदा ही न हो, यह सोचनेवाला कोई बिरला ही नज़र आयेगा। बहुत बड़े शहरों में धनी-रईसों के यहाँ विलायती ढंग की पानी से साफ़ होनेवाली टट्टियों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। किन्तु वैसी टट्टियों में भी फ़ी सदी शायद बीस ही ऐसी मिलेंगी, जो स्वच्छ और बदबू रहित होंगी। यह हमारे समाज का इस बारे में प्रगाढ़ आलस्य सूचित करता है। सफ़ाई करने के लिये एक जंजीर खींचने जैसी आसान-से-आसान क्रिया तक जो समाज नहीं कर सकता, उसको टट्टी-सफ़ाई का और कौन-सा तरीक़ा साध्य या मान्य हो सकेगा, यह सोचते हुए दिमाग़ चकराने लगता है। फिर भी जो समाज चौका धोये बिना, नहाये बिना, कपड़ा पानी में निचोड़े बिना खाना नहीं खाता; जो आँगन झाड़ने का, दतौन करने का संस्कार पा सका है, वह समाज शौच-कूप सफ़ाई के संस्कार न पा सकेगा, ऐसा अविश्वास क्योंकर करें? इस दिशा में सुसंस्कार डालने की आवश्यकता है। क्या जाने, हमारे कितने प्राचीन ऋषि-मुनियों की कैसी-कैसी तपश्चर्या के बाद और कितने युग के प्रयास के बाद आज हमें प्रातः-स्नान का संस्कार मिला है। उसी तरह हमें बड़े धैर्य से और प्रयत्न से मल-मूत्र की सुव्यवस्था के संस्कार जनता में डालने होंगे। पानी की कल से धुलनेवाली टट्टियाँ अच्छी होती हैं। पर वह सर्वव्यापी नहीं हो सकतीं। एक तो वे बड़ी ख़र्चीली होती हैं। दूसरे हर जगह पानी का इतनी अधिक मात्रा में मिलना असम्भव है। तीसरे जिन नलों के और गटरों के द्वारा वह बहाई जाती हैं और जिस जगह पर सारे शहर का मैला एकत्रित होता है, उसको साफ़-सुथरा रखना कठिन होता है। ऐसे पायख़ाने धनी लोग ही प्रयोग में ला सकते हैं। हमें आसान-से आसान और ग़रीब-से-ग़रीब आदमी हर जगह जिसका प्रयोग हो सके, ऐसी पद्धति का आविष्कार करना आवश्यक है; जैसे "टूथब्रुश" और "टूथपेस्ट" के मुक़ाबिले में नीम, कीकर की लकड़ी का टुकड़ा और कोयले के चूरे-जैसी चीज़ों का प्रयोग ही हमारे लिए उपयुक्त है।

शौच-कूप की सुव्यवस्था के बारे में चर्चा करते समय कई समझदार मित्रों ने मुझे गुरुमन्त्र देना चाहा है कि शौच कूप रखना ही क्यों? हमारे पुरखे प्रातःकाल सुदूर जंगल में निवृत्त हो आते थे। उन्हें शौच-कूप की कभी आवश्यकता ही न थी। यह टट्टी का रिवाज तो आधुनिक संस्कृति का परिणाम है। हमें लोगों को वह प्राचीन तरीक़ा सिखा देना चाहिये कि टट्टी कोई न रक्खे, जंगल में जाया करे। ऐसा उपदेश देनेवालों को जंगल में प्रातः-क्रिया से निवृत्त होने की प्राचीन रीति में जो काव्य दीखता है, वह काव्य आज तक मुझे नहीं छू सका है। यह ठीक है कि सूर्योदय से पहिले बस्ती से दूर

मैदानों और जंगलों की स्वच्छ प्राणदायी हवा में दीर्घ श्वास और प्राणायाम के साथ व्यायाम करना, दौड़ना, चलना, आरोग्यकर और काव्यमय है। किन्तु उन्हीं स्थानों को जहाँ-तहाँ शौच जाकर दूषित करने में भला क्या काव्य है ? भ्रमण और व्यायाम के लिये चलने से पहिले ही शौच हो आना आरोग्य के लिये बहुत आवश्यक है। हमारे देश के एक काफ़ी बड़े शहर की बात है। उस शहर से करीब तीन मील की दूरी पर एक पुण्यप्रवाहा सुसलिला नदी थी। श्रीकुमारी मीरा बहिन (मिस स्लेड) के साथ प्रातःकाल वहाँ घूमने जाने का प्रसंग मुझे याद पड़ता है। हमारा रास्ता बहुत अच्छी अमराइयों के बीच से गुज़रता था। वसन्त ऋतु का प्रारम्भ था, मञ्जरी की महक चित्त को प्रसन्न कर रही थी। पर उस महक को दबा देनेवाली मनुष्य मल की बदबू दस-दस, बीस बीस क़दम पर प्रातःकाल के उस भ्रमण को ज़हर के समान कर देती थी। कई अमराइयों में पगदंडी के दोनों तरफ़ थोड़े-थोड़े अन्तर पर पच्चीस-पचास पुरुष शौच-क्रिया करने बैठे थे। एक दूसरों के बीच में कुछ आड़ न थी। अँधेरा चला गया था। काफ़ी प्रकाश हो चुका था। मैदान और बाग़ ऐसे थे कि शौचार्थी चाहे चारों दिशा में कितनी ही दूर क्यों न चला जाय, उस बेचारे को कहीं आड़ मिलनी शक्य न थी। सारा दृश्य भद्दा और घृणास्पद था। फिर मेरे साथ महिला थीं। शरम और क्षोभ के मारे वहाँ से दौड़कर भाग जाने को मेरा जी करता था। जब ऐसे दृश्यवाले मील डेढ़ मील से हम पार हो चुके, तब मैंने सुख की साँस ली कि अच्छा हुआ, मीरा बहिन ने इस बुरे दृश्य पर चर्चा करके मुझे और शरम में न डाला। क्या शहर, क्या देहात, क्या धर्मशाला, क्या मन्दिर, क्या नदी का किनारा, क्या छोटी-बड़ी हवेलियों के पासवाली सड़कें, क्या तीर्थ स्थान, क्या बाज़ार, इस खुले-आम टट्टी जाने की आदत ने हमारे सब स्थानों को नरक-स्थान जैसा बना दिया है। प्राचीन काल में जब जंगल थे, तब जंगलों में 'जंगल' जाना शायद उचित रहा होगा। किन्तु आज के युग में जंगल हैं कहाँ ? पहाड़ों की तराई या जल-स्थानों के आस-पास जो मैला करते हैं, वे पानी के झरने और नदी-नालों के पानी को बिगाड़ते हैं। हैज़े-जैसी कई महामारियाँ फैलाने का मुख्य निमित्त ऐसा बिगड़ा हुआ पानी ही होता है। मैदानों में जहाँ घनी आबादी होती है, वहाँ निर्जन-स्थान मिलता ही नहीं। अगर कोई अप्रमादी मनुष्य बस्ती से दूर चला जायेगा, तो थोड़ी ही दूर जाने पर वो दूसरी बस्ती के समीप पहुँच जायेगा। अतिपराक्रम से सौ में दो-तीन पुरुष यदि अपने प्रातः-कर्म के लिए निर्जन-स्थान ढूँढ निकालेंगे, और मल की ज़हरीली वायु जितनी दूर पहुँच सकेगी, उतने घेरे में आमदरफ़्त की कोई पगडंडी नहीं भी होगी, तो भी मक्खी-जैसे जन्तु वैसे निर्जन स्थान से भी मैले के परमाणुओं और रोगप्रसारक कीटाणुओं को आसानी से बस्ती तक पहुँचा देते हैं। लेकिन ऐसे बस्ती से दूर जानेवाले अपवाद बहुत कम होते हैं। असंख्य देहात इस कुटेव के ऐसे शिकार नज़र आते हैं कि शुद्ध वायु, मल की कक्षा को पार किये बिना बस्ती में घुस ही नहीं पाता। अपने बैठने के स्थान से चार पाँच मिनट के फ़ासले तक चल देने के बाद चाहे कैसी भी जगह क्यों न हो, वहाँ शौच जाने में कुछ बुराई समझी ही नहीं जाती। शहरवाले होंगे, तो अपनी गली छोड़कर दूसरी गली में मैला कर आयेंगे, और दूसरीवाले पहिली गली में हो आयेंगे। उसी तरह देहाती अगर अपने घर के दरवाज़ों की जगह

साफ़ रक्खेगा, तो घर के पिछले हिस्से में मैला करने में कुछ दोष न मानेगा। कुआँ, नदी, जोहड़े आदि के किनारे और गाँव के बच्चों के खेलने की जगह कुछ भी गन्दगी से बचने न पायेगा।

कई लोग ऐसी दलील करते हैं कि गन्दगी को हटाने की चिन्ता करने की कुछ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर ने इस की सफ़ाई के लिये कुत्ते, सूअर, गाय, मल को खानेवाले कीड़े आदि बना रक्खे हैं। यह दलील नहीं है अट्टहास्य है, मनुष्यों के बीच दिन-रात रहनेवाले ये प्राणी जितना अशुद्धाहार करेंगे, उतना ही वातावरण को अशुद्ध किये बिना कैसे रहेंगे ?

तात्पर्य यह है कि क्या देहात, क्या शहर खुले आम शौच जाने की आदत से जनता को छुड़ाना ही होगा। और प्रचलित-नर्क-कूपों को सुधारने की उससे भी अधिक आवश्यकता होगी। इन दोनों बातों को (सिद्धान्तों को) स्वीकार कर के कल्पना-परी की जादुई लकड़ी से नये भंगी बने हुए हम लोगों को पायखाना-सफ़ाई के विविध नवीन आविष्कारों की चर्चा का आरम्भ करना होगा।

दीपमालिके !

शुभागमनम्।

तू आई है दिव्यालोक की पताका लिए, प्रकाश की माला पहिने। ज्योत्स्ना धवल किरणों की डोर में ज्योति-रूप दीप-मनकों को पिरोये।

जहाँ से आई है ज्योति को साथ लिये आई है—जहाँ जा रही है ज्योति को बिखेरती जाती है—जब उस लोक में पहुँचेगी तब वहाँ भी ज्योत्स्ना-सुधा बरसाएगी।

वीणा की अनन्त तारें कंपित हो होकर तेरा अमर सन्देश सुना रही हैं।

*   *   *   *   *

यहाँ तमोमयी निशा है, विस्मृति की गाढ़ निद्रा है, स्वप्न-लोक का प्रमाद है। अन्धकार की निविड-निशा में आसुरी भावों ने देवत्व पर एकाधिपत्य कर लिया है। अनार्यपन आर्य गुणों को अपने काले आँचल में छिपा बैठा है। दासता स्वतन्त्र मनोवृत्ति की राह रोके बैठी है। विमुख हुए जन सन्मार्ग को नहीं पहचानते।

चहुँ ओर अन्धकार की क्रीड़ा है, कृष्णपक्ष की वेदना है, कुमार्ग की भर्त्सना है, पराजय की विभीषिका है—पुकार है प्रकाश की, प्रकाश! प्रकाश!!

*   *   *   *   *

सुन कर चली आई है स्वर्ण रश्मियों के पंखों पर बैठ कर, दया करके उतर आई है उदयाचल की अरुण शिखा पर, मुग्ध मधुरालाप कर रही है, नभोमण्डल की झिलमिल तारिकाओं में, करुणानन्द वर्धन कर रही है भूमिलोक की असंख्यात दीप-शिखाओं में—अनन्त प्रकाश, परिपूर्ण प्रकाश, असंख्य दीप्तिमानालोक! तुझे कैसे देखें, कैसे जानें, कैसे पकड़ें ?

हे अनन्त-परिपूर्ण-असंख्य रङ्ग-रञ्जित दीपमालिके! तू अपने में से केवल एक झिलमिल तारा, केवल एक रिमझिम किरण, केवल एक टिमटिम दीपक! दे दे!

बस, अनन्त-पूर्ण-असंख्य में से केवल एक! केवल एक!!

जिसे पाकर फिर उसे तेरे ही चरणों में अर्पित कर दें।

—वीरेश

ईस्ट-अफ्रीका की यात्रा

(२)

[लेखक—श्री सत्यदेव विद्यालंकार, स्नातक गुरुकुल काँगड़ी]

जहाज़ पर चढ़ने से पूर्व सभी यात्री बम्बई से खाने-पीने के लिए जो कुछ भी ले सकते हैं, ले लेते हैं। पक्के और कच्चे फल, भोजन के लिए उचित राशन और विशेष रूप से नमकीन तथा चटपटी वस्तुएँ—अचार, सिरका, प्याज़ आदि-आदि। समुद्र-यात्रा प्रारम्भ होने के एक दो दिन बाद मिठाई, जैसी वस्तुएँ खानी सर्वथा अरुचिकर हो जाती हैं, इसी लिए अनुभवी यात्री अपने साथ कोई भी विशेष मिठाई लेकर जहाज़ पर नहीं चढ़ते। मेरी यह प्रथम समुद्र-यात्रा थी, इसलिए मैंने कुछ मिठाई साथ ले ली थी; परन्तु कुछ दिन बाद वह सब सिक्ख भाइयों में बाँट दी।

जो डेक के यात्री जहाज़ के किराये के साथ ही भोजन के लिए १५) जमा करा देते हैं, उन्हें जहाज़ के होटल से भोजन मिलता है। भारत से अफ्रीका के पूर्वी किनारों पर चलनेवाले सभी जहाज़ों में भोजन के दो विभाग हैं—हिन्दू विभाग, जिस में पूर्णरूप से निरामिष भोजन होता है, और दूसरा मुस्लिम-विभाग, जिस में मांस दिया जाता है। मांस के कारण इस विभाग के भोजन का रेट कुछ महँगा होता है। क्योंकि अफ्रीका जानेवाले यात्रियों में विशेष रूप से गुजराती लोग होते हैं, इसलिए उन्हीं की दृष्टि से भोजन बनाया जाता है। डेक के पञ्जाबी यात्री तो प्रायः अपना भोजन स्वयं ही बनाते हैं। कई यात्री आपस में मिल जाते हैं और बम्बई में इकट्ठा राशन लेकर जहाज़ में मनचाही रोटी बनाते और खाते हैं। समुद्री जलवायु के कारण जहाज़ पर भूख भी बहुत लगती है। इसलिए प्रायः यात्री लोग सारे दिन, यदि समुद्री-बीमारी से सताये हुए न हों, तो कुछ-न-कुछ खाते ही रहते हैं। मैं भी एक यात्री के साथ शामिल हो गया था। इसने सारी यात्रा में मुझे अच्छे से अच्छा भोजन बनाकर खिलाया। जहाज़ में भोजन बना कर खिलाने के उपकार को कोई भी व्यक्ति आजन्म नहीं भूल सकता, इसका अनुभव भी जहाज़ में ही होता है। इधर रात्रि ने अपना काला अञ्चल पसार दिया था। उस पर जहाज़ के विद्युत् दीपक सितारों की तरह चमक रहे थे। बड़े आनन्द से भोजन किया और उसके बाद जहाज़ का एक चक्कर लगाया। कहीं पर गप्पें लग रही थीं, कहीं किसी विषय पर गुजराती भाई बहस कर रहे थे, परन्तु ताश की पार्टियाँ हरेक स्थान पर थीं। जहाज़ पर यात्री लोग ताश से जितना मनोरञ्जन करते हैं, उतना और किसी वस्तु से नहीं। परन्तु कुछ कवि-हृदय इस सारे मनोरञ्जन से दूर होकर जहाज़ के अग्रभाग पर लङ्गरों के पास बैठे हुए समुद्र के गम्भीर नाद को सुनते हुए, आकाश के तारों के साथ हास-विलास कर रहे थे। यह यात्री चारों तरफ़ की अनन्त जलराशि में इस भीमकाय, परन्तु अनन्त में एक परमाणु-तुल्य, जहाज़ की उसे आगे बढ़ाती हुई हरकतों को सोचता हुआ मनुष्य-बुद्धि के अपार

विकास पर भी मन की उड़ानें ले रहा था। निशा बीत रही थी, दूर से एक तान सुनाई दी—मधुर वाद्य के साथ गायक ने आलाप किया—

'प्रभु तेरी महिमा अपार।'

मैं अपने बिस्तर पर लेट गया। इस मधुर आलाप के साथ-साथ गुनगुनाता हुआ रात्रि की मधुर विश्राममयी गोद में जा विराजा।

प्रातःकाल होने को था। उषा अपना दिव्य रूप धारण किये, सूर्योदय का सन्देश देने आई। समुद्र की शीतल पवन ने स्वागत किया। उषा आँखों से ओझल हुई और समुद्र-क्षितिज पर धीमे-धीमे सूर्य भगवान् उदित हुए। समुद्र का यह दृश्य संसार के सुन्दरतम दृश्यों में एक है। सूर्य का क्रमोदय—उसका अपनी एक एक कला के साथ प्रकट होना 'कवि-हृदय' को आकृष्ट कर लेता है। आँखें देखती हुई थकती नहीं। वह उज्ज्वल रक्त प्रकाश भगवान् सूर्य के लिए समुद्रतल पर एक सुन्दर पथ तैयार कर देता है। समुद्र-तरङ्गों पर उछलती, नाचती उसकी ज्योति प्रेमी-हृदय में घर कर लेती है। बाल-रवि का धीमे धीमे उदय होना, उसका धीमे-धीमे उचक-उचक कर झाँकना और अन्त में पूर्ण प्रकट होकर अपनी सृष्टि का विलोकन एक 'प्रिय-मिलन' का अद्भुत दृश्य होता है।

इधर दूरी पर भारत-भूमि का तट दिखाई दिया। यात्री चिल्ला पड़े, पोरबन्दर आनेवाला है। इसी को प्राचीन इतिहास में सुदामापुरी कहा जाता है। देखते-देखते श्वेत मकान भी दिखाई दिए। दूर पर समुद्र में छोटे-छोटे जहाज़ भी खड़े थे। बन्दरगाह के पास पहुँचने तक दुपहर हो गया। टेरिया जहाज़ बन्दरगाह से लगभग डेढ़ दो मील के अन्तर पर खड़ा हो गया। इस बन्दरगाह में पानी के उथला होने से बड़े बड़े जहाज़ दूर, पर समुद्र में ही खड़े हो जाते हैं। बन्दरगाह से बहुत से कच्छी यात्री छोटी छोटी किश्तियों पर चढ़कर जहाज़ के पास आ गए। जहाज़ पर से सीढ़ी नीचे लटका दी गई थी, सब नये यात्री उससे ऊपर आ गए और जहाज़ी क्रेनों से उनका सामान ऊपर चढ़ा लिया गया। इसके इलावा फल बेचनेवाले और कार्ड बेचनेवाले छोटे-छोटे कच्छी लड़के जहाज़ में आ जाते हैं। कार्ड बेचनेवाले एक कार्ड के ५ या ६ पैसे वसूल करते हैं। यात्री लोग इस छोटी-सी समुद्र-यात्रा का कुशल समाचार लिख-लिख कर उन्हीं के हाथ लौटा देते हैं। इस दिन भारत-भूमि की एक दिन की विदाई पुनः मिलन के रूप में प्रकट होती है। तीन घंटे के बाद जहाज़ सुदामापुरी के किनारे को छोड़ अरब-समुद्र के मध्य की तरफ़ चल पड़ा। निशा बीती। अगले दिन पुण्य प्रभात में जाग कर प्रातःकालीन जलमयी प्रकृति के दर्शन किए। कल जो पानी साधारण रूप से नीला-हरा था, वह आज गाढ़ा-नीला होता गया। ज्यों-ज्यों दिन व्यतीत होते गए, वही जल कृष्णवर्ण में परिवर्तित हो गया। समुद्र की गम्भीरता का ज्ञान उस जल से प्रतीत होता था।

जहाज़ में दो दिन बीत गए। यात्री अपनी अपनी विदाई की स्मृतियों को भूलकर, जहाज़ के आनन्द-विनोद में लग गए। प्रातःकाल होते ही नहा-धोकर कोई पञ्जाबी अपनी चाय और परौंठों के पकाने में मस्त हो जाता था, तो गुजराती भाई अपनी पूरियाँ तलने में लग जाते थे। कलेवा खाकर कोई कोई जहाज़ में इधर-से उधर घूमते फिरते थे और कोई अपने ताश के स्वाध्याय में जुट जाते थे। मैं सब कार्यों से निवृत्त होकर जहाज़ देखने के लिए उठा। ऊपर

से जहाज़ की भयङ्कर जटिल मैशीनरी को देखा। इस विशाल-कार्य भयङ्कर मैशीनरी की हरकतों से "टैरिया" आगे बढ़ रहा था। इञ्जिन में कोयला झोंकनेवाले पसीने से तर-बतर हुए-हुए भी कोयला झोंकते ही जाते थे। इस मैशीनरी में से निकलती हुई गर्मी ही किसी को पास आने नहीं देती थी। इसके बाद मैं जहाज़ का सामान्य निरीक्षण करने के लिए निकला। साधारणतया जहाज़ में दो मञ्ज़िलें सबसे नीचे पानी में ही होती है। प्रथम में मैशीनरी के इलावा पानी के टैंक होते हैं। बम्बई से ही इनमें पानी भर लिया जाता है। साथ-साथ कुछ माल भरने का स्थान भी होता है। दूसरी मञ्ज़िल में ज्यादातर माल ही भरा जाता है और कुछ खलासी लोग भी रहते हैं। तीसरी मञ्ज़िल थर्ड क्लास की होती है। इसमें एक जैसे दो विभाग होते हैं। इन विभागों को लम्बाई के रूप में, बीच में से स्नानगृह, मैशीनरी की जगह तथा कुछ अन्य जहाज़ी नौकरों के कमरे अलग कर देते हैं। इन विभागों में एक में हिन्दू और दूसरे में मुस्लिम होटल होते हैं। कुछ व्यक्ति होटल में जाकर भोजन करते हैं और बहुत-से अपने स्थानों पर ही भोजन मँगवा लेते हैं। भोजन गुजराती दृष्टि से बहुत अच्छा होता है। भोजन में कम-से-कम १० पदार्थ अवश्य होते हैं। दिन में चार-पाँच बार चाय भी दी जाती है। अगर किसी ने पहिले से ही होटल में भोजन करने का प्रबन्ध न किया हो और कभी-कभी वहाँ खाता हो, तो १) फ़ी थाली लिया जाता है। किसी-किसी दिन विशेष बढ़िया भोजन भी बनाया जाता है। होटलवाले यात्रियों के लिए जहाँ तक हो सकता है, उत्तम भोजन का प्रबन्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यदि कोई यात्री स्वयं भोजन का प्रबन्ध न कर सके, या जहाज़ में अस्वस्थ हो जाय, तो उसे होटल में भोजन का प्रबन्ध अवश्य कर लेना चाहिए। मांस खाने के शौकीन मुस्लिम-विभाग में जाकर अपनी तृष्णा बुझा आते हैं। जहाज़ में शराब पर कोई कर न होने से यह बहुत सस्ती मिल जाती है। इसलिए शराब के शौकीन—विशेषकर पञ्जाबी सिक्ख—यात्री भोजन के बाद नशे में चूर हुए-हुए इधर-उधर घूमते-फिरते दिखाई दिया करते हैं। दुःख से लिखना पड़ता है कि विदेशों में जाकर सिक्ख कारीगर (फुण्डी) शराब के अत्याधिक व्यसनी हो गए हैं। इसी कारण मर्यादा की सीमा को भी लाँघ जाते हैं। गुजराती स्त्रियाँ जहाज़ में शराबियों से बहुत डरती हैं और जैसे-तैसे परदे में रहना ही पसन्द करती हूँ। यद्यपि गुजराती स्त्रियों में पर्दे की प्रथा सर्वथा नहीं है। इस तीसरे दर्जे की मञ्ज़िल में भिन्न भिन्न वेशों में भिन्न-भिन्न प्रथाओं का व्यवहार रहते हुए भारतीय यात्री दिखाई देते हैं। रहन-सहन के ढंग में कोई व्यवस्था नहीं। कोई अपना बिस्तर फ़र्श पर बिछाता है, तो दूसरा सफ़री खाट पर लेटा हुआ है। कहीं किसी का सामान बिखरा पड़ा है तो कोई वहीं फलों के छिलके बखेर रहा है। कहीं अँगीठी जल रही है और पास में भोजन के बर्तन बिखरे पड़े हैं। डेक तथा तीसरे दर्जे के फ़र्श प्रायः प्रति दिन प्रातः धोये जाते हैं। ऐसे समय फ़र्श पर बिछायी या रक्खी सब वस्तुएँ सँभालनी पड़ती हैं। सामान के उठाने और सँभालने में ऐसे समय अत्यन्त कष्ट होता है। इसलिये यदि तीसरे दर्जे का यात्री अपने साथ सफ़री खाट और आराम-कुर्सी लेकर चले तो

उसे जहाज़ में कोई कष्ट नहीं होता। जहाज़ के सैकड़ों यात्रियों में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार साथी (Society) ढूँढ़ने में भी ज्यादा कष्ट नहीं उठाना पड़ता। क्योंकि सभी अपने अनुरूप को ढूँढ़ने में व्यग्र होते हैं। दिन भर ताश की मण्डलियां रौनक बनाये रखती हैं। दूसरे दर्जे के बहुत से यात्री भी अपनी कैबिन को छोड़ कर तीसरे दर्जे के यात्रियों के बीच में आकर अपना मनोरञ्जन करते हैं।

चौथी मञ्जिल में सैकण्ड क्लास के कमरे होते हैं। परन्तु दोनों तरफ़—जहाज़ के आगे और पीछे—डेक भी होता है। डेक पर भी तीसरे क्लास के यात्री रहते हैं। इसी पर जहाज़ के क्रेन भी लगे होते हैं। जब जहाज़ समुद्र में चल रहा होता है तो इन स्थानों में तम्बू तान दिए जाते हैं। पञ्जाबी यात्री ज़्यादातर इन्हीं स्थानों पर रहना पसन्द करते हैं। जहाज़ के आगे के डेक पर सामने से तेज़ हवा आती है तथा वहाँ पर जहाज़ ज्यादा डोलता है, इसलिए पिछले डेक पर स्थान लेना उत्तम है। अनुभवी यात्री के साथ होने से मैं उसी स्थान पर रहा था। मेरे कमरे के साथ ही सैकण्ड क्लास की कैबिन्स थीं।

इसके ऊपर पाँचवीं मंज़िल में सैकण्ड क्लास का स्मोकिंग-रूम (Smoknig room) और सैकंड क्लास के यूरोपियन यात्रियों की कैबिंस बहुत उत्तम होती है। इसके दोनों तरफ़ चौड़ा बरामदा या डेक भी होता है। दोनों तरफ़ आराम-कुर्सियाँ पड़ी होती हैं। इन पर बैठे हुए यात्री सिगरिट का धुआँ उड़ाते हुए सामुद्रिक दृश्यों को देखते हैं। कोई-कोई घूमते-फिरते हुए अपना व्यायाम करते हैं। सैकण्ड क्लास के यात्रियों को जहाज़ के लिए कम-से-कम २५०) खर्च करना पड़ता है। फर्स्ट क्लास में प्रायः यूरोपियन धनी यात्री या 'पास' वाले यूरोपियन अफ़सर ही यात्रा करते हैं।

जहाज़ की छठी मंज़िल में सबसे ऊपर जहाज़ी अफ़सरों के रहने का स्थान होता है। कप्तान तथा इस के सहायक एक दो और यहीं रहते हैं। इसके ऊपर जहाज़ की चिमनियाँ, बेतार की तार के खम्भे तथा क्रेन आदि होते हैं। जहाज़ की छठी मंज़िल के साथ दोनों तरफ़ २० के लगभग बड़ी-बड़ी नौकायें, चप्पुओं के साथ रक्खी होती हैं; जिन्हें किसी दुर्घटना के होने पर क्रेनों द्वारा शीघ्र ही समुद्र में उतारा जा सकता है।

जहाज़ के सम्पूर्ण कर्मचारियों को समुद्र-यात्रा में सप्ताह में कम-से-कम एक या दो बार कार्क की बनी हुई रक्षक-पेटियाँ बाँध कर कैप्टिन को दिखानी होती हैं। प्रथम दिन जब मैंने जहाज़ में पेटियाँ बाँध कर खलासियों को खड़े हुए देखा, तो मैंने समझा कि कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई; परन्तु पूछने पर सन्देह मिट गया। सैकण्ड और फ़र्स्ट क्लास के सब यात्रियों के लिए भी ऐसी पेटियाँ होती हैं, जिसका समुचित बाँधना उन्हें सिखा दिया जाता है। परन्तु बिचारे थर्ड क्लास की कोई पूछ नहीं। अस्तु।

समुद्र-यात्रा के लिए मई, जून, जुलाई के महीने बहुत बुरे होते हैं। इन दिनों में, ग्रीष्म ऋतु में समुद्र अशान्त और तरङ्गित रहता है। इससे जहाज़ डावाँडोल रहता है। समुद्र की उत्तुङ्ग तरङ्गें तीसरे दर्जे के डेक तक उछल कर यात्रियों को परेशान कर देती हैं। जहाज़ डगमगाने लगता है, यात्रियों के दिल घबरा जाते हैं, सिर चकराने लगते हैं,

और उलटी (Vomiting) पर उलटी आती है। ऐसी अवस्था को ही (Sea-sickness) कहते हैं। जिन व्यक्तियों का हृदय कठोर होता है, उन्हें जहाज़ के डाँवाडोल होने से कुछ नहीं होता। मार्च महीने में समुद्र प्रायः शान्त रहता है। परन्तु मुझे (Sea-sickness) का बुरी तरह शिकार होना पड़ा। ऐसी अवस्था में प्रातः थोड़ा-सा समुद्री पानी पी लेना या किसी लवणात्मक द्रव्य का सेवन पर्याप्त फ़ायदा देता है। चटपटी चीज़ों से दिल का मचलना बन्द हो जाता है। समुद्री हवा से भी कइयों का जी घबराने लगता है क्योंकि उस में नमकीन भाग होता है।

इस प्रकार समुद्र-तल पर ६ दिन की यात्रा की। ६ दिन की लगातार समुद्र-यात्रा में मनुष्य भूल जाता है कि संसार में इस अपार समुद्र में अब कब किनारा आएगा। इस यात्रा में समुद्र के मध्य में सफ़ेद बगुलों (?) को देख कर मनुष्य समझता है कि किनारा आनेवाला है परन्तु सृष्टि के अद्भुत चमत्कार हैं। ये पक्षी समुद्र पर उड़ते हैं, उसी पर तैरते हैं और उसी पर अण्डे देकर बच्चे भी पैदा कर लेते हैं। समुद्र-यात्रा में किसी-किसी स्थान पर भयङ्कर विशालकाय मच्छों के दर्शन भी होते हैं। जहाज़ के गुज़रने पर समुद्र में से मुख फैलाये हुए, उछलतों को देख कर मनुष्य स्तम्भित हो जाते हैं।

समुद्र-यात्रा में प्रातःकाल की तरह सायंकाल का दृश्य भी सुहावना तथा मनमोहक होता है। यदि आकाश में बादल हों, तो प्रकृति नटी का बादलों की बनी सुहाग की लाल-लाल साड़ी में सजधज कर समुद्र शय्या पर जो सूर्य से हास विलास होता है वह प्राकृतिक शृङ्गार की पराकाष्ठा है। समुद्र-तल पर बादलों में सूर्य का प्रकृति देवी से आँखमिचौनी का खेल खेलते हुए निशा के अञ्चल में छिप जाना अत्यन्त आनन्दमय होता है। इतने में अपने प्रिय चन्द्र-दीप को लेकर, प्रिय चञ्चल 'ताराओं' से ढूँढ़ती हुई, शोक-मलिना, वियोगिनी बनी, प्रकृति निराश होकर समुद्र में डूबने का उपक्रम करती है। तभी सूर्य सुन्दरतम रूप में पीछे से आ उपस्थित होता है। दुःखान्त गाथा सुखान्त हो जाती है। प्रकृति का कितना सुन्दर नाटक है! क्या ही मधुर सिनेमा है! जो सिनेमा सूर्यास्त से चलता था, वही सूर्योदय में परिणत हो रहा है।

इस मधुर प्राकृतिक चित्रपट—सिनेमा—को देखते हुए आँखें अलसायी हुई थीं। आख़िरी चित्रपट था। अन्त में 'The End' आ गया। यह दिन १७ मार्च का था। सहसा यात्री चिल्ला उठे 'मुम्बासा आ गया!' अफ्रीका के किनारे की छोटी छोटी पहाड़ियाँ दिखाई देने लगीं। धीरे-धीरे जहाज़ किनारे के पास पहुँचने लगा। मुम्बासे की खाड़ी में से होता हुआ 'टेरिया' बन्दर पर पहुँच गया। भाई बन्धु और मित्र जन स्वागत के लिए आए हुए थे। आज १० दिन बाद भूमि थल के दर्शन कर यात्रियों के चेहरे पर आनन्द झलक रहा था। मेरे बड़े भाई जयदेव जी ने बन्दर पर रूमाल हिलाया, मैंने भी रूमाल हिला कर उत्तर दिया। मैंने सोचा, क्या यही मेरी जन्मभूमि है? मन ने कहा, हाँ, भारत-भूमि की परिक्रमा भूमि को नमस्कार कर मैंने जहाज़ से विदा ली।

पूँजीपतियों के प्रति

[ले०—तरंगित हृदय]

गुलाम भारत के पूँजीपतियो ! तुम अपनी पूँजी कैसे-कैसे व्यापारों में लगा रहे हो ? संसार के वर्त्तमान विचारों की प्रवल वायुधाराओं से तरंगित हुआ मेरा हृदय व्याकुलता से पूछता है कि तुम अपनी पूँजी किधर लगा रहे हो ? कहाँ बरबाद कर रहे हो ? तुम्हारे सब नामधारी 'व्यापार' देश को अधिक-अधिक गुलाम बनाने में ही खतम हो रहे हैं। इस समय तो एक ही व्यापार है, जिसमें तुम्हें, हमें, सबको अपनी सब पूँजी लगा देनी चाहिये; यह है स्वाधीनता को उत्पन्न करने का व्यापार। क्या तुम सिर हिलाते हो ? तुम्हें यह व्यापार जँचता नहीं ! नहीं भाइयो ! तुम ज़रा सावधानी से निर्मल शान्त हृदय से सोचोगे, तो तुम देखोगे कि इससे बढ़िया, इससे अधिक लाभदायक इस समय और कोई भी व्यापार नहीं है। तब तुम अन्य सब 'व्यापारों' से अपनी पूँजी निकाल कर केवल इस व्यापार में अपना सर्वस्व लगा देने को आतुर हो जाओगे। क्या तुम्हें यह व्यापार जँचा ?

मैं तुम्हें आनेवाले किसी सोशलिस्टों या कम्यूनिस्टों के शासन से नहीं डराना चाहता। पर यदि तुम भय के भाव से उचित लाभ उठाना चाहो, तो तुम्हें परमेश्वर से डरने को अवश्य कहता हूँ, दूसरे शब्दों में तुम्हें अपने पापों से डरने को अवश्य कहता हूँ, या उन ग़रीबों की आहों से डरने को कहता हूँ, जिनकी कि तुम अपनी पूँजी-द्वारा बरबादी कर चुके हो और कर रहे हो, जिनकी इस समय अपनी पूँजी-द्वारा न सहायता करना पाप की हद तक पहुँच गया है और जिनको हृदय-विदारक ग़रीबी स्वराज्य न होने के कारण (तुम्हारी पूँजी के गुलामी बढ़ाने में लगे होने के कारण) न केवल उत्पन्न हुई है, किन्तु दिनोंदिन बढ़ रही है।

मेरे कहे इस सच्चे व्यापार में लगने द्वारा तुम्हें बहुत-सा वैयक्तिक लाभ होगा, ऐसा कोई लालच भी मैं तुम्हें नहीं देना चाहता। परन्तु यदि तुम लालच व स्वार्थ के भाव से उचित लाभ उठाना चाहो, तो मैं कहता हूँ कि वास्तविक स्वराज्य पा

लेने में, आम जनता का भला करनेवाला स्व-शासन स्थापित करने में, तुम्हारा वैयक्तिक लाभ भी बहुत होगा, तुम्हारे बाल-बच्चों, तुम्हारी आनेवाली सन्तति को लाभ पहुँचेगा, और यह सार्वजनिक लाभ के बाद में होनेवाला तुम्हारा वैयक्तिक लाभ ही तुम्हारा सच्चा और स्थिर लाभ होगा।

इस लिये मैं तुम्हें गुलामी से छुड़ाने के इस व्यापार में अपनी सब पूँजी जमा देने को कहता हूँ।

∴

पूँजीपति भाइयो! क्या तुम्हें मालूम है कि जिस पूँजी से तुम अपने को पूँजीपति समझते हो, वह पूँजी तुम्हें परमेश्वर ने प्रदान की है, वह पूँजी तुम्हें 'प्रजापति' ने दे रखी है, अतः वह प्रजापति के काम में ही खर्च होनी चाहिये? यदि तुम परमेश्वर की बात नहीं समझते, तो यूँ ही कहो कि यह पूँजी प्रजा की है, आम जनता की है, जनता-देवता की है। यह किसी-न-किसी ढंग से तुम्हें जनता से मिली है। यह तुम्हारा भ्रम है कि यह पूँजी तुम्हें तुम्हारे बाप-दादा से मिली है, या तुमने यह अपनी बुद्धि-मत्ता या बाहू-बल से कमायी है। तुम्हारे बाप-दादा ने दी है तो यह जनता की ही चीज़ दी है, और तुम्हारा बुद्धि-बल और बाहू-बल भी तुम्हें जनता के सिर चढ़ने से मिला है, जनता (प्रजापति) से ही मिला है। निःसंदेह सब धन प्रजापति का है। क्या सचमुच ही तुम समझते हो कि तुम्हारे पास पड़ी यह पूँजी तुम्हारी ही है? तब तो तुम उस व्यापार को नहीं समझ सकते, जिसमें अपनी सब पूँजी लगा देने को मैं कहता हूँ। स्वराज्य-प्राप्ति के महान् व्यवसाय को तुम तभी समझ सकते हो, यदि तुम अपनी पूँजी को जनता की पूँजी समझो, जब कि तुम अपने सब धन को भारत-माता का धन समझो। जैसे कि मुनीम या खज़ानची लाखों-करोड़ों रुपयों का लेन-देन करता है, पर वह अपने लिये कुछ परिमित (सौ पचास) रुपये ही माहवार प्राप्त करता है वह पीढ़ी या खज़ाना तो सेठ या सरकार का ही रहता है; वैसे ही अपने बुद्धि-श्रम व शरीर श्रम के प्रतिफल में तुम अपने भरण-पोषण के योग्य एक नियमित रकम ले सकते हो, पर वह संपूर्ण संपत्ति व पूँजी तो हमारी भारतमाता की ही है, या ईश्वरीय सरकार की ही है। जिस क्षण तुम इसे अपना समझते हो, उसी समय तुम पूँजीपति रहने के अधिकारी नहीं रहते। यह और बात है कि उसी क्षण तुम से पूँजी छीन नहीं ली जाती, या अमानत में ख़यानत करनेवाले खज़ानची की तरह तुम तुरंत निकाल नहीं दिये जाते, परन्तु याद रखो कि ऐसा भी होता है, अवश्य होता है; केवल देर इसलिये दीखती है, चूँकि तुम्हें सुधारने का पूरा-पूरा अवसर दिया जाता है। इसलिये यदि तुम्हें अपनी पूँजी में स्वत्व व स्वामित्व का अभिमान है, तो शीघ्र ही अपनी भूल को सुधार लो और इस पूँजी को इसके मालिक (जनता व प्रजापति) के ही काम में ईमानदारी और प्रेम के साथ लगाते जाओ। तभी तुम अधिकार प्राप्त पूँजीपति रहोगे, अधिकारी पूँजीपति बनोगे।

∴

तो फिर, अधिकारी पूँजीपतियो! आओ, व्यापार के विशाल मैदान में आओ। देखो, ये जो देश के निःस्वार्थ, त्यागी, तपस्वी महानुभाव धर्म-सेवा, देश-सेवा, ग्राम-सेवा, दीन-सेवा आदि में लगे हुए हैं, देश के बालकों, नवयुवकों और वृद्धों का शिक्षण और मार्गदर्शन कर रहे हैं, उनके इन नवजीवन-दायी कार्यों में तुम अपनी सब पूँजी लगा दो। बच्चों और नवयुवकों को राष्ट्रीय शिक्षा देनेवाले, भारतीय संस्कृति सिखानेवाले

शिक्षणालय हैं, उनके संचालन में अपनी पूँजी लगा दो, ये जो देश-सेवा, दीन-सेवा के पवित्रता-कारक, समाज-सुधारक और शक्ति-संचारक कार्य चल रहे हैं, उनमें अपनी पूँजी लगा दो। याद रखो कि ऐसा करने से जो सच्चे अर्थों में शिक्षित, भारतीयता में स्नान किये हुए, प्राण-पूर्ण स्नातक निकलेंगे, नव-स्फूर्ति पाये हुए नवयुवक तैयार होंगे, ग्राम-ग्राम में जागृति आ जायगी, माताओं और बहनों में अद्भुत चैतन्य प्रकट होगा, वृद्ध भी बदलेंगे, तो यह एक इतना बड़ा भारी अमूल्य लाभ होगा, जो कि किसी व्यापार-द्वारा विदेशों से असंख्यों रुपये कमा लेने से भी नहीं होगा। संक्षेप में, इनमें पूँजी लगाने से देश की ब्रह्मशक्ति जागेगी।

इसी तरह जो वीर बहादुर देश सेवक बार-बार जेल गये हैं, बार बार आर्थिक कष्टों में पड़े हैं, वे यदि तुम्हारे होते हुए अर्थ-संकट में पड़े रहे, तो तुम्हारी पूँजी और किस काम के लिये है? इस लिये देश-सेवा में अपना जीवन देनेवालों की, देश-सेवक संस्थाओं के कार्यकर्त्ताओं की सहायता में अपनी पूँजी लगा कर तुम अपनी पूँजी को सार्थक करो। इनमें अपना सब ऐश्वर्य निःशंक होकर लगा दोगे, तो तुम देखोगे कि देश की क्षत्रशक्ति अपना काम करने लगी है, तो देखोगे कि तुम्हारा यह सौदा, यह व्यापार कितने नफ़े का हुआ है।

पर यदि तुम सीधे रुपये-पैसे के ही व्यापार को करना चाहो, तो उसकी भी बहुत ज़रूरत है। वैश्य-शक्ति को सुधारने की भी बड़ी भारी आवश्यकता है, तो तुम चर्खासंघ को, ग्राम-व्यवसायसंघ को अपने पैसे अर्पित कर दो। या स्वयं उन उद्योग-धन्धों में से किसी में अपनी पूँजी लगा दो, जिनसे कि ग़रीबों की ग़रीबी दूर हो सके, जिनसे कि देश के लोगों की शारीरिक और मानसिक व आत्मिक उन्नति होने मे बाधा न पड़ते हुए देश में धन-सम्पत्ति की वृद्धि हो सके, वास्तविक धन-सम्पत्ति की वृद्धि हो सके। शारीरिक श्रम की अर्थात् शूद्र-शक्ति की बात भी इसी किसान और मज़दूरों की उन्नति में आ गयी।

पर इन सब कामों में धन देने को मैं 'दान' नहीं समझता, किन्तु सच्चे अर्थों में व्यवसाय के लिये पूँजी लगाना (Investment) समझता हूँ। श्रीयुत... जी ने जो अपना लाख रुपया चर्खासंघ को दे दिया है और वे अब एक आश्रम में मामूली सेवक की तरह रह कर खादी-प्रचार का कार्य कर रहे हैं, तो मेरी दृष्टि में वे शुद्ध व्यापार कर रहे हैं, न केवल धन की पूँजी से, किन्तु जीवन की पूँजी से शुद्ध व्यापार कर रहे हैं। सचमुच आत्महवन शुद्ध व्यापार है, और बड़ा फलदायी व्यापार है जमनालाल और बिरला आदि दानी जितने अंश मे ऐसा दान करते हैं उतने अंश में वे शुद्ध व्यापार करते हैं। ओह, हमारे पूँजीपति न-जाने कब यह शुद्ध व्यापार करना सीखेंगे? वे न-जाने कब अपनी रुपये-पैसे की पूँजी ही नहीं किन्तु अपने जीवन (शरीर, मन और आत्मा) की पूँजी से शुद्ध व्यापार करना सीखेंगे।

∴

ऐ धन के पूँजीपतियो! मेरे श्रम की पूँजी, मेरे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक श्रम की पूँजी तुम्हारे धन की पूँजी से बहुत क़ीमती, लाखों गुना अधिक क़ीमती है। आज पूँजीपति होना इसी लिये पाप हो गया है, चूँकि आजकल का पूँजीपति अपने धन से श्रमी के शारीरिक, मानसिक श्रम को ख़रीद लेता है, उसे अपना ग़ुलाम बना लेता है। यह इसीलिये होता है, चूँकि पूँजीपति और श्रमी

दोनों ही मूर्खतावश धन की पूँजी को सबसे अधिक क़ीमती पूँजी समझने लगे हैं। पर मैं और मेरे श्रमी भाई, हे पूँजीपतिओ! यदि तुम्हारे गुलाम बनने से इन्कार करेंगे, तुम्हें अपना क़ीमती श्रम बेचने से इन्कार करेंगे, तो तुम्हारी धन की पूँजी किस काम आयगी? तुम्हारा पूँजीपतिपना किस काम का रह जायगा? हे ज़िमींदारो! पृथ्वीपतियो! मैं और मेरे साथी किसान मरणान्त तक तुम्हारी गुलामी (पराधीनता, नहीं स्वीकार करेंगे, तो तुम अपनी ज़िमींदारी किस पर दिखाओगे? यदि हम अपना शारीरिक श्रम किसी प्रकार के देशघातक, धर्मद्रोही कार्य में देने से इनकार करेंगे, यदि हम तुम्हारे इशारे से तुम्हारे पूँजीपतित्व के स्वार्थ को पूरा करनेवाले लेख लिखने या पुस्तकें रचने को स्वप्न में भी स्वीकार न करेंगे और यदि हम तुम्हारे धन के लालच में आकर अधर्म को धर्म और देशद्रोह को देशसेवा न मान लेंगे, तो तुम्हारी पूँजी या तुम्हारी ज़िमींदारी हमें अपना गुलाम कैसे बना सकेगी? हम तुम्हारे भरोसे नहीं जीते हैं और न जीयेंगे। हम तो अपने श्रम की शक्ति पर, श्रम की पूँजी-पर जीयेंगे और जीते रहेंगे। अपने शरीर के पसीने के, मन की पवित्रता के, और आत्मा की शक्ति के बल पर हम जीवेंगे, और सुख-पूर्वक जीवेंगे। तुम्हारे धन की तरफ़ हम आँख उठाकर भी नहीं देखेंगे। तुम्हें ग़रज होगी, तो तुम्हारा धन गुलाम होकर हमारे पास आवेगा। पर हम धन के गुलाम बनकर कभी तुम्हारे धन के पास नहीं जायँगे। मनुष्य को गुलाम बनाने वाली तुम्हारी बड़ी-बड़ी मैशीनरियाँ पड़ी रह जायँगी। हम तो खुरपे और हल से अपना अन्न पैदा करेंगे और चर्खे और करघे से अपना कपड़ा तैयार कर लेंगे, पर इस सर्वोदय करनेवाले अपने स्वाभाविक जीवन को छोड़ कर (और तुम्हारी शर्तों पर) तुम्हारी मैशीनरियों पर नहीं आयेंगे। जब हम अपने इस स्वावलंबन और श्रम के मुक़ाबिले में तुमसे मिलनेवाले धन को ठुकरा देंगे, तो करोड़ों अशर्फ़ियाँ रखते हुए भी तुम्हें बाधित होकर अपना श्रम स्वयमेव कर लेना पड़ेगा और जीवन का यह अमूल्य पाठ सीख लेना पड़ेगा। इस प्रकार, हे धन के पूँजीपतियो! हम तुम्हें सिखा देंगे, वह समय आनेवाला है जब हम (श्रमी) तुम्हें दिखा देंगे, कि धन को पूँजी की अपेक्षा लाखों गुना क़ीमती हमारी श्रम की पूँजी है; हम दिखा देंगे कि सबसे क़ीमती यन्त्र (मैशीनरी) यह परमेश्वर का बनाया हुआ जीता-जागता मनुष्य-यन्त्र है और सबसे अधिक क़ीमती पूँजी यह हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक श्रम की पूँजी है।

और जब तुम्हें दीखेगा कि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पूँजियों में भी उत्तरोत्तर पूँजी श्रेष्ठ है, तो तुम धन कमाने की अपेक्षा शरीर और मन की शक्ति पाने में और उससे भी अधिक आत्मिक शक्ति का उपार्जन करने में जी-जान से कोशिश करोगे। तब तुम 'धन के पूँजीपति' कहलाने में शरमाओगे और संसार जिन्हें पूँजीपति नहीं कहता, वैसे पूँजीपति बनना चाहोगे।

∴

तो आवें, बहुत देर हो गयी है, अब तो हम सब पूँजीपति आवें। अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न प्रकार की पूँजी रखनेवाले हम सब भारतवासी आवें, और सब अपनी-अपनी प्रकार की पूँजी के अपनी शक्ति-भर थोड़े-बहुत हिस्से (Shares) लेकर इस व्यवसाय मंडल (Limited Company) को बना लेवें तथा संसार को चकित करनेवाला अपना यह

महान् व्यवसाय शुरू कर देवें। जिन महानुभावों के पास आत्मशक्ति की सर्वश्रेष्ठ पूँजी है, वे उसे लेकर आवें, जिनके पास बुद्धि की चामत्कारिक पूँजी है वे उसे लावें, एवं मन, प्राण और शरीर की संपत्ति रखनेवाले उन्हें प्रस्तुत करें, धनवाले भी अपने रुपये-पैसे लावें और हम सब भाई अपनी इन सब पूँजियों को भारत-माता के चरणों में रख देवें। इस प्रकार अपनी माता का आशीर्वाद प्राप्त करके इस बड़े भारी स्वराज्य-व्यवसाय को चालू कर देवें। अपनी संपूर्ण-शक्ति से इस व्यवसाय को चलाते जावें। चाहे कितनी कठिनाइयाँ आवें, पर घबरावें नहीं, जी-जान से लगे रहें। यह ध्यान रखें कि हमें चाहे सफलता हो या विफलता, पर हमने करना यही है। इसका करना ही सफलता है। इस निष्ठा से यदि हम सतत यत्न करते जायँगे, तो इस महान् व्यवसाय का जो परिणाम निकलने वाला है, वह बहुत ही सुन्दर है, बहुत ही पुण्य है और बहुत ही दिव्य है। यह व्यापार सफल होगा, तो करोड़ों भूखों को भर-पेट अन्न मिलने लगेगा, नंगों के तन ढके जायँगे, हमारे मनों में घुसी हुई गुलामी स्वात्माभिमान के रूप में बदल जायगी, सब पाप कुरीतियाँ और अत्याचार शान्त होंगे, भारत की कला, विद्या और ज्ञान पुनरुज्जीवित होवेंगे, भारत की वैदिक सभ्यता का निर्बाध विकास होगा, देश के नर-नारी अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिये बन्धनमुक्त होवेंगे, भारत संसार में सिर ऊँचा करके खड़ा होने योग्य हो जायगा, भारतीयता अपने खोये हुए आध्यात्मिकता के खज़ाने को फिर पाकर चमक उठेगी, और शायद दुःखी जड़वाद से भरमाये हुए और हिंसा तथा लोभ से पीड़ित संसार को शान्ति प्रदान करेगी। उस समय सच्चे अर्थों में 'भारतमाता की जय' होगी और 'वन्देमातरम्' के नारे को सफल करते हुए तैंतीस कोटि भारतवासी अभीष्ट स्वराज्य की भेंट को उसके चरणों में रखते हुए अपनी माता का वन्दन करेंगे।

पूँजीपतियो! क्या इस व्यवसाय में तुम लगोगे?

दीपमालिका

पथ दरशा ओ दीपमालिके!

रघुवर ने तव अमा-निशा-तम में दिग्विजय चन्द्र विकसाया।
दयानन्द ने वेद-प्रकाश रूप निर्वाण सूर्य चमकाया॥
सीता के चरित्र-कम्पन ने तुझको कमला रूप बनाया।
सुघर शरद् के फिर ऋतु-वैभव-सौन्दर्य ने तुझे सजाया॥
सुघर महा ओ दीपमालिके!
पथ दरशा ओ दीपमालिके!

अमा-निशा की अरी सुतारक भूल गई तू क्यों दिनकर को।
जिसने लूट लिया तारक-स्वराज्य-द्युति के अति उज्ज्वल घर को॥
श्वेत वर्ण में रंगे हुए तम को है तुझे प्रकाशित करना।
कृष्णमयी प्राची आभा से शुभ्र जगत् को भासित करना॥
क्रान्ति मचा ओ दीपमालिके!
पथ दरशा ओ दीपमालिके!

उत्तम सहनशीलता सम तव अमा-निशा की छवि अति प्यारी।
जिसमें तारक-सुमनावलि की चमक रही विकसी फुलवारी॥
तेरे कालेपन में अंकित है अकलंकित प्रेम-पूर्णिमा।
वही अतुल चमकी थी जिससे प्राची अधिराज्यों की महिमा॥
मन्त्र जगा ओ दीपमालिके!

दयानन्द का ब्रह्मचर्यमय ब्रह्मतेज रग रग में तेरे।
बलिदानों की गति पर माहित नर्तन है पग पग में तेरे॥
कोशल के गत रण-कौशल की अरी नहीं बस संसृति है तू।
ऋषि की आर्य-विजय के भी नव रण स्वप्नों की झंकृति है तू॥
विश्व हिला ओ दीपमालिके!

पथ दरशा ओ दीपमालिके! — जगन्नाथप्रसाद, एम्. ए. — पथ दरशा ओ दीपमालिके!

३. विद्यार्थी की भ्रमणवृत्ति

[लेखक—श्री देवनाथजी विद्यालंकार]

बहुत-से विद्यार्थियों में भटकने की आदत होती है। घर से तो स्कूल जाने के बहाने निकलते हैं पर सीधा स्कूल न जाकर अपना थोड़ा-बहुत समय बातों में, आम्रकुंजों में बैठ कर खेलने में बिता, कुछ देरी से स्कूल में पहुचते हैं। यदि स्कूल में देरी से नहीं पहुँचे तो लघुशंका, पानी पीने के बहाने व सिरदर्द, पेटदर्द की शिकायत कर, स्कूल से भाग आते हैं। ऐसी आदतें प्रायः विद्यार्थियों में पाई जाती हैं। विद्यार्थी स्कूल में स्वेच्छा से नहीं जाते हैं, पर माँ बाप की धमकी व डर के कारण प्रायः जाते हैं। उस अवस्था में स्कूल में उनका मन नहीं लगता इसलिए उनको जब भी कभी मौका मिलता है वे स्कूल के वातावरण से दूर भागने का प्रयत्न करते हैं। भागने की आदत क्यों पड़ती है, उसके मुख्य कारण कौन-कौन से हैं, और इस आदत को किस प्रकार से दूर किया जा सकता है—इत्यादि बातों पर इस लेख में प्रकाश डालने का यत्न किया जायगा।

भागने की आदत का सबसे मुख्य कारण स्कूल का अत्यधिक कठोर नियंत्रण है। बालक स्वभावतः ही स्वतंत्रता प्रिय होते हैं। जिस स्कूल में उनके उठने-बैठने, जाने-आने पर इतना अधिक कठोर नियंत्रण हो कि वे अपने को बंद, क़ैदखाने में जकड़ा हुआ समझें, उस स्कूल से वे बाहिर जाने के लिए हमेशा तिलमिलाते हैं और किसी-न किसी बहाने से बाहिर जाकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करते हैं। यदि स्कूल के नियम ऐसे हैं, जिनके द्वारा वे अपनी नैसर्गिक आवश्यकताओं को भी ठीक रूप से सन्तुष्ट नहीं कर पाते हैं तब वे वहां से भाग जाते हैं। वे उसे एक क़ैदखाना समझते हैं; जिसका जेलर ब्लैक बोर्ड के सामने सोटी लेकर खड़ा हुआ मास्टर है। इस क़ैदखाने के भ्रष्ट वातावरण से दूर रह कर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए कभी कभी वे विद्रोह भी कर बैठते हैं। इस प्रकार के क़ैदखानों से जितनी जल्दी विद्यार्थियों को छुटकारा मिले उतना अच्छा है। ऐसे स्कूलों से यदि कोई विद्यार्थी भागनेवाला समझा जाय, तो आश्चर्य नहीं। उन स्कूलों में तो भागनेवाला विद्यार्थी ही वास्तव में प्राणवान् होता है। मूक भाव से आज्ञा माननेवालों की अपेक्षा वही अधिक तेजस्वी, जीवन में सफल होता है। शिक्षक अथवा माता-पिता इस बात को समझें तब न। वे समझते हैं कि विद्यार्थी स्कूल में पढ़ता नहीं। वास्तव में बात यह होती है कि विद्यार्थी पढ़ना

तो चाहता है, पर अपने अधिकारों की रक्षा करते हुए ही।

भागने की आदत को दूर करने के लिए स्कूल का नियंत्रण ठीक होना चाहिए। स्कूल में नियंत्रण का बहुत मुख्य स्थान है; पर यह नियंत्रण बालकों की स्वच्छन्दता को रोक कर उनके आन्तरिक सद्गुणों को विकसित करने के लिए है न कि उनकी स्वाभाविक स्वतत्रंता को बिल्कुल नष्ट कर मशीन के समान नियमित काम करनेवाला बनाने के लिए। उन स्वाभाविक और आवश्यक नियमों का पालन तो प्रत्येक शिक्षक भी करता ही है। नियमों का उद्देश्य बालकों की स्वतंत्रता का विरोधी नहीं होना चाहिए और नाँही स्वच्छन्दता का पोषक।

इसके अतिरिक्त स्कूल का आन्तरिक व बाह्य रंग-वेश भी विद्यार्थी के मन पर बहुत असर करता है इसलिए निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है:—

१. स्कूल का मकान स्वच्छ, खुला, प्रकाशवाला होना चाहिए ताकि विद्यार्थी अपने को बंद न समझें। अस्वच्छ हवा, प्रकाश से रहित, छोटे मकान में विद्यार्थी अपने को क़ैदी-सा समझता है और बाहिर भागने का यत्न करता है।
२. स्कूल में विद्यार्थी की नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सब प्रकार का प्रबन्ध होना चाहिए।
३. स्कूल के मकान का निर्माण स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम होना चाहिए।
४. शिक्षण-क्रम विद्यार्थी के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए बना होना चाहिए।
५. विद्यार्थी के लिए गृहकार्य कम-से-कम देना चाहिए ताकि उसको स्कूल की पढ़ाई भार स्वरूप न मालूम दे।
६. विद्यार्थी के शरीर-विकास के लिए भी स्कूल में थोड़ा बहुत प्रबन्ध होना चाहिए।

कहने का भाव यह है कि विद्यार्थी को स्कूल जाना भयप्रद न लगे और न बोझल मालूम पड़े, परन्तु आनंददायक, स्वास्थ्यप्रद प्रतीत हो ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए।

जिस प्रकार स्कूल के गन्दे अनियंत्रित वातावरण का बालक के मन पर अस्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार घर के खराब वातावरण का प्रभाव बालक पर बहुत खराब पड़ता है। कई माता पिताओं का रहन सहन का ढंग बड़ा खराब होता है। उनके संसर्ग से बालक किसी भी हालत में बच नहीं सकते हैं। बड़ी उमर के लोगों में एक बड़ा भारी दोष होता है। वे जिस काम को खराब समझते हैं, उसको स्वयं सब के सामने करते हुए भी नहीं सकुचाते। पर यदि कोई बालक उनके उस काम का अनुकरण कर रहा हो, तो उन्हें बहुत बुरा लगता है। वे बालक पर उबले पड़ते हैं और गालियों से उसकी पूजा करते हैं। बालक तो अनजाने ही बड़ों का अनुकरण करता है। वह तो बड़ों द्वारा किए गए कार्यों को ही ठीक और अपने लिए लाभकर समझता है। जिस कार्य को मेरे माता पिता कर रहे हैं उस काम को करने का अधिकारी मैं भी हूँ। इसलिए माता-पिता चाहे उसको कितना ही मना क्यों न करें, वह अपने मार्ग पर डटा रहता है। इस प्रकार घर में ही स्वच्छन्दता का पाठ पढ़ा हुआ

विद्यार्थी स्कूल के सच्चे और अच्छे नियंत्रण को भी ठुकरा देता है।

ऐसे स्वच्छन्दता प्रिय विद्यार्थी को सुमार्ग पर लाना वास्तव में बहुत कठिन है। सभी उपाय निष्फल हो जाने पर तो केवल एक ही उपाय शेष रह जाता है। शिक्षक को अपना जीवन व्यवहार इतना पवित्र और प्रभावशाली होना चाहिए कि विद्यार्थी के दिल में यह बात जम जाय कि जिस मार्ग पर मैं जा रहा था, वह अशुद्ध मार्ग है, सच्चे मनुष्यत्व के विकास के लिए घातक है। जब विद्यार्थी इस बात को समझ जायगा, तभी धीरे-धीरे माँ-बाप द्वारा पड़ी हुई बुरी आदतें दूर होती चली जायँगी। यह सच है कि ऐसे विद्यार्थी की दुष्प्रवृत्ति को दूर करने के लिए उत्तम कोटि के शिक्षक की आवश्यकता है। सब शिक्षक इतने उच्च चारित्र्यवाले नहीं होते। फिर भी प्रत्येक के लिए यत्न करना तो आवश्यक ही है।

कई बार खराब साथियों के संग से भी विद्यार्थी सैलानी बन जाता है। बात यह होती है कि बलवान् विद्यार्थी कमज़ोर पर, बड़ी उमर का विद्यार्थी छोटों पर अपना रोब डालता है। जिस स्कूल में छोटे-बड़े सभी मिलकर रहते हैं वहाँ पर यह बात बहुधा देखी जाती है। बलवान् व उम्र में बड़ा विद्यार्थी अपने से छोटे निर्बल विद्यार्थी को ललचा कर, डरा कर, धमका कर अपने वश में कर लेता है और अपने अनुकूल ही काम करने के लिए उस पर ज़ोर डालता है। जिस काम को वह अच्छा नहीं समझता है उसे वह नहीं करने देता है। स्कूल में यदि किसी कारण अध्यापक न हो, तो वह उसे बुला ले जाता है और अपना काम करवाता है। धीरे-धीरे पाठ्यक्रम से अनुपस्थित रहना यह उसका सामान्य नियम बन जाता है। पर जहाँ घर का वातावरण शुद्ध पवित्र और बालकों की नैसर्गिक प्रवृत्ति को विकसित करनेवाला हो वहाँ पर ऐसा नहीं हो पाता है। पर वर्तमान समय में तो स्कूल का ही नहीं परन्तु घर का वातावरण ही ऐसा कलुषित हो गया है कि विद्यार्थी को घर में रहना दूभर मालूम पड़ता है। वहाँ से वह भाग निकलता है। ऐसे समय में उसको किसी-न-किसी काम में लगाए रखना ही सब से अच्छा है पर यदि विद्यार्थी में भागने की टेव इतनी बढ़ गई हो कि अन्य विद्यार्थियों पर भी बुरा असर पड़ रहा हो, तो उसको स्कूल में से पृथक् कर देना ही अत्युत्तम है। पर यह अन्तिम उपाय है। उससे पूर्व शिक्षक को अन्य सभी उपायों को आजमा देखना चाहिए यदि तब भी सफल न हो, तब तो बहुमत के लाभ के लिए उस सैलानी विद्यार्थी को अलग कर देना श्रेयकर है।

इसके अतिरिक्त यदि शिक्षक चिड़चिड़ा हो, हठी, कठोर, शीघ्र क्रुद्ध होनेवाला तथा न्याय-अन्याय को न समझनेवाला हो, तो विद्यार्थी शीघ्र ही सैलानी बन जाते हैं। उसकी नजर बचाकर स्कूल में से भाग जाते हैं। ऐसी अवस्था में तो इतना ही कहना चाहिए कि इस प्रकार के शुष्क हृदय, न्यायान्याय को न समझकर दंड देनेवाले शिक्षक, शिक्षक के धन्धे के योग्य नहीं। उनको चाहिए कि स्वयं ही इस धन्धे को छोड़ कर दूसरों के लिए स्थान छोड़ दें।

यदि स्कूल में विद्यार्थी का स्वभाव हनन होता है उसके साथ बुरा व्यवहार होता है अन्य सहाध्यायी उसकी हंसी करते रहते हों तब भी

विद्यार्थी उस जगह को छोड़ देना चाहता है और मौका मिलते ही वह भाग निकलता है। यदि उसकी हँसी उड़ाने में मखौल करने में शिक्षक भी सम्मिलित हो जाय तब तो वह एक क्षण के लिए भी वहाँ ठहरना नहीं चाहता है। प्रत्येक को अपनी प्रतिष्ठा प्यारी होती है। यदि कहीं पर भी उसकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचे तो उसको दुःख होना स्वाभाविक है। इसलिए जहाँ विद्यार्थी की मानहानि हो वहाँ से मौका मिलते ही भाग जाता है। इस बात के लिए तो शिक्षकों को बहुत खयाल रखना चाहिए। शिक्षक को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि विद्यार्थी का स्वमान-हनन न होने पावे।

इन उपर्युक्त कारणों को यथा संभव दूर करने पर, शिक्षण-पद्धति के आकर्षक हो जाने पर ही संभवतः विद्यार्थी स्कूल जाना अच्छा समझने लगेंगे और फिर उनके लिए भागने का कोई भी कारण नहीं रह जायगा।

"समाधि" या "समाध"

[कवयित्री—श्रीमती कौशल्या देवी]

मूँदे-अखियाँ;—
मौन चिन्ता की,—करुणा भरी निराशा;
शान्त पड़ी है;—
किस दुखिया की; ममतामयी पिपासा।
शुष्क पुष्प हैं;—
नीरव गाथा की; मीठी एक कहानी;—
आह यहीं पर;—
छिपी पड़ी है, इस में मोहक वानी;—
उद्गारों की;—
मूक गिरा की, हैं, यह बिखरी लड़ियाँ;—
बाँधी हैं—अब
ईंटें चुन चुन पीड़ा की यह कड़ियाँ।
खोई आशा;—
चित्र-रूप को, बन कर एक पहेली;—
सिसक रही है;—
किसी योग की यह भोली अलबेली।
किसी रूप के—
रंग-मंच के, नायक की यह आशा;—
सुप्त पड़ी है—
किसी विस्मृत की "टूटी यह अभिलाषा"

पनामा की जल-प्रणाली

[लेखक—स्नातक शंकरदेव विद्यालंकार]

दुनिया का ऊँचे से-ऊँचा पर्वत हिमालय आज जिस स्थान पर विद्यमान है, लाखों वर्ष पहले वहाँ अपार जल-राशि लहरें मारती थीं। राजपूताना, कच्छ और काठियावाड़ के प्रदेशों में आज जहाँ वैभवशाली शहर देखने में आते हैं, वहाँ पर एक ज़माने में जलनिधि का साम्राज्य चलता था। अफ्रिका और भारतवर्ष के बीच में आज जिस स्थान पर भारतीय महासागर हिलोरें मारता है, वहाँ पर एक समय में फल-फूलों से भरा हुआ एक महान् पृथिवी-खण्ड विराजित था। विज्ञान-शास्त्री और विशेषतः भूस्तर-शास्त्र-ज्ञाता लोग इस प्रकार के सप्रमाण अनुमान हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं, तब हम को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। पानी के स्थान पर गगनचुम्बी गिरि-शिखर तथा उपजाऊ भूमि के स्थान पर महासागर बनाते हुए प्रकृति देवी को वहाँ पर हज़ारों वर्ष लगाने पड़े, वहीं पर आज विज्ञान के ज़माने में इसी प्रकार की आश्चर्य करानेवाली कारीगरी चालीस वर्षों के अन्दर ही सम्पन्न हो चुकी है। पिछले बीस वर्षों में दुनिया में जो बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं, वैसे फेर-फार पिछले एक हज़ार वर्षों में भी नहीं हुए।

यदि कोई प्रश्न करे कि पिछले बीस वर्षों में व्यापार के सम्बन्ध में तथा आवागमन के विषय में भौगोलिक महत्व का कौन-सा परिवर्तन हुआ है? तो भूगोल शास्त्र का विद्यार्थी तुरन्त ही जवाब देगा, पनामा की नहर। स्वेज़ की नहर बन जाने से योरप और एशिया का सम्बन्ध माफ़ हो गया, इसी प्रकार पनामा की नहर बन जाने से अटलांटिक तथा प्रशान्त-महासागर आपस में मिल गए और व्यापार का नया एवं महत्त्वपूर्ण मार्ग खुल गया। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के मध्य में पनामा-नामक एक छोटा-सा प्रदेश स्थित है। इसी के कारण दोनों महासमुद्र पृथक्-पृथक् थे। अमेरिका के व्यापारियों ने देखा कि पनामा में नहर खोदी जाय, तो अमेरिका के व्यापार में बड़ी उन्नति हो सकती है। पनामा में तो बड़े-बड़े पर्वत खड़े थे, उनको खोद कर स्टीमरों के आने-जाने के लायक रास्ता बनाना कोई सरल काम न था। तो भी साहसिक लोगों ने हिम्मत न छोड़ी, और पनामा नहर बनाकर उन्होंने जगत् में एक महान् भौगोलिक परिवर्तन कर डाला। पनामा नहर खोदने का काम सन् १८८८ ई० में फ्रेंच कम्पनी ने प्रारम्भ किया था, परन्तु पनामा में काम करनेवाले मज़दूर, इंजीनियर और डाक्टर लोग मलेरिया और पीले बुखार के शिकार बन गए। पनामा नहर के मंगलाचरण में ही हज़ारों मनुष्यों को अपना जीवन बलिदान करना पड़ा। इसी कारण इस नहर का प्रारम्भ करनेवाली फ्रांसीसी कम्पनी को दिवाला निकालना पड़ा।

अटलांटिक और प्रशान्त महासागर को परस्पर मिलानेवाली इस पनामा नहर की लम्बाई ४१ मील है। उसकी चौड़ाई अधिक-से-अधिक ३०० फ़ीट और कम-से-कम २०० फ़ीट है। नहर को गहराई ४१ फ़ीट है। कितने ही स्थानों पर से

स्टीमर जब नहर में से गुज़रते हैं, तब वे समुद्र के जल-पृष्ठ से ८५ फ़ीट तक की ऊँचाई से होकर जाते हैं। पनामा की नहर में स्टीमरों को इस प्रकार की चढ़-उतर कई बार करनी पड़ती है। कारण, पनामा की नहर स्वेज़नहर के समान सम-पृष्ठवाली नहीं है। पनामा की नहर में कोलेब्रा-नामक तथा इसी प्रकार के अन्य कई पर्वत हैं। इन पर्वतों के कारण नहर को सपाट (समपृष्ठ) करने में बहुत खर्च होता था, अतः अमेरिका ने बड़े-बड़े दरवाज़े, दीवार तथा समुद्री तालाब तैयार करके आग-बोटों (स्टीमरों) को ऊँचे-नीचे करके गुज़ारने की व्यवस्था की है। इन विशाल-काय दरवाज़ों को नीचे करते ही पन्द्रह मिनिट में तालाब पानी से भर जाते हैं, तथा फिर पन्द्रह मिनिट के अन्दर ही इन का पानी निकाला भी जा सकता है। ये दरवाज़े मामूली नहीं हैं। गटु के दरवाज़ों के दो किवाड़ों की चौड़ाई ६५ फ़ीट, ऊँचाई ८२ फ़ीट, तथा मोटाई ७ फ़ीट है। गटु की दीवारों के बनाने में बीस लाख घन फ़ीट कौंक्रीट तथा सीमेंट लगाई गई थी। पनामा की नहर बनाते हुए जितने बड़े राक्षसी यन्त्र काम में लाये गये हैं, भारतवर्ष में वैसे यन्त्र तो देखने को भी नहीं मिलते। उनकी कल्पना तो अपने दिमाग़ में ही करनी पड़ेगी, अथवा उसके लिए तो चित्र ही देखने चाहिए। ४१ मील लम्बी इस नहर को बनाने में अमेरिकन लोगों ने एक अरब साढ़े बारह करोड़ रुपये ख़र्च किए हैं।

पनामा की इस महान् नहर को बनाने में कैसे-कैसे और कितने अंगी यन्त्र एकत्र किए गए थे, तथा पनामा में स्थित कोलेब्रा-पर्वत के करोड़ों टन पत्थरों और शिला-खण्डों को उठाने में कैसे-कैसे साधन उपस्थित किए गए थे, ये बातें जानने लायक हैं। सन् १८८८ ई० में पनामा नहर की नींव डाली गई, और सन् १९२० ई० के जुलाई महीने में राष्ट्र-पति विलसन के कर-कमलों से उसकी उद्घाटन-क्रिया कराई गई। इन बत्तीस वर्षों में से ३६ करोड़ टन पत्थर, धूल, चूना, कीचड़ निकाला गया है। ३६ करोड़ टन अथवा २४ करोड़ घन गज़ कूड़े कचरे को खोदने तथा उसको उठाने के लिए कितने मनुष्य और कितने साधनों की ज़रूरत पड़ी होगी? पनामा नहर की निर्माण-कथा पढ़ने से ज्ञात होता है कि इन पत्थरों और शिला-खण्डों को उठाकर निकालने तथा दूर फेंकने के लिये निम्न लिखित यन्त्र काम में लाए गए थे :—

भाप से चलनेवाले बड़े फावड़े (स्टीम शावेल) १०१
स्टीम एंजिन ३०७
सामान ढोनेवाले डब्बे ४,५७२
समुद्र का कीचड़ निकालनेवाले यंत्र .. ५५३
माल ऊपर उठानेवाले ऊँट (Cranes) २७
छोटे-बड़े जहाज़ और आगबोट ७२
शीघ्रता से माल उठानेवाले यंत्र १००

ये यंत्र किस प्रकार के थे, और कितना काम करते थे, इसका अनुमान एक भाप से चलने वाले फावड़े द्वारा ही किया जा सकता है। यह स्टीम शावेल (भाप से चलनेवाला फावड़ा) एक घेरे में आठ आठ हज़ार टन पत्थर और मिट्टी के ढेर उठा सकता था। एक समय में इसी प्रकार के ४३ फावड़े एक पर्वत को खोदने के लिए लगाए गए थे। ६ हज़ार आदमी एक साथ मिलकर एक समय में जितना काम कर सकते हैं, वही काम स्प्रेडर-नामक राक्षसी यंत्र एक झपट में कर डालता था।

पनामा में स्थित पर्वतों को तोड़ने के लिए कई बार सुरंगें बनाई गईं, और बारूद भरकर उड़ाया गया है। एक सुरंग में २६ टन बारूद

भरा जाता है इतनी बड़ी ये सुरंगें थीं। पनामा की नहर बनाने में सात करोड़ सत्तर लाख सेर बारूद फूँका गया था।

पनामा से लेकर कोलाम्बे तक इस बड़ी नहर का सिरजनहार कौन था। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि वह कोई इंजिनीयर अथवा कोई बड़ा धनपति नहीं था। वह ग़रीब-घर में उत्पन्न हुआ विलियम गोरगेस नाम का एक डॉक्टर। विलियम गोरगेस कितना ग़रीब था, और किन परिस्थितियों में वह बड़ा हुआ था, यह बात बाल्टीमोर-विद्यालय में दिये हुए उसके अपने ही भाषण से ज़ाहिर होती है। बाल्टीमोर-विद्यालय के विद्यार्थियों के समक्ष अपनी जीवन-कथा सुनाते हुए विलियम गोरगेस ने कहा था—

"पैंतालीस वर्ष पहिले, पहली बार ही जब मैंने बाल्टीमोर में अपना क़दम रक्खा था, उस समय मेरे पास पहनने के लिए कपड़े न थे, और न खाने के लिए अनाज। इतना ही नहीं, पैरों में पहनने के जूते भी मेरे पास न थे। मेरे पिता एक सरदार की अध्यक्षता में लड़ाई लड़ने के लिए दक्षिण में गए थे। मेरी माता का घर एक बार सामान-सहित जलकर नष्ट हो गया था। उसके बाद अपनी माता के साथ हम छहों भाई बाल्टीमोर में आए, वे दुःखपूर्ण स्मृतियाँ आज तक भी मेरे स्मृति-पट से ओझल नहीं हुई हैं।"

विलियम गोरगेस ग़रीबी की अवस्था में से गुज़र कर एक डॉक्टर बना था। वह प्राणी शास्त्र में भी बहुत प्रवीण था। पनामा में उस समय पीले बुख़ार का भयंकर आतंक छाया हुआ था। सैकड़ों नर-नारी इससे पद-दलित हो चुके थे। आख़िर को पनामा के लोगों को इस भयंकर रोग से बचाने का काम विलियम को सौंपा गया। विलियम गोरगेस ने अपने गुरु मेजर रोनाल्ड और मेजर वाल्टररीड के पास रहकर ज़हरीले मच्छरों के विषय में सब भाँति का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और इसी लिए पनामा में से पीले ज्वर तथा मलेरिया ज्वर को नष्ट करने में इसको बहुत सफलता प्राप्त हुई थी।

पनामा का कारख़ाना ४५ मील लंबा था। इस कारख़ाने का क्षेत्रफल ४५० वर्ग मील था। इस विस्तृत क्षेत्र में लगभग पचास हज़ार मज़दूर अपने परिवारों सहित आकर बस गए थे। इस प्रदेश पर राज्य करनेवाला कोई राजा या राष्ट्रपति न था। विलियम गोरगेस पनामा के इस कारख़ाने का डॉक्टर था। इन हज़ारों मनुष्यों को अपने वश में रखने के लिए गोरगेस के पास तोपें या बंदूकें न थीं। उसमें एक अपूर्व शक्ति थी। बीमारी फैलाने वाले विषैले मच्छरों को किस प्रकार नष्ट करना चाहिए, यह बात गोरगेस को अच्छे प्रकार से ज्ञात थी।

जहाँ-जहाँ पर मच्छरों की उत्पत्ति होती थी, ऐसे अनेक जोहड़ों और खड्डों में तेल डाल-डालकर मच्छरों का संहार किया गया। खाइयों और खाड़ियों को पत्थरों तथा धूल से भर दिया गया। अनेक स्थानों पर खाड़ियों के बंद पानी को बहता हुआ कर दिया। तात्पर्य यह है कि साढ़े चार सौ वर्गमील प्रदेश में एक कोना भी ऐसा न रहा था, जहाँ मच्छरों की भिनभिनाहट भी सुनाई देती हो। विलियम गोरगेस तथा उसके साथी डॉक्टरों, खाई भरनेवालों कारकुनों तथा स्वास्थ्य निरीक्षकों आदि ने इन मच्छरों के विरुद्ध महान् लड़ाई शुरू की थी। प्रारंभ में तो अज्ञानी मज़दूर अपने अधिकारियों के आज्ञानुसार काम नहीं करते थे, परंतु विलियम गोरगेस के मधुर स्वभाव के कारण

जन सब ने इन सब आज्ञाओं का पालन किया। पनामा नहर का यह महान् कार्य इतनी शीघ्रता के साथ हो गया, इसका मुख्य कारण था कार्य का वर्गीकरण तथा काम करनेवाले मज़दूरों का परस्पर प्रेम-भाव। इस विषय में सरकार की ओर से फ़रमान प्रकट किया गया था कि "यदि कोई अधिकारी अपने नीचे काम करनेवाले मज़दूरों के साथ कठोरता-पूर्ण व्यवहार करेगा, तो उसको उचित दंड दिया जावेगा।" अमलदार लोगों ने इस आज्ञा का भली-भाँति पालन किया था। फलतः सारे कार्यकर्ताओं में परस्पर बंधुभाव विद्यमान था। नहर के साढ़े चारसौ वर्गमील के विशाल प्रदेश को सत्रह भागों में बाँटा गया था। प्रत्येक विभाग में एक मच्छर-शास्त्री, एक स्वास्थ्य-निरीक्षक, एक कारकुन, पचास मज़दूर तथा इन सब के ऊपर एक अनुभवी और व्यवहार कुशल अधिकारी रहता था। ये सब मिलकर अपने-अपने विभाग का काम बड़ी तत्परता तथा शीघ्रता के साथ करते थे। इन सत्रह विभागों ने एक साल के अन्दर कितना काम किया था, इसका अनुमान नीचे लिखे आँकड़ों से किया जा सकता है—

(क) एक करोड़ पचीस लाख वर्गगज़ क्षेत्रवाले 'अशयुइ' नाम जंगल से वृक्ष, लता आदि निकाल कर साफ़ कर दिया।

(ख) दस लाख वर्गगज़ की नमीवाली ज़मीन में पानी का प्रवाह जारी किया।

(ग) तीन करोड़ वर्गगज़ की विस्तृत भूमि में का घास-फूस काट कर साफ़ किया।

(घ) तीन करोड़ फ़ीट की खाइयों की मरम्मत कराई।

(ङ) तालाबों और जोहड़ों में रहनेवाले मच्छरों को नष्ट करने के लिए तीन लाख तेल के डब्बे प्रयोग में लाए गए।

(च) लोगों को दवाई के रूप में खिलाने के लिए तीस लाख पौंड कुनीन खर्च हुई।

(छ) घरों में से मच्छरों को नष्ट करने के लिए एक करोड़ दस लाख घन फ़ीट—जितने स्थान पर अग्नि की धूनी की गई।

इस प्रकार पनामा में से रोगोत्पादक मच्छरों का समूल विनाश करके मलेरिया और यैलोफ़ीवर (पीला ज्वर) जैसे जन-घातक रोगों का सर्वथा नाश किया गया था। जिस पनामा में गौरवर्ण प्रजा का रहना सर्वथा असंभव था, उस पनामा का मृत्यु-प्रमाण संप्रति किसी बड़े शहर की अपेक्षा बहुत कम है। भारत में बम्बई सरीखे बड़े नगरों में आज-कल प्रति हज़ार साठ मनुष्य मरते हैं। मुक़ाबले में पनामा में मृत्यु का प्रमाण प्रति हज़ार में आठ है, और उनमें भी गोरों में तो प्रति हज़ार तीन ही व्यक्ति मरते हैं। पनामा की आबहवा अब बड़ी अच्छी मानी जाती है। सचमुच पनामा-नहर का बनाना, प्रकृति पर मनुष्य की एक बड़ी विजय है।

असली भारतवर्ष

ग्राम-उद्योग-संघ

[चूंकि स्वदेशी के कार्य को आगे बढ़ाने का दावा करानेवाले अनेक मण्डल सारे देश में कॉंग्रेसजनों की सहायता से और बिना सहायता के भी, खुल गये हैं और चूंकि इससे स्वदेशी के सच्चे स्वरूप के सम्बन्ध में जनता के मन में भारी भ्रम उत्पन्न हो गया है, चूंकि कॉंग्रेस का ध्येय उसके जन्मकाल से ही जन-साधारण के साथ आत्मीयता बढ़ाते रहने का रहा है, और चूंकि ग्राम-संगठन कॉंग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग है, और चूंकि गाँवों के इस नये संगठन में चर्खे के मुख्य उद्योग के बाद मरे हुए या मरते हुए ग्राम उद्योग को पुनर्जीवित करने और उन्हें प्रोत्साहन देने का समावेश हो जाता है, और चर्खा-संघ के विधान की तरह, कॉंग्रेस को राजनीतिक प्रवृत्तियों से अलिप्त तथा स्वतंत्र रहकर तन्मयता और विशेष प्रयत्नपूर्वक ही यह काम हो सकता है, इसलिये इस प्रस्ताव के द्वारा श्री कुमाराप्पा को गांधी जी के परामर्शानुसार और देख-रेख के अधीन, कॉंग्रेस की प्रवृत्ति के एक अंश के रूप में, 'अखिल-भारतीय ग्राम-उद्योग-संघ' नामक संस्था स्थापित करने का अधिकार दिया जाता है। यह संघ घरेलू उद्योग के पुनरुद्धार तथा प्रोत्साहन और गाँव की नैतिक तथा शारीरिक उन्नति के लिए प्रयास करेगा; और उसे अपना विधान बनाने, धन-संग्रह करने तथा अपनी उद्देशपूर्ति के लिए तमाम आवश्यक काम करने का अधिकार रहेगा।"

गत २४ अक्तूबर को बंबई में कॉंग्रेस की विषय-निर्धारिणी समिति के आगे 'ग्राम-उद्योग-संघ' का प्रस्ताव पेश करते हुए गांधीजी ने जो भाषण किया था, उसका मुख्य भाग नीचे दिया जाता है।]

गाँव की दरिद्रता

इस साल जब मैं हरिजन-दौरा कर रहा था तब लोग मेरे पास आकर अपनी मुसीबतों को सुनाते थे। इस यात्रा में मैंने जितना भ्रमण किया उतना कभी नहीं किया और उड़ीसा की पैदल-यात्रा में तो मुझे असाधारण अनुभव प्राप्त हुए। हमारे सात लाख गाँवों में कुछ पार है बेकारी का! लोग खेती-बाड़ी से किसी तरह अपनी जीविका चला रहे हैं। पर लाखों लोगों को खेती में नुकसान पहुँचता है। और आज की मुसीबत का तो कुछ लेखा ही नहीं। आज तो किसान जितना बोते हैं उतना भी पैदा नहीं होता। इतनी दरिद्रता गाँवों में पहले कभी न हुई होगी। जो अरबों-करोड़ों का सोना देश से निकल गया है उसके राज-

नातिक-कारण तो हैं ही, पर एक कारण लोगों की यह लाचारी भी है। इस बेकारी से ही चर्खे की उत्पत्ति हुई है। हिन्दुस्तान को छोड़कर दूसरा कौन ऐसा देश है कि जहाँ लोग केवल खेती पर ही गुजर-बसर करते हों ? मधुसूदनदासने कहा था, कि खेती के साथ-साथ गाँववालों के लिए कोई-न-कोई ऊपरी धन्धा तो होना ही चाहिए। जर्मनी जाकर वे चमड़े का काम सीख आये थे। उनका एक वाक्य मुझे आज भी याद है, कि हमेशा बैल के साथ काम करनेवाले की अक्ल भी बैल की जैसी ही हो जाती है। हमारे किसान भाई आज काम-धन्धे से हाथ धो बैठे हैं, और उनमें एक प्रकार की जड़ता-सी आ गई है।

बेकारी का इलाज

साम्यवादियों का एक अखबार एक सज्जन मेरे हाथ में दे गये थे। उसमें एक बड़ा सुन्दर लेख है। उसमें लिखा है, कि हिन्दुस्तान के लोग मानों पशु हो रहे हैं। आज से दस ही बरस पहले देश में अनेक उद्योग-संघ देखने में आते थे, पर आज उन सबका जैसे लोप हो गया है। अब तो सिर्फ खेती पर ही लोग निर्वाह कर रहे हैं, इससे बेकारी अनेक गुनी बढ़ गई है। मैंने तो उस लेख में-से यही सार निकाला, कि इस बेकारी का आखिर इलाज क्या हो सकता है ? इस पर विचार करते समय स्वदेशी का शुद्ध स्वरूप मेरे आगे आया। अकेली खादी में ही २,२०,००० कातनेवाली स्त्रियाँ काम में लगी हुई हैं। दस साल में क़रीब ७५ लाख रुपये हमने इन्हें दिये हैं। इस काम की देखरेख रखनेवाले मध्यमवर्ग के ११०० आदमियों की जीविका खादी से चल रही है। इन लोगों के द्वारा यह पौन करोड़ रुपया गाँवों में पहुँचा है। खादी का यह काम आज पांच छै हजार गाँवों में चल रहा है। और २० लाख रुपये से अधिक मूलधन इसमें नहीं लगा हुआ है।

पर इतने से हिन्दुस्तान की सारी बेकारी थोड़े ही दूर हो जाती है। बढ़ई की ही बात लेता हूँ। अपने यहाँ का बढ़ई किसी समय बड़ा अच्छा कारीगर था। आज वह सब कारीगरी भूल गया है। आज तो गाँव का बढ़ई चर्खा तक नहीं बना सकता। बिहार की बात लीजिए। भूकम्पने वहां खेतों का नाश कर दिया है। बालू-ही-बालू जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ती है, और खेती करना असम्भव-सा हो गया है। वहाँ यह निश्चय किया गया, कि जो लोग भूखों मर रहे हैं, उन्हें हर रोज़ भीख देना तो ठीक है नहीं, इससे और नहीं तो चर्खा चलवाकर ही उनकी बेकारी दूर करने का कुछ प्रयत्न किया जाय। पर प्रश्न यह था कि इतने चर्खे लावें कहाँ से ? अच्छा हुआ कि वहाँ के बढ़ई चर्खे बना तो सकते थे।

अपने देश में शहरों की तो तीन ही करोड़ की आबादी है। बाक़ी के ३२ करोड़ आदमी तो दस हज़ार से कम जन-संख्यावाले गाँवों में रहते हैं। उनका हमने कभी ख़याल ही नहीं किया। वे क्या तो खाते हैं, क्या धन्धा करते हैं इन बातों का भी विचार तक न करते हुए हम उन बेचारों के कन्धों पर सवारी किये हुए हैं। इन लोगों के लिए आप से चर्खा चलाने को कहता हूँ तो आपको मेरी यह बात पुसाती नहीं। चर्खा-संघ इन लोगों को चर्खा पकड़ा तो रहा है, पर जो काम बाक़ी रहता है उसे यह नया संघ पूरा करेगा। चर्खे के अतिरिक्त बाक़ी के जिन उद्योगों को लोग घर बैठे ही कर सकते हैं; उन सब का पता यह संघ लगायेगा। जिन उद्योगों का पुनरुद्धार हो सकता है उनका पुनरुद्धार करेगा; जो चीज़ें तैयार होती होंगी उन्हें और भी अच्छी तरह तैयार कराने की योजना यह संघ बनायेगा; और नयी-नयी और क्या-क्या चीजें बन सकती हैं इसका भी वह पूरा-पूरा पता लगायेगा। इस काम के द्वारा ग़रीब लोगों की जेब

में कुछ करोड़ रुपये तो पहुँचेंगे ही। चर्खे के विषय में जितनी मुझे आशा थी, उतनी दिलचस्पी आपने नहीं ली। मेरी तो यह कल्पना थी, कि विदेशी कपड़े के पीछे अपने देश का जो साठ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष विदेश चला जाता है उसे हम चर्खे के द्वारा बचा लेंगे, पर मेरी यह कल्पना सफल नहीं हो सकी।

अब यह प्रस्ताव आपसे यह पूछता है, कि आप चर्खा नहीं चलाना चाहते तो क्या इतना स्वदेशी का काम आप दिल से करेंगे या नहीं ? यह काम आपको अच्छा लगे तभी इस प्रस्ताव को पास कीजिए, नहीं तो नहीं। इसमें मेरे साथ सौदा करने या मुझे रिझाने की कोई बात नहीं है।

इस काम को मैं राजनीतिक दृष्टि से नहीं करना चाहता, पर इस दृष्टि से करना चाहता हूँ, कि ग़रीब बेकार ग्रामवासियों को इससे दो पैसे मिलें। इसीलिए इसे मैं राजनीति से अलग रखना चाहता हूँ। आप लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा, कि जो दो लाख बीस हज़ार कतैये, बीस हज़ार धुनिये और बुनकर चर्खा-संघ का दिया हुआ काम कर रहे हैं, उनमें काँग्रेस का एक भी सदस्य नहीं है। कांग्रेस विधान में सूतमताधिकार भी है, इस लिए वे चाहें तो उसके सदस्य हो सकते हैं, पर इसके लिए हमने प्रयत्न किया ही नहीं। ऐसा करने से भी वे हमारे राजनीतिक कार्य से अपरिचित तो हैं नहीं। वे यह जानते हैं, कि कांग्रेस में तो हम उनकी सेवा करने के लिए ही गये हैं, न कि राजनीति में उनका उपयोग करने की नियत से। इस प्रस्ताव से कांग्रेस के ऊपर रुपये-पैसे की जवाबदारी तो कोई आती ही नहीं; वह तो सिर्फ कांग्रेस का नाम-भर चाहता है। यह चीज़ अगर आपको पसन्द हो तो इस प्रस्ताव के पक्ष में अपनी राय दें, नहीं-तो-नहीं।

[इस प्रस्ताव पर कई संशोधन पेश हुए और कुछ पर वादविवाद भी हुआ। बाद को उन सब संशोधनों का जवाब देते हुए गान्धीजी ने कहा।]

नीति से कोई विरोध नहीं

एक सज्जनने यह संशोधन पेश किया है, कि इस प्रस्ताव में से 'मरे हुए या मरते हुए धन्धे' यह शब्द निकाल दिये जायँ। इस प्रस्ताव का यह अर्थ नहीं है कि दूसरे उद्योग-धन्धों की हमें दरकार ही नहीं। जो धन्धे मर गये हैं, जिनका खात्मा हो गया है या जो मरने ही वाले हैं, उन्हें प्राणदान देना इस संघ का मुख्य काम होगा।

दूसरे संशोधन 'नैतिक तथा शारीरिक उन्नति' इन शब्दों को निकाल देना चाहते हैं। ये शब्द इस लिए रखे गये हैं, कि इस प्रस्ताव का उद्देश गाँववालों को सिर्फ़ पैसा देने का ही नहीं है, बल्कि उनके चरित्र की रक्षा करने का भी है। कोई मनुष्य दारू या ताड़ी का धन्धा करता हो, तो उसे हम यह समझायँगे, कि वह उस चीज़ को छोड़कर कोई दूसरा धन्धा हाथ में लेले। हम तो ख़ुदाई ख़िदमतगार बनकर उनके पास जायँगे। मैं तो सभी उद्योग-धन्धों की खोजबीन करना चाहता हूँ, और वह केवल अर्थशास्त्र की दृष्टि से नहीं। इन लोगों की सभी प्रकार की स्थिति का पता लगाना होगा। इस काम में अध्यापक, डॉक्टर आदि की मदद तो मुझे लेनी ही होगी।

इस संस्था को कांग्रेस की राजनीति से जो मैंने अलिप्त रखा है उस का एक ख़ास उद्देश है। राजनीतिक स्थिति चाहे जैसी हो तो भी इस काम को तो चलता ही रहना चाहिये। हम अपने ग्रामवासी भाइयों के पास सेवा करने के इरादे से ही जायें, उनके कान में राजनीति का मंत्र फूँकने नहीं। हमें तो उन्हें स्वस्थ बनाने रोगमुक्त करने, उनकी गंदगी छुड़ाने, उन्हें उद्यम में लगाने और बेकारी दूर करने की नीयत से ही उनके पास जाना चाहिए। हमारा अगर यह हेतु हो तो

हम इस काम में राजनीति को नहीं ला सकते। कांग्रेस जब ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई थी, तब भी चर्खा-संघ ग़ैरक़ानूनी नहीं ठहराया गया और उसका काम बराबर वैसा ही चलता रहा। तो भी वह कांग्रेस की ही संस्था है। पर कांग्रेस की राजनीति से चर्खा-संघ अलग ही रहता है। ठीक यही स्थिति इस नये संघ की भी रहेगी।

कराची में मैंने यही बात कही थी। उस दिन जिन लोगों ने मेरा विरोध किया था, बाद को वे मुझसे कहते थे कि तुम्हारा कहना सच था। मैंने उस समय अस्पृश्यता-निवारण-समिति और मद्य-निषेध-समिति को कांग्रेस की राजनीति से अलग रखने की सलाह दी थी और सलाह ठीक ही थी। एक सज्जन ने कहा है कि यह काम तो 'कुमाराप्पा एगड को०' के द्वारा होगा। फिर कांग्रेसवालों के लिये क्या काम रह जायगा? ऐसी तो कोई बात ही नहीं है। इस संघ में तो उस कांग्रेसजन के लिये स्थान रहेगा, जिसकी इस कार्य में श्रद्धा होगी। आज चर्खा-संघ में जो ११०० खादी सेवक काम कर रहे हैं, वे सब-के-सब कांग्रेसवादी ही हैं।

सच्चा समाजवाद

श्री गोविन्दराय ने कहा है कि यह सब मैं प्राचीन युग की बातें कर रहा हूँ, और मैं यंत्रों का कट्टर दुश्मन हूँ। मेरे लेखों को, जान पड़ता है, उन्होंने कुछ वक्र दृष्टि से पढ़ा है। मेरे सामने जो यह चर्खा रखा है क्या वह यंत्र नहीं है? अरे, यंत्रों से कौन इन्कार करता है? पर हमें उनका गुलाम नहीं बनना है गुलाम तो वे हमारे बनें। हमें तो ग़रीबों का गुलाम बनना है, अमीरों का नहीं। पैसेवालों से मैं ग़रीबों के लिए पैसों की मदद ले लेता हूँ; पर कोई मिलमालिक या कल-कारखानेदार मुझे पांच हज़ार रुपये दे तो क्या इससे मैं उसकी मदद करूँगा? जो मुझे दें उन्हें तो यह समझ कर देना चाहिए, कि ग़रीबों के पास से जो हमने बहुत-सा पैसा इकट्ठा कर लिया है, उनमें से यह थोड़ा पैसा उनके काम के लिए हम दे रहे हैं। धनियों से पैसा लेकर मैं तो उन्हें लूट रहा हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि मैं धनिकों का दलाल हूँ। पर मुझसे पूछो तो मैं तो एक मजूर हूँ। मैंने मजूरों के साथ मजूरी की है। मैं उनके साथ रहा हूँ। उनके साथ मैंने खाया है, पीया है। मैं मजूरों का प्रतिनिधि होने का दावा करता हूँ, और उनके लिये धनिकों से पैसा लेता हूँ। अपने देश के ३५ करोड़ लोगों को मैं यंत्रों का गुलाम नहीं बनाना चाहता मैं इसमें समाजवाद या साम्यवाद की कल्पना नहीं कर सकता। समाजवाद का अर्थ तो मैं यह करता हूँ कि लोग स्वावलम्बी हो जायँ। ऐसा करने से ही वे धनिकों की लूट-पाट से बचेंगे। मैं तो मजदूरों को यह समझा रहा हूँ कि पूँजीपतियों के पास सोना-चांदी है तो तुम्हारे पास हाथ-पैर हैं, और सोना-चांदी की तरह यह भी एक तरह की पूँजी ही है। पूँजीपति का काम बिना मज़दूरों के नहीं चल सकता। कोई इसे यह न समझ बैठे कि हम इस संघ के द्वारा पूँजीपतियों का काम करके मज़दूरों को गुलाम बनाने की बात कर रहे हैं। बात तो बल्कि इससे उलटी है। हमें तो इसके द्वारा गुलामी के बन्धन से मुक्त करना है। बात तो उन्हें स्वावलम्बी बनाने की है। इसमें उन्हें गुलाम बनाने की कल्पना कैसे हो सकती है? इस सारी योजना पर मैंने खूब अच्छी तरह विचार किया है, और उसके बाद ही इसे उपस्थित किया है ग्राम-उद्योगों को जिलाने का यही एक मार्ग है और इसमें मैं आप लोगों की मदद चाहता हूँ।

स्नेह की ज्वाला

[ले०—प्रेमबन्धु]

उमा के ससुराल में पैर रखते ही निरूपमा ने उसे समझा दिया था—"बहुरानी! इस अभागे बालक को मुँह न लगाना।"

उमा ने अपने मन में सोचा, शायद् यह बालक बहुत शैतान होगा। परन्तु तीन ही दिनों में उसे मालूम हो गया कि बात कुछ ऐसी नहीं थी। उस बालक का केवल एक अपराध था—वह मातृ-पितृ-विहीन था। उमा सोचने लगी—क्या यह भी कोई अपराध है।

\+ + + +

अंधकार के वक्षःस्थल को चीर कर प्रकाश की किरणें अपना मार्ग बना रही थीं।

उमा स्नान करके पूजा की कोठरी की ओर आ रही थी। उसने देखा शशि की कोठरी में दो आँखें बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताक रही हैं। उमा से रहा न गया। पास जाकर उसने कहा—"शशि! क्या कहते हो?"

बालक बोला नहीं।

उमा ने फिर कहा—"बच्चे! हम आ गये हैं। बोलो क्या कहते हो?"

शशि ने एक बार उमा की ओर देख भर लिया, परन्तु बोला फिर भी नहीं। उसकी आँखें भर आईं।

"तुम रोते हो"—उमा ने कातर होकर पूछा।

इस बार शशि ने कहा—"चाची, तुम जाओ, ताई मारेगी।"

उमा ने पूछा—"ताई क्यों मारेगी, बच्चे?"

"यह तो मैं नहीं जानता"—शशि ने बड़े भोलेपन से उत्तर दिया—"पर ताई मुझे किसी से भी बातें करते देख लेती है तो मारा करती है।"

"हमारे साथ बात करते देखकर वह नहीं मारेगी। आओ! तुम हमारे साथ चलो।"

"नहीं, चाची! हम हाथ जोड़ते हैं। तुम जाओ! ताई आ रही होगी।" बालक रोने लगा।

उमा सहसा कुछ न कह सकी। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो उसका हृदय बरबस शशि की ओर खिंच रहा है। वह चुपचाप वहीं खड़ी रही।

उधर पूजा घर में उमा को न देखकर निरूपमा ने चिल्लाकर कहा—"जो जान बूझ कर साँप के मुँह में उँगली डाले, उसे कौन बचा सकता है। बहूरानी! मैं अब भी कहती हूँ तुम शशि को मुँह न लगाओ।"

उमा ने बाहर आकर कहा—"मैंने क्या किया जीजी?"

"तुम शशि के कमरे में क्यों गई थी?" निरूपमा ने शासन के स्वर में पूछा।

"मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ! तुम इस बालक से इतनी रुष्ट क्यों हो।"

"अरे! बहूरानी! इससे बढ़कर अभागा कौन होगा। पैदा होते ही जिसके माँ-बाप मर गये और तनिक बड़ा होते ही जिसने ताऊ को भी खा डाला।" इतना कहते-कहते निरूपमा ने शशि को कमरे से खींच कर बाहर डाल दिया।

उमा ने व्यथित हृदय से देखा—बालक चुपचाप रो रहा था।

२

समय असीम के पथ पर एक चाल से चला आ रहा था।

उमा ने देखा निरूपमा की कठोरता दिन-प्रतिदिन बढ़ती आ रही है। सात वर्ष का बालक शशि दिन-भर परिश्रम करता और सर्वदा शान्त और प्रसन्न रहने की भी चेष्टा करता। कठोरता कुछ बहुत बुरी वस्तु नहीं, यदि उसके साथ समवेदना और सहानुभूति भी हो। पर वहाँ पर इसका सर्वथा ही अभाव था।

एक दिन साहस करके उमा ने अपने पति से कहा—"आप ही जीजी को क्यों नहीं समझाते ?"

"किस लिये ?"

"वे शशि के प्रति इतनी कठोर क्यों हैं ?"

"तुम नहीं जानती, उमा रानी! भाभी उसे बहुत प्यार करती हैं परन्तु प्रगट करना नहीं चाहती इसी लिए तो कठोर हैं।"

"प्रेम से कठोरता नहीं होती प्यारे! कठोरता तो ईर्ष्या में होती है। एक दिन जब यातना सहते-सहते वह मर जायेगा, तो क्या वे उस प्रेम को लेकर चाटेंगी ?"

उमा की आँखें छलछला आईं।

इतने में शशि की चीत्कार से मकान गूँज उठा। उमा जल्दी से दौड़ कर वहाँ पहुँची। उसने देखा निरूपमा आज शशि की जान लेने पर उतारू हो रही है और बालक बिलबिलाकर कह रहा है—"ताई! इस बार माफ़ कर दो, अब नहीं करूँगा।"

उमा से यह न देखा गया। उसने निरूपमा के पैर पकड़ लिये और कहा—"जीजी! बस करो! शशि मर जायेगा।"

निरूपमा रुक तो गई पर उसे यह बुरा लगा कि कोई दूसरा उसके काम में बाधा दे।

उमा ने पूछा—"जीजी! आख़िर बात क्या थी जो शशि को इतना मारा ?"

"यह सब तुम्हारे लाड़ का फल है, बहूरानी! इसकी इतनी हिम्मत! मैंने सबेरे पाँच रसगुल्ले गिनकर रक्खे थे पर अब वहाँ पर चार ही हैं। मैं कहती हूँ मेरे घर में यह सब-कुछ न हो सकेगा। इतना कह कर निरूपमा क्रोध के मारे धम-धम करती हुई वहाँ से चली गई। उमा ने देखा उसकी आँखों में आँसू भी थे। आज उसके हृदय को ठेस लगी उसने पूछा—"बच्चे! तुमने रसगुल्ला खाया था।

शशि ने बिलखते हुए कहा—"चाची! कल से कुछ नहीं खाया। ज़ोर की भूख लग रही थी...... आह!" वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा—"चाची! बड़ी तकलीफ़ हो रही है। मैं अब से कभी चोरी नहीं करूँगा। मुझे बचा लो।" इसके साथ-ही-साथ उसने ख़ून उगल दिया।

उमा चीख़ कर बेहोश हो गई।

३

इसके तीन ही दिन बाद की बात है।

उमा को बड़े ज़ोर का ज्वर चढ़ा हुआ था। अमूल्य बाबू को डर था, कहीं उमा की बीमारी भयंकर न सिद्ध हो। उसे सात मास का गर्भ भी था। वह बार-बार बेहोश हो जाती थी।

निरूपमा ने आँसू बहाते हुए कहा—"मैंने इसे कई बार मना किया, अमूल्य बाबू! उस अभागे बालक की तो छाया भी कष्ट की छाया है।" अमूल्य कुछ समझ न सके। उन्होंने मन-ही-मन कहा, इसमें इस बालक का क्या अपराध ?"

थोड़ी देर में उसने देखा उमा ने आँखें खोलीं। अमूल्य ने उमा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"उमा, तुम्हें क्या हो गया ?"

उमा की छाती धड़कने लगी। उसने कहा—"स्वामिन्! शशि कहाँ है?"

"वह तो स्कूल गया है।"

"तो उसे बुला लाओ ना! मैं अब न बचूँगी।"

"ऐसी बात भी कोई कहता है रानी!"—अमूल्य ने शान्त स्वर में कहा।

ना! मैं अब ठीक कहती हूँ मेरे कारण शशि को कष्ट होता है। बस उसे एक बार मेरे पास बुला लाओ।"

इतने ही में निरूपमा ने कहा—"जिसके कारण तुम इस दशा को पहुँच गईं उसको देखने की अब भी साध बाक़ी है। तुम्हें अब उसकी छाया से भी बचना चाहिए, बहूरानी!"

"तुमने यह क्या कहा जीजी!"—उमा ने हृदय के आवेग को रोकते हुए पूछा।

शशि को उसके नाना के यहाँ भेज देती हूँ इस अभागे बालक के कारण मैं अपनी चाँद-सी बहू नहीं खो सकती उमा!" उसकी आँखें भर आईं।

उमा कोई उत्तर न दे सकी। भावावेश से उसकी जिह्वा रुँध-सी गई थी। हाँ! एक बार कातर दृष्टि से उसने पति की ओर देखा मानों वह कह रही थीं—इससे तो मैं और भी जल्दी मर जाऊँगी।

निरूपमा के चले जाने पर अमूल्य ने कहा—"उमा! तुम्हें मेरी क़सम, तुम चिन्ता न करो। मैं कल ही यह मकान छोड़ दूँगा।

"इससे क्या लाभ होगा?"

"भाभी के अत्याचार न देख सकेंगे और न तुम्हें कष्ट होगा।"

"तुम कैसी बातें करते हो। शशि जब भूख के मारे तड़पेगा, तो क्या मेरी आत्मा सन्तप्त न होगी। स्नेह तो भगवान की तरह अनुभव करने की वस्तु है·········

उसी समय अमूल्य ने देखा बाहिर खिड़की के परदे पर परछाईं पड़ रही है। उन्हें समझते देर न लगी। उन्होंने खिड़की खोल दी। बालक शशि घबरा कर भागने लगा, परन्तु उसमें इतनी शक्ति कहाँ थी। वहीं गिर पड़ा और बेहोश हो गया।

उमा से कुछ छिपा न रहा अमूल्य ने बालक की बेहोश देह को उठा कर उमा के पास लिटा दिया। वेदना को सुरक्षित करके उमा ने शशि को छाती से चिपका लिया। स्नेह के इस कोमल स्पर्श से शशि ने आँखें खोल दीं। उसने बड़े प्यार से कहा—"चाची!"

उमा का बाँध फूट पड़ा। उसने स्नेह सिंचित स्वर में कहा—"शशि!"

अमूल्य का मुख-मण्डल प्रसन्नता की आभा से चमक उठा। वे एकटक प्रेममय भगवान् के दर्शन देखने लगे।

४

वेदना की बाँध में बँधे हुए कितने ही दिन हफ़्ते और महीने और चले गये।

उमा की गोद में अब साल भर का एक बालक खेल रहा था। वह अब भी प्रायः रोती रहती थी। शशि का कष्ट उससे देखा नहीं जाता था। वह जितना शशि की ओर खिंचती थी निरूपमा उस पर उतनी ही अधिक कठोर होती जाती थी।

एक दिन फिर अमूल्य ने उमा से कहा—"उमा! इस तरह तो तुम घुल-घुल कर मर जाओगी। चलो हम दूसरे मकान में रहने लगें।"

उमा बोली नहीं।

अमूल्य कहते रहे—"जिसे तुम स्नेह करती हो, जिसे तुम सुखी देखना चाहती हो, उसके लिये इतना त्याग तो करना ही पड़ेगा।"

उमा ने कहा—"इसमें त्याग की कौन-सी बात है। परन्तु शशि को दुख में छोड़ कर भाग चलना तो कायरता और पाप है।"

"परन्तु उसके दुःख का प्रधान कारण तो तुम ही हो उमा! जब तुम बीच में से हट जाओगी तो भाभी शशि को इतना दुःख न दे सकेगी।"

कुछ सोच कर उमा बोली—"बात कुछ-कुछ ऐसी ही है। दूसरे के अधिकार की वस्तु को अपना बना कर कौन सुखी रह सकता है। जीजी से अलग होकर शशि कहीं जा भी नहीं सकता।"

"अब यहाँ रहने से तो शशि के कष्ट बढ़ते ही जावेंगे'—अमूल्य ने कहा।

"शशि को सुखी देखना ही मुझे अभीष्ट है। यदि हमारे चले जाने से उसके कष्ट कम हो जायंगे तो चलो हम दूसरे मकान में ही रहेंगे।"

उमा ने कह तो दिया पर हृदय में वेदना उमड़ पड़ी और वह सिसक-सिसक कर रोने लगी।

\+ + + +

अपने नये मकान में आये उमा को एक साल और समाप्त हो गया। शशि जब स्कूल जाता तो रास्ते में उमा का मकान पड़ता था। उस मकान की खिड़की के पास पहुँच कर वह प्रतिदिन चाची को नमस्ते करता और छोटे बच्चे से हँस-हँस कर बोलता। उसे प्रसन्न देख कर उमा ने सोचा—जीजी अब शशि को प्रेम से रखती है। चलो इसमें हमारा क्या। वह सुख से रहे, यही हमें प्रिय है। उसकी आँखें भर आईं।

उधर कई दिन बीत गये। शशि अब उसके पास नहीं गया। उमा सोचने लगी—क्या जीजी ने मना कर दिया है। फिर सोचती वे क्या देखने आती हैं। नहीं, वह आप ही नहीं आता होगा। ये विचार भी उसके चित्त में न ठहरता। अन्त को उसने विचारा, हो-न-हो शशि बीमार है। वह उतावली होकर खिड़की की ओर ताकती रहती; पर अब उसे शशि की सूरत न दिखाई पड़ती।

आखिर एक दिन उमा से न रहा गया। उसने निरूपमा की दासी को बुलाकर पूछा—"शशि तो अच्छा है, श्यामा?"

"नहीं। बहूरानी! तुम्हारे घर छोड़ने का सारा दोष उस पर थोप कर वे उसे बहुत कष्ट देती हैं। जब से उन्हें मालूम हुआ है कि शशि तुम्हारे पास आता है; तो उसका स्कूल जाना भी बन्द कर दिया है। अब तो वह एक दो दिन का मेहमान है।"

"उमा रोने लगी—"सच कहना श्यामा! मेरा शशि क्या अब नहीं बचेगा? ओह! इस पाप की भागिनी मैं ही हूँ।"

श्यामा ने सान्त्वना बँधाते हुए कहा—"इसमें तुम्हारा क्या अपराध बहूरानी! बात यह है कि बड़ी बहू उस पर किसी और का प्रेम देखना नहीं चाहती।"

"अच्छा चलो श्यामा! मैं तुम्हारे साथ चलकर जीजी से पूछूँगी, प्रेम पर भी क्या किसी का अधिकार होता है?

श्यामा चुप थी।

उमा ने बच्चे को गोद में उठाया और पुराने मकान में आकर देखा—शशि चौक में चटाई पर पड़ा अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। वह रोते-रोते विह्वल हो गई।

निरूपमा रसोई-घर में थी। उमा ने वहीं पहुँच कर अपने गोद के बच्चे को बड़े वेग से उनके सामने फेंक दिया और आर्द्र-स्वर में कहा—"जीजी! इसे खाकर अपना पेट भर लो और मेरे शशि को मुझे दे दो।"

उमा ने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की और शशि

को गोद में उठा कर अपने मकान की ओर चली, परन्तु नौ वर्ष के बालक को उठाने की शक्ति उसमें नहीं थी। यदि अमूल्य आकर सँभाल न लेते तो वे दोनों सीढ़ियों में ही गिर पड़ते।

उन दोनों को आराम से लिटा कर अमूल्य ने कहा—"कहीं चोट तो नहीं लगी।"

"नहीं"—कह कर उमा ने शशि को अपनी छाती में चिपटा लिया।

अमूल्य ने फिर पूछा—"बच्चा कहाँ है?"

"उसे अब भूल जाओ स्वामिन्!"—उमा ने स्वस्थ-चित्त से कहा—"उसे निरूपमा देवी की भेंट चढ़ा कर मैं शशि को बचा लाई हूँ।"

अमूल्य चुपचाप शशि के सिर पर हाथ फेरने लगे। उनका हृदय भरा हुआ था।

इसी समय निरूपमा वहाँ आ पहुँची। आते ही उसने कहा—"मुझे क्षमा कर दो, रानी!" वह फूट-फूट कर रोने लगी। रोते-रोते उसने कहा—"तुम तो इस बच्चे को मार ही आई थी, पर भगवान् ने इसे बचा लिया।"

बच्चे का नाम सुन कर शशि बड़े कष्ट से उठ बैठा और दोनों हाथ फैला कर उसे अपनी गोद में लेकर छाती से चिपका लिया।

"तुम से कैसे क्षमा माँगूँ उमा!" यह कह कर निरूपमा ने उमा के पैर पकड़ लिये—"केवल एक बार मुझे कह दो—क्षमा किया। मैं आज ही काशी चली जाऊँगी।"

उमा ने रोते-रोते कहा—"तुम मत जाओ जीजी! इस सब वितण्डावाद की कारण मैं ही हूँ। जीजी! मुझे क्षमा करो।"

"स"—हृदय

१. ठुकरा कर उन चरणों ने इस—'रक्तरञ्जित पाषाण को'—
निष्ठुरता सिखा दी थी—कि
घाव भर आएँ—आहों से, और
भरे हुए व्रण फिर खिल आएँ—
प्रति-प्रति श्वास के तीखे शर-शल्य से।
दुःख भूल जाएँ—सुख की खोज में, और
क्षणिक सुख फिर खो जाए—दुःख के असीम
सागर में, सुख की दुःखद याद में।
हृदय टूट जाएँ—शब्दों ही से, और
वह टुकड़े सिल आएं—समय की शिथिलताओं से,
आशा के आश्वासन में बँधी रहें—इच्छाएँ आकांक्षाएँ
जैसे जड़ाऊ कफ़न में—पथराए नैन और शान्त
जीवन शेष।
अनुभव-भार हल्का हो जाए—विस्मृतियों से, और
इच्छा बनी रहे—जीने की।
हाँ! यौवन हत-हृदय होकर भटक रहा था—
तेरी एक बेरुख़ी से।

२. थपक कर इन नैनों ने आलोकित-सीप में सरसता भर दी
है, पकता धर दी है—कि
घाव भर ही न आएँ—और
रिसते रहें निर्झर-सा संगीत लिए।
दुःख ध्येय हो जाए—इस जीवन का, और
हताश हो जाए—सुख की आशा।
हृदय फूटा रहे—आँखों की राह से, और
टपकता रहे चुपचाप—उन्हीं चरणों में।
आशाएँ बिछी रहें—स्वागत की राह में, और
झूमती रहें अर्चना-सी कविता लिए।
अनुभव बना रहे—तेरी उपस्थिति की, और
इच्छा बनी रहे—पूजन की।
हाँ! जीवन हृदय-हीन होते-होते "सहृदय" हो गया है
तुम्हारी एक झलक से॥

—मन मोहन आनन्द

महात्मा गांधी के वचन

[प्रेषक—ब्रह्मचारी जगन्नाथ, द्वादश श्रेणी गुरुकुल काँगड़ी]

"प्रिय विद्यार्थीगण !

कुछ भी वचन मुँह से निकालने के पहिले बहुत सोचना जब कुछ वचन निकला, तो उसका मरणान्त तक पालन करना ।

वर्धा, १२—१०—३४.

बापू के,

आशीर्वाद ।"

यह संदेश है जो कि पूज्य बापूजी (गांधी जी) ने अपने आशीर्वाद सहित हम गुरुकुल के विद्यार्थियों को अभी हाल में १२ अक्तूबर को वर्धा से लिखित रूप में दिया था । आशा है हमारे साथ-साथ 'अलंकार' के पाठक भी महात्माजी के इस पुण्य-वचनको बार-बार पढ़कर और मनन कर के कुछ आध्यात्मिक जीवन का लाभ प्राप्त करेंगे ।

'अलंकार' के पाठकों को यह विदित है कि गुरुकुल काँगड़ी के ब्रह्मचारियों का। एक दल महात्मा जी का सहवास प्राप्त करने के लिये अपने गत दो मासों के दीर्घावकाश में वर्धा गया था । वहां हम ब्रह्मचारियों को महात्माजी के साथ वार्तालाप करने का पर्याप्त सुअवसर प्राप्त हुआ । एक वार उनके समय देने पर हमने उनसे कुछ प्रश्न पूछे जिनके उत्तर उन्होंने बहुत विस्तार से प्रदान किये । यह प्रश्नोत्तरी ऐसी है जो कि बहुत से अध्यात्म-पिपासुओं के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है । अतः वे हमारे चारों प्रश्न तथा महात्माजी के उत्तर क्रमशः अध्यात्म सुधा के स्तम्भों में दिये जाते हैं । इनमें हमने अपनी ओर से किसी विचार या भाव का तनिक भी संमिश्रण नहीं किया है । कहीं-कहीं तो पूरे वाक्य ही महात्माजी के लिखे गये हैं । शेष स्थानों में भाषा को परिमार्जित करने के अतिरिक्त स्वयं कुछ नहीं किया गया है । आशा है इन सन्त-वचनों से पाठक पूरा लाभ उठावेंगे ।

प्रश्न—हमारे शास्त्रों में यह यत्र-तत्र आता है कि बिना गुरु के ज्ञान व मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु आप ने तो अपना कोई गुरु नहीं बनाया। इसी प्रकार क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्य आपकी तरह अपने आत्मा को गुरु बनाकर किसी बाह्य गुरु का परिग्रह न करे?

उत्तर—मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य किसी को अपना गुरु न बनाये। गुरु की खोज करनी ही चाहिये। यदि हम किसी आदर्श को पाना चाहते है, तो उसका मतलब यह होता है कि हम में वे आदर्श गुण पैदा होनेवाले हैं। हमें एक तदनुकूल गुरु मिलनेवाला है। हमने जैसे का ध्यान किया है, वैसा ही बनना है। जिस प्रकार खाने का मतलब यह है कि हम वैसी चेष्टा करेंगे जिससे खावें; इसी प्रकार जब हम ने किसी प्रकार के आदर्श गुण पाने हैं तब हम तदनुकूल चेष्टा करेंगे अर्थात् उन गुणों की दीक्षा देनेवाले गुरु की खोज करेंगे। हम जिन अनुभवों को लेना चाहते हैं उन अनुभवों वाले अनुभवी को अवश्य ढूँढ़ना चाहिये। परन्तु मनुष्य के द्वारा जो काम सम्पन्न होता है, वह अपूर्ण ही रहता है। अतः हमे यह तो सदा ध्यान में रखना चाहिये कि परम गुरु ईश्वर ही है, जो पूर्ण है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गुरु किस को बनावें? गुरु उसको बनाना चाहिये जो गीता मे बताये लक्षणों के अनुसार स्थितप्रज्ञ हो। गुरु के चुनने के लिये कठोर परीक्षा करनी चाहिये और उस कसौटी पर कस कर ही किसी को गुरु बनाना चाहिये। जो उस कसौटी पर पूरा न उतरे, वह गुरु नहीं कहला सकता।

किन्तु ऐसे गुरु को ढूँढ कर भी बैठ न जाओ। अपने आदर्श पर पहुँचने के लिये सदा और ऊँचे गुरु की खोज करते ही रहो। हां, जब तक एक के पास रहो, उस पर श्रद्धा रक्खो तथा उससे जो कुछ मिले, उसे ग्रहण करो। जब सन्तोष न हो तो वहां से आगे कदम बढ़ाओ।

वह गुरु तो दोषी भी हो सकता है। दम्भी भी हो सकता है। ऐसी अवस्था में हमें उसके सुलक्षण ही ख़याल में लाने चाहियें, कुलक्षण नहीं। जैसे पुत्र को पिता के सुलक्षण ही ध्यान में लाने चाहियें, कुलक्षण नहीं, वैसे ही हमें भी उस गुरु में से गुण लेने की कोशिश करनी चाहिये।

मैं तो आज भी एक गुरु की खोज में हूँ। मेरे पर कांग्रेस की बड़ी भारी ज़िम्मेदारी है। ऐसे समय मैं सोचता हूँ कि मैं क्या करूँ? क्या कांग्रेस से पृथक् हो जाऊँ? मुझे यदि कोई गुरु मिले तो मैं उस से यह प्रश्न पूछूँ। यदि वह मुझे कहे कि अलग हो जाओ तो मैं अलग ही हो जाऊँगा। जब हम किसी को गुरु बना लेते हैं, तब उस पर श्रद्धा तो रखनी ही चाहिये। अन्यथा हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। यदि हम ज्योतिष पढ़ना चाहते हैं तो उसका एक साधन यह भी है कि पुस्तकों द्वारा पढ़ सकते हैं। उन पुस्तकों में जिस भी सब से बड़े ज्योतिर्विद् का ज्ञान है, उस पर अपार श्रद्धा रखनी ही पड़ेगी। किसी समस्या के उपस्थित होने पर उसकी पुस्तक से उसे सुलझाना ही पड़ेगा तथा जो उसने लिखा है वह मानना ही पड़ेगा। यदि एक रोगी ने अपनी चिकित्सा के लिये एक वैद्य रक्खा है, तो उसकी चिकित्सा करवाते हुए भी उसे मर जाना पड़ेगा।

(क्रमशः)

स्वाधीन पोलैण्ड की प्रगति

सरकारी रिपोर्ट अनुसार पिछले महान् विप्लव में पोलैण्ड में अठारह लाख मकान विनष्ट हुए थे। उनमें से सन् १९२३ तक तेरह लाख मकान फिर से तैयार होगए थे, तथा यह काम आगे आगे बढ़ता जा रहा है। सन् १९२१ में चार से सात वर्ष की उमर के लड़कों की पाठशालाएं ६३१ थी. वे १९२८ में बढ़कर १४३० तक होगई, जिनमें ८३९१२ बालक विद्याभ्यास कर रहे थे। सन् १९२३—२४ में प्राथमिक स्कूलों की संख्या २७३८४ थी, जिनमें ६२००३ शिक्षक तथा ३२०८३५२ छात्र विद्यमान थे, महायुद्ध से पूर्व माध्यमिक स्कूलों की संख्या ४६३ थी। पर संख्या १९२३-२४ में बढ़कर ७६४ तक पहुँची और उनमें २२१०९२ विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। ऊँची शिक्षा के लिए पोलैण्ड में ग्यारह, युनिवर्सिटियां हैं, जिनमें सन् १९२७ में २७३५४ छात्र तथा ९५२२ छात्राएँ शिक्षा पा रही थीं। इन अङ्कों से सहज ही जाना जा सकता है कि स्वाधीन पोलैण्ड ने शिक्षा के क्षेत्र में कितनी उन्नति की है।

[गुजराती "प्रस्थान"

साहित्य, कला और राजनीति

नाट्यकारों, लेखकों, संपादकों, कवियों तथा उपन्यास-कारों की विश्व-विश्रुत संस्था पी० ई० एन० का बारहवां अधिवेशन स्कॉटलैण्ड की राजधानी एडिनबरा में हुआ था। उसके सभापति पद से महान् साहित्यकार एच० जी० वेलस (हर्बर्ट जार्ज वेलस) ने उपरोक्त विषय पर बहुत सुन्दर विचार प्रकट किए हैं। वे कहते हैं—

"राजनीति की अपेक्षा साहित्य, कला और विज्ञान अधिक महत्वशाली और चिरंजीवी तत्व हैं। यदि राजनीति के कारण जीवन के इन तीन प्रधान तत्वों का विनाश होता हो तो समझना चाहिए कि इसमें मानवजाति की प्रतिभा का ही संहार हो रहा है। जब किसी भी देश को राजनीति के कारण वहां के राजपुरुष और पुलिस के अधिकारी साहित्य कला और विज्ञान के विरुद्ध अपने हथियार उठाते हैं। तब राजनीति से जान बूझ कर दूर रहने वाली इस अराजनीतिक साहित्य संस्था का भी राजनीति के विरुद्ध अपना सिर उठाए बिना काम नहीं चलेगा।

ऐसी संकीर्ण दशा में हम यह क्योंकर क

सकते हैं कि हमारा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। राजनीति में से जब मानवता विदा हो जाती है तथा अंधी और विवेक हीन राजनीति जब मानवता के विनाश के लिए शस्त्र सजाती है तब तो मानवता की उज्ज्वलता तथा समुत्क्रान्ति के लिए ही जिस संस्था का अस्तित्व है, उसे अपनी आवाज़ उठानी ही चाहिए।

[गुजराती "रोशनी"

—

मातृदेश विहीन प्रजा

समस्त संसार में यहूदी लोग ही एक ऐसी प्रजा है जिनका अपना मातृदेश (मादर वतन) नहीं है। विभिन्न देशों में रहनेवाले इन "भ्रमणशील यहूदियों" की संख्या निम्न लिखित है—

फ्रांस	२१,०००
पेलेस्टाईन	१०,०००
पोलैण्ड	८,०००
जेकोस्लोवेकिया	४,०००
संयुक्तदेश अमेरिका	३,०००
हालैण्ड	३,०००
स्वीडन तथा नार्वे	३,०००
स्विट्जरलैण्ड	३,०००
ब्रिटन	२,०००
बेलजियम	२,०००
विभिन्न अन्य देश	६,०००

[गुजराती "रोशनी"

अलंकार का विशेषांक

'अलंकार' का आगामी अंक 'श्रद्धानन्द-अंक' होगा। इस अंक में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों के लेख, कहानियाँ तथा कविताओं का संग्रह होगा। मैनेजर, अलंकार

हमारे राष्ट्रीय शिक्षणालय

गुरुकुल काँगड़ी समाचार

(प्रेषक भद्रसेन कुल-मंत्री)

सत्रान्तावकाश २८ अक्तूबर को समाप्त हो चुके हैं। पढ़ाइयां नियम पूर्वक चल रही हैं। साधारणतया अभी सरदी का बहुत ज़ोर नहीं हुआ है—यद्यपि हवा में काफ़ी ठण्ड होती है। छोटे ब्रह्मचारियों में मलेरिया हो रहा है इस के रोकने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है।

अनुभव सभा

प्रति वर्ष की भान्ति इस वर्ष भी यात्राओं से लौटे हुए ब्रह्मचारियों के अनुभव सुनने के लिए इस सभा की आयोजना की गई थी। इस सभा के अधिवेशन ४ दिन तक चले। छुट्टियों में महात्मा गान्धी के वर्धा आश्रम में जाने वाले यात्रियों के यात्रारम्भ की करूण कहानी ने ब्रह्मचारियों पर काफ़ी असर किया। इस यात्रा में महात्मा गान्धीजी के साथ सब ब्रह्मचारियों का जो वार्तालाप हुआ वह 'अलंकार' के 'अध्यात्म-सुधा' में प्रकाशित किया जा रहा है।

काश्मीर, बम्बई, मद्रास और बनारस आदि यात्राओं के अतिरिक्त आगरा के साइकिलयात्रियों के तथा कुल्लू के पैदल यात्रियों के अनुभव भी रोचक और शिक्षाप्रद थे।

दीपमालिकोत्सव

कई वर्षों के बाद गुरुकुल में इस त्यौहार को मनाने का सुअवसर प्राप्त किया जा सका है। सारे कुल में आनन्द और उत्साह के रूप में जीवन की एक लहर व्याप्त हुई प्रतीत होती थी। दीपमालिका की सभा में श्रीमान्य राधाकमल मुकर्जी के आगमन तथा व्याख्यान से इसकी उपयोगिता तथा रोचकता और भी बढ़ गई थी।

श्रीमद्दयानन्दाब्द

दीपमालिका से अगले दिन श्रीमद्दयानन्दाब्द दिवस मनाया गया। उसमें भी सब कुलवासियों ने बड़े आदर और प्रेम के साथ अपनी श्रद्धाञ्जलि आचार्य दयानन्द के चरणों में अर्पित की। सभा में होने वाले व्याख्यानों से स्पष्ट प्रतीत होता था कि आर्यसमाज के अन्दर अकर्मण्यता पारस्परिक कलह स्वार्थपरता आदि बुराइयों के लिए सब के हृदय में असन्तोष और वेदना भी हुई है, उनको दूर किए बिना आर्यसमाज संसार के लिए उपयोगी नहीं बन सकता। इस बात को स्वीकार करते हुए वक्ताओं ने इस दिशा में प्रयत्नशील होने का संकल्प किया।

सभाएँ तथा पत्र पत्रिकाएं

वाग्वर्धिनी सभा की ओर से अनुभव-सभा के ४ अधिवेशन हो चुके हैं। सौभाग्य से पिछले दिनों श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार कुल में पधारे थे। ब्रह्मचारियों ने उनकी उपस्थिति से पर्याप्त लाभ उठाया। वाग्वर्धिनी सभा की ओर से उनके 'वर्णाश्रम व्यवस्था' तथा श्री पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार के 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा'-नामक पुस्तक से सम्बद्ध भाग पर दो व्याख्यान भी हुए। और प्रातःकाल विद्यार्थियों ने पण्डित बुद्धदेव जी के संगीत का भी रसास्वादन किया।

गुरुकुल कुरुक्षेत्र समाचार

(प्रेषक—प्रबन्धकर्ता)

१—इस वर्ष मलेरिया का प्रकोप सर्वथा नहीं हुआ—ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य बहुत उत्तम रहा। चिकित्सालय प्रायः खाली रहा।

२—सत्रान्तावकाश के बाद पिछले महीने गुरुकुल के दो मुख्य त्यौहार विजयदशमी तथा दीपावली बड़ी धूमधाम के साथ मनाये गये। विजयदशमी से पूर्व ५ दिन तक विविध खेलें होती रहीं। आस-पास के स्थानों की टीमों के साथ हॉकी फुटबॉल, क्रिकेट तथा वालीबॉल में मैच हुए। सभी मे गुरुकुल पार्टी विजयी रही। विजयदशमी के दिन शाम को बड़ा हवन, सभा तथा सब कुल-वासियों का सम्मिलित भोज हुआ। दीपावली के दिन भी शाम को बड़े हवन के पश्चात् सभा हुई। इसमें ऋषि दयानन्द तथा मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के जीवन पर ब्रह्मचारियों तथा अध्यापकों के व्याख्यान हुए—थानेश्वर के प्रसिद्ध रागी श्री गंगासिंह के भजन भी हुए। रात को सम्मिलित भोज के बाद आतिशबाज़ी तथा रोशनी की गई और ब्रह्मचारियों ने गुब्बारे उड़ाये।

३—आर्यसमाज अम्बाला छावनी के निमंत्रण पर गुरुकुल की बड़ी श्रेणियों के ब्रह्मचारी २५ अक्तूबर को अम्बाला गये और रात को विशाल जन-समुदाय की उपस्थिति में ब्रह्मचारियों ने धनुर्विद्या के तथा लाठी, गतका, तलवार, बनैटी और ग्रुप-मेकिंग के अद्भुत खेल दिखाये। जिन्हें उपस्थित जनता ने बहुत पसन्द किया।

ब्रह्मचारियों का शारीरिक श्रम करने का संकल्प

गुरुकुल में शनिवार के दिन अनध्याय रहता है। इस दिन को ब्रह्मचारी खेलने कूदने तथा घूमने में बिताते हैं। पिछली १ नवम्बर को बड़ी श्रेणियों के ब्रह्मचारियों ने निश्चय किया कि वे इस दिन अपने परिश्रम द्वारा कुछ ऐसा काम किया करेंगे, जिससे उन्हें कुछ आमदनी होसके। यह विचार पहले-पहल तब अंकुरित हुआ था जब ब्रह्मचारियों ने बिहार के भूकंप के लिये रुपया भेजने का विचार किया था। इस प्रकार जो आमदनी होगी वह ब्रह्मचारियों के नाम से जमा रहेगी और उसे ब्रह्मचारी अपनी इच्छा से ऐसे अवसरों पर दान देने में व्यय कर सकेंगे। प्रारम्भ में जङ्गली लकड़ी की टोकरी बनाना, ढाक के पत्तों की पत्तलें बनाना, कागज के फूल बनाना, तथा मोटोज़ बनाना आदि कार्य शुरू किये जायेंगे। साथ ही जङ्गल से केसु तथा झाड़ू की सीखें इकट्ठा करना भी इस प्रोग्राम में सम्मिलित होगा।

यह भी विचार है कि इस तरह जो आमदनी होगी वह पर्याप्त होजाने पर अन्य कई तरह के दस्तकारी के काम जैसे दरी तथा नीवार बुनना, कपड़ा बुनना, सीना, इत्यादि भी प्रारम्भ कर दिये जायेंगे और इस के लिये जो उपकरण तथा मशीन आदि आवश्यक होगी वह भी इसी फंड से ख़रीदी जायगी।

सब आर्य पुरुषों को ब्रह्मचारियों का उत्साह बढ़ाने के लिये इस कार्य में सहायता करनी चाहिये तथा शीघ्र ही मोटोज़ का आर्डर देकर अपने घरों तथा समाज मन्दिरों की शोभा बढ़ानी चाहिये।

संपादकीय

बंबई की महासभा का ४८वाँ अधिवेशन—
शानदार !!

बंबई भारत का शानदार शहर है। अतः बंबई की स्वागतकारिणी ने उसकी शान के अनुसार ही पूरी तरह कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) की टीपटाप और धूमधाम रखी। वर्ली का मैदान बड़े परिश्रम और बड़े व्यय द्वारा सुन्दर सुरम्य नगर—अब्दुल गफ़्फ़ार नगर—के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। समुद्र के तट पर इस विशाल मैदान में सुन्दर सड़कें, बाज़ार, प्रतिनिधियों के ठहरने के लिये बनायी गयीं चटाई की मनोरम कुटियों की कतारें, राष्ट्रीय झंडे, चौक, फव्वारे, पण्डाल तथा रात को बिजली के प्रदीपों को नाना तरह की दीप-मालिकायें, वे सब शानदार थे, खूब शानदार थे। पर यह शान आवश्यकता से ज़्यादा बढ़ी हुई थी, फ़िज़ूलखर्ची तक पहुँची हुई थी, ऐसा कहने में हमें संकोच नहीं होता है। विषय-निर्वाचिनी के पण्डाल में लगे बिजली के पंखे, नेताओं के निवास-स्थान पर 'फ्लश' के से पाखाने इसके नमूने बताये जा सकते हैं। अपने अधिक खर्च की पूर्ति करने के लिये ही इस बार विषय निर्वाचिनी के लिये पूरक टिकट (Complimentary Ticket) भी नहीं वितरण किये गये थे और खरीदने से मिलनेवाले टिकट की क़ीमत भी २५) से कम नहीं की गयी। अन्त में स्वागतकारिणी को बचत हुई है, यह हमने सुन ही लिया है।

इस बार की महासभा में इतना शहरीपन था, यह इतना स्पष्ट अनुभव होता था कि महासभा ग़रीबों व ग्रामीणों के लिये नहीं है, ग़रीबों व ग्रामीणों को इसमें स्थान नहीं है, कि गांधीजी का कांग्रेस (महासभा) को ग्रामोपयोगी या ग्रामानुकूल बनानेवाला प्रस्ताव प्रायः सबको बहुत उपयोगी और आवश्यक मालूम पड़ने लगा। एवं बम्बई में शहरीपन की पराकाष्ठा हो जाने के बाद अब हम आशा लगाते हैं कि इसकी ऐसी प्रतिक्रिया होनी चाहिये या हो जायगी कि अगले वर्ष से राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन ग्रामोपयोगी हो जायगा। हम युक्त प्रांत के नेताओं से निवेदन करते हैं कि वे आगामी महासभा को युक्त प्रान्त के किसी ग्राम में ही आमंत्रित करें। यदि आमंत्रणकर्त्ता श्री पूज्य गोविन्दवल्लभ पन्तजी तक हमारी आवाज़ पहुँच सके, तो हम यह भी शुभ समाचार दे देना चाहते हैं कि रुड़की तहसील में (जहाँ कि चार वर्षों से ग्राम-सेवा कार्य हो रहा है) अग्रिम राष्ट्रीय महा-सभा को कृतकार्यता-पूर्वक करने की ज़िम्मेवारी लेने के लिये वहाँ के लोग तैयार हैं, यदि कहीं दूसरी जगह के देहात को महासभा करने के लिये हमारे प्रान्तीय नेता नहीं चुन लेते। पर यह देखना अभी बाक़ी है कि युक्त-प्रान्तीय सभा लखनऊ-जैसे शहर का मोह छोड़ सकेगी या नहीं। अस्तु।

शहरीपन की बात तो हुई, पर वैसे बम्बई की स्वागत-कारिणी ने यात्रियों को जितना आराम

पहुँचाया है, वह बहुत स्तुत्य है। स्थान, भोजन, पानी, सफ़ाई, सभ्य शिक्षित स्वयंसेवक और स्वयं सेविकाएँ—सभी अच्छा था। इसके लिये हम बम्बई वालों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

प्रदर्शिनी

इस बार प्रदर्शनी में यद्यपि प्रारम्भिक भाग में उन सब वस्तुओं की दूकानें भी पहले की तरह लाई गई थीं, जिनके प्रचार की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती और उन समर्थ लोगों की आकर्षक वस्तुओं का प्रदर्शनी में काफ़ी इश्तिहार हो रहा था, तो भी अन्त में जो ग्रामोपयोगी और स्वावलम्बन का विभाग रखा गया था, वह एक नया और उत्तम आयोजन था। यह इस बार सफल हुआ है यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसका प्रारम्भ हो गया है यही बड़ा अच्छा है। आगे से इसे अधिक आकर्षक और विस्तृत बनाने का यत्न होगा ही। इसकी तरफ लोगों का ध्यान खींचने के लिये कुछ बड़े लोगों को अपनी सेवाएँ विशेष तौर पर देने की आवश्यकता है। हम आशा करते हैं कि अगले वर्ष से अखिल-भारतीय चर्खासंघ तथा ग्रामीण उद्योग-संघ की अध्यक्षता में प्रदर्शनी एक विशेष उपयोगी वस्तु बन सकेगी। हमें इस बात की कमी हर बार अनुभव हुई है कि दर्शकों को वास्तव में देखने योग्य वस्तुओं को दिखाने के लिये कोई अच्छा प्रबन्ध प्रदर्शनी में नहीं होता है। इश्तिहारी लोग अपना इश्तिहार कर लेते हैं, पर हमारी खादी की कला तथा अन्य स्वदेशी व्यवसाय कितने उन्नत हो गये हैं, इसकी तरफ़ सामान्य दर्शकों का ध्यान कुछ भी नहीं खिंचता। खादी कितनी सुन्दर-सुन्दर, बढ़िया, मज़बूत और सस्ती हो रही है इसका वर्णन अखबारों द्वारा नहीं बताया जा सकता। इसी तरह क्या-क्या नयी वस्तुएँ स्वदेशी बनने लगी हैं, ये प्रदर्शनी में देख लेने से ही ठीक जान पड़ता है। इसलिये जहाँ कांग्रेस में आनेवालों को प्रदर्शनी का अवश्य निरीक्षण करना चाहिये, वहाँ प्रदर्शनी के प्रबन्धकों को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये, कि दर्शकों को केवल यह न दीखे कि यहाँ साबुन, तेल, दवाइयाँ और पुस्तकों की दूकानें हैं; किन्तु यह भी पता हो कि श्रीयुत काले का चर्खा घंटे में २२०० गज़ सूत कातता है तथा उनको यह हृदयंगत कराया जा सके कि स्वयं कात-धुन-बुन लेने वाले रानीपरज के लोग क्यों अनुकरणीय हैं।

हिन्दी भाषा का प्रयोग

यह संतोष की बात है कि इस बार महासभा में हिन्दी में भाषण अधिक हुए हैं। अँगरेज़ों की भाषा में बोलना शुरू करनेवालों को प्रायः प्रतिनिधि बाधित कर देते थे कि वह हिन्दी में बोलें। बहुत बार श्री सभापतिजी के विशेष कहने पर या वक्ता के माफ़ी माँग लेने पर ही अँगरेज़ी-भाषण हो सकता था। तो भी यह कितने दुःख की बात है कि स्वराज लेने का यत्न करनेवाली हमारी राष्ट्रीय सभा में हमारे भाषण अभी तक राष्ट्र भाषा में न होकर विदेशी-भाषा में होते हैं।

विषय-निर्वाचिनी में जब गांधीजी अपने कांग्रेस छोड़ने के निश्चय पर काफ़ी देर तक हिन्दी में भाषण कर चुके, तो कुछ लोगों ने माँग की कि वे अँगरेज़ी में भी समझावें। इस पर गांधीजी ने अपने पहिले अँगरेज़ी वाक्य द्वारा यह कहा "तो क्या यही पर्याप्त कारण नहीं है कि मुझे 'कांग्रेस' छोड़ देनी चाहिये ? किसी ने कहा कि हम हिन्दी जानने का यत्न कर तो रहे हैं पर अभी तक सीखे नहीं हैं। तो गांधीजी बोले 'मैंने स्वयं हिन्दी सिखाने का कार्य अपने हाथ में लिया है और चौदह वर्ष से हिन्दी सिखा रहा हूँ, तो भी यदि आप हिन्दी नहीं सीखे

हैं, तो मेरे जैसे अयोग्य शिक्षक को महासभा (कांग्रेस) में रखकर क्या करोगे ?" महासभा केखुले अधिवेशन में गांधीजी के कांग्रेस से जुदा होने प्रस्ताव पर बोलते हुए और अपनी हार्दिक अन्तर्वेदना प्रकट करते हुए श्री सिद्धवा ने भी कहा था कि गांधीजी के महासभा से जुदा होने के कारणों में एक कारण महासभावादियों का हिन्दी न सीखना भी है।

हमें तो पट्टाभी सीतारामैय्या की टूटी-फूटी हिन्दी बहुत ही प्यारी लगी और जब (विषय-निर्वाचिनी में) उनसे अँगरेज़ी बोलने की मांग की गयी, तो उनका यह कहना और भी प्यारा लगा कि "मैं तो अँगरेज़ी भूल गया हूँ।" दूसरी तरफ़ बड़े अधिवेशन में भी जब सरोजिनी देवीजी को हिन्दी मे बोलने को पुकार की गयी तो उनका यह कह कर अँगरेज़ी में ही भाषण करना कि चूँकि यह प्रस्ताव बहुत मुख्य है और इसे दुनिया के कोने-काने में फैलाना अभीष्ट है, अतः मैं अँगरेज़ी में बोलूँगी, हमें ज़रा भी पसन्द नहीं आया। श्री पट्टाभी सीतारामैय्या ने गत बार जेल मे ही हिन्दी-उर्दू सीखी है, अतः वे उचित प्रकार से अब कभी यूँ ही अँगरेज़ी में न बोलने का आग्रह करते हैं और सचमुच अँगरेज़ी भूल जाना चाहते हैं; परन्तु सरोजिनीदेवी तो बड़ी अच्छी हिन्दी बोल सकती हैं, तो भी प्राय: बोलती नही हैं। हम चाहते हैं कि सब मद्रासी, बंगाली आदि भाई अब श्री सीतारामैय्या का अनुकरण करें। हम तो देखते हैं कि अब वह समय आ गया है जब कि नियम के तौर पर प्रतिनिधिओं का हिन्दी जानना अनिवार्य कर देना चाहिये।

आश्चर्य है कि हमारी राष्ट्रीय महासभा का नाम ही अभी तक अँगरेज़ी मे 'कांग्रेस' ऐसा चला आ रहा है। 'होमरूल' की जगह तो स्वराज्य या पूर्ण-स्वराज्य हो गया, पर कांग्रेस अभी तक महासभा नहीं बनी। हमारी समझ में अँगरेज़ी में लिखते, बोलते हुए भी इसका नाम 'राष्ट्रीय महासभा' या संक्षेप में 'महासभा' ऐसा ही बरतना चाहिये।

गांधीजी की जुदाई का मतलब

इस महासभा के अवसर पर एक बड़ा परिवर्तन यह घटित हो गया है कि गांधीजी राष्ट्रीय महासभा से जुदा हो गये हैं। विषय निर्धारिणी में प्रारम्भ का बहुत-सा समय गांधीजी के इस महासभा-त्याग की बात में ही व्यय हुआ, एक घटे की जगह कई घंटे लग गये। गांधीजी को बार-बार अपना अभिप्राय स्पष्ट करना पड़ा। उस सबसे हमने जो कुछ उनका मतलब समझा है, उसे इस प्रकार संक्षेप में प्रकट किया जा सकता है।

गांधीजी अब महासभा के मामूली सभासद् भी नहीं रहेंगे, कार्यसमिति या अखिल-भारतीय समिति के सदस्य होकर काम करना तो दूर रहा। तो भी वे बाहर रहकर महासभा का ही काम करेंगे, महासभावादी बने रहेंगे। महासभा के विधान को अब वे चलाने वाले नहीं रहेंगे, किन्तु इसके बाहर से बनानेवाले बने रहेंगे। महासभा पर वे बोझ रूप हो गये हैं, ऐसा उन्होंने अनुभव किया है। बहुत से काम स्वयं इच्छा न होते हुए लोग गांधी के कारण, गांधी को ख़ुश करने के लिये, करते जाते थे। अतः महासभा की स्वाभाविक उन्नति रुक रही थी। महासभा का ठीक अपने अन्दर से विकास हो, इसलिये गांधीजी ने अपने बोझ को उस पर से उठा देना ठीक समझा। गांधीजी की सलाह तो महासभा को अब भी मिल सकती है, मिलती रहेगी। अर्थात् गांधीजी के रहने से महासभा का जिस अंश में (गांधीजी के कथनानुसार) हानि हो रही थी, वह अब हट जायेगी; किन्तु जो लाभ

हो रहा था, वह नहीं हटेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो गांधीजी महासभा पर बोझरूप इसलिये हो रहे हैं, चूंकि वे दूसरों को अपनी बात (अहिंसा, सत्य खादी आदि) ठीक-ठीक रूप में समझाने में अपने को अशक्त पाते हैं, तो इस अशक्ति को दूर करने के लिये, शक्तिसंचय करने के लियें वे महासभा (कांग्रेस) से बाहर, बाहर की खुली हवा में, आ जाना आवश्यक देखते हैं। महासभा का संगठन चलाते हुए उन्हें बहुत से ऐसे कार्यों में बहुत-सा समय देना पड़ता है, जो उनकी शक्ति-संचय में बाधक है। यह कारण है, जिससे कि ये तब तक के लिये महासभा से जुदा रहना चाहते हैं, जब तक कि वे अपने में शक्ति का अनुभव न कर लेवें, योग्य शक्ति न प्राप्त कर लेवें। इस प्रकार महासभा की सेवा के लिये ही वे महासभा को छोड़ रहे हैं।

पं० मालवीयजी ने तथा अन्यों ने जो बार-बार गांधीजी को महासभा में रहने को कहा उसके उत्तर में गांधीजी ने उपर्युक्त भाव ही प्रकट किये और इसके लिये सब महासभावादियों से आशीर्वाद की याचना की।

बम्बई के निश्चय

महासभा से जाते हुए भी गांधीजी महासभा में कुछ गंभीर परिवर्तन कर गये हैं चूंकि बम्बई के निश्चयों में गांधीजी का बहुत बड़ा हाथ है। विधान बदलने का प्रस्ताव गांधीजी के प्रस्तावक और व्याख्याता होने के कारण आसानी से स्वीकृत हो गया है। अब गांधीजी चाहते हैं कि इस परिवर्तित विधान को महासभावाले स्वयं ही अपनी तरफ़ से चलावें, जैसे कि स्वेच्छा से उन्होंने उसे स्वीकार किया है।

वास्तव में महासभा के संगठन में यह एक हुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। यदि यह परिवर्तन सफल हो जाय तो हमारी महासभा (कांग्रेस) सचमुच हमारी राष्ट्रीय महासभा बन जायगी। महासभा का अधिवेशन एक मेला न रह कर वास्तविक विचार-सभा के रूप में आ जायगा, इसमें आये प्रतिनिधि जीते-जागते देश के अङ्ग बन सकेंगे तथा यह संगठन स्वाधीनता की भयंकर लड़ाई में न केवल टिक सकेगा किन्तु ईश्वर चाहेंगे, तो शीघ्र पूर्ण-विजय ला सकेगा।

परिवर्तित विधान के अनुसार अखिल-भारतीय महासभा में ⅘ लोग देहात के (बड़े शहरों के नहीं) आ सकेंगे, प्रतिनिधि सच्चे प्रतिनिधि और ज़िम्मेवार प्रतिनिधि होंगे। अब राष्ट्रपति का चुनाव भी असली चुननेवालों अर्थात् सब प्रतिनिधियों द्वारा होवेगा। एवं महासभा देश की सच्ची प्रतिनिधि सभा बन जायगी।

इसके अतिरिक्त जो दूसरा बड़ा निश्चय बम्बई में हुआ है, वह श्रम-मताधिकार का है। 'अलंकार' के गत अंक में छपा साम्यवाद पर लेख लिखते हुए हमें यह मालूम न था कि महासभा में ही श्रम-मताधिकार इतनी जल्दी होनेवाला है। अब देश के लिये कुछ-न-कुछ शारीरिकश्रम किये बिना अर्थात् ६ मास में ५०० गज़ सूत कातकर देने या इतना ही कोई अन्य श्रम किये बिना कोई चुने जाने का अधिकारी नहीं हो सकेगा। यह निश्चय हमें बड़ी अच्छी दिशा में ले जानेवाला हुआ है। यदि यह निश्चय ठीक प्रकार अमल में आ सकेगा, तो निःसंदेह देश के लिये बड़ा कल्याणकारक सिद्ध होगा। हमें तो दीखता है कि सारी महासभा ही साम्यवादी दल बनी जा रही है।

इसी तरह एक अन्य प्रस्ताव द्वारा अखिल-भारतीय चर्खासंघ के समान एक अखिल-भारतीय ग्रामीण उद्योगसंघ की स्थापना की गई है। यह

संघ ग्रामों के मरते जाते उद्योग-धन्धों की जांच कर उनको पुनरुज्जीवित करने या स्थापित करने के कार्य में लगेगा। इससे भारत की आध्यात्मिक व शारीरिक उन्नति को लक्ष्य में रखते हुए उसकी आर्थिक उन्नति में एक नया पग इस संघ द्वारा उठाया जायगा। एवं यह एक बड़ी भारी आवश्यकता को पूर्ण करेगा और ग्राम-संगठन के कार्य की एक दृढ़ नींव डाल देगा।

एक अन्य प्रस्ताव द्वारा महासभा के साथ होनेवाली प्रदर्शनी भी अब चर्खासंघ और इस ग्रामीण उद्योगसंघ के अधीन कर दी गयी है।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि बम्बई महासभा के सब प्रस्ताव महासभा को भारत का (जो कि ८० फ़ी सदी ग्रामों का बना हुआ है) सच्चा और सक्रिय प्रतिनिधि बनाने का निश्चय करते हैं। परमेश्वर करे कि भारत अपनी राष्ट्रीय महासभा के इन महान् क्रांतकारी निश्चयों को दृढ़ता से अमल में ला सके।

साम्यवादी दल

जैसी की आशा की जाती थी, विषय-निर्वाचिनी में तथा खुले अधिवेशन में पग-पग पर साम्यवादी दल अपनी सत्ता को अनुभव कराता रहा। प्रायः प्रत्येक प्रस्ताव पर साम्यवादी नेता अपना मन्तव्य प्रकाशित करते थे। पर हमें तब दुःख होता था, जब कि हम देखते थे कि साम्यवादी खद्दर का भी विरोध करना आवश्यक समझते थे और उससे भी अधिक आश्चर्य होता था जब कि श्रम-मताधिकार का भी विरोध करने खड़े होते थे। बल्कि उनकी तरफ से ग्रामीण उद्योग-संघ स्थापित करने के प्रस्ताव का भी विरोध किया गया। तब हमारा दिल पूछता था कि आख़िर ये हमारे साम्यवादी भाई फिर कुछ करना भी चाहते हैं या नहीं। वल्लभभाई ने तो साम्यवादियों को साफ़-साफ़ बातें सुनायी थीं और बहुत अच्छा कहा था कि यदि साम्यवादी लोग वास्तव में कुछ काम करेंगे, तो उनके दफ़्तर में वे मेरा भी नाम लिखा पायेंगे। इतना तो हम भी अनुभव करते हैं कि अभी तक साम्यवादी गंभीरता-पूर्वक अपने किसी कार्य-क्रम को शुरू नहीं कर सके हैं और यदि वे वास्तव में अपने विचारों पर अमल करेंगे, तदनुसार कार्य करेंगे, तो वे बेशक़ कुछ नये कार्य भी शुरू कर सकेंगे, पर वे खद्दर, श्रम का महत्त्व जैसी बातों का कभी विरोध नहीं कर सकेंगे। साम्यवादियों के कई वक्ताओं ने अपने भाषण-द्वारा साम्यवादी दल की प्रतिष्ठा को कम किया है, इसमें हमें कुछ शक नहीं है। हम तो साम्यवादी दल को एक नयी आशा की दृष्टि से देख रहे हैं, पर यह तभी पूरी हो सकती है, जब की साम्यवादी केवल बातें न करके गंभीरता से अपने कर्त्तव्य-कार्य में लगेंगे और अपने पवित्र ध्येय को सदा सामने रखेंगे। यदि वे ऐसा करना चाहेंगे, तो हम उन्हें कहेंगे कि महात्मा गान्धी के विषय-निर्वाचिनी में भाई गोविन्दसहाय के उत्तर में कहे वचनों को वे हृदयंगत करने की कृपा करें तथा आचार्य कृपलानीजी के खुले अधिवेशन के युक्तियुक्ति भाषण पर ध्यान देने की चेष्टा करें।

सभापतिजी

राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी ने जिस सरलता, सहानुभूतिपूर्णता तथा बुद्धिमत्ता से सभापति का कार्य निबाहा, उसका उल्लेख किये बिना बम्बई-महासभा का वर्णन समाप्त नहीं किया जा सकता। इस महासभा में इतने जटिल पेचीदे विषय थे, महासभा भी तीन-चार साल बाद जुड़ी थी कि राजेन्द्र बाबू-जैसे नरम सभापति के लिए उनका पार पाना बड़ कठिन समझा जाता था। यह तो हमें उम्मीद ही न थी कि तीन दिन में किसी तरह अधिवेशन

समाप्त हो सकेगा; परन्तु योग्य राष्ट्रपति ने सबसे न्याय करते हुए, सभा के अधिकारों की रक्षा करते हुए, सभासदों की सम्मति का सदा आदर करते हुए भी सब कार्य बड़ी खूबी से ठीक समय में पूरा कर दिया। हमें आशा है कि साम्यवादी दल के जोशीले सदस्यों को भी श्रीमान्य सभापतिजी से असंतुष्ट होने का कोई कारण न हुआ होगा। पं० मालवीयजी को तो उन्होंने यथेष्ठ बोलने का समय दे दिया था। और वे कुछ उद्धत दीखनेवाले बंगाली प्रतिनिधि भी, जो सदा शोर और गड़बड़ करते रहे, दिल में राजेन्द्र बाबू की प्रशंसा ही करते होंगे। अस्तु।

यह तो कहने की आवश्यकता नहीं, राष्ट्रपति का अभिभाषण, जैसी कि आशा की जाती थी, सादा, युक्तियुक्त, ओजस्वी तथा स्वदेश और संसार की परिस्थितियों, उनके गम्भीर अनुशीलन को बताने वाला था।

हम आशा करते हैं कि ये इस वर्ष के नये राष्ट्र-पति बम्बई में परिवर्तित हुई नयी महासभा को तरफ़ ऐसी तरह कुशलता-पूर्वक इसके महान् ध्येय की अग्रसर कर सकेंगे। यह क्यों न होगा? तथास्तु।

—

इटारसी की आर्य-कान्फरेंस

इटारसी (मध्य-प्रांत) में २५ से २६ (दिसंबर) तक एक वृहद् आर्यन कान्फ्रेंस किये जाने की सूचना हमें श्रीयुत शंकरदत्तजी सेवक (अध्यक्ष) की तरफ़ से प्राप्त हुई है। इसका आयोजन "इटारसी की आर्यसमाज और वहाँ के डी० ए० वी० टेक्निकल हाई स्कूल के संचालक तथा पृष्टपोषक वग ने किया है।" इस कान्फ्रेंस के अन्तर्गत आर्य-महिला, आर्यकुमार, अछूत आदि कान्फ्रेंस भी विभिन्न सभापतियों के सभापतित्व में होगी। इस कान्फ्रेंस का उद्देश्य 'आर्यवंश के अस्तित्व की रक्षा' का आन्दोलन करना है; पर हमें इस विज्ञप्ति के निम्न शब्द खटके हैं:—

"दूसरी ओर अवनति तथा घोर अधःपात के तिमिर गर्भ में पड़ी हुई निम्न जातियाँ वर्षों की निद्रा त्याग कर अपनी नवीन उन्नति का सामान बनाने में लग रही है। उन्होंने उच्च श्रेणियों की इस उदासीनता से इतना ही लाभ नहीं उठाया, वरन् ये आज इन जातियों को मुक़ाबिले की लड़ाई तक करने के लिये चुनौती देने को तैयार है। प्राचीन संस्कृति तथा प्राचीनता के जीवित चिह्न आज नवीनता की हिलोर में जर्जरीभूत हो रहे हैं। कायर, क्लीव और कापुरुष व्यक्तियों में भी निम्न श्रेणियों की इस उन्नति के नाम पर ईर्ष्या भाव जागते हुए देखे जा रहे हैं।"

न जाने ये 'उच्च श्रेणियाँ' और 'निम्नश्रेणियाँ' से लेखक का क्या अभिप्राय है? उच्च और निम्न नाम से अपील करना बड़े ख़तरे की चीज़ है। आर्यों को 'आर्य' नाम से उद्‌बोधन किया जा सकता है।

अन्त में सब शिक्षा-संस्थाओं, आर्यसमाजों, संघों से, आशा की गयी है कि वे अपने प्रतिनिधि इस कान्फ्रेंस में अवश्य भेजेंगे।

यद्यपि हमें सम्मेलनों (कान्फ्रेंसों) द्वारा ऐसे लाभों के होने में कोई विश्वास नहीं है, तो भी हम इस कान्फ्रेंस का विरोध नहीं करते हैं, बल्कि दिल से चाहते हैं कि किसो तरह यह सम्मेलन अपने अभीष्ट उद्देश्य में सफल हो सके।

—

सिरसा की युवक-समिति—

ज़िला हिसार के सिरसा नगर में एक युवक समिति कई वर्षों से स्थापित है। इस समिति का उद्देश्य 'सब को राष्ट्र-भाषा हिन्दी के एक सूत्र में बाँधना' है। हिन्दी-प्रचार के निमित्त इस युवक-समिति ने सिरसा में वाचनालय और पुस्तकालय

जन-साधारण के लिये खोल रखे हैं। गत मास श्री श्यामलाल जी (एडवोकेट) के सभापतित्व में इसका वार्षिकोत्सव मनाया गया। इस समिति का गत वर्ष का वार्षिक विवरण देखने से पता लगता है कि सिरसा में ये युवक भाई बड़ा अच्छा काम कर रहे हैं।

इस वार्षिकोत्सव में जहाँ अन्य कुछ प्रस्ताव स्वीकृत हुए वहाँ सर्व-सम्मति से म्युनिसिपिल कमेटी से यह माँग भी की गयी कि वह अन्य जगहों की तरह सिरसा के म्युनिसिपिल स्कूलों में हिन्दी-भाषा की पढ़ाई प्रारम्भ कर दे।

हम हृदय से इस युवक-समिति की उन्नति चाहते हैं। और चाहते हैं कि ऐसी युवक-समितियाँ पंजाब के ज़िले-ज़िले में स्थापित हो जावें।

—

आत्मनिरीक्षण—

'अलंकार' बड़ा अच्छा निकलता है और उसके सब लेख पढ़ने योग्य होते हैं, ऐसा लिखने और कहनेवाले बहुत से भाई हैं। परन्तु 'अलंकार' का जैसा संपादन होना चाहिये, जिसकी हमसे आशा की जानी चाहिये, वैसा नहीं होता है, यह हम खूब जानते हैं। एक स्नातक भाई (जो हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि और लेखक हैं) के निम्न कथन से हम सर्वांश में नहीं, तो बहुत-कुछ सहमत हैं।

"अलङ्कार" को नियम-पूर्वक देख रहा हूँ। परन्तु मुझे यह लिखने में दुःख होता है कि इसका सम्पादन जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होता है। "अलङ्कार" एक मासिक पत्र है, इसलिए इस में जो लेख और कवितायें प्रकाशित होनी चाहिये, वे ऐसी होनी चाहिए कि जो उपयोगी होने के साथ उन में यह भी शक्ति हो कि वे हिन्दी-साहित्य की चिर-स्थायी सम्पत्ति बन सकें। ऐसे लेख और कवितायें बिना कठोर परिश्रम, अध्यवसाय और सतत चिन्तन के बिना नहीं लिखी जा सकतीं। केवल सूचना-मात्र (Information) देने का नाम ही लेख नहीं हो सकता—उसकी कोई अपनी शैली भी होनी चाहिए। सूचना-मात्र देने वाले लेख तो साप्ताहिक या दैनिक पत्रों के क्षेत्र हैं। मुझे यह लिखते हुए आपको दुःख होता है कि "अलङ्कार' में अभी तक बहुत-से लेख भरती के से प्रतीत होते हैं। उन्हें पढ़ने से यह बिलकुल अनुभव नहीं होता कि लिखनेवाले स्वयं भी उनके लिखने में कुछ विशेष रस लेते हैं, या उन्होंने इन लेखों के लिए पर्याप्त समय दिया है। कई अच्छे लेख भी ऐसे प्रतीत होते हैं, जो घसीट में ही लिखे गए हों, यद्यपि उनमें विचार होते हैं, परन्तु वे इस तरह उपस्थित नहीं किए गए होते कि वे उपयोगी सिद्ध होते हुए साहित्य की स्थिर-सम्पत्ति बन सकें।

आप को शायद यह मालूम नहीं होगा कि टॉलस्टॉय जैसा प्रसिद्ध विद्वान् लेखक अपने प्रत्येक लेख को दो बार लिखा करता था और तब कहीं प्रकाशित होने के लिए भेजता था। यह सब मैं इस लिए लिख रहा हूँ कि "अलङ्कार" एक ऐसा मासिक पत्र बन सके, जो उपयोगी और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से अनुकरणीय बन सके। मैं मासिक पत्रों में भरती के लेखों या अत्यन्त स्वल्प-विचार पूर्ण, सूचना-मात्र होनेवाले लेखों को प्रकाशित करने की अपेक्षा उन लेखों को (चाहे उनके लिखवाने के लिए व्यय भी क्यों न करना पड़ा तो) प्रकाशित करना अधिक उत्तम समझता हूँ, जिनको पढ़ने से यह अनुभव हो कि लेखक जो कुछ लिख रहा है, उसे लिखने में उसे अपनी जीवनी-शक्ति को वैसे ही स्वाहा करना पड़ा है, जैसे कि कोई देश-भक्त अपनी समस्त शक्तियों को देश की सेवा के लिए स्वाहा कर देता है।"

हम आशा करते हैं कि इस समालोचना से 'अलंकार' के लेखक लाभ उठायेंगे। —'अभय'

स्वर्गीय पंजाब-केसरी की स्मृति में—

१७ नवम्बर पंजाब-केसरी लाला लाजपतरायजी का पुण्यस्मृति-दिवस है। लालाजी का पुण्य नाम-स्मरण सहसा हृदयों में देशभक्ति त्याग तथा बलिदान की भावनाओं को संचारित करता है। भारतवर्ष का ऐसा कोई सार्वजनिक कार्यक्षेत्र नहीं जिस पर लाला लाजपतराय जी के व्यक्तित्व की छाप न अङ्कित हो। जनता की आर्थिक स्थिति को उन्नत करने के लिये, देसी बैंक, देसी बीमा कम्पनियाँ स्थापित करने में, तथा लगान कम करने के आन्दोलनों के अगुआ लालाजी ही थे। शिक्षा को राष्ट्रीयता के रंग में रँगने के लिये पंजाब में डी. ए. वी. कॉलेज तथा कौमी महाविद्यालय के निर्माण करने वालों में आपका विशेष स्थान था। वन्देमातरम् तथा दैनिक पंजाबी-समाचार-पत्र आपकी लोक-सेवा के स्मारक हैं। जीवन के अन्तिम दिन भी आपने आत्म-बलिदान द्वारा राष्ट्र में आत्म-सम्मान का भाव पैदा करने में अर्पित किये। ब्रिटिश-जाति ने भारतीय राष्ट्र का अपमान करने के लिये साइमन कमीशन को भारत में भेजा। साइमन कमीशन का बॉयकाट करते हुए पंजाब-केसरी जख्मी हुए। इस घटना ने राष्ट्र की अन्तरात्मा को जगा दिया; और साइमन-कमीशन को नाकामयाब हो लौटना पड़ा।

इस वर्ष भी भारतवर्ष के सामने वैसी ही समस्या फिर उपस्थित है। ब्रिटिश-सरकार द्वारा नियत की गई जायण्ट पार्लियामेण्टरी कमेटी भारतीय राष्ट्र की इच्छाओं के प्रतिकूल, मनमाने ढंग से भारत की शासन-व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहती है। राष्ट्र द्वारा प्रकट किये गये असन्तोष तथा विरोध को अनसुना कर ठुकराना चाहती है। अपनी तानाशाही तथा स्वार्थपूर्ण स्वेच्छाचारिता के भरोसे स्वर्गीय पंजाब-केसरी-जैसे हुतात्माओं के बलिदानों को अपमानित करना चाहती है।

आज के पुण्य दिन हमें इन पवित्र बलिदानों से प्रदीप्त स्वाधीनता की दिव्य पवित्र आग को प्रचण्ड रखने का संकल्प करना चाहिए। यदि हम यथार्थ में पंजाब-केसरी लाला लाजपतरायजी के प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट करना चाहते हैं, तो हमें, यथा शक्ति ह्वाईट पेपर पर आश्रित शासन-व्यवस्था को नामंजूर तथा रद्द करने का संकल्प करना चाहिए।

—

'अलंकार' और डाकखाना-विभाग—

'अलंकार' के पते शुद्ध हिन्दी में छापे जाते हैं, शहर का नाम भी हिन्दी में ही लिखा जाता है। डाकखाना-विभाग को इस पर आपत्ति है। इनकी सम्मति में, पंजाब के डाकखानों में हिन्दी का प्रवेश नहीं हो सकता। परिणाम यह है कि 'अलंकार' ग्राहकों के पास देरी में पहुँचता है। शुद्ध हिन्दी में पते होने से डी. एल. ओ. में 'अलंकार' रोका जाता है। 'अलंकार' के जिन पाठकों के पास अङ्क देरी में पहुँचे वह हमें सूचना दें तथा डाकखाना विभाग के उच्च अधिकारियों के पास देरी की शिकायत भेजें। हम भी 'अलंकार'-विभाग कार्यालय की ओर से डाकखाना-विभाग के पास इस कमी को दूर करने का यत्न करेंगे। डाकखाना-विभाग अखिल-भारतीय विभाग है। इसके कर्मचारियों के लिये भारतवर्ष की मुख्यलिपियों का जानना ज़रूरी होना चाहिए। अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को चाहिए कि इस दिशा में विशेष यत्न करे। हिन्दी-भाषा-प्रधान प्रान्तों से प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों को चाहिए कि अपने पते शुद्ध हिन्दी में लिखा करें। इससे डाकखाना-विभाग में हिन्दी को स्थान दिला सकेंगे। —भीमसेन

कुल-बन्धु

(श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मन्त्री स्नातक-मण्डल गुरुकुल कांगड़ी)

—:o:—

स्नातक मंडल का वार्षिक अधिवेशन

गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी के स्नातक मण्डल का साधारण वार्षिक अधिवेशन गत गुरुकुलोत्सव के अवसर पर, १ एप्रिल १९३४ के दिन, गुरुकुल भूमि हुआ था। इस अवसर पर निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किए गए—

१. 'अलंकार' को पुनरुज्जीवित करने के उद्देश्य से पं० भीमसेन विद्यालंकार से यह अनुरोध किया जाता है कि वह अपने पत्र 'हिन्दी सन्देश' का नाम बदल कर 'अलंकार' कर दें। आचार्य देवशर्मा विद्यालंकार की इस प्रस्तावित सेवा को मण्डल धन्यवाद पूर्वक स्वीकार करता है कि वह पं. भीमसेन जी के साथ 'अलंकार' के सम्पादन का कार्य करेंगे। उक्त दोनों महानुभावों को यह अधिकार दिया जाता है कि कार्य समिति से अनुमति लेकर, वे 'अलंकार' के सम्बन्ध में कोई व्यवहारात्मक स्कीम तैयार करें।

२. 'अलंकार' के साथ समय-समय पर स्नातक मण्डल की ओर से कुल-बन्धुओं के समाचार भी प्रकाशित किए जाते रहें।

(इस अवसर पर कुछ महानुभावों ने यह निर्देश दिया कि इस विभाग का नाम 'कुलबन्धु' रक्खा जाय।)

३. एक प्रस्ताव, जिसका रूप यहां देना अवाञ्छनीय है, इस आशय का भी पास हुआ कि मण्डल सम्पूर्ण स्नातक महानुभावों से यह अनुरोध करता है कि वे आपस में अधिकाधिक सहयोग बनाने के लिए एक दूसरे प्रति सहिष्णुता का बरताव किया करें। स्नातकों के सम्बन्ध के किसी मामले को मण्डल के सामने न रख कर सीधा छापेखाने या प्लेटफार्म पर ले जाना अनुचित है।

आगामी वर्ष के लिए अधिकारियों का निर्वाचन इस प्रकार हुआ—

प्रो० सत्यव्रत—प्रधान (गुरुकुल कांगड़ी)
प्रो० भीमसेन—उपप्रधान (लाहौर)
श्री चन्द्रगुप्त—मन्त्री (लाहौर)
प्रो० केशवदेव—उपमन्त्री (गु० का०)
श्री शान्तिस्वरूप—कोषाध्यक्ष (लाहौर)
प्रो० जयचन्द्र—कार्य समिति के सदस्य (दिल्ली)
श्री सत्यदेव— ,, (दिल्ली)
आचार्य देवशर्मा— ,, (हरिद्वार)
श्री दीनदयालु— ,, (हरिद्वार)
प्रो० सत्यकेतु— ,, (गु० का०)
श्री वेदव्रत— ,, (दिल्ली)
श्री ईश्वरदत्त— ,, (दिल्ली)

वार्षिक चन्दा

इस वर्ष निम्नलिखित स्नातक महानुभावों का वार्षिक चन्दा प्राप्त हो चुका है—

श्री चन्द्रगुप्त लाहौर।

श्री भारतभूषण पटियाला।
श्री अर्जुनदेव अम्बाला।
श्री सत्यदेव लाहौर।
श्री हरिदेव जींद।
श्री वीरेश्वर कानपुर।
श्री ब्रह्मानन्द गुरुकुल कुरुक्षेत्र।
श्री परमानन्द दिल्ली।
श्री नित्यानन्द शिमला।
श्री ब्रह्मदत्त मुजफ्फर-नगर।
श्री केशवदेव गुरुकुल कांगड़ी।
श्री ओमप्रकाश मेरठ।
श्री जनार्दन पटियाला।
श्री देवीदत्त नैनीताल।
श्री भीमसेन लाहौर।
श्री जयचन्द नई दिल्ली।
श्री दीनदयालु हरिद्वार।
श्री सत्यपाल दिल्ली।
श्री विद्यानिधि देहरादून।
श्री धर्मपाल बदायूँ।
श्री वीरेन्द्र बरेली।
श्री बलराम दिल्ली।
श्री धर्मेन्द्र नाथ गुरुकुल मुल्तान।
श्री प्रेमचन्द यू. पी.।
श्री सत्यकेतु गुरुकुल कांगड़ी।
श्री व्रतपाल लाहौर।
श्री वीरसेन गु० का०।
श्री सोमदत्त गुरुकुल कुरुक्षेत्र।
श्री शशिभूषण अम्बाला।
श्री बुद्धदेव लाहौर।
श्री प्रियव्रत लाहौर।
श्री गौतमदेव देहरादून।
श्री धर्मानन्द देहरादून।
श्री विनोदचन्द्र काठियावाड़।
श्री विश्वनाथ गुरुकुल कांगड़ी।
श्री सुरेन्द्रनाथ लखनऊ।
श्री जगन्नाथ गुरुकुल कांगड़ी।
श्री धीरेन्द्र मुजफ्फरनगर।
श्री महामुनि गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ।
श्री वेदप्रकाश गोरखपुर।
श्री जगतभानु अजमेर।
श्री वासुदेव शुजाबाद।
श्री योगराज गुरदासपुर।
श्री प्रबुद्ध २४ परगना, बंगाल।
श्री सत्यपाल कोटा स्टेट।
श्री विद्यानन्द मुंगेर।
श्री विनयकुमार कोइटा।
श्री ब्रह्मदत्त सैण्ट्रल इण्डिया।
श्री सत्यप्रिय दिल्ली।
श्री देवकीर्त्ति गुरुकुल कुरुक्षेत्र।
श्री प्रभाकर सूरत।
श्री ईश्वरदत्त दिल्ली।
श्री सुभाषचन्द्र गुरुकुल कांगड़ी।
श्री हरिदत्त मुरादाबाद।
श्री शान्तिस्वरूप लाहौर।
श्री श्वेतकेतु मथुरा।
श्री ईश्वरदत्त गुरुकुल कुरुक्षेत्र।
श्री युधिष्ठिर दिल्ली।
श्री सूर्यकान्त दिल्ली।
श्री सुदर्शन बरेली।
श्री सत्यव्रत गुरुकुल कांगड़ी।
श्री देवनाथ गुरुकुल सूपा।
श्री सत्यदेव दिल्ली।
श्री भीमसेन जोधपुर।
श्री देवशर्मा हरिद्वार।
श्री वेदव्रत दिल्ली।
श्री रामेश्वर फालिया (पंजाब)।
श्री सुरेशचन्द्र हैदराबाद, दक्कन।
श्री सोमदत्त अम्बाला।

मण्डल के इस अधिवेशन में ७८ स्नातक उपस्थित थे।

गुरुकुल सम्मेलन

इस वर्ष स्नातक मण्डल की ओर से गुरुकुल वार्षिकोत्सव के अवसर पर एक गुरुकुल सम्मेलन की अयोजना भी की गई थी। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के चान्सलर दीवान बद्रीदास एम० ए० एडवोकेट लाहौर, इस सम्मेलन के सभापति थे। सम्मेलन में गुरुकुल के स्नातकों के अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी के उपाध्यायों तथा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अन्तरंग सभा के सदस्यों को भी निमन्त्रित किया गया था।

यह गुरुकुल सम्मेलन जनता के लिये खुला नहीं था। इस सम्मेलन की दो बैठकें हुईं। कुल मिला कर ६ घण्टे इस सम्मेलन की बैठकों में लगे। ३१ मार्च १९३४ के दिन यह सम्मेलन हुआ था। गुरुकुल को अधिक सर्वप्रिय तथा उपयोगी बनाने और गुरुकुल के स्नातकों की आजीवका के साधनों पर विचार करने के लिए यह सम्मेलन बुलाया गया था। इस सम्मेलन का एक उद्देश्य यह भी था कि गुरुकुल के स्नातकों तथा गुरुकुल की स्वामिनी सभा के अधिकारियों को आपस में एक दूसरे का दृष्टिकोण जानने का अवसर मिले।

इस सम्मेलन में कोई प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ। निम्नलिखित विषयों पर विभिन्न विचारों के सज्जनों ने अपना-अपना दृष्टिकोण सम्मेलन के सन्मुख उपस्थित किया।

स्नातकों की आजीवका का सवाल

इस सम्बध में सभी महानुभाव यथासम्भव अधिक से अधिक क्रियात्मक सहयोग दें, यह विचार सर्वसम्मत था। अनेक वक्ताओं ने विभिन्न उपायों का निर्देश भी किया। यथा—

क. यह विचार पेश किया गया कि गुरुकुल की स्वामिनी सभा, स्नातकों की आजीवका का सवाल हल करने के लिए एक सूचना-पटल (Information Bureau) खोले। इस सूचना-पटल के कार्यालय में स्नातकों के सम्बन्ध के सम्पूर्ण तथ्यों और गणनाओं का संग्रह किया जाय। स्नातकों के लिए कहां-कहां सम्भावनाएं हो सकती है, इन बातों का पता भी इस पटल के कार्यालय में रहे।

ख. गुरुकुल में हिसाब-किताब, टाइप राइटिंग, आदि उपयोगी विषयों के सिखाने का प्रबन्ध किया जाय। छुट्टियों में विद्यार्थियों को सम्पादन-कला, प्रेस का कार्य, खांड बनाने का कार्य आदि क्रियात्मक बातें सिखाने की सुविधायें दी जाँय।

२. गुरुकुल की स्वामिनी सभा के अधिकारियों तथा स्नातकों में परस्पर गलतफहमियां न रहें।

इस अवसर पर दोनों ओर की अनेक पुरानी गल्तफहमियों को दूर किया गया और यह भाव सर्वसम्मत पाया गया कि भविष्य में स्नातकों तथा सभा के अधिकारियों को एक दूसरे से मिलते-जुलते रहने का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए।

३. गुरुकुल के आधारभूत सिद्धान्तों तथा स्वरूप पर भी विचार किया गया। इस सम्बन्ध में मतभेद सब से अधिक दिखाई दिया। कुछ महानुभावों की राय में गुरुकुल को पूर्णरूप से आर्य समाज की संस्था बन कर रहना चाहिए। अनेक महानुभाव गुरुकुल के वातावरण को शत-प्रति-शत राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत रखना चाहते हैं और कतिपय सज्जनों की राय में गुरुकुल सब से पहले एक शिक्षणालय है और उसके बाद आर्य समाज की संस्था, अथवा राष्ट्रीय मन्दिर। इन लोगों की राय में गुरुकुल में किसी किस्म की कट्टरता का वातावरण उत्पन्न करना अवांछनीय है।

इस सम्बन्ध के अनेक परस्पर-विरोधी भावों को सम्मेलन ने बड़े ध्यान और दिलचस्पी के साथ सुना।

४. गुरुकुल के संचालन में स्नातकों का सहयोग अधिक से अधिक प्राप्त किया जाय, इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण सम्मेलन एकमत प्रतीत होता था।

गुरुकुल की स्वामिनी सभा के अधिकारियों का ध्यान गुरुकुल के स्नातकों के सन्मुख उपस्थित होने वाली अनेक बाधाओं की ओर भी खींचा गया। इन में से मुख्य बाधा यह थी कि गुरुकुल के वैद्य स्नातकों को चिकित्सा के लिए विष रखने का अधिकार, सरकार की ओर से, प्राप्त नहीं है। सम्मेलन के प्रधान महोदय ने यह वचन दिया कि इस सम्बन्ध में वह संयुक्त-प्रान्त की सरकार से पत्र-व्यवहार करेंगे। तदनुसार इस सम्बन्ध के सम्पूर्ण तथ्यों का संग्रह कर के वह आजकल यू० पी० की सरकार से पत्र-व्यवहार कर भी रहे हैं।

प्रत्येक दृष्टि से गुरुकुल सम्मेलन का यह परीक्षण बहुत सफल रहा।

आय-व्यय

पिछले दो वर्षों का आय-व्यय मण्डल के वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित न किया जा सका था। अतः मण्डल ने कार्य समिति को यह अधिकार दिया कि वह आय-व्यय की जांच-पड़ताल करके उसे स्वीकार कर सके।

कार्य समिति के १३ नवम्बर १९३४ के अधिवेशन में गत दो वर्षों के आय-व्यय का चिट्ठा पेश किया गया। जो सर्व सम्मति से स्वीकार हुआ। पिछले तीन वर्षों का आय-व्यय इस प्रकार है—

५ एप्रिल १९३१ से २५ मार्च १९३२ तक

आय

कुल-६५ रु० ७ आ०
(वार्षिक चन्दे के अतिरिक्त दान की ये राशियां—
पं० बुद्धदेव जी १०)
पं० धर्मदेव जी गु० का० १०)
पं० पूर्णचन्द्रजी ५)
प. व्रतपाल जी ३)
प. राजेन्द्र जी नगीना ५)
पं. सुरेन्द्र जी १)
पं. देवनाथ जी १)
पं० शंकरदेव जी १)
भी इसमें सम्मिलित हैं।

व्यय

प्रश्नावली का कागज ९।।।)
,, की छपाई २०)
कमीशन की स्टेटमैण्ट तथा मैनिफैस्टो का कागज २)
स्नातकों की स्थिति का प्रश्नपत्र, कागज और छपाई ३।।=)
लिफ़ाफ़े ।।)
फाइलें (कमीशन) ।।=)
प्रश्नावली का डाक-व्यय ४।-)।।
स्ना० स्थि० का डाक व्यय ४।-)।।
(कमीशन) रेलगाड़ी ५।)
,, टांगा व्यय ।।।=)
प्रश्नावली की कटाई और बाइंडिंग १।।)
पत्र व्यवहार ३।।।)

गुरुकुल कमीशन पर व्यय. ५६।।=)
गत वर्ष का ऋण २।=)

५९)

शेष ५।≡)

२६ मार्च १९३३ से १३ एप्रिल १९३३ तक

आय

कुल १९।।)
(इस में वा० शु० के अतिरिक्त
पं० प्राणनाथ ५)
पं० विश्वनाथजी १०)
का दान भी सम्मिलित है)
गतवर्ष का शेष ५।≡)

योग २४।।।≡)
शेष १७=)॥

व्यय

मैनिफैस्टों की छपाई २)
डाक व्यय ३।=)॥
लिफ़ाफ़े ।।=)
पत्र व्यवहार १।।।)

७।।।)॥

१४ एप्रिल १९३३ से १ एप्रिल
१९३४ तक

आय		व्यय	
वार्षिक चन्दा	३४)	गुरुकुल सम्मेलन की सूचना छपाई तथा	
स्वागत फण्ड का शेष	३।)	कागज़	२॥=)
——		सूचना अखबारों में	॥=)
	३७।)	डाक व्यय	१॥-)
गतवर्ष का शेष	१७=)॥		——
——			५-)
योग	५४।=)॥		
शेष	४९।-)॥		

इस वर्ष का व्यय

(२० नवम्बर १९३४ तक)

लैटरहैड् का कागज़, छपाई तथा लिफ़ाफ़ा छपवाई	६)
लिफ़ाफ़े	१)
पत्र व्यवहार	=)॥
'कुलबन्धु' की छपाई कागज़ आदि	१३)
	——
	२०=)॥

शेष २९=)॥

कार्य समिति

वर्षिकोत्सव के बाद से अब तक कार्य समिति के ३ अधिवेशन होचुके हैं। पहला अधिवेशन ११ अप्रेल १९३४ के दिन लाहौर में हुआ। इस अधिशन में श्री भीमसेन (उपप्रधान), श्री सत्यकेतु (सदस्य) और श्री चन्द्रगुप्त (मन्त्री) उपस्थित थे। इस अधिवेशन में 'अलंकार' तथा 'सूचना पटल' को क्रियात्मक रूप देने के सम्बन्ध में बातचीत हुई। कोई निर्णय न हो सका और दोनों विषय कार्य समिति के आगामी अधिवेशन के लिए स्थगित कर दिए गए।

कार्य समिति का दूसरा अधिवेशन १८ एप्रिल १९३४ के दिन गुरुकुल कांगड़ी में हुआ। इस अधिवेशन में श्री सत्यव्रत (प्रधान), श्री सत्यकेतु (सदस्य), श्री देवशर्मा (सदस्य) और श्री केशवदेव (उपमन्त्री) उपस्थित थे। इस अधिवेशन में निम्नलिखित कारवाई हुईं।

१. श्री भीमसेन जी का 'अलंकार' विषयक पत्र पढ़ा गया और इस सम्बन्ध में जो बातचीत १४ एप्रिल को लाहौर की कार्य-समति में हुई थी, उसे श्री सत्यकेतु जी ने सुनाया।

१. निश्चय हुआ कि—

क. 'अलंकार' पत्र का स्नातक मण्डल से वैसा ही सम्बन्ध रहे, जैसा 'यंग इण्डिया' का कांग्रेस से था। उस पर लिखे हुए 'स्नातक मण्डल का मुखपत्र' इस वाक्य का यही अर्थ समझा जाय।

ख. 'अलंकार' के घाटे व नफ़े की ज़िम्मेवारी स्नातक मण्डल अपने पर नहीं लेगा। यह ज़िम्मेवारी पं० भीमसेन जी तथा पं० देवशर्मा जी पर ही रहेगी। स्नातक मण्ल अपने नाम को देने के बदले में आशा करता है और विश्वास रखता है कि आचार्य देवशर्मा जी तथा पं० भीमसेन जी के संचालन और सम्पादकत्व में 'अलंकार' स्नातकों की सब प्रकार की बढ़ती करने में तथा उनके हितों की रक्षा करने में एक बहुत प्रबल साधन सिद्ध होगा।

ग. पं० भीमसेन जी से अनुरोध है कि वह अपने 'हिन्दी सन्देश' का नाम बदल कर 'अलंकार' कर लें।

२. श्री प्रधान प्रतिनिधि सभा के गुरुकुल सूचना पटल सम्बन्धी पत्र पर विचार हुआ और और निश्चय हुआ कि—

क. यह पटल गुरुकुल के अधीन प्रस्तोता कार्यालय के साथ खोला जाय तथा प्रस्तोता महोदय इस के संचालक रहें।

ख. इस कार्य के व्यय के लिए गुरुकुल अपने बजट में राशि रक्खे।

समति का तीसरा अधिवेशन १३ नवम्बर १९३४ के दिन लाहौर में हुआ। श्री भीमसेन (उपप्रधान), श्री देवशर्मा (सदस्य) श्री शान्तिस्वरूप (कोषाध्यक्ष) और श्री चन्द्रगुप्त (मन्त्री) उपस्थित थे।

इस अधिवेशन में निम्नलिखित निर्णय हुए—

१. सन् १९३१ में स्नातक मण्डल ने ५६॥=) गुरुकुल कमीशन पर व्यय किया था। उस अवसर पर स्नातक भाइयों ने इस कार्य के लिए अनेक राशियां देने की प्रतिज्ञाएं भी की थीं। इन प्रतिज्ञात राशियों का योग २००) के करीब है। कार्य-समिति उन महानभावों के अनुरोध करती है कि वे अपनी प्रतिज्ञात राशियों को देने की कृपा करें।

(यह लिस्ट बाद में दी गई है।)

२. सन १९३२ और सन १९३३ के आय-व्यय के चिट्ठे पेश किए गए और स्वीकार हुए। इन्हें 'कुलबन्धु' में प्रकाशित किया जाय।

(ये दोनों चिट्ठे प्रकाशित किए जा रहे हैं। सन १९३१ का चिट्ठा २५ मार्च १९३२ के दिन स्नातक मण्डल के वार्षिक अधिवेशन में स्वीकार किया गया था। वह भी यहां दिया गया है।)

३. 'अलंकार' के संचालकों से अनुरोध है कि—

क. वे अपने पत्र द्वारा स्नातकों को आजीवका के क्षेत्रों की सूचनाएं पहुँचाने का प्रबन्ध भी करें।

ख. राष्ट्रीय विद्या-संस्थाओं के योग्य स्नातकों का परिचय 'अलंकार' में दिया जाता रहे।

ग. 'अलंकार' पर स्नातक मण्डल की जो छाप दिखाई देती है, यह समिति उसकी प्रशंसा करते हुए, 'अलंकार' के संचालकों से अनुरोध करती है कि वे उसके मुखपृष्ठ पर भी इस आशय का भाव प्रकट किया करें।

ग. 'अलंकार' में स्नातकों की कृतियों का मुफ्त विज्ञापन रहा करे।

४. स्नातक मण्डल तथा कार्य-समिति के सम्पूर्ण अधिवेशनों की कार्रवाई एक रजिस्टर में बाकायदा दर्ज की जाया करे।

५. गुरुकुल कमीशन, जिसे सभा ने बनाया था, की रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। उस रिपोर्ट के सम्बन्ध में स्नातक बन्धुओं की राय जांचने का प्रयत्न किया जाय।

६. लाहौर के स्थानीय स्नातक-मण्डल को इस बात की अनुमति दी जाती है कि वह प्रान्तीय स्नातक मण्डल का संगठन करे।

७. यदि सम्भव हो तो लाहौर आर्यसमाज से आगामी अधिवेशन पर कार्य-समिति का एक अधिवेशन किया जाय।"

कुलबन्धुओं को यह जान कर हर्ष होगा कि आचार्य देवशर्मा जी तथा पं० भीमसेन जी ने कार्य-समिति के 'अलंकार' विषयक सम्पूर्ण निर्देशों को स्वीकार कर लिया है और उन्हीं के अनुसार वे कार्य भी कर रहे हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिकारियों ने भी बाकायदा एक 'सूचना पटल' का निर्माण कर दिया है और उस का कार्यालय प्रस्तोता की देखरेख में ही रक्खा गया है।

प्रतिज्ञात राशियां

श्री वीरेन्द्र जी	१)	
,, इन्द्र जी	५०)	
,, विश्वनाथ जी	२५)	(१० प्राप्त)
,, रामेश्वर जी	५)	
,, चन्द्रमणि जी	११)	
,, धनराज जी	५)	

,, महावीर जी ५)
,, अर्जुनदेव जी ५
,, सत्यदेव जी २)
,, देवराज जी ५)
,, शान्ति महता जी १०)
,, धर्मवीर जी २)
,, वागीश्वर जी ५)
,, सत्यदेव जी २।।।)
,, विष्णुदत्त जी १)
,, शंकरदेव जी ३) (१ प्राप्त)
,, देवनाथ जी १) (प्राप्त)
,, विद्यासागर जी ५)
,, वेदव्रत जी १)
,, मनुदेव जी २)
,, जगदीश जी २)
,, विश्वनाथ जी ४)
,, प्रकाशचन्द जी १)
,, देवदत्त जी १)
,, धर्मपाल जी १)
,, दीनदयालु जी ५)
,, ब्रह्मदत्त जी ५)
,, विद्यानिधि जी ३)
,, जगन्नाथ जी ३)
,, सुबन्धु जी १)
,, सुरेन्द्र जी १)
,, दुलारेलाल भार्गव २५)

——

१६५।।।)

स्नातक मण्डल, लाहौर

इस वर्ष के प्रारम्भ में ७ जनवरी १९३४ के दिन, लाहौर के स्नातक बन्धुओं ने एक स्थानीय स्नातक-मण्डल का निर्माण किया था। इस मण्डल के प्रधान श्री आत्मानन्द विद्यालंकार तथा मन्त्री श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार चुने गए थे। यह स्थानीय स्नातक-मण्डल पिछले ११ महीनों से बड़े उत्साह-पूर्वक अपने अधिवेशन करता रहा है। लाहौर में कुल मिलाकर सत्रह स्नातक बन्धु रहते हैं, इनमें से अधिकांश स्नातक अपने यहां मण्डल को निमन्त्रित कर चुके हैं। लाहौर स्नातक मण्डल की अधिकांश बैठकों में जलपान का आयोजन भी किया जाता रहा है। अनेक अवसरों पर स्नातक मण्डल में अन्य गुरुकुल प्रेमियों को भी निमन्त्रित किया गया। गुरुकुल तथा स्नातकों के सम्बन्ध के अनेक मामलों पर स्नातक मण्डल लाहौर के अधिवेशनों में गम्भीर विचार किया जाता रहा है और यह निस्संकोच होकर कहा जा सकता है कि स्थानीय स्नातकों में परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न करने में यह मण्डल बहुत उपयोगी साधन सिद्ध हो रहा है।

इस मण्डल का गत अधिवेशन २८ अक्टूबर रविवार को श्री देवेश्वर विद्यालंकार के निवास-स्थान पर हुआ था। इस अवसर पर स्नातक मण्डल लाहौर ने यह निश्चय किया कि अखिलभारत-वर्षीय स्नातक मण्डल से अनुमति लेकर पंजाब में प्रान्तीय स्नातक मण्डल की स्थापना की जाय। यह भी निश्चय हुआ कि लाहौर के स्नातक बन्धु अपने नगर के सार्वजनिक जीवन में अधिकाधिक भाग लें और ऐसा प्रयत्न करें, जिस से सभी क्षेत्रों में उन की सत्ता अनुभव की जाय। इस को क्रियात्मक रूप देने के साधनों पर विचार करने के लिए एक उपसमिति का निर्माण भी किया गया। स्थानीय स्नातक मण्डल का आगामी अधि-वेशन १८ नवम्बर १९३४ के दिन श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के निवासस्थान 'आशानिकेतन' टैंप रोड, (ब्रैडला हाल के पास) पर होगा।

स्नातक मण्डल, दिल्ली

करीब ६ मास से दिल्ली में भी एक स्थानीय स्नातक मण्डल की स्थापना हो चुकी है। दिल्ली

और गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में रहने वाले स्नातकबन्धु इस मण्डल के सदस्य हैं। इन स्नातकों की संख्या ३० के लगभग है। अन्य किसी एक स्थान पर इतने स्नातक बन्धु नहीं रहते। यह एक हर्ष का विषय है कि दिल्ली के स्नातक भाइयों ने अपने नगर के सर्वजनिक जीवन में काफ़ी अच्छा स्थान बना रक्खा है।

दिल्ली के स्नातक मण्डल का संचालन भी स्नातक मण्डल लाहौर के ढंग पर हो रहा है। श्री बलराम इस मण्डल के मन्त्री हैं। मण्डल के अनेक अधिवेशन विभिन्न स्नातक महानुभावों के यहां हो चुके हैं। इस मण्डल के विस्तृत समाचार 'कुल-बन्धु' के आगामी अंक में दिए जायंगे।

आवश्यक सूचनाएँ और अनुरोध

स्नातक बन्धुओं से अनुरोध है कि वे निम्न-लिखित बातों पर ध्यान देने की कृपा करें—

१. जहां कहीं भी तीन या तीन से अधिक स्नातक बन्धु रहते हैं, वहां स्थानीय स्नातक मण्डल का निर्माण किया जा सकता है। आप से अनुरोध है कि आप अपने-अपने नगरों में स्नातक मण्डल की स्थापना कीजिए और अपनी प्रगति से अखिल-भारतवर्षीय स्नातक मण्डल के कार्यालय को सूचित करते रहिए।

२. गुरुकुल कमीशन की रिपोर्ट, जो श्री मुख्या-धिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी से मिल सकती है, पर अपनी राय लिख कर मण्डल के कार्य्यालय में भेजने की कृपा कीजिए।

३. यदि आप मण्डल के लिए कोई राशि देने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं तो उस प्रतिज्ञा को पूरा कीजिए; अन्यथा स्वयं कोई राशि भेजकर स्नातक-मण्डल की सहायता कीजिए।

४. यदि आप को कोई ऐसा स्थान ज्ञात है, जहां किसी कुलबन्धु के लिए गुंजाइश हो सकती है, तो उस की सूचना मण्डल के कार्य्यालय में यथाशीघ्र भेजिए।

५. अपने सम्बन्ध के सभी तरह के समाचारों और प्रगतियों से स्नातक मण्डल के कार्यलय को अवश्य सूचित करते रहिए। अपना वर्तमान पता लिखने की कृपा अवश्य कीजिए।

६. मण्डल के कार्य्यालय का पता यह है।

मन्त्री, स्नातक मण्डल,
c/o विश्व साहित्य ग्रन्थमाला
मैक्लेगन रोड, लाहौर।

लेखकों के सम्बन्ध में

(१) जब मन में उमंग हो, कुछ नयी लाभदायक बात जनता को सुनाने की प्रेरणा हो, तभी लिखिये।

(२) कागज़ के एक तरफ़, हाशिया और पंक्तियों के बीच में जगह छोड़ कर, सुवाच्य अक्षरों में लिख कर भेजिये।

(३) एक प्रति अपने पास रख कर ही लेख आदि भेजिये, अप्रकाशित लेख आदिक वापिस किया जाना आवश्यक नहीं है।

(४) लेख आदि रचना को छापने न छापने, इस अंक में छापने, उस अंक में छापने, घटाने बढ़ाने, लौटाने न लौटाने का अधिकार सम्पादक को रखने दीजिये, इसके बिना काम नहीं चल सकता है।

विज्ञापनों के सम्बन्ध में

केवल अपनी आमदनी करने की दृष्टि से अलंकार में विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे। इस लिये—

(१) अधार्मिक, अश्लील, पतनकारी विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(२) असत्य, अतिशयोक्ति पूर्ण, भ्रमोत्पादक विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(३) स्वदेशी के विरोधी, विदेशी के प्रचारक गरीबों को हानि पहुँचाने वाले विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(४) पुस्तकों के विज्ञापन भी वे ही लिये जायेंगे जिनके विषय में हमने स्वय पढ़ कर या किसी अन्य तरह पूरा संतोष प्राप्त कर लिया होगा।

अलंकार के नियम

(१) अलंकार प्रत्येक सौर महीने के प्रारंभ (अंग्रेजी महीने के मध्य) में प्रकाशित होता है।

(२) डाक खर्च सहित अलंकार का वार्षिक मूल्य ३) है, एक प्रति का ।-) विदेश से ६ शिलिंग या ४)।

(३) ग्राहकों को चाहिये कि वे वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजें, वी० पी० न मंगावें। वी० पी० से मंगाने में कम से कम ≈) अधिक व्यय उनको व्यर्थ में करने पड़ेंगे, अन्य जो असुविधा होती है, वह जुदा है।

(४) ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या तथा पूरा पता साफ़ लिखना चाहिये।

(५) उत्तर पाने के लिये जबाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें, अन्यथा उनके लिखे अनुसार कार्य कर दिया जावेगा, उत्तर नहीं दिया जा सकेगा।

(६) लेख कविता तथा रचनायें

संपादक 'अलंकार'
गांधी सेवाश्रम
डा० खा० गुरु कुल कांगड़ी
जि० सहारनपुर

के पते पर भेजनी चाहिये तथा मनीआर्डर व विज्ञापन तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र प्रबंधक 'अलंकार' १७ मोहनलाल रोड लाहौर के पते पर आने चाहियें।

(७) यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक न पहुँचे तो उन्हें इस बात की सूचना १५ दिन के भीतर देनी चाहिये। इस के बाद मूल्य ले कर ही वह अंक भेजा जा सकेगा।

नवयुग प्रेस, लाहौर में भीमसेन विद्यालंकार मुद्रक तथा प्रकाशक द्वारा मुद्रित होकर 'अलंकार'-कार्यालय, १७, मोहनलाल रोड से प्रकाशित।

अलङ्कार

माघ

भारत के प्राणदाता स्वामी श्रद्धानन्द जी

[ले०—प्रो० रामचन्द्र बलवन्त आथवले, एम. ए. भूतपूर्व प्रोफे० गुजरात विद्यापीठ]

व्यतिकरितदिगन्ताः श्वेतमानैर्यशोभिः
सुकृतविलसितानां स्थानमूर्जस्वलानाम्।
अकलित महिमानः केतनं मंगलानाम्
कथमपि भुवनेऽस्मिँस्तादृशाः संभवन्ति ॥

भवभूतिः ॥

अन्धकार पूर्ण रात्रि हो, काले-काले मेघों से समस्त आकाश आच्छादित हो गया हो, मूसलाधार वर्षा पड़ रही हो, ऐसे समय में विद्युल्लता का विभ्रमेदी प्रकाश, क्षण भर चमक कर, दशों दिशाएँ उज्ज्वल करके अस्त हो जाय, ठीक इसी प्रकार का महान् दृश्य सन् १८८० से सन् १९२५ तक के भारत के राजनीति रूपी आकाश में श्री श्रद्धानन्द जी के जीवन का है। जन्म से लेकर अवसान पर्यन्त श्रद्धानन्द मूर्तिमान् तेजस्विता से प्रतीत होते हैं। उनके जीवन की आभा ऐसी विस्मयकारिणी थी कि दयानन्द सरस्वती के बाद आर्य समाज के इतिहास में वे अजोड़ और अनुपम थे।

स्वामी जी के आत्म-चरित्र का कोई भी वाक्य पढ़िए—पिता के साथ का व्यवहार, छात्रदशा में भी गुण्डापन के विरुद्ध उनकी शूरवीरता, मत-परिवर्तन के समय का धैर्य, आर्यसमाजी बनने के बाद किया हुआ अश्रान्त परिश्रम और भीष्माचार्य के समान उनका उदात्त अन्त—ये सब महा प्रसंग उनकी तेजस्विता के विविध प्रतीक हैं। इसी लिए उनके उज्ज्वल चरित्र का जितना गहरा असर जनता पर पड़ा है उतना अन्य किसी आर्यसमाजी का नहीं। पूज्य लाला जी (लाजपतराय जी) स्वामी जी के समान ही प्रख्यात थे पर वे एक धुरन्धर राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप में हीं। स्वामी जी की ख्याति जहां-जहां फैलती वहां-वहां आर्यसमाज की ख्याति भी पहुंचती जाती थी। हिन्दू-जाति के संरक्षक के रूप में जनता का उन पर प्रगाढ़ विश्वास था।

पंजाब में कॉलेज-पार्टी ने शिक्षण का कार्य हाथ में लेकर उसके द्वारा आर्य समाज का प्रचार करने का काम शुरू किया, परन्तु राष्ट्रविधाता महर्षि दयानन्द की भारतीय शिक्षण-प्रणाली के द्वारा राष्ट्र जागृति के स्वप्न को सिद्ध करने वाले राष्ट्रीय शिक्षण के पिता तो स्वामी श्रद्धानन्द जी ही थे। उस समय सरकार आश्रित शिक्षा-संस्थाएँ ही अच्छी मानी जाती थीं। इतना ही नहीं सर फिरोज शाह मेहता जैसे प्रसिद्ध राजनीतिक नेता भी राष्ट्रीय-शिक्षण विषयक बातों को मखौल उड़ाया करते थे। ऐसे विकट समय में भारतीय शिक्षण-प्रणाली (जिसके ऊपर वर्णाश्रम-व्यवस्था का आधार है) का पुनरुद्धार करने का महान् कार्य स्वामी ने ही कर दिखाया और भारत के राष्ट्रीय अस्तित्व का विनाश करने वाली मेकालेशाही का सब से पहिले प्रतिकार कर दिखाया। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में दीक्षा पाए हुए विद्यार्थियों को देख कर ही प्रसिद्ध लेखक सर वेलेन्टाईन शिरोल ने अपनी पुस्तक "भारतीय अशान्ति" (Indian

Unsert) में सरकार को इशारा किया है कि— "इन भयंकर गुरुकुलों से सावधान रहना।" वर्तमान समय में राष्ट्रोत्थान के कार्य में गुरुकुलों का कितना हिस्सा है? यह बात, इससे स्पष्ट जानी जा सकती है।

अस्पृश्यता निवारण, शुद्धि, संगठन, अबला-संरक्षण आदि बातें आज सामान्य सी मानी जाती हैं। इन सब महान् कार्यों के प्रारम्भ करने का यश स्वामी जी महाराज के तपोमय जीवन को है। इस विषय में आर्य समाज ने तथा उसके समर्थ प्रतिनिधि स्वामी जी ने ही सब से पहिले बीडा उठाया, यह बात इतिहास के पन्नों पर जरूर लिखी जायगी।

ऐसे महावीर को अपने समस्त जीवन मे राष्ट्र के अनेक अग्रसर नेताओं के साथ विवाद करने पड़े हैं, यह हमारे इतिहास की शाचनीय घटना है। विरोध के सामने निर्भयता के साथ खड़े रहना, यह उनका सदा का काम था। परधर्मियों के आक्रमणों के सामने उन्होंने मुकाबला किया, आपद्ग्रस्त हिन्दू-राष्ट्र का उद्धार करने के लिए वे खूब जूझे, इस कारण यदि विधर्मियों ने उनका विरोध किया तो यह स्वाभाविक था। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि कितने लोक-विदित हिन्दू कहलाने वाले राजनैतिक नेताओं ने उनका विरोध किया था। स्वामी जी गुजरात देश का प्रवास करते हुए अहमदाबाद में पधारे थे। उस समय किन्हीं विचित्र प्रकार की ग़लत-फ़हमियों के कारण, उनके सन्मान के लिए बुलाई गई सभा के अध्यक्ष पद को स्वीकार करने के लिए श्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने नकार किया था। उनके यशोज्ज्वल बलिदान के अनन्तर यह बात बदल चुकी है, यह समस्त भारत के सौभाग्य की बात है। उनके विरोधी आज उनके पुजारी बन चुके हैं और हिन्दू समाज के इस महान् त्राता का शुरु किया हुआ दलितोद्धार का अपूर्ण कार्य भारत के महान् नेता गांधी जी ने अपने हाथ में लेकर समस्त भारतवर्ष की सक्रिय श्रद्धाञ्जलि उस महनीय आत्मा को समर्पण की है। इस छोटे-से लेख द्वारा राष्ट्रवाद के उस महान् आचार्य के श्री चरणों में अपनी भाव-प्रसूनाञ्जलि अर्पित करता हूँ !!

अनुवादक—

शंकरदेव विद्यालंकार

कोई कोई

आँखें तो सब के हैं पर देखना कोई कोई ही जानते हैं।
कान तो सब के हैं पर सुनना कोई कोई ही जानते हैं॥ १॥
जिह्वा तो सब के हैं पर बोलना कोई कोई ही जानते हैं।
हाथ तो सब के हैं पर देना कोई कोई ही जानते हैं॥ २॥
शरीर तो सब के हैं पर भला करना कोई कोई ही जानते हैं।
दिल तो सब के हैं पर रोना कोई कोई ही जानते हैं॥ ३॥

[ले०—श्री कमल नारायण जी]

[परिडत मदन मोहन मालवीय जी देश की विभूति हैं। अभी आपकी ७१ वीं वर्षगाँठ मनाई गई है। आप आर्य संस्कृति तथा राष्ट्रीयता के मूर्त-अवतार हैं। इनका चरित्र चित्रण नवयुवकों के लिए मार्ग दर्शक है। सम्पादक]

सच तो यह है कि जिस तरह पं० मदन मोहन मालवीय जी बहुधंधी आदमी हैं उसी तरह उन में कूट कूट कर गुण भी हैं, वह हैं असंख्य भावों के आकर, अतएव छोटी सी जगह में मेरे ऐसे के लिये उनकी समस्त ज्योति को इकट्ठा करना, कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। जब मैं महामना जी के जीवन की तरफ दृष्टि फेरता हूँ, आँखों में चकाचौंध हो जाती है, श्रद्धा से हृदय भर आता है; वह क्या है आप उनका जितना अनुभव कर सकते हैं उतना प्रकाश नहीं कर सकते; अतएव उनके कुछ संस्मरण लिखकर, संक्षिप्त में उनके दैनिक जीवन पर हलका सा प्रकाश डालूंगा।

(२)

महामना जी की पोशाक तो आप में से अनेकों ने देखी होगी परन्तु उनका भोजन क्या है यह शायद आप न जानते हों। जितना सादा उनका रहन-सहन है, भोजन भी ठीक वैसा ही। प्रातःकाल मूँग की दाल, थोड़ा सा चावल, कुछ फुलके, साथ में सादी तरकारी। परन्तु मैंने जितनी तायदाद बताई है उतना छटांक अन्न भी तौल में उनके शरीर में नहीं पहुँचता, कारण वह सादगी के साथ साथ सूक्ष्मता का भी ध्यान रखते हैं। शाम को फल और दूध लेते हैं। दूध से उन्हें बड़ा स्नेह है, धीरे धीरे भगवान का स्मरण करते हुए, उनका नाम लेते हुए दूध बड़े प्रेम से पीते हैं। जो कोई उनके पास जाकर भोजन सम्बन्धी बात करेगा उसे दूध अवश्य 'रकमेन्ड' करेंगे। एक घटना याद आ गई। डा० सैयद महमूद मालवीय जी से मिलने दोपहर को काशी में उनके बंगले पर पहुँचे, उस समय आप अपना हर समय पहरने वाला वस्त्र उतार चुके थे, भोजन करने के लिये तैयार थे। रसोई-घर जाने की देर थी कि उन्हें मालूम हुआ कि बाहर डाक्टर साहब बैठे हुए हैं, आप वैसे ही उनसे मिलने के लिए बाहर के कमरे में पहुँचे, आपस में अभिवादन प्रथा समाप्त करने के बाद बात करने बैठ गये, चूँकि भोजन करने जा रहे थे इसलिये भोजन की चर्चा चली तो डा० महमूद को समझाने लगे कि "हमें अंडे और मांस को तो छूना भी न चाहिये। बल्कि दाल और दूध स्वास्थ्य के लिये उससे हित कर हैं, और हम सबको यही सेवन करना चाहिये।" आप सात्विक भोजन पर बड़ा जोर देते हैं, इसी से मालूम होता है कि आपका स्वभाव भी अति सात्विक है

(२)

मालवीय जी को आप कभी यों ही बैठे न देखेंगे। प्रातःकाल सूर्योदय से पहले उठने का उनका स्वभाव बन गया है' उठकर थोड़ी देर श्री मद्भागवत या महाभारत (संस्कृत में) देखेंगे; बाद को अन्य कोई पुस्तक यदि उन्हें देखना हो। फिर शौच इत्यादि से निवृत्त होकर उनका पहला काम होता है सारे देह को गीले अँगोछे से पोंछ कर, धुले हुये वस्त्र धारण कर संध्या करना। दोपहर को स्नान के उपरान्त और सूर्यास्त के समय भी उनके संध्या वन्दन का नियम है। यह समझ लेना चाहिए कि मालवीय जी दृढ़ आस्तिक और ब्राह्मण धर्म के नियम पालन करने में बड़े कट्टर हैं। मेरे पूछने पर आपने एक अवसर पर कहा था "मैं ७२ वर्ष का हो गया, संध्या से, जनेऊ लेने के बाद कभी नागा नहीं किया"—मैं शर्म के मारे मर गया कि विद्यार्थी जीवन में हम लोगों से साल भर तक भी नियमित रूप से नहीं रहा जाता, कोई काम रोज रोज नियम से नहीं कर पाते, और मालवीय जी ६२ वर्ष से बराबर संध्या करने में 'रेगुलर' रहे; उन्होंने जीवन में जो कुछ पाया है, निश्चय ही तपस्या का फल है।

(३)

आप उन्हें या तो किसी से बातें करते हुए पाओगे, या कुछ लिखते या पढ़ते हुए। आजकल इस अवस्था में इतना काम रहते हुए भी वह दिन में कम से कम चार घण्टे अवश्य अध्ययन कर लेते हैं। मुझे याद है, मैं काशी गया था, जिस दिन प्रयाग आने वाला था, उसके एक दिन पहले उनके पास गया और कहा बाबू जी मैं कल घर आऊँगा'—उन्होंने कहा 'अच्छा'। थोड़ी देर बाद अपने पौत्र श्रीधर को बुलाकर कहा "ज़रा Smiles की 'Self-help' और 'Character' लाना।" उन्होंने ऊपर जाकर पुस्तकों को ढूंढ़ा, उन्हें न मिली। मैं कमरे के बाहर दालान में था, मैंने उनसे कहा "रास्ते में पढ़ने के लिए Character नामक पुस्तक लेता आया हूं, ले जाकर उन्हें दे दो" श्रीधर ने वैसा ही किया। मैंने रात को उन्हें उस पुस्तक को देखते देखा था। शायद बाबू जी को मालूम न था कि वह पुस्तक मेरी थी, जब दूसरे दिन उनके पास पुस्तक लेने गया तब मेरे कुछ कहने के पूर्व ही उन्होंने मुझसे कहा कि "तुम इस पुस्तक को पढ़ लेना और देखो Smilis की Self-help भी"। मैंने तब जाना कि महामना जी उस पुस्तक के कई अध्याय ख़तम कर चुके थे। मैं दिन भर वहीं था, बस ज़रा देर उसे पढ़ते देखा था, मुझे आश्चर्य था इतनी शीघ्रता से इतने पन्ने कैसे पढ़ लिये, परन्तु बाद को आश्चर्य न रहा, मैंने एक पुस्तक में पढ़ा, एक दिन स्वामी विवेकानन्द जी से किसी ने पूछा "महाराज आप इतनी जल्दी जल्दी पढ़ते हैं क्या पृष्ट पलटते हैं?" स्वामी जी ने उत्तर दिया "नहीं; ब्रह्मचर्य और अभ्यास से सब कोई ऐसा कर सकता है" समझ गया कि आपका भी अध्ययन का अभ्यास काफ़ी बढ़ा चढ़ा है। बाद को सुना कि उन्हें विद्यार्थी जीवन में यह पुस्तक बड़ी प्रिय थी और करीब पन्द्रह दफ़े उसे पढ़ा होगा।

(४)

मालवीयजी बड़े नम्र हैं, उनका हृदय बड़ा कोमल है, उनमें दया बहुत है, कुछ दिन हुए मैंने अपने एक बाबा (उनके चचेरे भाई, जो उम्र में उनके लगभग हैं) से पूछा कि "बाबूजी पहले कैसे रहते थे" उन्होंने कहा "मैं इन्हें लड़कपन से जानता हूँ, इन्होंने कभी झूठ नहीं बोला, हमेशा धर्म से रहते रहे," मैंने कहा बस यही बात, तो कहने लगे "तुम लड़के हो, तुम इन्हें क्या जानो यह छोटेपन से ही ग़रीबों का बड़ा ख्याल रखते थे,

और जब वकालत करते थे, तब न जाने कितना शुक्राना दे देते थे, जो कोई इनके पास माँगने गया, वह चुपके से उसे अलग ले जाकर दे देते थे" आज ती मैं इस बात को ज़ोर देकर कह सकता हूँ कि मैं ऐसा कोई उदाहरण नहीं जानता जब कि कोई आदमी इन तक पहुँचा हो, जाकर अपनी करुण कथा कही हो, और आपने भर सके उसकी सहायता न की हो"। मैंने कभी घर में आपको गुस्सा होते नहीं देखा, मानो क्रोध देवता भी इन पर दया करते हों या इनकी शीतलता के कारण इनके पास फटकने का उनमें दम ही नहीं। श्री सुमनजी लिखते हैं" उनमें संकोच और शालीनता इतनी अधिक है कि आप आगए; आप से बात कर रहे हैं। उनको ज़रूरी काम है पर आप से यह न कहेंगे कि अब जाइए। यही नहीं बहुत संभव तो यह है कि यदि आप जाने को कहें तो वह आपको निराश करते हुए दुःखी होंगे और आप से बैठने का अनुरोध करेंगे"। मुझे तो उनका व्यक्ति-गत जीवन बड़ा सुन्दर, पवित्र और आकर्षक मालूम होता है।

(८)

एक बार मालवीयजी जब काशी वाले बंगले में थे, तब उनके पुत्र श्री गोविन्द मालवीय ने उनसे आकर शिकायत की कि सब तरह के आदमी बिना बुलाये कमरे के अन्दर आ जाते हैं, और कभी-कभी तो टेबिल पर पड़ी चिट्ठियों को भी पढ़ते हैं, मालवीयजी ने धीरे से कहा "बेचारे कायदा नहीं जानते पर उनका मतलब कष्ट देने का नहीं होता" श्री गोविन्दजी ने उत्साह से कहा "अब मैं इसे बन्द करने का प्रयत्न करता हूँ।" मालवीयजी ने तुरन्त शान्ति पर दृढ़ता पूर्वक उत्तर दिया। "जब तक मैं इस मकान में हूँ, ये गरीब आदमी बिना किसी रुकावट के आते रहेंगे।"

(६)

वह छोटे से छोटे आदमी को भी अपने व्यवहार से प्रसन्न रखना चाहते हैं। आसनसोल जेल में रात को एक दिन उनकी नींद खुल गई, उन्होंने अपनी चारपाई को थोड़ा खिसकाना चाहा, ज़ोर लगाया, परन्तु वृद्धावस्था के कारण उसे खिसका न सके, बेचारे मन मसोस के लेट रहे, बगल में ही उनका नौकर सो रहा था परन्तु उसे नहीं जगाया, उनका पौत्र (श्रीधर मालवीय) उनके पास ही दूसरी चारपाई पर पड़ा था परन्तु जग रहा था, उसने उठ कर चारपाई को ठीक किया तब आप सो रहे। इसी प्रकार एक दफ़ा जब ज्वर से पीड़ित थे तब रात को इनके पास एक आदमी सोता था, जिसका काम रात को आवश्यकता पड़ने पर आपको सहायता करने तथा आपको पँखा झलने का था, संयोग-वश एक दिन रात को आप एक बजे उठे, ज्वर चढ़ा हुआ था परन्तु पेशाब करने चले गये, बाद को जब जल की आवश्यकता हुई, तब उसे तलाश करने लगे, परन्तु नौकर को नहीं जगाया, जब हाथ पाँव धोकर चारपाई पर आने लगे, तब आदमी जाग गया, परन्तु आप उससे बिना कुछ कहे लेट रहे।

(७)

अतिनम्र और पवित्र के साथ बड़े आशावादी हैं। अभी जब जून में पार्लियामेण्टरी बोर्ड की मीटिंग में जाने वाले थे, तब बनारस से प्रयाग आने पर आपके छोटे भाई ने कहा "आप ज़रा स्वास्थ्य का भी कुछ ध्यान रखिए, इतने तो कमज़ोर, तिस पर इतनी गर्मी, वहां न जाइए"। तब कहने लगे, "नहीं जाऊँगा; मुझे कुछ तकलीफ नहीं होती" एक और घटना इस प्रकार है, "मिनार्द की पहिले की एक घटना का ज़िक्र, मुन्शी ईश्वर शरण

ने किया है, वह लिखते हैं "इंग्लैण्ड जाने के पहिले वह और मैं हम दोनों प्रयाग के मैकडोनल हिन्दू बोर्डिंग हाउस से,·········जो उनका ही स्थापित किया हुआ है, जा रहे थे। मैंने पूछा आपकी तबीयत कैसी है? उन्होंने जवाब दिया "मैं खाई में पड़ गया हूं। किन्तु यह शरीर तो मातृ-भूमि का दिया हुआ है, और इससे क्या, चाहे माता की सेवा में इंग्लैंड में इसकी मृत्यु हो या यहीं"। *

प्रायः ऐसा होता है कि मालवीय जी कहीं आवश्यक कार्य से या किसी से मिलने जाने के लिए तैयार ही रहे हो, संयोगवश उस समय कोई उनके पास किसी काम से या केवल दर्शन करने के ही लिए आजाय तो वह संकेत से उसे अपने जरूरी कार्य की ओर उसे क्षमा करने की सूचना दे देंगे, फिर भी यदि वह न माने, अपनी ही बात पर अड़ा रहे तो मालवीय जी उसकी दया पर निभर हैं। कभी कठोर आचरण न करेंगे। श्री सुमन जी ने लिखा है "उनकी सफलता का दूसरा कारण यह है कि वह शत्रु पैदा नहीं करते। उनमें मित्रों को अन्त तक मित्र बनाए रखने की अद्भुत शक्ति है। वह छोटे से छोटे आदमी को भी अपने व्यवहार से प्रसन्न रखना चाहते हैं "आगे आपने लिखा है" उनके जीवन में ऐसी कोई बात ही नहीं जिसके साथ होली खेली जा सके, वह अत्यन्त उच्च कोटि के नैतिक पुरुष हैं, उनकी ईमानदारी संदेह की सीमा के परे है"। अलकाफिर ने भी ऐसा ही लिखा है "यह उनका त्याग एवं तपस्या मय जीवन ही है जिसके विरुद्ध कोई उँगली नहीं उठा सकता। यदि हम उनके व्यक्तिगत जीवन पर से पर्दा उठा दे तो कहीं एक धब्बा न दिखाई देगा, इस विषय में अनावृत—नंगे—स्वर्ग की भांति वह पवित्र है। यह एक बहुत बड़ी सिद्धि है, हिन्दू धर्म में इसके न होने का मतलब कुछ न होना है"।

* 'हमारे राष्ट्र निर्माता' ले० रामनाथ 'सुमन' सस्ता साहित्य मंडल अजमेर। पेज ११७—११८। प्रथम आवृत्ति १९३३ ई०।

(८)

मैंने पार साल एक दिन हिम्मत करके महामना मालवीयजी से पूछ ही लिया बाबू जी! आपकी सफलता का रहस्य क्या है? आप जीवन में इतना सफल क्यों हुए?"—वह उस समय एक हस्त लिखित संस्कृत श्लोकों की कोई प्रति पढ़ रहे थे, कहा "ऐसा कठिन प्रश्न" मैंने कहा 'न मन हो न बतलाइए' थोड़ी देर में नाक के ऊपर से अपना चश्मा ठीक करते हुए ज़रा गम्भीरता पूर्वक शान्त स्वर में बोलने लगे। मुझ से बहुत सी बातें कहीं, परन्तु मैं उनकी एक बात यहां कहूँगा, उन्होंने कहा" मुझे शुरू से ही लड़कपन से ही देश का ख्याल था, मेरे मन में लगन थी, मैंने परिश्रम से काम किया। मैं अपना और घर का सारा काम सदैव मे करता तो था परन्तु जिस तरह चुम्बक-पत्थर हमेशा उत्तर की तरफ मुँह किये रहता है, मेरा मन भी देश की तरफ लगा रहता था; मैं धीरे धीरे बड़ा होने पर देश का काम करता चला गया··· ·····" "मैंने हमेशा बड़ी ईमानदारी और बिना किसी इच्छा के देश का काम किया"। मैं सुनता जाता था और मन ही मन प्रसन्न हो रहा था कि इतने में उन्होंने अपनी घड़ी दिखाते हुए कहा "अच्छा अब आप सोने जाइए, मैं भी जाता हूँ"। मैंने देखा कि पौने दस बज गए थे, मुझे वहां बैठे करीब घंटा भर हो चुका था, मैं सोने चला गया।

सोवियट रूस में शिक्षा

(ले०—श्री रामचन्द्र जी ऐय्यर)

हम भारतवासियों के लिए रूस एक नव-स्फूर्ति देने वाला देश है। इस उन्नति के युग में भारत के नवयुवक अपनी उन्नति के लिए सतत प्रयत्न कर रहे हैं और स्वतन्त्रता के प्रकाशमान सूर्य को उदय हुआ देखना चाहते हैं जिसको कि अब से कई वर्ष पूर्व रूस के नवयुवकों ने अपने सतत प्रयत्न द्वारा देखा था। परन्तु रूस में परतन्त्रता की बेड़ियों को दूर करने का प्रयत्न दृढ़ तथा एक-निश्चय से किया गया था। दोनों देशों की आम जनता प्रायः कृषि पर ही निर्भर है, किन्तु रूस के स्वतन्त्रता युद्ध में यही विशेषता थी। रूस के किसानों तथा मजदूरों का एक ही निश्चय था कि किसी प्रकार से भी परतन्त्रता की बेड़ियों को काट डालना। वहां काम करने वाली साधारण जनता तथा लीडर लोगों में एकता थी। किन्तु भारतवर्ष में इन दोनों ही प्रकार के लोगों के बीच का अन्तर दिन वदिन अधिक ही होता जा रहा है। न लीडर लोगो का कोई कहना सुनता है और नांही वे जनता को ठीक मार्ग पर ले आने की कोशिश करते हैं। इसी लिए भारतवर्ष के इतना प्रयत्न करने पर भी अभी आशा की कोई किरण भी नज़र नहीं आती है, किन्तु रूस तथा उसके स्वतन्त्रता के लिए किये गये प्रयत्न सब देशों के लिए आज आदर्श हो रहे हैं।

किसी भी शासन को नष्ट कर देना कोई बड़ी बात नहीं है, किन्तु दुःशासन को नष्ट करके स्वराज्य को कायम रखना तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं का यथोचित पुनर्संगठन करने में ही उन मनुष्यों की योग्यता तथा महत्ता की पहिचान की जा सकती है। इस विषय में रूस ने सचमुच एक आश्चर्य-जनक कार्य किया है। मार्क्स की पुस्तकों को अपना उद्देश्य बना कर देश-निर्वासित लेनिन स्विट्ज़रलैण्ड की सुरम्य पहाड़ियों पर बैठा हुआ इन समस्याओं के सुलझाने का स्वप्न लिया करता था। सन् १९२२ की रूस की राज्य-क्रान्ति ने उस महान् तपस्वी की बुद्धि को रूस को पुनर्संगठन करने तथा उसे शासन करने का सुअवसर प्रदान किया। वह और उसकी जीवन-सहचरी श्रीमती लेनिन ने बहुत कठिनाइयों का सामना करके रूस के भावी नागरिकों की उन्नति तथा शिक्षा के लिए उस शिक्षा-क्रम की नींव डाली, जिससे कि यह कार्यक्रम राष्ट्र का एक अंग बन जावे।

प्रत्येक देशभक्त को यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण तथा मनुष्यता से सम्बन्ध रखने वाले विषय के साथ विदेशियों ने किस प्रकार का बर्ताव किया है। अन्य किसी भी क्षेत्र में राष्ट्र की शक्ति तथा ध्यान से बचने का इतना प्रयत्न नहीं किया गया है जितना कि स्कूलों तथा यूनिवर्सिटियों द्वारा कोर्स के निर्धारित करने तथा पुस्तकों के चुनाव से किया गया है। यदि किसी चीज़ ने हिन्दुस्तान को अपंग बनाया है तथा भारतवासियों को निर्वीर्य बनाया है तो वह "सरकारी शिक्षा से उत्पन्न हम लोगों की दासता की मनोवृत्ति है।" प्रारम्भिक

शिक्षा से लेकर ऊंची शिक्षा तक हम लोगों को ग़लत रास्ते पर ले जाने का प्रयत्न किया जाता है। राष्ट्र तथा उसकी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं का शिक्षा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रक्खा जाता है। हमारे प्राचीन साहित्य को तथा पूर्वजों के वीरतापूर्ण कार्यों के इतिहास को हम से छुपा कर रक्खा जाता है। डॉन किक्षोट के नौर्समैन तथा पोरस, किंग आर्थर और अन्य सैकड़ों राजा रानियों की कहानियों को नौजवानों की मानसिक तथा सामाजिक उन्नति के उनके कोमल दिमागों पर लादा जाता है; जब कि उपनिषदों की साधारण कहानियां बुद्ध तथा शंकर की छोटी २ कथायें, सैकड़ों शूरवीरों के वीरतापूर्ण कार्यों के किस्से, न सिर्फ प्राचीन ही किन्तु आधुनिक वीर-जैसे झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, वीर वैरागी बन्दा तथा उसके गुरु गोविन्दसिंह की कहानियों को शिक्षा के कोर्स में कोई भी स्थान नहीं दिया जाता है। जो भी विषय राष्ट्र के नवयुवकों को नवजीवन देता तथा उनको वीर और स्वतन्त्र प्रकृति का बनाता है, कोर्स से निकाल दिया जाता है। भूगोल जो कि आज कल स्कूलों में पढ़ाया जाता है, हमारे मस्तिष्क में भरा रहता है। क्योंकि हमें परीक्षायें पास करनी होती हैं, जिसके द्वारा कि हम बड़ी २ डिग्रियां, सार्टिफिकेट तथा चोले (गाउन) प्राप्त करके ऊंची २ सरकारी नौकरियों के मिलने के स्वप्न देखा करते हैं और हमेशा के लिए सरकारी नौकरियों के गुलाम बन कर अपने को परतन्त्रता की बेड़ियों में और भी अधिक जकड़ लेते हैं, किन्तु प्रकृति की भिन्न २ ऋतुओं में मनुष्य समाज को कायम रहने के लिए किस २ तरह की लड़ाईयां लड़नी पड़ती हैं? इस का ज्ञान हमें कभी नहीं कराया जाता है। इतिहास जो कि आज कल स्कूलों में पढ़ाया जाता है, मसजिदों तथा मन्दिरों के निर्माणकाल की तिथियों का रिकार्ड, युद्ध तथा किलों के निर्माणकाल और विजेताओं तथा डाकुओं की तिथियों के रिकार्ड के सिवाय कुछ नहीं है, जब कि समाज की अवस्था और उस पर भिन्न २ युगों में आई हुई आपत्तियां तथा किस प्रकार समाज ने उन पर विजय प्राप्त की, का हाल हमको सिखाया नहीं जाता है। राष्ट्र के वैयक्तिक स्वार्थ तथा मनुष्यों के जीवन का इन पाठ्य-पुस्तकों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

इस अवस्था के लिए सब से अधिक जिम्मेदार हिन्दुस्तानी शिक्षा केन्द्रों के संचालक तथा दार्शनिक लोग हैं क्योंकि उन्होंने जानते हुए भी नवयुवकों को अभाव, अशिक्षा तथा नीच आदतों से उत्पन्न उनके करोड़ों भाईयों की वास्तविक अवस्था के जानने से अलग रक्खा। इस प्रकार शिक्षित तथा अर्ध-शिक्षित लोगों का एक अलग ही क्षेत्र बन गया है जिस में कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक अवस्थाओं की उन्नति के लिए कोई अवसर ही नहीं रह गया है। देश की बड़ी-से-बड़ी मांग के लिए भी आत्म समर्पण करने के लिए उनमें किसी प्रकार की स्फूर्ति उत्पन्न ही नहीं होती है। इसी शिक्षा के प्रभाव से हम निर्वीय तथा आत्म-सम्मान विहीन होकर नौकरी की दासता में फंसने के लिए हर समय अधिकारियों का मुंह ताका करते हैं। राष्ट्र अपनी धार्मिक तथा राष्ट्रीय संस्थाओं को स्वयं चलाने में असिद्ध हो रहा है। इन सबका मूल कारण आधुनिक शिक्षा में उपयोगिता का अभाव है।

रूस में भी जार के शासन काल में अवस्थायें इससे अधिक अच्छी नहीं थी। राज्य क्रांति से पहिले रूस में जार का स्वेच्छाचारी शासन था। उसके प्रधान तथा चापलूस लोग हर समय उसको घेरे रहते थे और जनता की वास्तविक आवाज को

उस तक कभी नहीं पहुंचने देते थे। एक तरफ अत्याचार पीड़ित जनता थी और दूसरी तरफ जार का विलासिता पूर्ण जीवन। महायुद्ध ने रूस की जनता को उसकी गुलामी का, जिसके द्वारा कि उसका सत्यानाश किया जा रहा था अनुभव करने का अवसर दिया। मध्यम श्रेणी के लोगों ने विशेषतः महाविद्यालयों के स्नातकों ने, जिनमें से कि कुछ विदेशों में शिक्षा प्राप्त करके आये थे, १९१८ ई० की राज्यक्रान्ति को जन्म दिया। सबसे भयानक दृश्य मास्को की गलियों तथा जार के भवन मे देखे गये। सारा रूस उन लोगों के रक्त का प्यासा हो गया जो कि अभी तक किसानों द्वारा पैदा किये हुए धन पर विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। राज्यक्रान्ति के बाद बड़ी अराजकता मची रही और १९२२ ई० के सिविल युद्ध के बाद लेनिन ने रूस के प्रजातन्त्र शासन के प्रथम प्रधानपद को स्वीकार किया। इसके बाद से रूस ने शिक्षा में एक बहुत ही व्यापक परीक्षण प्रारम्भ किया।

संसार के सभी राष्ट्रों में विशेषतः पश्चिमीय राष्ट्रों में युवकों तथा शिक्षा की उन्नति के लिये परीक्षण प्रारम्भ किये गये। उनमें से कुछ सरकार द्वारा किये गये हैं किन्तु अधिकतर दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों तथा डाक्टरों द्वारा, जिनको कि व्यक्तिगत संस्थाओं से सहायता मिली, किये गये हैं। इन महान् आत्माओं के प्रयत्न स्कूलों के शिक्षाक्रमों, तथा स्कूलों के स्वस्थ बालकों में देखे जा सकते हैं। सरकार तथा महाविद्यालय के अधिकारियों को इस बात का बहुत श्रेय है कि वे उन परीक्षणों को सन्देह तथा क्रान्तिकारी विचारों से भरा हुआ नहीं देखते और जहां तक सम्भव होता है परीक्षणों को अपने महाविद्यालय में लाने की भी कोशिश करते हैं तथा उन विद्वानों को ऊँची ऊँची डिग्रियाँ देकर उनका सम्मान भी प्रदर्शित करते हैं।

रूस में जो कुछ परिवर्तन शिक्षा के विषय में हो रहा है वह सिर्फ कुछ शिक्षकों, स्कूलों तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षण केन्द्रों तक ही सीमित नहीं है किन्तु सारा राष्ट्र, अभिभावक तथा शिक्षक उस में हिस्सा ले रहे हैं। कम्यूनिस्ट डिक्टेटरशिप ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि जो स्वतन्त्रता आज प्राप्त की है वह उसी तरह सदा स्थिर न रह सकेगी यदि राष्ट्र के नवयुवकों तथा छोटे बालक बालिकाओं को,—जो कि राष्ट्र के भावी आधारस्तम्भ हैं,—अपनी जिम्मेदारी अपने कन्धों पर तथा राज्य करने की शक्ति की योग्यता नहीं आती है। इसी उद्देश्य को अपने सामने रखकर रूस के शिक्षकों ने विद्यार्थियों को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा आत्मनिर्भरता के आधार पर शिक्षा देना आरम्भ किया है न कि दण्ड और दबाव के द्वारा। इस महान कार्य में वे अमेरिका तथा यूरोप के नये नये अन्वेषणों को अपनी शिक्षा पद्धति में लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनका एक ही उद्देश्य है कि रूस की शिक्षा रूस की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली होनी चाहिए तथा रूस के नवयुवकों को प्रजातन्त्र के आदर्श नागरिक बनने की शिक्षा देनी चाहिए।

प्रत्येक देश के शिक्षा-क्षेत्र को अपने अधिकार में करने के लिये उस देश की धार्मिक संस्थाओं में बहुत प्रवृत्ति होती है। वास्तव में अपने निर्धारित किये हुए सिद्धान्तों को नवयुवकों के कोमल मस्तिष्कों पर लादने के लिये इन संस्थाओं में बाजी लगी रहती है, और जिस प्रकार विषों तथा कड़वी गोलियों पर शक्कर का आवरण (Sugar Coating) चढ़ा रहता है उसी प्रकार यहाँ भी इन संस्थाओं द्वारा नौकरियों का प्राप्त होना नवयुवकों के लिये एक बड़े आकर्षण का विषय होता है और

वह इन संस्थाओं की वास्तविक अवस्था से कभी भी परिचित नहीं होने देता है। कुछ समय पहले तक रूस भी इसका अपवाद नहीं था। ज़ार के शासन काल में शिक्षा पर पादरी लोगों का निरंकुश अधिकार था और बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा प्रायः गिरजाघरों के द्वारा ही हुआ करती थी। परन्तु प्रजातन्त्र की घोषणा के बाद प्रजातन्त्र के अधिकारियों ने शिक्षा की नीति को अपने सामाजिक जीवन के अनुसार परिवर्तित करने का निश्चय किया। इतिहास में प्रथम बार ऐसे वीरों की उत्पत्ति हुई जिन्होंने जीवन भर के लिये राज्य द्वारा संचालित शिक्षाक्रम की योजना तैयार की। उनकी योजना सिर्फ़ छोटे छोटे बच्चों के लिये ही नहीं थी किन्तु यमदूत का रास्ता देखते हुए बूढ़ों के लिये भी उन्होंने शिक्षाक्रम तैय्यार किया। आजकल रूस की शिक्षा के निम्न अंग हैं—

१. स्कूल से पूर्व की शिक्षा (Pre-school work)—उसे ८ वर्ष की आयु के बच्चों के लिए।

२. प्रारम्भिक तथा उच्च-शिक्षा(Elementary and high education) के लिए विद्यार्थियों तथा विद्यार्थिनियों के लिए स्कूल तथा कालेज।

३. Extension Classes तथा भाषण।

४. पुस्तकों, पत्र तथा पत्रिकाओं का प्रकाशन।

५. म्यूज़ियम, पुस्तकालय तथा थियेटरों का स्थापित करना।

६. परीक्षणात्मक स्कूल (Experimental school).

७. गांवों में वाचनालय स्थापित करना और भाषणों का प्रबन्ध करना।

८. शहरों में कार्य करने वाले मज़दूरों के लिए ट्रेड यूनियन क्लब स्थापित करना तथा आधे दिन के लिए स्कूलों का प्रबन्ध करना।

९. कम्यूनिस्ट पार्टियों का संगठन करना तथा स्काऊटिंग की शिक्षा देना।

१०. सेना के सिपाहियों के लिये समाज-विज्ञान तथा सांस्कृतिक शिक्षा का आवश्यक होना।

११. पारस्परिक सहायता, सफ़ाई तथा कृषि के लिये प्रचार करना।

ये सब विषय जो कि बच्चों को मनुष्य बनाते तथा मनुष्यों को सच्चा नागरिक बनाते हैं, सरकार ने अपने हाथ में ले लिए हैं। हिन्दुस्तान मे क्या कोई शिक्षा-संस्था इन कार्यों को अपने हाथ में ले सकती है। हम भारतवासियों के हाथ में राजनैतिक शक्ति नहीं है, जो कि अकेले ही इन सब कार्यों को कर सकती है और राष्ट्र के भावी तथा वर्तमान नवयुवकों को बनाने में समर्थ हो सकती है।

ज़ार के समय में रूस के प्रारम्भिक शिक्षालयों में चार विषय पढ़ाये जाते थे—पढ़ना, लिखना, गणित तथा धर्म-शिक्षा (Four Rs. Reading writing Arithmatic and Religion) विद्यार्थियों से यह आशा नहीं की जाती थी कि वे राजनीति मे किसी प्रकार का भाग लें; इसलिए किसी भी प्रकार की नागरिकता की शिक्षा उनको नहीं दी जाती थी और नाहीं उनसे यह आशा की जाती थी कि वे आत्मनिर्भर बने और अपने हाथ से ही अपना एक काम करें क्योंकि देश में मजदूरों की कमी नहीं थी। सरकार शिक्षकों के ऊपर बहुत कड़ा नियन्त्रण रखती थी। मजदूरों के लड़के ऊँची शिक्षाओं को पाने का बहुत ही कम अवसर पाते थे। बोलने, सभा समिति बनाने तथा राजनैतिक कार्यों में भाग लेने आदि विषयों पर बहुत ही नियन्त्रण रक्खा जाता था और इस अंधकार के बीच में ही रूस की राज्यक्रान्ति का सूर्य उदय हुआ।

(क्रमशः)

भीख और भूख

[ले०—तरंगित हृदय]

भूखे भारतवासी और क्या करें, वे नित्त बढ़ती जाती 'फ़क़ीरों' की फौज में भरती हो होकर भीख मांगने लगते हैं।

शायद १९१५ की बात है, जब कि यूरोपीय महायुद्ध के लिए भरती हो रही थी, तो स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कुछ ऐसा विचार प्रकट किया था कि भारत के इन साधुओं को लड़ाई पर चले जाना चाहिए। उन्होंने बात कुछ बुरी नहीं कही थी। जब परोपकार के लिए जीवन उत्सर्ग करने की आवश्यकता है, तो पुत्र-कलत्र-हीन, दानजीवी, और "परोपकारार्थ जीने वाले" साधुओं से बढ़ कर इस काम के योग्य और कौन हो सकता था? परन्तु साधुओं ने श्रद्धानन्द स्वामी की इस बात को बहुत बुरा माना था। सन् १९२१ में जब अपने ही देश में स्वराज्य संग्राम छिड़ा और देशभक्त गृहस्थी लोग जेलों में जाने लगे, तब कई नेता सोचते थे कि यदि इस आध्यात्मिक लड़ाई में साधु लोग आ जाँय तो हमारी शीघ्र ही विजय हो जाय, परन्तु हमने देखा कि ये साधु जेल का कष्ट उठाने वाले या देश के लिये तपस्या करने वाले साधु नहीं हैं। १९२६ में मैं सोचता था कि ये बेशक जेल न जावें किन्तु यदि ये ५२ लाख साधु मिलकर विदेशी वस्त्र बहिष्कार के लिये चर्खा-धुनकी के साथ खादी प्रचार करने में लग जाँय, तो भी हमारा बेड़ा पार हो जाय, परन्तु मैंने थोड़ी ही देर में देख लिया कि यदि इन साधुओं को कुछ काम करना-धरना होता तो ये साधु ही न बने होते। आज भी सात लाख गाँवों में कम से कम एक-एक ग्राम-सेवक को—त्यागी और तपस्वी सेवक की—आवश्यकता है। पर इन भिक्षा पाने वाले साधुओं में से कोई बिरला ही इस आवश्यकता को पूरा करने वाला होगा, यद्यपि ये चाहें तो देश का ज़रा भी आर्थिक बोझ बिना बढ़ाये ये एक-एक ग्राम में पाँच-पाँच और सात-सात तक ग्राम-सेवक बन कर रह सकते हैं।

अब इन्हें बढ़िया भीख मिलती है, इनकी सब तरह की भूख मिटती है तो ये सेवा-कार्य या श्रम किस लिये करें!

हम भारतवासियों ने भीख मांगने की कला में बहुत निपुणता पायी है। भीख पाने के और दूसरों की दया उकसाने के एक से एक अद्भुत ढंग आविष्कृत किये हैं। हमें भीख मांगने की आदत यहां तक बढ़ गयी है कि हम स्वराज्य भी भीख में ही मांग लेना चाहते हैं। स्वराज्य के लिये कुछ भी श्रम व तपस्या बिना किये भिक्षा में ही इसे पा लेना चाहते हैं।

∴ ∴

लाहौर की मिस्वत रोड पर सायंकाल के समय कभी-कभी एक भिखारी बड़ी शान के साथ उच्च स्वर में गाता हुआ सुनाई देता है—

अजगर करें न चाकरी,

(ज़रा ठहर कर)

और पंछी करें न काम।

(कुछ आगे चलकर)

दास मलूका कह गये,

सबके दाता राम।

इस तरह बिना श्रम किये भिक्षा पाने के अपने जन्मसिद्ध अधिकार को मानो उद्घोषित करता हुआ वह भीख मांगने निकलता है। उसका यह गीत तो मुझे बहुत प्यारा लगता है, परन्तु मेरे ख्याल में वह भिखारी भी शायद इस सुन्दर गीत का मतलब नहीं समझता। मैं तो उसे भीख मांगता देखकर मन ही मन कहने लगता हूं—

"अरे! अब तो ज़माना वेग से बदल रहा है। अब देर तक ऐसे भीख मांगना और पाना सम्भव नहीं रहेगा। अमेरिका के मुल्क में तो सुनते हैं भीख मांगना जुर्म बना दिया गया है, वहां ऐसा करने वाले को जेल भेज दिया जाता है। हिन्दुस्तान में भी भीख मांगने वाले को अब बहुत बार यही उत्तर दिया जाता है—"कमाओ और खाओ", "तुम्हारे हाथ पैर ठीक हैं, फिर भी तुम भीख मांगते हो?" कोई-कोई तो चर्खा चलाने या अन्य मज़दूरी करने की सलाह दे देता है। अब तो हृषीकेश के क्षेत्रों में भी अध्ययन न करने वाले को भिक्षा नहीं दी जाती; और किसी-किसी मन्दिर में दो चार घण्टे हरि नाम लेने के बाद ही किसी साधु को भोजन दिया जाता है। यह इस बात का चिह्न है कि बावन लाख साधुओं को मुफ़्त खिलाने वाला हिन्दुस्तान भी अब अधिक भीख नहीं देता रहेगा, हाथ में राजसत्ता आ जायगी तो शायद भीख देने के विरुद्ध क़ानून भी बना देगा। मुफ़्त खाने वालों के विरुद्ध दिनों दिन ऐसा ही एक तीव्र भाव इस देश में बढ़ता जा रहा है, तो ऐ भिखारी! तू अब कब तक इस तरह भीख पाता रह सकेगा!"

∴ ∴

पर मैंने तो अब कमाना छोड़कर भीख मांगना शुरू कर दिया है। मैं जानता हूँ बिना श्रम किये खाना ईश्वरीय नियम के विरुद्ध है। मैं मानता हूँ मनुष्य को अपने परिश्रम के पसीने से ही रोटी कमानी चाहिये, तो भी (बल्कि, इसीलिये) मैं अब भिक्षा करके खाने लगा हूँ। मुझे राजकीय क़ानून का कोई डर नहीं है। कोई क़ानून मेरी भीख को रोक नहीं सकेगा। मैं जिससे भीख मांगता हूँ वह क़ानून से ऊपर है। मैं किसी मनुष्य से भिक्षा नहीं मांगता, मैं तो उस 'राम' से भिक्षा चाहता हूँ जो कि (सबका) दाता है, जो सरकारों की सरकार है। राम के बेशक कोई अन्य हाथ नहीं हैं वह साथी मनुष्यों के द्वारा ही मुझे मेरी भिक्षा देता है, यह मैं समझता हूँ। पर मैं जिस मनुष्य भाई से भिक्षा लेता हूँ उसे कह देता हूँ कि मैं इसे तुम्हारा दिया नहीं मानता। उसे यह भी कह देता हूँ कि मैं इसके लिये कभी तुम्हारा अहसान नहीं मानूंगा। मैं किसी का परोपकार करता हूँ या सेवा करता

हूँ, ऐसा मैं नहीं समझता, मैं तो राम की सेवा करता हूँ। राम का काम करता हूँ। अतः राम की ही भीख खाता हूँ। राम ने सेवा के लिये मुझे यह देह प्राण, मन, बुद्धि दिये हैं। जब उसे इस देह की सेवा की ज़रूरत नहीं रहेगी तो वह इसे भूखा रख कर या किसी अन्य तरह उठा लेगा। परन्तु जब तक इसकी ज़रूरत है तब तक वह इसे भीख देगा ही। इसमें मुझे ज़रा भी शक नहीं है। फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं है। हाँ, मैं काम राम का ही करता हूँ और कुछ नहीं करता हूँ। मैं चौबीसों घण्टे लगातार राम के ही लिये अपना तुच्छातितुच्छ कर्त्तव्य कार्य करता हूँ। पर यह कार्य मैं भीख के लिये नहीं करता हूँ। काम तो 'करना है', इसलिये करता हूँ। राम ने भी भीख मुझे देनी है, इसीलिये देता है। वह मेरे काम के बदले में भीख नहीं देता है। इसीलिये यद्यपि मैं अधिक से अधिक परिश्रम करके ही भोजन खाता हूँ तो भी मैं इसे रोज़ी कमाना नहीं कहता हूँ, किन्तु भिक्षा करना कहता हूँ। मैं राम-सेवा में निरंतर परिश्रम करता हूँ, पर इस परिश्रम को किसी प्रतिफल की आशा में नहीं करता। मैं कोई सौदा नहीं करता। यही कमाने और भिक्षा करने में फ़र्क़ है। परिश्रम तो दोनों में अनिवार्य है। पर जहाँ सौदा है, प्रतिफल की आकांक्षा है, वह कमाना है, आजीविका करना है, पर जो निष्काम भाव से कर्त्तव्य के तौर पर व प्रेमवश करना है वही भैक्ष-चर्या है, आकाशवृत्ति है। ईमानदारी से कमाना भी बड़ा अच्छा है, बड़ा पुण्य है, पर मैंने तो ऐ भाइयो! यह इसी प्रकार की भिक्षा-वृत्ति स्वीकार कर ली है। कमाना धमाना सब छोड़ दिया है।

∴ ∴

शुद्ध भूख और शुद्ध भीख एक साथ रहते हैं।

जिनकी भूख शुद्ध है, जिनको प्राकृतिक भोजन आच्छादन की स्वाभाविक भूख लगती है, जिनको अप्राकृतिक नाना प्रकार की विषय वासना की भूखें नहीं सताती हैं, वे ही शुद्ध भिखारी हो सकते हैं, वे ही राम की शुद्ध भीख माँग और पा सकते हैं और जिनको शुद्ध भीख मिलती है, राम की भिक्षा पहुँचती है, वे ही शुद्ध जीवन बनते हैं और अपनी शुद्ध भूख की तृप्ति पाकर दिव्य रूप में परि-पुष्ट होते हैं।

शुद्ध भूख वह है जिस द्वारा शरीर प्राकृतिक भोजन और आच्छादन को माँगता है, जिस द्वारा मन निर्विकार पवित्र भावनाओं में उठना चाहता है और जिस द्वारा आत्मा विशुद्ध जीवन और ज्योति के लिये आतुर होता है तथा शुद्ध भीख वह है जो कि किसी मनुष्य के श्रद्धान्वित निष्काम हृदय द्वारा या प्रकृति द्वारा राम से प्राप्त होती है, जो कि किसी से माँगी नहीं जाती किन्तु स्वीकार की जाती है।

इसलिये ऐसे किसी भी पुरुष को भिखारी बनने का अधिकार नहीं है, जिसे एक भी अप्रा-कृतिक अशुद्ध इच्छा (भूख) लगी हुई है और इसी तरह ऐसी कोई भीख भीख नहीं है जो कि छल, भय या स्वार्थ के भाव से दी या ली गयी है। इसलिये जो कोई शुद्ध भिक्षावृत्ति से रहना चाहता है, राम का भिक्षुक बनना चाहता है उसे[1]—

(१) भिक्षा माँगनी नहीं, किन्तु स्वीकार करनी चाहिये।

(२) स्वीकार भी उतनी करनी चाहिये जितनी की आवश्यकता हो। जो भिक्षुक अपनी भिक्षा में से दूसरों को पालता है, वह आवश्यकता से अधिक भिक्षा लेता है। वह कमाता है। मतलब यह कि भिक्षुक को दाता बनने का अधिकार नहीं है।

---

१. आधुनिक एक सन्त की सूचना के अनुसार।

(६) और फिर भिक्षुक को चाहिये कि वह अपनी भिक्षा का पूरा पूरा हिसाब देवे। वर्तमान काल में जब कि भिक्षा पैसों के रूप में भी ली जाती है। यह नियम और भी आवश्यक हो जाता है।

(७) यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि उस भिक्षा का उपयोग पवित्र से पवित्र ही होना चाहिये। इसका ज़रा भी अपव्यय नहीं होना चाहिये। और आजकल भिक्षुक का यह भी देख लेना चाहिये (तथा यह अपव्यय न होने का भी सूचक होगा) कि भिक्षा का अधिकांश भोजन में (और फिर वस्त्र में) व्यय होता है या नहीं। मुख्यतया यह भोजन की ही प्राकृतिक ज़रूरत है जिसके लिये ईश्वर के भक्तों की भिक्षा की आवश्यकता होती है। अन्य तो कोई उसे ज़रूरत ही नहीं होनी चाहिये।

इन बातों का जो भिक्षुक ध्यान रखेंगे उन्हें निःसन्देह अधिक शुद्ध भूख लगेगी और उन्हें अधिक शुद्ध भीख मिलेगी।

∴ ∴

ऐसे नये प्रकार के शुद्ध भिखारिओं की तो देश में एक सेना चाहिये, सचमुच एक सेना चाहिये। ऐसे भिखारिओं की नहीं जैसे कि हरद्वार या बनारस में आज बहुत से फिरते हैं। किन्तु ऐसे भिखारिओं की जिन्हें देश की दशा का ज्ञान है, सेवा ही जिनका एकमात्र ध्येय या धर्म है, अतः जिनकी शेष सब इच्छायें भारत माता की सेवा की एक महान इच्छा में विलीन हो गयी हैं, जो कि परमात्मपरायण हैं, अतः जिन्हें खाना कैसे मिलेगा? इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है किन्तु सेवा कैसे करनी है इसी की एक चिन्ता है। ऐसे नये प्रकार के भिक्षुकों को अब शहरों से निकल कर गावों में बस जाना होगा या ग्रामों में [illegible] होने की जगह ग्रामप्रदेश ले लेना होगा। इसी प्रकार के नये फकीरों की आज देश को ज़रूरत है। हमारे वर्तमान फकीरों में तो आज फकीरी नहीं रही है। किसी समय वे फकीर होंगे। जैसे मुसलमानी ज़माने में समर्थ गुरु रामदास ने महाराष्ट्र में हज़ारों की संख्या में नये फ़कीर और फकीरिनियां पैदा करदी थीं जो कि सचमुच भिक्षा पर ही रहते थे, और जिन्होंने महाराष्ट्र में वह इतिहासप्रसिद्ध नवजीवन संचार कर दिया था। उसी तरह आज भी सारे देश में लाखों की संख्या में नये प्रकार के भिक्षुक और भिक्षुकियें निकल आनी चाहियें। तो ऐ भारत के नौनिहालो! तुम किस सोच में पड़े हो? तुम में यदि कुछ भी देश का दर्द उठता है, देश सेवा की कभी भावना जगती है तो तुम रोटिओं की क्या चिन्ता करते हो? क्या वे राम तुम्हें भूखा रखेंगे? अरे, जिन्हों ने—

जब दाँत न थे तब दूध दियो,
जब दांत दिये तब अन्न न दैहैं?
जल में थल में पशु पक्षिन की,
सब की सुधि लेत सो तोरिहुँ लैहैं।
काहे को सोच करै मन मूरख,
सोच करे कछु हाथ न अइहैं।
जान को देत अजान को देत,
जहान को देत सो ताकहु दइहैं॥

क्या उन एक राम के भरोसे तुम देश के लिये भिक्षुक नहीं बन सकोगे? ओ, इस दुःखित देश के उद्धार का तो अब इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। इस भुखमरे देश को भारी उलझन से निकालने के लिये हमें अवश्य स्वेच्छा का भुखमरा बनना होगा, स्वेच्छा का भिखारी बनना होगा। नहीं, ऐसे भिक्षुक नर नारिओं की हमें एक फौज बनानी होगी। भूलना नहीं चाहिये कि हमारा यह नया भिखारीपन ही अब भारत को इसकी भयंकर भूख से रक्षित कर सकेगा।

∴ ∴

हे सब के दाता! तुम से भी मैं भीख मांगता नहीं हूं। क्योंकि तुम तो स्वयं ही सब को ठीक समय पर सब भीख देते रहते हो। नहीं, तुमने तो हमें सब कुछ दे रखा है। यदि हम समझें, ब्रह्मचर्य पूर्वक सत्य को देख सकें, तो तुमने तो जगत् के प्रथम ब्रह्मचारी होकर यह सब विस्तृत भूमि और द्यौ, यह संपूर्ण संसार, विश्व भुवन, हमारे लिये भिक्षा में दे रखे हैं।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी।
भिक्षामाजहार प्रथमा दिवं च ॥

अथ० ११।५।९

तो फिर तुम से भी मांगना क्या है? संसार के मनुष्यों से तो मैं दान देने के विषय में पहिले ही कुछ कहता नहीं। वे भिक्षा किसे देवें, किसे न देवें, क्या देवें यह सब चिन्ता मैंने अब बिलकुल छोड़ दी है। इस समय तो मुझे केवल एक ही चिन्ता है कि मैं तुम्हारा भिक्षुक बना रहूं। 'तुम्हारे भिक्षुक' की पदवी से कभी च्युत न होऊं। बस, फिर और सब अपने आप हो जायगा। मुझे मालूम है, कि तुमने मेरे योग-क्षेम करने की शाश्वत प्रतिज्ञा ले रखी है। तुमने कहा है—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

गीता।

तो मुझे तो अब केवल 'नित्याभियुक्त' रहने की चिन्ता रखनी है, योग क्षेम की नहीं। वह अटूट धैर्य और वह अगाध श्रद्धा कायम रखनी है जो कि तेरे भिक्षुक का सर्वस्व है। मुझे कुछ भी मांगना नहीं है। अभी तक मूर्खतावश मैं बेशक तुम से बहुत सी संसार की क्षुद्र वस्तुयें मांगता रहा और न मिलने या देर होने से दुःखी और अधीर होता रहा। किन्तु अब तो तुम से अपना सम्बन्ध देख लिया है और श्रद्धा माता की गोद में अपना स्थान पा लिया है। अब वह मांगना और रोना जाता रहा। ओ मेरे दाता! तुम तो मुँहमांगा देने वाले हो, सचमुच मुँहमांगा देने वाले हो। तो अब मैं वे दो कौड़ी की चीज़ें तुमसे कैसे मांगूं? अरे भाईओ! जिसे मुँहमांगा मिले क्या वह भिखारी है या शाहज़ादा? पर मेरे राम! तुमने तो अपना भिक्षा का पात्र बनाकर मुझे ऐसा ही बादशाह भिखारी बना दिया है।

आत्म-बोधन

[ले०—आत्मानन्द विद्यालंकार]

आतम दीप जगाना तू, ओ, अन्तर्दीप जगाना तू!
अन्दर सुन्दर शीतल नदियाँ बहतीं, मन को स्नान कराना तू।
तरना साधो मजे से इन में, डुबकी खूब लगाना तू॥ आत्म-दीप०
मन मन्दिर में बसा अन्धेरा, प्यारी ज्योति जगाना तू।
आत्मरत्न उठे जगमगा, सब को मुग्ध कराना तू॥ आत्म-दीप०
संयम रख स्थिर दीप जगाना, अपने को न डिगाना तू।
ऐसा दीप जगाना प्यारे, शीतल नयन कराना तू॥ आत्म-दीप०
दिखा दिखा सुन्दर दीपक को, अपने पास बुलाना तू।
सखे दीप से दीप जगाना, दीपावली कराना तू॥ आत्म-दीप०
कई दिवाली देखीं भालीं, अनुपम इसे बनाना तू।
सभी दिवाली फीकी बिसरें, इसको याद दिलाना तू॥ आत्म-दीप०

नोट—शुद्ध आत्म शब्द के स्थान पर लोक प्रयुक्त आतम शब्द रख दिया है।

नया शासन विधान

ह्वाइट-पेपर के कुछ पहलू

(ले०—श्री अवनीन्द्रजी विद्यालंकार नवयुग देहली)

[भारतीय शासन विधान के इतिहास में 'ह्वाइट-पेपर' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्वायंट पार्लमेंटरी सिलेक्ट कमेटी ने इसी के आधार पर ही अपनी रिपोर्ट तैयार की है और इण्डिया बिल का आधार यही रिपोर्ट होगी। ब्रिटिश सरकार का दावा है कि वह इस विधान द्वारा हमें प्रान्तीय स्वाधीनता जैसी अमूल्य वस्तु दे रही है। प्रान्तीय स्वाधीनता से सरकार को क्या अभिप्रेत है? भारतीयों को कितने अधिकार मिलेंगे और संरक्षणों तथा साम्प्रदायिक निर्णय मताधिकार की शर्तों के द्वारा वह कितनी खोखली हो गई है, यही सब बातों का विद्वान् लेखक ने इसमें बताने का प्रयत्न किया है। —सम्पादक]

गवर्नर के अधिकार

मॉण्ट-फोर्ड सुधार योजना के आरम्भ से पहले प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार की एजेण्ट मात्र थीं। सारे ब्रिटिश भारत के प्रबन्ध के लिए भारत सरकार भारत मन्त्री के द्वारा पार्लमैण्ट के सामने जिम्मेवार थी। मि० मॉटेगू ने प्रान्तों में हस्तान्तरित विषयों (Transferred Subjects) की योजना करके प्रान्तीय स्वाधीनता का श्री गणेश किया। अब श्वेत-पत्र द्वारा पूर्ण प्रान्तीय स्वाधीनता देने का वचन दिया गया है।

प्रस्तावित प्रान्तीय शासन विधान का, गवर्नर आधार है। गवर्नर प्रान्तीय सरकार का सिर है और वह सम्राट् द्वारा प्रकाशित 'निर्देश-पत्रिका' (Instruments of Instructions) के अनुसार काम करेगा। गवर्नर और उसके निजी और दफ़्तरी विभाग के कर्मचारियों के वेतन और भत्ता पर धारा सभा को सम्मति देने का अधिकार न होगा।

गवर्नर के 'विशेष उत्तरदायित्व निम्न होंगे—

(i) प्रान्त व प्रान्त के किसी भाग के अमन व शान्ति भंग करने वाले भयानक खतरे को रोकना।

(ii) अल्प संख्यकों के उचित अधिकारों का संरक्षण

(iii) पब्लिक सर्विस के मेम्बरों को कान्स्टीट्यूशन एक्ट द्वारा प्राप्त अधिकारों का प्राप्त करवाना और उनके उचित अधिकारों का संरक्षण।

(iv) व्यापारिक भेदभाव को रोकना।

(v) भारतीय रियासतों के अधिकारों का संरक्षण।

(vi) आंशिक रूप से बहिष्कृत-क्षेत्र का इन्तज़ाम करना।

सीमा प्रान्त और सिन्ध के गवर्नरों के निम्न दो और अधिक दायित्व हैं—

(vii) कबीलों और सीमा क्षेत्र के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल के एजेण्ट होने की हैसियत से उत्पन्न उत्तर दायित्व।

(viii) सक्खर बंध का प्रबन्ध।

गवर्नर, गवर्नर जनरल और भारत मन्त्री द्वारा प्राप्त निर्देशों के सिवाय अन्य विषयों में मन्त्रियों की सलाह मानने व न मानने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होगा।[1]

गवर्नर को अपनी जिम्मेवारी पर 'विशेष उत्तरदायित्व' को पूरा करने के लिए कानून बनाने का

[1] श्वेत-पत्र प्रस्ताव ७१ पैरा १

हक़ होगा और ये 'गवर्नर-एक्ट' कहलायेंगे और ये धारा सभा द्वारा पास किए गए कानूनों के समान शक्ति रखेंगे।[1]

गवर्नर को यह भी अधिकार होगा कि यदि वह धारा सभा में पेश किया हुआ बिल व प्रस्तावित बिल, या उसकी कोई धारा या उस पर पेश किया गया व प्रस्तावित कोई संशोधन उसके विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने में बाधक हो, या प्रान्त की अमन शान्ति रक्षा के लिए घातक हो, तो वह उस पर धारा सभा को विचार करने से रोक दे।[2]

राज्य कर के सम्बन्ध में कहा गया है कि आय और व्यय के विनियोग के प्रस्ताव धारा सभा के सामने पेश किए जायेंगे। यदि गवर्नर समझेगा कि उसको अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए और रुपये की जरूरत है तो उसको वह 'मत देने योग्य', व 'न मत देने योग्य' शीर्षक के नीचे अलग दिखला देगा। इसके अतिरिक्त, सूद, सिंकिंगफण्ड, ऋण लेने, सर्विस कान्स्टीट्यूशन एक्ट द्वारा या अनुसार निश्चित खर्च पर धारासभा को वोट देने का हक़ न होगा। हां, वह इन पर बहस कर सकेगी। बजट पर बहस समाप्त हो जाने के बाद गवर्नर अपने हस्ताक्षर सहित विनियोगों को अधिकृत करके फिर धारा सभा के सामने भेजेगा। पर इस पर बहस न हो सकेगी। आय-व्यय का अन्तिम विनियोग करते समय भी गवर्नर को अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए अतिरिक्त खर्च जोड़ने का अधिकार होगा।

गवर्नर को आर्डिनैन्स निकालने के हक़ होंगे। ये छः मास के रहेंगे। इसके बाद इन्हें दुबारा दोहराने का भी उसको हक़ होगा। इसके अतिरिक्त धारा सभा का अधिवेशन न होने के समय मन्त्रियों की सलाह से अल्प कालिक आर्डिनैन्स वह जारी कर सकता है। इनकी अवधि छः सप्ताह की होगी। ये आर्डिनैन्स धारा सभा के सामने पेश किए जायेंगे और धारा सभा का अधिवेशन आरम्भ होने से ६ सप्ताह तक रहेंगे। यदि धारा सभा इन को नामंजूर कर देगी तो ये व्यवहार में न रहेंगे।

'बहिष्कृत क्षेत्र' व 'आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्र' की घोषणा सम्राट् 'आर्डर-इन कौंसिल' द्वारा करेंगे। धारा सभा द्वारा पास हुआ कोई कानून या उसकी कोई धारा उन पर लागू हो या न हो इसका निर्णय गवर्नर करेगा। क्योंकि यह उसके विशेष उत्तरदायित्व का विषय होगा। गवर्नर को यह भी हक़ होगा कि वह उक्त क्षेत्र के प्रबन्ध के सम्बन्ध में कोई प्रश्न पूछने या प्रस्ताव पेश करने की अनुमति दे, या न दे।

धारा सभा की कारवाई चलाने के नियम, धारा सभा स्वयं बनायगी। मगर गवर्नर को अपने विशेष उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए, स्पीकर की सलाह से नियम, बनाने का हक़ होगा। जहां दोनों के बनाये हुए नियमों में टाकरा होगा वहां गवर्नर के नियम चलेंगे।

गवर्नर को Summary powers होंगे। इसके द्वारा वह घोषणा करके सारा शासन भार छः मास के लिए अपने आप ले सकता है। यह पार्लिमैण्ट के सामने पेश होगा, इसलिए उसकी दोनों हाउसों के प्रस्ताव द्वारा यह अवधि बढ़ाई जा सकती है।

गवर्नर को दिये गए असीम अधिकारों से स्पष्ट है कि प्रान्तीय स्वराज्य और उत्तरदायी शासन की छाया मात्र होगा। इसका परिणाम यह होगा कि गवर्नर और धारा सभा, गवर्नर और मन्त्रियों, और मन्त्रियों और धारा सभा के बीच

---

[1] रेवत-पत्र प्रस्ताव ४२ पैरा।

[2] रेवत-पत्र ६४ पैरा प्र० ४३।

[illegible] प्रान्तों में शासन सुधार की योजना [illegible] से [illegible] गई है, कि नौकरशाही, गवर्नर, गवर्नर जनरल, भारत मन्त्री और ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के द्वारा अपनी मन चाही बात कर सकती। इन गवर्नरों की तुलना उपनिवेशों के गवर्नरों से नहीं की जा सकती है। उपनिवेशों का गवर्नर मि० कीथ के कथनानुसार मन्त्रियों की सलाह के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। उसकी स्थिति तो 'रबरस्टाम्प' की सी होती है। इसके विपरीत भारतीय प्रान्तों का गवर्नर एकाधिकारी और स्वेच्छाचारी शासक होगा।

VII प्रान्तों में दूसरी धारा सभा

यू० पी० बिहार और बंगाल में दूसरी धारा सभा बनाने का भी प्रस्ताव किया गया है। दूसरी धारा का मुख्य प्रयोजन अविचारपूर्ण और जल्दी में पास किये जाने वाले तथा क्रान्तिकारी नियमों को पास करने से रोकना होता है। परन्तु यहाँ पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट से गवर्नरों तक को जो हस्तक्षेप का अधिकार दिया है, उसके होते हुए, दूसरी धारा सभा की कोई ज़रूरत नहीं रहती है। यहाँ तो पहले ही प्रतिबन्धों से प्रान्तीय स्वाधीनता का सांस घुटा जाता है; फिर यह शिला रखने की क्या आवश्यकता है? इससे केवल शासन की प्रगति में बाधा पहुँचेगी और कोई सुधार का क़ानून पास न हो सकेगा। इसके फल-स्वरूप क्रान्तिकारी उपायों से सुधार करने की प्रणाली को उत्तेजना मिलेगी। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि इसकी रचना ज़मींदार आदि वर्गों के स्वार्थों की रक्षा के लिए की गई है। मगर जिस तरह की इसकी रचना की गई है, वह असेम्बली का दूसरा [illegible] होगा। इसलिए उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जनता की भावना को वेगवती धारा को रोकना इसकी सामर्थ्य से बाहर होगा। दोनों सभाओं के क्या अधिकार होंगे यह [illegible] सवाल है और सदा झगड़े की बात बनी रहेगी।

VIII प्रान्तीय स्वाधीनता

श्वेत-पत्र द्वारा प्रस्तावित प्रान्तीय स्वाधीनता पर विचार करते हुये इस बात को नहीं भुलाया जा सकता कि केन्द्रीय उत्तरदायित्व के अभाव में प्रान्तीय स्वाधीनता अपूर्ण और छाया मात्र है। श्वेत-पत्र के अनुसार बना हुआ गवर्नर वस्तुतः डिक्टेटर होगा। यदि वह चाहे तो वह निर्दयी हिटलर, शक्तिशाली मुसोलिनी, और ज़िद्दी तथा प्रतिक्रियावादी जार से किसी भी प्रकार कम शक्तिशाली न होगा।

धारा सभायें सर्वथा शक्तिहीन होंगी। उन्हें दिखाऊ और बहस के अधिकार तो बहुत होंगे पर वे कर कुछ न सकेंगी। अर्थहीन उत्तरदायित्व, अवांछित दूसरी धारा सभा, बढ़ा हुआ साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डल, प्रतिक्रियावादियों और और निहितस्वार्थ-वर्गों की ताकत बढ़ाने और विद्वान्, प्रगतिशील, जन-सेवकों को बाहर रखने की चतुराई भरी तजवीज़ों से, व किसी उन्नतिकारी प्रस्ताव का पास कराना बड़ा कठिन कार्य होगा। प्रगतिशील और उन्नत विचार वालों के लिए इस योजना के अन्दर ताकत प्राप्त करना और प्रान्त के लिए धारा सभा द्वारा कुछ कर दिखाना बहुत कठिन होगा, यही वजह है कि इस योजना का पार्लमैण्ट में समर्थन करते हुए भारत-मन्त्री सर होर ने कहा था कि 'जब तक बुरी तरह राजनीतिक हार न हो, तब तक गरम दल वालों के लिए प्रान्तों व फेडरल असेम्बली में किसी प्रकार की ताकत प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं है।' इस

साक्षी के होते हुए और कुछ कहना निरर्थक है।

IX मताधिकार

शासकों और शासितों का सम्बन्ध निर्वाचकों पर अधिकतः आश्रित है। क्योंकि अन्तिम रूप से शासक निर्वाचकों व वोटरों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वस्तुतः जनता को सरकार पर नियन्त्रण का हक प्राप्त है या नहीं इसकी परीक्षा इसी से होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर श्वेत-पत्र असन्तोष-जनक, दोष पूर्ण और कई अंशों में वर्तमान निन्दित मताधिकार से भी पीछे ले जाने वाला है। प्रो० लास्की का कहना है "गवर्मेण्ट के भाग में से बाहर रखी हुई श्रेणी गवर्नमेण्ट से होने वाले फ़ायदों से भी सदा वंचित रहती है।" इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि विशेष प्राप्त वर्ग जहाँ जनतन्त्र के महल को खराब करेगा वहाँ अपने स्वार्थों का भी ध्यान करेगा।

श्वेत पत्र मताधिकार, लोथियम रिपोर्ट, साम्प्रदायिक निर्णय और यरवदा पैक्ट के आधार पर खड़ा किया गया है। श्वेत-पत्र में मत देने की योग्यता धन को ठहराया गया। इसके साथ शिक्षा का टिंचर भी जोड़ दिया गया। परन्तु ये दोनों योग्यतायें सम्प्रदायों व जातियों की समकानुपातिक शक्ति को संतुलित रखने के लिए हरेक के लिए अलग-अलग रखी गई हैं। नेहरू रिपोर्ट द्वारा स्वीकृत 'बालिग मताधिकार' को विचार के योग्य भी नहीं समझा गया है।

फेडरल असेम्बली के लिए, वर्तमान समय में प्रान्तीय कौंसिलों के मत देने की प्रचलित योग्यता, को, बिहार उड़ीसा और सी. पी. में कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार कर लिया गया है। पुरुष और स्त्री वोटरों में इस समय जो अनुपात है वह क़ायम रहेगा। इस तरीके से ब्रिटिश भारत के २ से ३ प्रतिशत लोग वोटर ही बनेंगे। इस समय बर्मा को छोड़कर ब्रिटिश भारत की आबादी के वोटरों की संख्या का अनुपात २.८ प्रतिशत बालिग पुरुषों में १०.४ प्रतिशत और स्त्रियों में ०.६ प्रतिशत वोटर हैं।[1]

लोथियम रिपोर्ट में फेडरल असेम्बली में ब्रिटिश भारत के लिए ३०० जगहें रखने की सिफारिश की थी। मगर रखी गई हैं २५०। विशेष स्वार्थों के वर्ग के लिए जगहें, उक्त कमेटी की सिफारिशों के ही अनुसार रखी गई हैं। इसका फल यह होगा कि आप निर्वाचन क्षेत्र में खड़े होने वाले उम्मेदवार को अधिक से अधिक ४७ हज़ार और कम से कम १६ हज़ार वोटरों के पास जाना होगा।

प्रान्तों में मताधिकार प्राप्त लोगों की संख्या भिन्न-भिन्न होगी।

बंगाल में जहाँ ७½ मिलियन या १५ प्रतिशत लोग मताधिकार प्राप्त करेंगे, वहाँ बिहार में ३½ मिलियन व ९ प्रतिशत लोग प्राप्त करेंगे। गवर्नर के सब प्रान्तों को मिला कर सारी आबादी का १४ प्रतिशत वोटर होंगे और बालिग आबादी का २७ प्रतिशत होंगे। स्त्री और पुरुष वोटरों का अनुपात पहले जहाँ १:२१ था वहाँ अब १:७ हो जायगा। वोट देने का अधिकार का २१ साल से अधिक उमर के व्यक्ति को होगा। फेडरल असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों के प्रतिनिधि २५ वर्ष से कम उमर के और फेडरल राज्य परिषद् के ३० से कम उमर के न हो सकेंगे। हरिजन आबादी का १० प्रतिशत प्रान्तीय कौंसिलों का और २ प्रतिशत फेडरल असेम्बली का मतदाता होगा। इनका चुनाव पूना पैक्ट के अनुसार होगा। इनके लिए आम जगहों में से सीटें सुरक्षित रक्खी जायँगी।

---

1. देखो साइमन कमीशन की रिपोर्ट भाग १, १९१ पृ०

एक निर्वाचन क्षेत्र के हरिजन वोटरों का एक मतदाता संघ बनाया जायगा और उसके द्वारा चार हरिजन उम्मेद्वारों का एक पैनल (मण्डल) चुना जायगा। ये चुने लोग आम निर्वाचन क्षेत्र से उम्मेद्वार खड़े होंगे।

श्री ताम्बे, श्री चिन्तामणि और श्री बखले ने लोथियन कमेटी की रिपोर्ट में लिखा है कि विधान में एक ऐसी धारा होनी चाहिए जिससे प्रति दस साल के बाद मतदाताओं की संख्या स्वतः बढ़ जाया करे जिससे शीघ्र ही देश में बालिग मताधिकार चालू हो जाय। मगर इसकी कोई व्यवस्था नहीं की गई है। इस उद्देश्य तक पहुँचने में अभी बहुत दिन लगेंगे। साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध श्री केलकर, नानकचन्द और सरदार तारासिंह ने निम्न आशय का एक आवेदन-पत्र तीसरी गोलमेज़ कान्फ्रेंस के सामने रखा था उक्त निर्णय के सम्बन्ध में निम्न आपत्तियाँ की गई थीं:—

(i) यह पृथक् निर्वाचन का अधिकार केवल मुसलमानों को ही नहीं, जो कि माँगते थे, बल्कि एंग्लो इण्डियन, भारतीय ईसाइयों, और यहाँ तक कि भारतीय स्त्रियों जिन्होंने कभी इसकी माँग भी न की थी, देता है।

(ii) साम्प्रदायिक आधार पर बहुसंख्यक सम्प्रदाय को धारा सभा में बहुमत का विश्वास दिलाता है और हरिजनों और भारतीय ईसाइयों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र के सिद्धान्त को ज़बर्दस्ती लादता है जिसका साइमन कमीशन ने भी विरोध किया था।

(iii) बंगाल और पंजाब में हिन्दू अल्प संख्यकों को आबादी के अनुसार प्रतिनिधित्व नहीं मिला जैसा कि मुसलमानों के अन्य प्रान्तों में मिला है।

(iv) छोटे-छोटे दलों की स्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता के कारण शासक सभा पर धारा सभा ठीक तरह नियन्त्रण न कर सकेगी। व्यवसाय और उद्योग धन्धों को फेडरल असेम्बली में लोथियन कमेटी ने ८ सीटें देने की सिफारिश की थी वहाँ उनको ११ दी गई हैं। हालांकि कमेटी ने दोनों को संयुक्त प्रतिनिधित्व देने की सिफारिश की थी।

मज़दूर संघों ने १० प्रतिशत व २५ सीटें माँगी थी, पर उन्हें मिली हैं केवल १० जब कि व्यवसाय और उद्योग धन्धों को ११ जगहें दी गई हैं। लोथियन कमेटी ने सिफारिश की थी कि मज़दूर प्रतिनिधि का चुनाव ट्रेड यूनियन किया करे। मगर श्वेत-पत्र में कहा गया है कि "अंशतः ट्रेड यूनियन और अंशतः विशेष निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव होगा।"

इस तरह स्पष्ट है कि मताधिकार के प्रस्ताव उन्नति विरोधी और दकियानूसी ही नहीं, पर जनतन्त्र शासन की प्रणाली में बाधा देने वाले हैं। आवश्यकता है कि मताधिकार के आधार भूत सिद्धान्तों को आमूल चूल बदला जाय।

फेडरल कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट विषयक प्रस्ताव विशेष महत्व पूर्ण नहीं हैं। इनको छोड़कर श्वेत-पत्र की रूप-रेखा ऊपर हमने खींचने का यत्न किया है। इससे मालूम होगा कि यह राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अंश की भी पूर्ति नहीं करता। यह एक निर्जीव 'ममी' है। यह फौलादी पंजे के शासन को मज़बूत बनाने का एक सफल प्रयत्न है। इसको स्वीकार करना अपने हाथ से गुलामी का पट्टा लिखना है। कोई आत्माभिमानी भारतवासी ऐसा करेगा, यह हमें विश्वास नहीं होता।

जो पहिले देव थे

[लेखक—'अभय']

संसार के सब संगठनों, सब संस्थाओं, सब समाजों का प्रारम्भ प्रायः सद् उद्देश्यों से होता है, सब वादों की उत्पत्ति प्रायः पवित्र प्रयोजनों से होती है। परन्तु कुछ काल बाद वे सद् आदर्श आँखों से ओझल हो जाते हैं और वे संगठन बिगड़ कर हानिकारक रूप धारण कर लेते हैं। वे पवित्र प्रयोजन लुप्त हो जाते हैं और उनका नाम लोग अपने स्वार्थों को ही पूर्ण करने में प्रयुक्त करने लगते हैं। यह संसार में चलने वाला एक नित्य इतिहास है। संसार में नये-नये उत्पन्न होने वाले प्रायः सभी संगठनों, समाजों व संघों में यह इतिहास दोहराया गया है और दोहराया जा रहा है।

संसार के इतिहास को महापुरुषों की दृष्टि से देखें तो भी हम पाते हैं कि एक महापुरुष आकर अपने ज़माने की बुराइयों को सफलतापूर्वक दूर कर जाता है, संसार को एक पलटा दे जाता है, परन्तु उसके कुछ समय बाद ही संसार एक दूसरे रूप में वैसी ही बुराई में फँस जाता है और महापुरुष का असली प्रयोजन नष्ट हो जाता है। ऐसा बार २ होता है। पर फिर भी संसार में बिरले पुरुष हैं जो इस नित्य इतिहास को समझ कर इससे लाभ उठाते हैं।

वैदिक ज्ञान बिगड़ने लगा तो ब्राह्मणकाल का प्रादुर्भाव हुआ। पर हम जानते हैं ब्राह्मणकाल का कर्मकाण्ड अन्त में बहुत ही बुरी वस्तु बन गया था। बुद्ध भगवान् ने इस कर्म-काण्ड में सड़े हुए भारतवर्ष को अपने धर्म-चक्र द्वारा एक जीवनदायी पवित्र प्राणवायु में श्वास लेना सिखाया। किन्तु वह बौद्ध-धर्म भी आज कहाँ है? यूरोप में धर्म की और समाज की एक के बाद एक क्रान्ति हुई, और उस उस समय में उस उस क्रान्ति ने बहुत लाभ भी पहुंचाया। तो भी हम देखते हैं कि आज यूरोप एक नयी धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति की सख्त ज़रूरत अनुभव कर रहा है। साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद या पूंजीवाद का स्थान लेने के लिए समष्टिवाद, साम्यवाद या बोलशेविकवाद प्रवृत्त हो रहे हैं। परन्तु क्या इन वादों ने संसार को शान्ति पहुंचा दी है? हमारे देश में पौराणिक काल की बहुत पुरानी बुराइयों की प्रतिक्रिया में ऋषि दयानन्द जैसे महान् आत्मा उपजे। पर उनके स्थापित किये आर्य समाज में आज वह तेज कहाँ है? वह धर्ममय प्राण कहाँ है? जिसे आर्य समाज में वे देदीप्यमान देखना चाहते थे। इसी तरह महात्मा मुन्शीराम ने देश का मौलिक सुधार करने के लिये कांगड़ी गुरुकुल के रूप में एक शिक्षा प्रणाली का प्रारम्भ (या पुनरुद्धार) किया था, किन्तु वह शिक्षा-प्रणाली इस मूल गुरुकुल में ही आज कितना प्रभाव उत्पन्न कर रही है?

इस सबका कुछ कारण है। शायद प्रकृति में विकृति होना अनिवार्य ही है। यह प्रकृति का नियम है। विकृति को फिर ठीक किया जाता है और विकृति फिर फिर नये नये रूप में उत्पन्न हो जाती है। यही मानो इस संसार का एक गोरख धन्धा है। पर यह मान लेने से काम नहीं चलेगा। विकार तो हमें तंग करता और हमारी सारी शक्ति को रोकता रहेगा। अतः हमें पता लगाना चाहिये कि हमारी प्राकृतिक अवस्था में विकार क्यों आया है,

अच्छाई बुराई के रूप में क्यों बदल जाती है, जो पहले देव थे वे असुर क्यों बन जाते हैं।

वैदिक साहित्य में असुरों को 'पूर्वे देवाः' अर्थात् जो 'पहले देव थे' ऐसा कहा है। सचमुच देवों के असुर बनने में कुछ देर नहीं लगती है। आज जो संस्थायें असुर रूपधारी, दुखःदायी हानिकारक दीख रही हैं उनका प्रारम्भ वास्तव मे सुखदायी लाभकारक देवरूप में ही हुआ था। पैसे का गेरू लेकर कपड़े रँगाकर साधु बन जाने की इस वर्तमान संस्था को आज हम बेशक बड़ी बुरी समझते हैं, परन्तु इसका प्रारम्भ वास्तव मे बड़ा पुण्य था। आजकल की शासन संस्था (सरकार) विकास की, व्यक्तित्व की और मनुष्यत्व की नाश करने वाली वस्तु बन गई है सही, किन्तु संसार में राजा का, शासन व्यवस्था का प्रादुर्भाव मनुष्य के कल्याण के लिये ही हुआ था। क्या हमने सोचा है कि ये देव असुर कैसे बन गये हैं?

ब्राह्मण ने इस नित्य इतिहास का निम्न प्रकार वर्णन किया है।

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्या पस्पर्धिरे। ते ह स्म यदैवा असुरान् जयन्ति ततो ह स्मैवैनान् पुनरुपद्रवन्ति।

शतपथ २–३

'प्रजापति से ही देव और असुर उत्पन्न हुये हैं, वे आपस में स्पर्धा करते रहे। देवों ने असुरों का पराभव किया। परन्तु वे फिर बारम्बार देवों को कष्ट देते रहे।' तो—

ते देवा ऊचुः जयामो वा असुरान् ततस्त्वेव नः पुनरुपद्रवन्ति। कथं न्वेनाननवजय्यं जयेम।

'देव बोले—हम असुरों का पराजय करते हैं, परन्तु वे फिर भी हमें तंग करने को उठ खड़े होते हैं। किस प्रकार उनका ऐसा पराजय करें कि जिससे उनके साथ फिर कभी झगड़ना न पड़े।'

परन्तु झगड़े से छुट्टी मिलना आसान नहीं है। सतत जागरूकता की आवश्यकता तो फिर भी रहेगी। असुरों को जब तक मौक़ा दिया जायगा वे अपनी सत्ता क़ायम रखना चाहेंगे और अपना क़ब्ज़ा करते जायेंगे। यदि किसी ऋषि के तेज के प्रताप के कारण आर्यसमाज खुलेगा और इस समाज का गौरव और विश्वास जम जायगा तो वे (असुर) आर्यसमाजी बन कर आगे आजावेंगे। यदि किसी महात्मा की तपस्या के कारण खद्दर पहनना पवित्रता और प्रतिष्ठा का चिह्न बन जायगा तो वे खद्दर पहन कर आने लगेंगे। वे अपने बाह्य रूप बदल लेंगे, जितने चाहें उतने रूप बदल लेंगे, पर वे अपने असुरत्व को, आन्तर रूप को आसानी से नहीं छोड़ेंगे। इसीलिए हम देखते हैं कि कुछ समय बाद प्रायः हर एक अच्छी संस्था असुरों के क़ब्ज़े में हो जाती है। उनसे इसको छुड़ाना मुश्किल हो जाता है।

देवासुर स्पर्धा का वर्णन करते हुए छान्दोग्य और बृहदारण्यक में बड़े सुन्दर ढंग से लिखा है कि प्राण को उद्गाता बना लेने से क़ब्ज़ा करके आने वाले सब असुर लोग इस तरह नष्ट हो गये जैसे कि शिला पर टकरा कर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है। उन्होंने पहले वाणी, नाक, आँख कान आदि को उद्गाता बनाकर देखा, किन्तु इन सब को असुरों ने पाप से संयुक्त कर दिया और इस तरह देवों को हरा दिया। उन्हें पाप से संयुक्त इस लिए कर दिया चूँकि यह राग द्वेष से संयुक्त थे। अच्छे गंध, रूप, शब्द में इन्हें राग (काम, स्वार्थ) था, और दूसरे प्रकार के गंध, रूप, शब्द से उन्हें द्वेष (क्रोध, अरुचि) था। पर मुख्य प्राण में राग द्वेष नहीं है। वह सब इन्द्रियों को जीवन देता है पर किसी भी विषय में आसक्ति नहीं रखता। चाहे सुन्दर शब्द बोले या असुन्दर, प्राण

उसे जीवन देता है; चक्षु कमनीय रूप देखे या अकमनीय रूप देखे वह चक्षु को रूपदर्शन की शक्ति देता है। ऐसे निस्स्वार्थ, राग द्वेष शून्य, कर्तव्य-निष्ठ प्राण को अगुआ बना लेने पर असुर उसे पाप से युक्त न कर सके, और फिर भी उस पर आक्रमण करने का फल हुआ कि वे टकरा कर नष्ट हो गये।

इसी तरह जब तक हमारे संगठनों में राग-द्वेषी स्वार्थी पुरुषों को ऊपर चढ़ने का मौक़ा रहेगा तब तक हमारा संगठन असुरों के आक्रमण से सुरक्षित नहीं रह सकेगा। अतः सुरक्षा का उपाय यह है कि प्राण जैसे निःस्स्वार्थ, पक्षपात शून्य पुरुष को अपना नेता, मार्गदर्शक व सूत्रधार बनाइये। दूसरे शब्दों में, आर्ष स्मृतियों के शब्दों में ब्राह्मणों को ऊँचा रखिए तो सब काम ठीक चलेगा। 'ब्राह्मण' इस नाम ब्राह्मण के किसी भी रूप को मत पकड़िए। असुर तो ब्राह्मण नाम और ब्राह्मण रूप को बनाकर भी आ ही जायेंगे, जैसे कि अब तक आते रहे हैं। अतः नाम रूप को छोड़िए। ब्राह्मण के तत्व को लीजिए। जो सचमुच परार्थजीवी, अरागद्वेषी, इन्द्रियजयी, आत्मवशी महानुभाव है, उसका और उसका ही नेतृत्व स्वीकार कीजिए। संस्था को इस तरह चलाइए कि उसमें उच्च पद पर अब्राह्मण पुरुष टिक ही न सके, तभी संस्था जीवित रहेगी।

महात्मा गांधी ने इस देश की राष्ट्रीय महा-सभा (कांग्रेस) को पलटा। यह संस्था गांधी के कारण प्रस्ताव पास करने वाली की जगह कुछ कर्मशील, नकल करने वाली की जगह कुछ स्वयं विकासशील और बिलकुल भौतिकवादी की जगह कुछ अध्यात्मशील बन गयी। किन्तु आज पंद्रह वर्षों के बाद भी गांधी जी को उस संस्था से जुदा होना पड़ा है, किसी न किसी रूप में जुदा होना पड़ा है। और यह जुदाई न जाने कब तक रहेगी। गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय महासभा का बहुत कुछ परिवर्तन जिस प्रक्रिया द्वारा हुआ वह ज़रा ध्यान देने योग्य है। गांधी जी ने बीच २ में विश्राम दे देकर जो कई बार आन्दोलन को उठाया, उसमें हम देखते हैं कि प्रत्येक नये बार के आन्दोलन में कुछ पुराने आदमी राष्ट्र-सभा से निकलते गये और कुछ नये आते गये। आरामकुर्सी के राजनीतिज्ञ तो शुरु में ही और विशेषतः ध्येय बदलने पर जुदा हो गये। कुछ लोग जेल आदि के कष्ट सामने आ जाने पर जुदा हो गये। कुछ केवल एक बार जेल आदि कष्ट सह कर अलग हो गये। कुछ लोग फिर भी जेल जाते रहे और हम जानते हैं कि उनमें से बहुत अपनी लीडरी क़ायम रखने, अपनी प्रतिष्ठा और उससे बनने वाले अपने स्वार्थ के पूरा करने या अपनी रोज़ी अच्छी तरह चला निकालने आदि दूसरे-दूसरे भावों से ही प्रेरित होकर जेल गये। पर वैयक्तिक सत्याग्रह आने पर प्रायः वे भी छँट गये। कुछ रचनात्मक कार्य न कर सकने के कारण जुदा हो गये। मतलब यह कि गांधी जी के नेतृत्व में कई बार सत्य और अहिंसा की रज्जू और मथानी से भारत का मंथन किया गया, और हरएक मंथन में भारत का सच्चा मक्खन ऊपर आता गया और छाछ नीचे होती गयी। आम जनता कई बार की परीक्षा के बाद हर एक आदमी को समझ गयी कि वह कहाँ तक हमारा सच्चा सेवक व नायक है। इस प्रक्रिया से सच्चे ब्राह्मण व सेवक लोग जनता की दृष्टि में आ गये और जनता प्रायः उन्हीं का नेतृत्व मानने लगी। इस प्रकार का मन्थन जिस संगठन में और जिस समय तक चलता रहेगा और इससे मक्खनरूप ब्राह्मण ऊपर उद्गाता होते रहेंगे वह संगठन उस समय तक असुरों के वशीभूत हो जाने से बचा रहेगा। नहीं तो निश्चय ही वह संगठन उस अवस्था को पहुँच जायगा जब उसे 'पूर्व देव' अर्थात 'जो पहले देव था' ऐसा ही कहा जायगा और वह असुर होकर कुछ काल बाद विनष्ट हो जायगा।

श्रीमद्रूप्यक भगवद्गीता

(दशमोऽध्याय)

[ले०—पं० आनन्द स्वरूप विद्यालंकार इन्द्रप्रस्थ]

श्री रूपक भगवान् उवाच

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

हे अर्जुन! जो तू कार्य कर, धर्म या अधर्म हो, सोना, उठना, बैठना, मित्रता, दुश्मनी, खुशामद, निन्दा—सब रूप्यक के अर्पण करनी चाहियें। जो तू खाये, पीये, पहिने—वह इसलिये कि तू रुपया पैदा कर सके। जो तू हवन करे, संध्या करे, तिलक लगाये, मन्दिर में पूजा करे, मस्जिद में बाँग दे—वह इसलिये कि तुझे मुल्ला, पण्डित, पुरोहित, समझा जाय और तुझे दक्षिणा मिल सके, मेरे दर्शन हो जांय हे अर्जुन! जो तू तप करता है, बाँह को सुखाता है, पञ्चाग्नि व्रत करता है, एक टांग से खड़ा रहता है खद्दर पहिनता है, नंगा बदन रहता है, संस्थाओं में जीवन-दान देता है, अखबार निकालता है, एक समय भोजन करता है, रात दिन परोपकार में पागल बना फिरता है—वह भी इस लिये कि तुझे जनता से चन्दा मिल सके, गहरा दाँव हाथ लग सके। मतलब यह कि मेरा दर्शन हो जाय।

जो तू दान देता है—स्कूल में, मन्दिर में, तीर्थ में, कांग्रेस में महासभा में, लीग में, अकाल में, अनाथालय में—वह इसलिये कि 'अनेन प्रीयतां देवः' इससे मैं प्रसन्न हो जाऊँ। वह दान भी तू मुझे ही अर्पण करता है कि हे कलदार! महाराज तुम प्रसन्न हो। मेरी वकालत चल जाय, मेरी डाक्टरी चल जाय, मेरा नाम लोगों में हो जाय, मेरा व्यापार चमक उठे। जब तू भरी सभा में १००) का दान सुनाता है तब यही आशय है कि इससे मेरा १००) का० आटा, लोहा, कपड़ा बिक जाय। हे अर्जुन! तू कर्म अपने लिये, अपने कुटुम्बी मित्र—किसी के लिये कर्म न कर, अपितु 'मयि कर्माणि ह्याध्याय मुक्तसंगः समाचर' मेरे में सब कर्मों का अर्पण कर दे। तेरा सब कुछ रूप्यकार्पण हो। हे अर्जुन! दुनिया में पाप-पुण्य, सत्य-असत्य भोग और त्याग, सादगी-जैन्टलमैनी—इन सबसे ऊपर उठ जा। हे अर्जुन! जब तू निर्द्वन्द होकर मेरे में लीन हो जायेगा तब—"अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" मैं तुम्हें सब पापों से—बदनामियों से छुड़ा दूँगा। यदि तू वेश्यागामी होगा तो रसिक समझा जायेगा। यदि कंजूस होगा तो मितव्ययी, यदि खर्चीला होगा तो उदार, यदि धोखेबाज़ होगा तो दुनियाबी समझ वाला, यदि अभिमानी होगा तो प्रतिष्ठित, यदि उथला तो मिलनसार। यहां तक कि यदि तुझे शराब का व्यसन भी हो तो वह तेरा मनोरञ्जन समझा जायेगा।

हे अर्जुन! अन्य सब भक्ति छोड़कर मेरी उपासना कर। तेरा बाल भी बांका न होगा। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। यदि चोरी में पकड़ा जायेगा तो मैं थानेदार से छुड़वा दूँगा। यदि डाका डालेगा तो मैं मजिस्ट्रेट से निकलवा दूँगा। यदि ग़बन करेगा तो जज से भी बचवा दूँगा। यदि तू क़त्ल भी कर देगा तो डाक्टर यह गवाही देगा कि मृत का दिल फेल हो गया है, कोई चोट इस पर नहीं हुई। इसीलिये 'कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' हे अर्जुन तू निश्चित रूप से समझ ले कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। अतः सब देवों की उपासना छोड़ कर मेरी भक्ति कर

श्रद्धां (लक्ष्मीं) प्रातर्हवामहे श्रद्धां (लक्ष्मीं) मध्यं दिनं परि । श्रद्धां (लक्ष्मीं) सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धां (लक्ष्मीं) श्रद्धापये ह न ॥

हे रुपये महाराज ! प्रातःकाल तुम्हारा आह्वान करते हैं, तुम्हारे बिना बोहनी भी नहीं करते कि तुम इस गरीब पर अनुग्रह करो जिससे हमारा कलेवा हो सके । दुपहर की कड़ी धूप में नंगे पैर नंगे सिर, शहर में, जंगल में, तंदूर के समान तपी हुई मिल में, लोहे के कारखानों में तुम्हारा आह्वान करते हैं कि तुम प्रसन्न हो, हमें दुपहर का भोजन नसीब हो । जलती हुई जठराग्नि में दो रोटियां डल सकें । साँझ के समय जब कि थके मांदे पक्षी भी अपने अपने घोंसलों में आराम करने आजाते हैं—हम तेरा आह्वान करते हैं । आफ़िस में डूबते हुए सूर्य की धीमी रोशनी में आँखें फाड़कर चिट्ठी के Draft तय्यार कर रहे होते हैं, सड़क पर बैठे पत्थर तोड़ रहे होते हैं; इसलिये हे कलदार ! महादेव !! हम पर तुम्हारा अनुग्रह हो और सायँकाल दो टिक्कड़ पेट में पड़ सकें । कहाँ तक कहें—रेल में, जहाज़ में, सर्दी में, गर्मी में, दिन को, रात को, प्रतिक्षण तुम्हारा ध्यान करते हैं, तुम्हारा जप करते हैं कि तुम्हारा एक कृपा-कटाक्ष प्राप्त हो सके ।

हे अर्जुन ! जगत् में मेरी कृपा मिलनी कठिन है । देवता भी इसको तरसते हैं । मेरे भक्त के अनपढ़, दुराचारी और देशद्रोही होते हुए भी 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति' वह धर्मात्मा विद्वान् और देश-भक्त हो जाता है ।

उसके एक दरवाज़े पर संन्यासी, तपस्वी, महात्मा खड़े हुए 'त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वमर्कः' कहते हुए अभ्यर्थना करते हैं । यह एक योगी, संन्यासी हैं, अष्टाङ्ग योग पर जनता में व्याख्यान देना है, भक्ति का पाठ लोगों को पढ़ाना है, आप को 'मीटिङ्ग' में आने के लिये मोटरकार चाहिये, आप इसलिये मेरे भक्त की अर्चना कर रहे हैं ।

दूसरे दरवाज़े पर कांग्रेसी नेता खड़े हैं । आप कई दफ़ा कृष्ण-मन्दिर हो आए हैं । आपको खादी प्रचार के लिए धन चाहिए आप मेरे भक्त की तारीफ़ में ज़मीन आसमान एक कर रहे हैं । यद्यपि मेरा भक्त खद्दर छोड़ स्वदेशी भी नहीं पहिनता । नित्य सरकारी अफ़सरों से कांग्रेस को कुचलने के षड्यन्त्र रचता है । विलायती कपड़े की दुकान करता है ।

तीसरे दरवाज़े पर धार्मिक प्रचारक खड़े हैं । त्याग की मूर्ति हैं । सारा जीवन जन-सेवा में लगा दिया है । बड़े भारी सुधारक हैं । आपने एक अछूतोद्धारिणी सभा खोल रही है, उसके नीचे कुछ स्कूल भी चलते हैं, फिर समाज का जलसा भी आ रहा है । इनको भी धन की आवश्यकता है । आप मेरे भक्त को पापी, दुराचारी होते हुए भी 'ऋषि'—'महात्मा' तक की उपाधि देने को तय्यार हैं ।

हे अर्जुन 'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप' मेरी विभूतियों का विस्तार अनन्त है । उसका वर्णन नहीं हो सकता । लेखकों की लेखनी वक्ताओं की वक्तृत्व-कला, रागियों का राग, विद्वानों की विद्या—वह सब मेरा ही प्रभुत्व है । मेरी ही विभूति है । मैं ही सब जगह भिन्न-भिन्न रूप से विद्यमान हूँ । मैं जब चाहूँ वक्ता, लेखक, बन सकता हूँ । सारांश यह है कि—

"यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥"

हे अर्जुन ! जहाँ कहीं तुझे अच्छापन दिखाई पड़े, विभूतिमत् मालूम पड़े, वह सब मेरा ही प्रभाव है ।

इति श्रीमद्रूप्यक भगवद्गीतासु उपनिषत्सु भगवदर्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

महात्मा गान्धी जी का सत्संग

खादी के महत्व का रहस्य

प्रश्न—खादी पर आपने अनेकशः अपना हिमालय वत् दृढ़ विश्वास प्रकट किया है। आपका यह विचार अभी तक हमें स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आया। हम इस आवश्यकतम कार्यक्रम को पूरा करने के लिये विद्यार्थी-जीवन में क्या कर सकते हैं?

उत्तर—मैं दरिद्रनारायण के साथ मिल जाना चाहता हूँ—एक हो जाना चाहता हूं। सब को ऐसा ही चाहिये। उन्हें खाना देकर हमें खाना चाहिये और उन्हें पहना कर ही हमें पहिनना चाहिये। यही कारण है कि मैंने खादी पर अपना इतना दृढ़ व अटल विश्वास प्रकट किया है।

दूसरी बात यह है कि क्या कोई ऐसा अन्य धन्धा है जो इस से कम दाम वाला हो और जिसे करोड़ों कर सकें? निश्चय ही नहीं है। इसी प्रकार क्या कोई ऐसा और धन्धा है जिससे उत्पन्न फल का उत्पादक ही उपयोग कर सके? नहीं। अतः यही (खादी की उत्पत्ति दरिद्रनारायण के साथ मिल जाने का एकमात्र उपाय है। अन्य कोई साधन नहीं है।

फिर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इसे तो ग़रीब ही करें न? अमीर क्यों करें? यह कहते हुए हम में एक बड़ा भारी दोष आ जाता है। वह है भिन्नता का दोष। इस भिन्नता को मिटाने के लिये ही मैं कहता हूँ कि सभी को कातना चाहिये। जैसे वे दरिद्र लोग हैं, वैसे ही हम भी बनना चाहते हैं। जिस प्रकार वे नमक के साथ सूखी रोटी खाते हैं उस प्रकार तो सब नहीं कर सकते। यहाँ हम अपनी अपूर्णता को स्वीकार करते हैं। परन्तु हमें नियमपूर्वक कात कर दिन मे एक आध घण्टा तो उनके साथ तन्मनय ही हो जाना चाहिये।

लोग कहते हैं कि खादी का प्रचार तो नहीं हो सकता। यह बहुत मँहगी है। इसे व्यापक बनाना कठिन है। पर वे यहां पर यह ग़लती करते हैं कि वे यह नहीं सोचते कि प्रचार से ही तो सस्ती होगी।

साथ ही यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि खादी उत्पन्न करना एक इल्म है। यदि हम इस तरफ़ ध्यान न देते तो एस प्रकार का सुन्दर, उप-

यंत्रों एवं सुविधापूर्ण चर्खा (महात्मा जी कातते हुए हम से बातचीत कर रहे थे। यात्रा में सुविधा के लिये आविष्कृत अपने चर्खे की तरफ़ इशारा करते हुए उन्होंने यह कहा) कैसे बन पाता ? इस चर्खे के तो एक एक अंग में उन्नति हुई है, जब कि हमारी तो सुधार की तरफ उपेक्षा ही रही है।

इस (चर्खे में जितना रस है उतना अन्यत्र भी कहीं है ? मेरे जैसा आदमी तो इसमें संगीत सुनता है।

विद्यार्थियों को तो इसका शास्त्र बना लेना चाहिये। उनके विद्यार्थियों के गुण तो तब प्रकट होंगे जब वे इसे शास्त्र की न्याईं पढ़ें। कपास कैसे बोनी चाहिये, उसके लिये कौन सी भूमि उपयुक्त है, धुनना, लोटना इत्यादि सब कुछ उन्हें जानना चाहिये। मैं तो यह भी मानता हूँ कि इसका शास्त्र गूढ़ है। यदि मेरे पास आकर कोई कहे कि मैंने तो एक मास में ही इसके सम्बन्ध में सब कुछ जान लिया है तो मैं समझूँगा कि वह घमण्डी है। यह तो ज़िन्दगी की बात है।

देश सेवा कैसे करें।

प्रश्न—गुरुकुल में रहते हुए हम देश-सेवा के लिये सर्वोत्तम कार्य कौन-सा कर सकते हैं ?

उत्तर—आजकल हर एक भारतीय के लिये निम्न तीन कार्यों की महान् आवश्यकता है—(१) खादी की उत्पत्ति व प्रचार (२) हिन्दू मुस-लिम ऐक्य (३) हरिजनोद्धार। इन तीनों में सब कुछ आ जाता है। किन्तु ये काम राजनीतिक दृष्टि से नहीं करने चाहिये अर्थात् यह नहीं कि मन में और तथा कर्म में और।

हरिजन कैसे भी हों, हमें उन्हें मिलाना चाहिये। उनके साथ हमने जो अत्याचार किये हैं उनका हमें प्रायश्चित्त करना चाहिये और उनकी सेवा करनी चाहिये। यदि वे दुष्ट भी हों तो भी हमें उनके साथ दुष्टता नहीं करनी चाहिये। बाप, भाई, पुत्र आदि यदि दुष्ट हों तो हम तो उनके साथ दुष्टता नहीं करेंगे। हमारे ऐसा करने से वे अपनी दुष्टता को नहीं भूल जायेंगे।

मैंने अहिंसा और सत्य का प्रचार करना चाहा है। लोग हज़म नहीं कर सकते। अतः मुझे इनके लिये जान दे देनी चाहिये। मैं इन दोनों का शिक्षक नहीं बन सका हूँ। मैं अहिंसक बन गया हूँ यह भी मैं नहीं कह सकता। यदि लोग इन्हें नहीं समझ सकते तो वे दोषी नहीं हैं। उन्हें प्रयत्न करना चाहिये और वे समझ ही जायेंगे। ऐसा नहीं है कि वे जान बूझ कर नहीं समझते हैं।

क्या कभी फल त्यागा जा सकता है।

प्रश्न—क्या आप गीता के अनुसार वेदान्त को ही मानते हैं ? हमें तो यह समझ नहीं आता कि यदि गीता के अनुसार सब चेष्टाएँ परमेश्वर द्वारा ही हो रही हैं तो कर्मफल का क्या स्वरूप रह जाता है ? एक धनी और दूसरा निर्धन क्यों हैं ? परमे-श्वर कर्म कराता है; फल हमें क्यों मिलता है ?

उत्तर— मैं वेदान्त को मानता हूँ या नहीं यह तो नहीं कह सकता। हाँ, गीता में प्रतिपादित-वाद को मानता हूँ। गीता के भी मैं अपने ही अर्थ करता हूं तथा उन अर्थों में गीता को मानता हूं। मैं कोई शास्त्रज्ञ नहीं हूँ। मैंने तो गीता स्वयं ही पढ़ी है। गीता पर भी कोई टीका वा भाष्य पढ़े हैं यह भी मैं नहीं कह सकता हूँ। तदनुसार मैं यह नहीं मानता हूँ कि यदि कोई कर्मफल को ईश्वर के प्रति अर्पण कर कर्म करे तो उस कर्म फल को परमेश्वर ही भोग लेता है। वह कर्मफल हमें नहीं भोगना पड़ता। हाँ, कर्मफल की इच्छा का सर्वथा त्याग कर कर्म करने पर ही ऐसा होता है।

ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन

[ले०—स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी]

ओ३म् । ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति । स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ।१।

अथ० ११ । ३ । ५

"(ब्रह्मचारी) परमेश्वर और उसकी बड़ी विद्या वेद को प्राप्त करने में है शील जिसका वह ब्रह्मचारी (रोदसी उभे) द्यावा पृथिवी रूपी दोनों लोकों को (इष्णन् चरति) हिलाता हुआ चलता है, (तस्मिन् देवाः सम्ऽमनसः भवन्ति) उसमें ही सब देव समान मन वाले होते हैं। (सः दाधार पृथिवीम् दिवम् च) वह पृथिवी और द्यौ (ज़मीन और आसमान) को दृढ़ता से धारण करता है— (सः आचार्यम् तपसा पिपर्ति) वह आचार्य को तप से पालता अर्थात् सन्तुष्ट करता है।"

ब्रह्म परमेश्वर को कहते हैं। उस अनाद्यनन्त की आदि विद्या "वेद" भी ब्रह्म ही है। क्योंकि दोनों ही सर्वोपरि बड़े हैं। "चर" धातु "गति" और "भक्षण" दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। पहले "गति" अर्थ में चर को लेंगे। वह "गति" शब्द भी तीन अर्थों में लगता है—अर्थात् ज्ञान गमन और प्राप्ति। तब ब्रह्मचारी वह है जो परमेश्वर और उसकी पतित-पावनी विद्या का पहले ज्ञान प्राप्त करे। वह निश्चयात्मिक ज्ञान किस मुख्य साधन से प्राप्त होता है? जिस अनिर्वचनीय को आँख देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते और अन्य इन्द्रियाँ भी जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं दे सकती उस व्यापक पुरुष को कहाँ देखें? निस्सन्देह उस का ज्ञान वहाँ ही प्राप्त हो सकता है जहाँ वह विद्यमान है और ब्रह्माण्ड के प्रकाशमान और अप्रकाश्य, प्राण और रयि, द्यौः और पृथिवी किस लोक में वह मौजूद नहीं है। "हर जगह मौजूद है पर वह नजर आता नहीं" तब उसका ज्ञान द्यौः और पृथिवी इत्यादि शब्दों में तत्त्व की दृष्टि डालने से ही मिलेगा; और इस दृष्टि के लिये आवश्यक है कि द्रष्टा में बल हो। ज़मीन और आसमान के अन्दर जो छिपा हुआ राज़ (रहस्य) है उसको खोलना ब्रह्मचारी का उद्देश्य है, इस लिए वह ज़मीन और आसमान को हिलाता हुआ विचरता है। वह प्रकृति को मज़बूर करता है कि अपने अन्दर के रहस्यों को उस (ब्रह्मचारी) के लिये खोल कर रख दे।

जब ब्रह्मचारी को ब्रह्म का ज्ञान हुआ तो वह उसमें गमन करना आरम्भ करता है। संसार के सब प्रकाशमान पदार्थ (जो उस प्रकाश स्वरूप की ज्योति के द्योतक होने से देव हैं) इसमें उस ब्रह्मचारी के सहायक होते हैं। जहाँ भिन्नता दिखाई देती थी वहाँ समानता दिखाई देती है। सबमें वह उसी प्रकाश स्वरूप की ज्योति को देखता है और अन्ततः वह उसी में स्थिरता को प्राप्त होता है। दर्शन तो किसी न किसी समय, प्रत्येक व्यक्ति को होते हैं परन्तु ब्रह्मचारी को यह बल प्राप्त होता है कि जब एक बार उस परम ज्योति के दर्शन हो जायें तो वह उससे अलग नहीं होता। तभी तो वेद भगवान् ने कहा है कि ब्रह्मचारी द्यौः और पृथिवी को दृढ़ता से धारण कर लेता है अर्थात् उनके तत्व को समझ कर फिर उसका हृदय डावांडोल नहीं होता।

बड़े का ज्ञान प्राप्त करने, उसमें गमन करने और फिर उसकी प्राप्ति से स्थिर होकर तद्रूपी होने का साधन क्या है ? वही साधन ब्रह्मचारी को आचार्य बतलाता है। बड़े की प्राप्ति के लिये साधन भी बड़ा ही होना चाहिए। हाथी नशीनों से दोस्ती गाँठने वालों को ऊँचे दर्वाज़े रखने पड़ते हैं। सर्वोपरि परमात्मा और उसके वेद की प्राप्ति के लिए साधन भी ऊँचा चाहिए। वह बड़ा क्या है जिसके साधने से सब से बड़े ब्रह्म का योग सध जाए ? तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगुवल्ली में भृगु ने गुरु वरुण से ब्रह्म का पता पूछा है। वरुण ने उत्तर में कहा "अन्नं, प्राणं, चक्षुः श्रोत्रं, मनो वाचमिति" "अन्न" ब्रह्म है। तब ब्रह्मचारी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए "चर" धातु के दूसरे अर्थ पर विचार करना चाहिए। "चर" भक्षण अर्थ में भी आता है। जो अन्न को भक्षण करने की शक्ति रखता हो वह ब्रह्मचारी है। भक्षण किसे कहते हैं ? क्या खाद्य पदार्थ को पेट में रख लेना ही भक्षण है ? वाचस्पत्य शब्दकोष के पृ० ४६२० पर लिखा है—"भक्ष-भावेल्युट्। कठिन द्रव्यस्य गलाधःकरण व्यापारे। भक्षण प्रकारः सुश्रुतोक्तः"। मनुष्ययोनि में यह मानवी शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा युक्त बनावट ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। उनमें से शरीर में रह कर ही इन्द्रिय मन और आत्मा का व्यापार चल रहा है; इसलिए शरीर के स्वास्थ्य पर ही अन्य सब के स्वास्थ्य का निर्भर है। परन्तु शरीर के परमाणु क्षण-क्षण में क्षीण होते रहते हैं। उसकी स्थान पूर्ति के लिए केवल खाने पीने की ही आवश्यकता नहीं अपितु उस खाए पिए को पचाने की भी आवश्यकता है। स्वादिष्ट और चट-पटे भोजन के प्रलोभन में फंसना और चबाते हुए उसे पीस डालकर अन्दर ले जाना यह तपस्वी का ही काम है। इसी तप की शिक्षा आचार्य ब्रह्मचारी को देता है और जब शिष्य आचार्य की शिक्षा के अनुकूल आचरण करता हुआ तपस्वी बनता है तभी आचार्य का आत्मा सन्तुष्ट होता है। इसी को लक्ष में रखकर उपनिषद् में अन्तेवासी के लिए उपदेश है कि आचार्य के प्रिय धन की भेंट उसके आगे रक्खे। धन्य हैं वे शिष्य वर्ग जो आचार्य की शिक्षा को शिरोधार्य समझ कर तप का जीवन व्यतीत करते हैं क्योंकि उस अवस्था की प्राप्ति का जिसमें आनन्द का ही राज—वही एक साधन है। इमित्योइम् ॥*

*श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी ने ब्रह्मचर्य सम्बन्धी वेदमन्त्रों के आधार पर एक पुस्तक लिखनी शुरू की थी यह लेख उस लेखमाला का एक भाग है।

—सम्पादक

अपूर्ण-जीवन

(ले० प्रेमबन्धु)

(१)

"उफ़! अब नहीं सहा जाता!"

"बात क्या है?"

सुलोचना फूट-फूट कर रोने लगी।

कमल घबरा कर उठ खड़ा हुआ। उसने पूछा—क्या आज भी कोई बात हुई थी?"

"यह तो प्रतिदिन का रोना है।" सुलोचना ने रोते हुए कहा—"आज मैंने दया के लड़के को गोद में उठा कर चूम लिया था और सरल स्वभाव से कह दिया था—कितना सुन्दर बालक है। इस पर उसने कहनी-अनकहनी अनेक बातें कहीं—अपने सन्तान नहीं तो औरों के बच्चों से क्यों डाह करती हो।"

कमल ने अपना दुःख छिपाते हुए कहा—"सुलोचने! जीवन का वास्तविक आनन्द तो अभाव ही में है। पूर्णता को तो सभी प्यार करते हैं, अपूर्णता में आनन्द से जीवन बिताना ही मनुष्यता की सच्ची परख है।"

सुलोचना ने कहा—"यही सोच कर तो मैं अब तक जी रही हूँ परन्तु......"

कमल ने प्रशान्त महासागर की तरह गम्भीर होकर कहा—"इस संसार में कितने ही जीव ऐसे हैं जिन के पास विपदाओं के सिवा और कोई सम्पत्ति नहीं है। वे सब क्या जीवन से ऊब कर आत्महत्या कर लिया करते हैं?"

मेरे जीवन की तो केवल मात्र एक ही कामना है। अब सब कुछ खोकर भी उसे पूरी करना चाहती हूँ।

"कामनाओं का अन्त नहीं होता सुलोचने! एक की सत्ता होते ही अनेक का निर्माण हो जाता है। इनको भुला देने में ही जीवन का कल्याण है।"

"तो फिर क्या मैं उस कामना को भुला दूं स्वामिन्?" सुलोचना ने आंखों में आंसू भर कर गद्गद् स्वर में कहा—"उसको भुला देने में शान्ति मिलती तो मैं कभी की भुला देती, परन्तु इस हृदय की आग को संसार में रहते हुए कौन बुझा सका है।"

सुलोचना की यह मर्मभेदी बात सुनकर कमल का हृदय भर आया। उन्होंने सोचा—सुलोचना कहती तो ठीक है। अपना भाग्य किसने टटोला है, परन्तु फिर भी मनुष्य इस लोभी हृदय की आशा पर ही अपने भविष्य का निर्माण करता है।

(२)

निर्जन वन का बीहड़ पथ है।

प्रकृति सन्नाटे की ताल पर तान दे रही थी।

एक थका-मांदा पथिक उसी सुनसान अँधेरी रात में धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था।

❀ ❀ ❀ ❀

उधर सुलोचना प्रतीक्षा में विकल थी—वे कहां चले गये, उन्हें आने दो, मैं पूछूंगी—अपना हृदय टटोल कर बात करनी चाहिये, सुन्दर आदर्शों को मन ही मन सब उपासना करते हैं पर उन्हें कार्यरूप में परिणत कर देना क्या आसान है।

परन्तु कमल नहीं लौटे।

उसने फिर सोचा—सचमुच मेरा ही अपराध है। मुझे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये थी जिससे उनके हृदय को ठेस लगे……पर वह अपने वश की बात तो नहीं थी।

काले-काले बादलों ने क्षितिज को घेर लिया। उसने देखा—रजनी का भीषण अट्टहास और डरावने आकाश की भयंकर आँखें उसके हृदय को कुचलने के लिए काफी हैं। वह रोने लगी।

ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ

दिन के बाद दिन बीतते गए। महीने पर महीने समाप्त हो गये।

संसार-सागर में परिवर्तन की लहरें उठीं और अनन्त में लीन होगईं पर सुलोचना के द्वार पर आकर परिवर्तन झांका भी नहीं।

एक दिन उसकी पड़ोसिन सरला ने कहा—"अब तुम उन्हें भूल जाओ बहिन।"

"भूल जाऊँ।" सुलोचना ने गम्भीर होकर कहा—"अब मुझे कौनसी अभिलाषा है जिससे उन्हें भूल जाऊँ। अब अपने प्रियतम की उपासना किया करती हूँ।"

"इस उपासना का अन्त कहां है बहन?"

सुलोचना हँस पड़ी—"भोली सरला! प्रियतम की उपासना का अन्त ही नरक की भीषण ज्वाला है। जिसे तुम सुख कहती हो वह है क्या चीज़?

सरला ने सोचा—सुलोचना पागल हो गई है। उसका विचार और भी दृढ़ हो गया जब उसने देखा सुलोचना कभी-कभी अपनी आँखें बन्द करके घण्टों तक चुपचाप बैठी रहती है और उसकी आँखों से अविरल अश्रु धार बह कर उसके सूखे कपोलों को गीला करती हुई उसके वस्त्रों पर टपका करती है।

पर जिसके लिये वह साधना करती थी वह उससे बहुत दूर था।

(३)

पाँच वर्ष के बाद एक दिन सुलोचना के सूखे सरोवर में अचानक कमल खिल उठे।

कमल न जाने कहाँ जाकर लौट आया।

सुलोचना अवाक रह गई। जिसकी स्मृति में उसने विस्मृति को अपनाया उसे प्रत्यक्ष देखकर उसने आँख मीच लीं। किन्तु… ……यह क्या! हृदय ने बाँध तोड़ डाला। वह मचल गया।

वह चिल्ला उठी—"प्रियतम! यह स्वप्न है या वास्तविकता।

"स्वप्न नहीं, मेरी रानी।" "कमल ने सुलोचना को गले लगाकर कहा—"साधना का प्रत्यक्ष सत्य है। देखो। परिवर्तन हमारे भाग्य पर इठला रहा है।"

"नाथ।"

"प्रिये!"

"जीवन का सत्य क्या?"

"कष्टों के अनन्त आवरण से परे साधना और सन्तोष।"

सुलोचना मुग्ध होकर अपने प्राणेश्वर की गोद में गिर पड़ी।

(४)

दिन के बाद दिन खेलते कूदते चले गये।

अब सुलोचना की गोद में, उसकी सारी आराधनाओं, सारी साधनाओं की सजीव प्रतिमा खेल रही थी।

उस सुन्दर बालक को पाकर वह जीवन के एकान्त सत्य को भुला बैठी थी। बड़े स्नेह से वह उस बालक के साथ खेलती थी। अब वही उसके प्यार का एक मात्र अधिकारी और हृदय का सर्वस्व था।

एक दिन कमल ने पूछा—"इसमें ऐसा कौन सा गुण है जो तुम्हें इतना प्रिय है?"

सुलोचना ने गद्‌गद् स्वर में कहा—"दुर्लभ प्यार।"

"सचमुच।" कमल ने किंचित् मुसकरा कर कहा।

सुलोचना इस रहस्य को समझ न सकी—उफ! कितना ईर्षालु है पुरुष का हृदय! जिस पर वह प्यार करता है उस पर उसे दूसरे का अधिकार नहीं सुहाता।

❀ ❀ ❀ ❀

तपस्या के बाद सुख का जीवन था। मदमाती तरंगों में छवि का उन्माद भी था परन्तु यह जीवन उन्हें मंहगा पड़ा था इसी कारण वे उससे इतना मोह करते थे।

आकाश में सन्ध्या दो चार तारिकाओं को लिये चन्द्रदेव की खोज में भटक रही थी कि कमल ने फिर पहुँच कर पूछा—"बात क्या है बताओ ना।"

"बच्चे को ज्वर चढ़ रहा है।" सुलोचना ने काँपते हुए कहा।

"तो मैं क्या करूँ? ठीक हो जावेगा।"

"नहीं! स्वामिन् तनिक डाक्टर को बुला लाओ।"

इसकी इतनी ज़रूरत ही क्या है। बच्चे बीमार तो पड़ते ही हैं।"

"मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ।" सुलोचना ने सिसक कर कहा—"उसे बेहद कष्ट हो रहा है।

"बच्चे के कष्ट को माता सौ गुना बढ़ाकर देखती है। घबराने को कोई बात नहीं। कल सुबह डाक्टर को बुला लिया जायगा।"

न जाने क्या सोचकर सुलोचना चुप हो रही। उसने फिर एक शब्द भी न कहा।

प्रभात की पँखड़ियाँ खिल रही थीं। सुलोचना बच्चे को छाती से चिपकाये पड़ी थी। उसकी अधूरी शक्तियाँ ईश्वरीय देन की रक्षा करने में असमर्थ थी।

कमल ने उठ कर देखा—सुलोचना अभी तक अपने कमरे में ही है। वह धीरे-धीरे वहाँ गया। वह लौट आया परन्तु मन न माना धीरे से किवाड़ का पल्ला हटाकर देखा—सुलोचना बालक को छाती में छिपाये बैठी है।

ठिठक कर कमल आगे बढ़ा—पर हाय! बेहोश माँ की गोद में बालक की निर्जीव लाश को छोड़ कर और कुछ नहीं था।

---

१. हृदय को सीना—

आजकल के ज़माने में क्रियात्मक शल्यक्रिया (Oprative Surgery) में इतनी अधिक उन्नति हो चुकी है कि किसी भी प्रकार का ऑपरेशन आजकल असम्भव नहीं समझा जाता है। हृदय शरीर के अन्दर एक ऐसा अंग है जिसकी क्रिया १ मिनट के लिए भी बन्द नहीं होती है। और साधारण शब्दों में हृदय की गति के बन्द हो जाने को ही मृत्यु कहते हैं। यद्यपि इसके अपवाद स्वरूप भी कुछ उदाहरण पाये जाते हैं। इसीलिए हृदय में किसी भी प्रकार का ऑपरेशन करना अब तक असम्भव समझा जाता था, किन्तु हाल में ही इस विषय में एक अद्भुत सफल परीक्षण किया गया है।

मैक्सिको शहर में मरथैरिटा बस्तस नाम की एक गृहसेविका काम करते समय चाकू हाथ में लिए हुए दुमँजिली छत से गिर पड़ी। चाकू उसके हृदय में घुस गया और वह एक दम अचेत हो गई। शीघ्र ही वह रेडक्रॉस सोसाइटी के हस्पताल में अचेतनावस्था में पहुँचाई गई जहाँ कि उसे डाक्टरों की सर्व सम्मति से मृतक समझा गया। किन्तु अन्त में दो डाक्टरों ने सलाह करके उसके हृदय को बाहर निकाला और चाकू को बाहर निकाल कर हृदय को सीकर यथा स्थान लगा दिया गया।

सारे ऑपरेशन में सिर्फ़ ५ मिनट लगे और डाक्टरों ने बड़े आश्चर्य से देखा कि स्त्री अभी तक जीवित है। तीन दिन में उसकी अवस्था ठीक हो गई। इसके कुछ ही दिन बाद उसे तीव्र पार्श्व शूल (Acute pleuresy) का आक्रमण हुआ; किन्तु कुछ ही दिनों में वह अपनी पूर्वावस्था को आगई और फिर अपने काम पर नियुक्त हो गई।

२. मकान का चलना—

मैक्सिको में एक पाषाण निर्मित मकान ११७ फीट तक चलाया गया। मकान में उस समय ३७० आदमी थे और मकान का भार ६००० टन (१७७००० मन) था। मकान स्थित सब आदमी अपने २ कामों को यथापूर्व करते रहे और पानी तथा बिजली का सम्बन्ध भी उसी प्रकार क़ायम रहा।

३. दुनिया में सब से महँगा पानी; साईबेरिया में खोज—

यू० एस० आर० आर० एकेडेमी आफ के एक सदस्य मिस्टर आई० डी० मैनडेलीव को साइबेरिया की एक बैकल झील में भारी पानी

(Heavy water) की खोज के लिए नियुक्त किया गया। झील में से लगभग १२०० मीटर (४७२४४१.३९६ इञ्च) की गहराई से पानी लिया गया और उसकी परीक्षा की गई। परीक्षा करने पर उसकी आपेक्षिक गुरुता साधारण पानी की अपेक्षा ज़्यादा पाई गई। और यह आशा की जाती है कि झील के उत्तरीय भाग में जहाँ कि झील २ किलोमीटर से भी ज़्यादा गहरी है, पानी इससे भी अधिक पाया जायगा। मिस्टर मेनडेलीन ने एक नये प्रकार का एइरोमीटर (Aerometre) बनाया है जो कि साधारण यंत्र की अपेक्षा आपेक्षिक गुरुता को ज़्यादा ठीक माप सकता है। यदि मिस्टर मैनडेलीन का यह परीक्षण सफल हुआ तो इस झील से रूस को लाखों रुपयों की आमदनी होगी।

भारी पानी (heavier water) सब से प्रथम अमेरिका की एक प्रयोगशाला में तैयार किया गया था। किन्तु वह इतना अधिक मंहगा है कि उसकी एक बूँद के लिए ७०० रुपये से अधिक खर्च करना पड़ता है।

४. मस्तिष्क सिर में नहीं है—

इंग्लैण्ड के मशहूर कवि श्री बर्नार्डशॉ ने वैज्ञानिक लोगों के सामने "मस्तिष्क सिर में नहीं है किन्तु सारे शरीर में है" इस एक नई स्थापना को उपस्थित किया है। माल्वर्न के स्वास्थ्य स्कूल में भाषण देते हुए वे कहते हैं कि—

"बहुत दिनों के अनुभव से मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि 'दिमाग़ सिर में है, यह बात बिलकुल झूठ है। कई बार हम कई (Mechanics) को बहुत ही असाधारण चतुरता का काम करते हुए पाते हैं किन्तु उससे यदि इसका कारण पूछा जाय तो उसके पास इसके लिए कोई जवाब नहीं होता है। इसीलिए उनका कहना है कि मस्तिष्क वह चीज़ है जो कि सारे शरीर के अन्दर व्याप्त है। इसी प्रकार एक फुटबॉल के खिलाड़ी का मस्तिष्क उसकी शिन अस्थि या उसके अंगूठों में है, सिर में नहीं।

५. हवाई मोटर साइकिल—

अनेक परीक्षणों के बाद ऑटोजिरो को पक्षरहित बनाकर उसको एक हवाईमोटर साइकिल का रूप दिया गया है। इसमें पक्षों की जगह दो घूमनेवाले फलक लगाये गये हैं। इनको एक तरफ़ घुमाने से मैशीनरी को इतनी अच्छी तरह से काबू किया जा सकता है कि उसे ऊपर या नीचे कहीं भी ले जा सकते हैं। इसकी साधारण चाल ९५ मील प्रति घण्टा है। इसका आकार इतना छोटा है कि मोटरकार में इसको बड़ी आसानी से ले जाया जा सकता है और इसका कुल वज़न ६१० पौण्ड (७ मन १८ सेर) है। इसको अब बाज़ार में रखने की कोशिश भी की जा रही है। इसका मूल्य लगभग ३०० पौण्ड होगा। यह सिर्फ़ पैट्रोल से ही उड़ सकेगी और इसमें तेल १ पेंस प्रति मील से ज़्यादा खर्च नहीं होगा। इसको चलाना भी बहुत ही आसान है और आशा है कि संसार में यह बहुत शीघ्र ही प्रसिद्धि प्राप्त कर जायगी।

हरिदत्त आयुर्वेदालंकार

असली भारतवर्ष

सरकार और उसके आश्रम

[ले०—श्री जयदेवजी, गांधी-सेवाश्रम, हरद्वार]

अखिल भारतवर्षीय महासभा (All India Congress Committee) भारतवर्ष की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, बलशाली और सुसंगठित संस्था है। परन्तु यह सब होते हुए भी यह दावा करना कि कांग्रेस सारे हिन्दुस्तान की प्रतिनिधि सभा है, अत्यन्त कठिन है। कांग्रेस के विरोधियों की हमेशा यह कोशिश रही है कि वे कांग्रेस के उपर्युक्त दावे को मिथ्या सिद्ध करें। सच तो यह है कि जब तक कांग्रेस देश की संगठित शक्ति से भारतवर्ष के शासनसूत्र को अपने हाथ में लेने के योग्य नहीं होती तब तक उसका यह दावा करना सर्वथा व्यर्थ है। इसलिये, इस दावे को सिद्ध करने के लिये ही कांग्रेस ने अपने ४० साल के अनुभव से फ़ायदा उठा कर ग्राम-संगठन के रचनात्मक कार्य को अपने हाथ में लिया है। अब तक कांग्रेस कुछ हद तक शहरों की प्रतिनिधि तो रही है परन्तु सारे हिन्दुस्थान में फैले हुए ७ लाख ग्रामों के प्रतिनिधि होने का प्रयत्न करती हुई भी वह उनका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकी है। इसमें सन्देह नहीं कि कांग्रेस अपनी तरफ़ से कभी भी ऐसा काम नहीं करती जिससे देश के किसी भी फ़िरके के हित (interest) को नुक़सान पहुँचे और इस तरह वह हमेशा ईमानदारी से कुल हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व करती रही है।

दूसरी तरफ़ कांग्रेस हमेशा यह कहती रही है कि वर्तमान अंगरेज़ी शासन सारे हिन्दुस्तान का प्रतिनिधि न होकर उस पर अपने अत्याचार व लाठी के ज़ोर से राज्य कर रहा। परन्तु कांग्रेस की यह बात सच होते हुए भी हम देखते हैं कि उसकी यह बात व्यवहार में सच नहीं है जब तक अंगरेज़ी राज्य हिन्दुस्तान में क़ायम है वह हिन्दुस्तानियों की मरज़ी या राय से ही है। कोई भी राज्य वहां की रियाया की मरज़ी के ख़िलाफ़ नहीं टिक सकता। यह दूसरी बात है कि सरकार के पक्ष में प्रजा का होना, प्रजा में फैले हुए घोर अज्ञान व प्रजा के कुछ बड़े बड़े स्वार्थी अमीर उमराव के विषैले प्रचार के द्वारा हो।

संक्षेप में अगर हम कहें तो हिन्दुस्तान की प्रजा का एक बहुत बड़ा हिस्सा किसी-न-किसी कारण से सरकार के ही पक्ष में है।

सरकार के आश्रम

आज कांग्रेस अपनी सचाई को दूर से दूर ग्रामों में, वहां के हर एक निवासी तक पहुँचाने के लिये ग्रामीण आश्रमों के संगठन के कार्य को प्रभावशाली और व्यापक बनाने की चिन्ता कर रही है। अब तक महासभा को सफलता इसीलिये नहीं मिली है कि वह अपना सम्बन्ध असली भारतवर्ष अर्थात् ग्रामीण जनता से नहीं कर सकी है। अब

वह ५० साल के अनुभव से फ़ायदा उठा कर अपनी कमज़ोरी को दूर करने तथा ग्रामीण जनता से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अत्यन्त प्रयत्नशील है और ग्रामों की उन्नति के लिये जगह जगह आश्रम कायम करना चाहती है।

जहाँ कांग्रेस ने ठोकरें खाकर ५० साल के बाद ग्राम संगठन के कार्य को प्रारम्भ किया वहाँ सरकार ने अपनी बुनियाद को पक्का बनाने के लिये प्रारम्भ से ही ग्रामों में अपने सम्बन्ध को दृढ़ बना लिया था। जहाँ महासभा की नीति पर चलने वाले आश्रम हिन्दुस्तान में गिनती के ही हैं वहाँ दूसरी तरफ़ कोई ऐसा गांव नहीं जहाँ सरकार के आश्रम मौजूद न हों। यह सब इसी लिये स्पष्ट किया गया है जिससे महासभा व पूर्ण स्वराज्य की इच्छा करने वाले देशभक्त इस बात को अच्छी तरह समझ सकें कि उन्हें सरकार के ज़बर्दस्त संगठन के मुकाबले के लिये कितने महान् प्रयत्न की ज़रूरत है और उनकी कितनी बड़ी ज़िम्मेवारी है।

ऊपर वर्णन किया गया है कि हिन्दुस्थान का कोई भी ऐसा गाँव नहीं जहां सरकार का आश्रम न हो। गांवों के मुखिया इन सरकारी ग्रामीण आश्रमों के संचालक व प्रधान हैं जिन्हें यह ज़िम्मेवारी सरकार की तरफ़ से प्रदान की गई है। ग्रामों के नम्बरदार, पटवारी, चौकीदार और पैन्शनयाफ़्ता सरकारी नौकर या इसी प्रकार प्रत्यक्षरूप से सरकारी मदद पर आश्रय रखने वाले सब ग्रामीण लोग इन ग्रामीण आश्रमों के कार्यशील सदस्य (active members) हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि ७ लाख गांवों में फैले हुए सरकार के प्रभावशाली जीवित आश्रम हैं और प्रत्येक आश्रम में ७, ७ कार्यशील सदस्य हैं। इन कार्यशील सदस्यों पर आश्रित उनके परिवार के लोग इन सरकारी आश्रमों के साधारण सदस्य हैं। इसके अलावा ग्रामों में रहनेवाले जितने ज़मींदार व सूदखोर बनिए हैं, वे सब भी इन सरकारी आश्रमों की कार्रवाई को चलाने में बड़े भारी मददगार हैं।

इस सम्बन्ध में यह जान लेना ज़रूरी है कि इन ग्रामीण आश्रमों के संचालक व कर्मशील सदस्य भारतीय प्रजा का एक बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली अंग हैं जिनका प्रभाव शेष सारी प्रजा पर सहज ही पड़ता रहता है। ये संचालक व कार्यशील सदस्य हिन्दुस्तान के दूसरे लोगों से ज़्यादा जायदाद और पैसे वाले हैं और इसलिये अधिक शक्तिशाली हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मौजूदा सरकार भारतीय प्रजा के उस बहुत बड़े हिस्से का व्यावहारिक रूप से प्रतिनिधित्व करती है जिसका असर शेष सारी प्रजा पर सहज ही पड़ता रहता है। उपर्युक्त कथन को हम निम्न लिखित तालिका से अधिक स्पष्ट कर सकते हैं—

सं०	सरकारी आश्रमों के सदस्य	आनुमानिक सदस्यों की संख्या
१.	भारतीय फ़ौज (यूरोपियन और हिन्दोस्तानी)	२ लाख
२.	भारतीय पोलीस	डेढ लाख
३.	अन्य सरकारी नौकर	१५००००
४.	भारतीय ग्रामीण मुखिया	७ लाख
५.	,, चौकीदार	७ लाख
६.	,, नम्बरदार	१४ लाख
७.	,, पटवारी	५ लाख
८.	क. मिल मालिक ख. विदेशी चीजों का व्यापार करने वाले ग. बड़े बड़े ज़मींदार घ. बड़ी बड़ी जायदाद वाले महन्त आदि	२ लाख
९.	सरकारी स्कूलों के मास्टर	१ लाख

विशेष सूचना

इस प्रकार सरकारी आश्रमों के ४० लाख वैतनिक सदस्य हैं जिनका सरकार से गहरा स्वार्थ सम्बन्ध स्थापित है।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि ४० लाख व्यक्तियों का तो सरकार से बहुत गहरा स्वार्थ सम्बन्ध स्थापित है। ये लोग कभी भी साधारण अवस्था में अपनी इच्छा से सरकार के खिलाफ़ कोई भी ऐसा काम नहीं कर सकते हैं जिससे उसे कुछ भी नुक़सान हो। यदि १ परिवार के व्यक्तियों की औसत संख्या ५ मान ली जाय तो उपर्युक्त ४० लाख व्यक्तियों के परिवार में कुल दो करोड़ आदमी होते हैं जो इन ४० लाख व्यक्तियों पर आश्रित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दोस्तान की ३५ करोड़ जनसंख्या में प्रति १७ आदमी पीछे १ व्यक्ति सरकार का ज़बर्दस्त तरफ़दार है और इस व्यक्ति का शेष १७ आदमियों पर पहले से ही (परम्परा से प्राप्त) बहुत अधिक प्रभाव है और सरकार की दृढ़ सुसंगठित शक्ति इन दो करोड़ व्यक्तियों की पूर्णतया सहायक है।

मौजूदा सरकार के इतने ज़बर्दस्त संगठित ७ लाख आश्रम (ग्रामीण आश्रम) तथा उन आश्रमों के २ करोड़ सहायक सदस्यों के होते हुए कौन ऐसी संस्था है जो सरकार का मुक़ाबला कर सके और स्वयं भारतीय जनता के प्रतिनिधि होने का दावा कर सके। यही कारण है कि महासभा को हिन्दोस्तान की कोई संस्था व स्वयं सरकार भी हिन्दोस्तानियों की प्रतिनिधि मानने को तैयार नहीं।

सरकार अपनी इस शक्ति को खूब पहचानती है और उसे पूर्ण विश्वास है कि देश उसी के साथ है, कांग्रेस के साथ नहीं। इसके अतिरिक्त सरकार ने हमारे पुराने संगठन (ग्रामीण परम्परागत पञ्चायतें) का समूल नाश कर अपने ग्रामीण-आश्रमों को मज़बूत करने के लिये मुखिया के प्रधानत्व में सरकारी पञ्चायतों के निर्माण करने का एक नया क़दम उठाया है और इस तरह सब ग्रामीणों को एक ज़बर्दस्त शिकञ्जे में कस कर उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता को छीन लेने का पूर्ण निश्चय कर लिया है। यह सरकार की चतुरता से भरी एक गहरी चाल है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये सरकार ने परीक्षणार्थ अनेक ग्रामों में सरकारी पञ्चायतें क़ायम भी कर दी हैं इस तरह हम देखते हैं कि जिस ग्रामीण-संगठन की उपयोगिता को कांग्रेस ने आज ५० साल के बाद अनुभव किया है, सरकार उसे अपनी जड़ जमाने के लिये पहिले से ही पूरा कर चुकी है।

उपर्युक्त विवरण को पढ़ने से पाठक के हृदय में एक यह प्रश्न उठता है, "तो क्या सरकार के के इतने ज़बर्दस्त, ग्राम ग्राम में फैले हुए संगठन तथा बहुसंख्यक जनता की इतनी व्यापक सहानुभूति के होते हुए कांग्रेस का निकट भविष्य में स्वराज्य-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना केवल स्वप्न ही है?"

यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्रायः हर एक देश-सेवक के मन में चिन्ता पैदा करता है। इस प्रश्न का उत्तर हम इस लेख में न देकर "कांग्रेस और उसके आश्रम" शीर्षक से एक दूसरे लेख में देने का प्रयत्न करेंगे।

हमारे राष्ट्रीय शिक्षणालय

राष्ट्रसेवकों का राजनैतिक शिक्षण

[ले०—प्रोफ़ेसर कृष्णचन्द्र, चेयरमैन वृन्दावन म्युनिसिपैलिटी]

ग्राम ही हमारी शक्ति के असली स्रोत हैं, यह बात पिछले सत्याग्रह-आन्दोलनों से अच्छी प्रकार लोगों को ज्ञात हो गई है। सन् १९३० ई० के आन्दोलन से पूर्व ग्रामों में कांग्रेस की पहुँच कुछ बहुत अधिक नहीं थी। सन् १९२१ ई० का आन्दोलन सर्वथा शहरों ही के आश्रय पर हुआ था और इसी लिये वह बहुत दिनों नहीं चल सका।

सन् १९३० ई० के आन्दोलन का श्रीगणेश १२ मार्च को किये गये महात्मा गांधी के ऐतिहासिक डांडी मार्च से हुआ था। महात्मा गांधी के डांडी मार्च ने ग्रामों की सोई हुई शक्ति को जगा कर राष्ट्र-उत्थान के मार्ग में लगाया था। डांडी-मार्च का अनुसरण करते हुए भारतवर्ष के प्रायः सब ही ज़िलों में प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं ने जत्थों के रूप में पैदल ग्रामों का भ्रमण किया। इतने ही थोड़े काल के प्रचार से भारत में ग्रामों की शक्ति सन् १९३० ई० में जग उठी थी। इसका कारण यह था कि पिछले दस वर्षों में सन् २१ से ३० तक हमने खद्दर द्वारा गांवों का स्पर्श किया था। इसलिये सन् १९३० ई० के लम्बे व सर्वथा सफल आन्दोलन में भारतवर्ष के ग्रामों ने इतने स्वयंसेवक तथा कार्यकर्त्ता दिये कि आन्दोलन के ग्यारह-बारह महीनों में बराबर जेल-यात्रियों का तांता सम्पूर्ण भारतवर्ष में बँधता चला गया।

सन् १९३०-३१ तथा सन् १९३२-३३ के आन्दोलनों से जो अनेकानेक ग्रामीण कार्यकर्त्ता मैदान में आये, उन्हीं के द्वारा कांग्रेस की पहुँच ग्रामों में हो पाई। सन् १९३० ई० से पहिले ग्रामीण लोग कांग्रेस के नाम को भी अच्छी तरह नहीं जानते थे, उसका समझना तो बहुत दूर की बात थी। हाँ, महात्मा गांधी के नाम को गाँव के लोग खूब जानते थे और उनके प्रति ग्रामों में अथाह-भक्ति थी। महात्मा गांधी का उच्च आध्यात्मिक-जीवन, उनका पवित्र आचरण तथा उनकी दरिद्र-नारायण के रूप में लँगोटी-युक्त आकृति प्रायः इस अन-समझ-भक्ति की जड़ में थे।

उपर्युक्त प्रगाढ़ भक्ति के कारण ही हिन्दुस्तान के किसानों के संतप्त हृदयों में एक प्रकार की भोली और अनसमझ आशा बँध चली है कि महात्मा गांधी ही उनको उनके महान् वर्त्तमान संकट से बचा सकेंगे। सन् १९३०-३२ के आन्दोलनों में कांग्रेस की पहुँच गांवों में हो पाई और तब से उसी प्रकार की एक आशा ग्रामीणों के हृदयों में कांग्रेस के प्रति भी उमड़ आई है।

ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं को जो कुछ थोड़ी बहुत व्यवहारिक तथा राजनैतिक शिक्षा इस वक्त है, उसका श्रेय बहुत कुछ पिछले आन्दोलनों के जेल-जीवन पर है। जेलों के अन्दर हज़ारों-लाखों

ग्रामीणों का जो शहरों के पढ़े-लिखे लोगों के साथ रहन-सहन हुआ, उससे उनका व्यवहारिक ज्ञान बहुत कुछ विकसित हुआ। कम से कम वह अपने महत्व को अनुभव करने लगे और उनमें स्वाभिमान के भाव जागृत हो गये।

गाँवों में अब भी कांग्रेस की पहुँच इन हज़ारों ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं के ही द्वारा है। यद्यपि इन लोगों में स्वाभिमान के भाव आ गये हैं, परन्तु इन को राजनैतिक ज्ञान अभी बिलकुल नहीं है।

गाँवों के लोग यह भी नहीं समझते कि स्वराज्य का स्वरूप क्या होगा। सुराज्य और स्वराज्य के भेद का उनको ज़रा भी पता नहीं है। १०–१२ वर्ष से कौंसिलों और ऐसेम्बली के लिये चुनाव हो रहा है और हज़ारों गाँव के किसान अपनी वोट किसी न किसी व्यक्ति के लिये दे रहे हैं, परन्तु वास्तव में उनको अभी तनिक भी इस बात का ज्ञान नहीं कि वोट क्या है और उसका क्या महत्व है? स्वराज्य और वोट के अधिकार मे क्या कोई सम्बन्ध है? इस को तो हमारे किसान अभी तनिक भी नहीं समझते।

गाँव के लोगों की क्या कहें, अभी तो शहर के रहनेवाले अँगरेज़ी पढ़े-लिखों को कोई राजनैतिक ज्ञान नहीं है। कितने बी. ए., एम. ए. और हमारे धुरन्धर वकील बैरिस्टरों में ऐसे हैं कि जो सरकारी बजट को पढ़ते और समझते हों तथा अर्वाचीन आर्थिक व राजनैतिक समस्याओं का जिनको ज्ञान हो। बी. ए., एम. ए. पास में शायद १० फ़ीसदी ऐसे कठिनता से मिलेंगे कि जिनको ओटावा पैक्ट, रिज़र्व बैंक बिल तथा मोदीलीज़ समझौते आदि बातों का ज्ञान हो। बहुत से अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे तो ऐसे हैं कि जो यह भी नहीं जानते कि स्टेट कौंसिल क्या है और ऐसेम्बली क्या है? म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में अनेकों मेम्बर हो जाते हैं और वर्षों मेम्बरी का काम करते हैं, परन्तु उनको कुछ पता नहीं रहता कि वहाँ क्या होता है और उनके क्या अधिकार हैं? अनेकों वकील म्युनिसिपल मेम्बर ऐसे मिलेंगे कि जिनको म्युनिसिपल कानून का कोई परिचय नहीं। सारांश यह है कि हमारे अच्छे पढ़े लिखों को अभी कोई राजनैतिक ज्ञान नहीं।

भारत की आधुनिक समस्या मूल में आर्थिक है। यदि हमारा आर्थिक ह्रास न होता तो राजनैतिक उद्धार कुछ कठिन नहीं था। फिर हमारी आर्थिक समस्यायें सीधीसादी नहीं हैं। वह बड़ी जटिल और चक्करदार हैं और हमारे आधुनिक शासकों ने उनको और भी जटिल बना रखा है।

हमारे धन का शोषण, हमारी दस्तकारी और व्यापार का ह्रास तथा हमारी खेती की अवनति जिन तरीकों से हुई है वह कभी सीधेसादे नहीं रहे। हमारे धन के शोषण के मार्ग तो सदा ऐसे चक्करदार और जटिल रहे हैं कि हमारे भोले-भाले किसान तो क्या हमारे पढ़े-लिखे भी उनको अच्छी प्रकार समझ नहीं सके।

हमारे आर्थिक शोषण में राजनैतिक चक्करदार जंत्र मन्त्रों का प्रयोग होने से समस्या और भी टेढ़ी होती रही है। यदि सीधे-सीधे मार्गों से हमारे धन का शोषण होता तो बहुत जल्दी हमारे किसान समझ जाते और उसे रोकने की वह प्रबल चेष्टा करते। किसी कमज़ोर से कमज़ोर व्यक्ति से यदि हम कोई चीज़ छीनने लगें तो वह उसे रोकने की प्रबल चेष्टा करता है।

आज भी जो शासन-विधान का ढाँचा हमारे लिये ज्वाइन्ट पार्लियामेन्टरी कमेटी ने बनाया है कितने भारतीय ऐसे हैं जो यह समझ हैं कि उसका

हमारी आर्थिक समस्याओं पर कैसा व कितना प्रभाव पड़ेगा।

हम यह नहीं समझते कि राजनैतिक शास्त्र आजकल आर्थिक समस्याओं की पूर्ति का साधन हो रहा है। आर्थिक समस्याओं और राजनैतिक गोरखधन्धों में आजकल बहुत भारी सम्बन्ध है। राजनैतिक गोरखधन्धे में जो आर्थिक समस्याओं फँसा दी गई हैं इससे राजनैतिक ज्ञान का और भी भारी महत्व हो गया है।

अब भी हम नहीं समझ पाते कि ऐसम्बली द्वारा किये गये राजनैतिक निश्चयों का कितना गहरा सम्बन्ध हमारी आर्थिक स्थिति, हमारे व्यापार, हमारी दस्तकारी तथा हमारे देश की बेकारी की समस्या से रहता है। एक छोटा-सा दीखने वाला राजनैतिक निश्चय इतना गम्भीर हो सकता है कि उससे हमारे देश की बेकारी बेहद बढ़ जाये।

हम देख रहे हैं कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट अपनी राजनैतिक युक्तियों से किस प्रकार वहाँ की बेकारी और वहाँ की मन्दी को दूर कर रहे हैं। कितने हमारे यहाँ ऐसे हैं कि जिनको इन बातों का पता है। अनेकों तो पढ़े लिखे ऐसे हैं कि जो दैनिक समाचार पत्रों में इन बातों को देखते हैं, परन्तु बिना पढ़े और बिना समझे ही उनको छोड़ देते हैं।

आर्थिक समस्याओं का राजनीति से इतना सीधा सम्बन्ध होने के कारण यह आवश्यक है कि हम अपने ग्रामीण भाइयों तक राजनैतिक ज्ञान को पहुँचावें। ऐसा न होने से गाँव के लोग कभी अच्छी तरह न हमारे आन्दोलन को समझ पावेंगे और न पूरे तौर से उनका सहयोग ही हम को मिलेगा। यह भी कारण है कि १९३३ ई० के आन्दोलन में हम को गाँवों का उतना भारी सहारा न मिल सका जितने को कि हम आशा रखते थे। फिर यदि स्वराज्य भी मिल गया और गाँव के लोगों ने वोट का महत्व हृदयंगम न किया तो उस स्वराज्य से भी कुछ लाभ न होगा और सम्भव है कि हमारी दशा और भी अधिक ख़राब हो जावे।

ग्रामीणों तक राजनैतिक ज्ञान तब तक पहुँचना असम्भव है जब तक कि हमारे ग्रामीण कार्य्यकर्त्ता, जो उन तक पहुँचने के हमारे द्वार हैं, राजनैतिक शिक्षा न प्राप्त करें। आज कल अपनी नासमझी के कारण हमारे ग्रामीण कार्य्यकर्त्ता अपने भाषणों में जो वह कभी कभी गाँवों में देते हैं, कैसी ऊट-पटाँग बातें कह जाते हैं, यह हम सब वह लोग जानते हैं कि जिनको वर्त्तमान ग्रामों के कार्य्य से कुछ सम्बन्ध है। हमारे भोलेभाले ग्रामीण भाई इन्हीं ऊटपटाँग बातों को सच मान कर उनको हृदयंगम कर लेते हैं। यह एक और भारी ख़राबी हो रही है। अभी तक तो गाँव में राजनैतिक अज्ञान ही है परन्तु यदि ऊटपटाँग बातों से कु-ज्ञान ही हो गया तो समस्या और भी जटिल हो जावेगी। इसलिये हमारे लिये यह आवश्यक है कि हमारे ग्रामीण कार्य्यकर्त्ता राजनैतिक शिक्षा प्राप्त करें और अपने भाषणों में सही बात नाप तौल कर कहना सीखें।

यह हम नहीं मानते कि जब तक प्रारम्भिक शिक्षा सर्वत्र नहीं फैल जावेगी तब तक राजनैतिक प्रारम्भिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। आवश्यकता इस बात की है कि राजनैतिक शिक्षा पर हिन्दी में उपयुक्त पुस्तकें ऐसी सरल भाषा में हों कि जिन्हें गाँव के थोड़े पढ़े-लिखे कार्य्यकर्त्ता समझ सकें। पुस्तकों का अभाव हमारे राजनैतिक अज्ञान के लिये बहुत हद तक ज़िम्मेवार है।

इँग्लैंड आदि देशों में वहाँ के विधान तथा

म्युनिसिपैलिटी आदि के सम्बन्ध में इतनी अधिक पुस्तकें सरल भाषाओं में रहती हैं कि लोग सहज में उन बातों को समझ लेते हैं। हमारे संयुक्त प्रान्त में म्युनिसिपलिटी के सम्बन्ध में कोई एक भी सुलभ पुस्तक अँगरेज़ी अथवा हिन्दी में नहीं है। कोई म्युनिसिपल ऐक्ट की शुष्क धाराओं से सिर-पची करने के अतिरिक्त और उसके पास कोई साधन नहीं है। सब ही क्षेत्रों में, पुस्तकों का हमारे यहाँ अभाव है। राष्ट्रीय शिक्षणालयों तथा राष्ट्रीय शिक्षा-प्रेमियों को यह त्रुटि दूर करनी चाहिए।

भारतवर्ष जो पहिले सारे संसार में अपनी दस्तकारी अपने विस्तृत वाणिज्य तथा अपनी अतुल सम्पत्ति एवं उच्च सभ्यता के कारण केवल ३००-४०० वर्ष पहिले शिरोमणि था, उसका इतना भीषण ह्रास किस प्रकार हुआ? इस को बताने वाली एक भी पुस्तक* हिन्दी-भाषा में नहीं है। अँगरेज़ी में भी कोई एक पुस्तक आपको इस विषय पर नहीं मिलेगी। हाँ, बहुत-सी पुस्तकें पढ़ कर और उनसे सरपच्ची करके आप इस विषय का ज्ञान कर सकेंगे।

* ऐसी एक विस्तृत पुस्तक (लगभग १२०० पृष्ठ की) पुस्तक श्री प्रोफेसर कृष्णचन्द्रजी ने लिखी है जो कि शीघ्र ही प्रकाशित होगी।—सम्पादक

मोहन-महिमा

[रचयिता—कविवर पं० विष्णुराम सनावधा "सुमनाकर" आशु-कवि]

[१]

मोहन तेरी मोहन-मूरत;
मन-मोहक बन जाती है।
मन्द-मन्द-मुसकान-मनोहर;
मन में मोह जगाती है॥

[२]

हे अर्वाचिन् के ऋषि दधीचि!
आशा तेरी न्यारी है॥
अटल अहिंसा व्रत की तेरी;
बनी रहे फुलवारी है॥

[३]

चक्र-सुदर्शन तेरा चरखा;
चला करे सच्चा दिन रात।
दीन-हीन इन भारतियों का;
जिससे ढँका रहे सब गात॥

[४]

शान्ति के ही सच्चे सेवक ने;
सच ही पाठ पढ़ाया है।
स्वदेश हित मरना श्रेयस्कर;
बार बार समझाया है॥

[५]

अन्त्यज को भी गले लगाकर;
सेवा-भाव बताया है।
"सुमनाकर" भारत को मोहन;
सोती नींद जगाया है॥

आध्यात्मिक सुभाषित

[संग्रहकर्ता—गणेशदत्त आर्य-सेवक]

१—भगवान् की पूजा के लिये इन सात फूलों की आवश्यकता है—अहिंसा, इन्द्रिय दमन, दया, क्षमा, मनोनिग्रह, ध्यान और सत्य। भगवान् इन ही फूलों से प्रसन्न होते हैं।

२—एक डुबकी में यदि रत्न न मिला तो यह निश्चय कर लेना कि सागर में कुछ है ही नहीं, भारी भूल है।

३—सम्पत्ति में सब मित्र हैं। आपत्ति में आनकार मित्र कठिनता से मिलते हैं। मित्र वही है जो दुःख की अवस्थामें साथ दे और उचित सहायता करे, न कि व्यतीत हुई बातों के लिये झिड़की और घुड़की दिखलाने में पण्डिताई जताए।

४—नीति के जानने वाले—भाग्य के समझने वाले और वेद शास्त्र के ज्ञाता बहुत हैं और धारावाही भाषण करने वाले भी पर्याप्त मिल जायेंगे मगर अपने अज्ञान को जानने वाले तो विरले ही होते हैं।

५—मनुष्य जब किसी ऊँचे कार्य में लग जाता है तब उसके छोटे छोटे कार्य दूसरे लोग स्वयं ही संभाल लेते हैं। इसी तरह मनुष्य ज्यों ज्यों अपने लक्ष की ओर आगे बढ़ता है वैसे वैसे उसके सांसारिक और शारीरिक काम न्याय नियम से अत्यन्त उत्तम रीति से सिद्ध होते हैं।

६—जिस विद्या से लोग, जीवन-संग्राम मे शक्तिशाली नही होते, जिस विद्या से मनुष्य के सदाचार में उन्नति नहीं होती और जिस विद्या से मनुष्य परोपकार प्रेमी और पुरुषार्थी नहीं बनता उसका नाम विद्या ही कैसे है।

७—अन्तर विकार दूर करने की पांच औषधियां हैं—सत्संग, स्वाध्याय, एकाग्रता, प्रातः सांझ को प्रार्थना और संयम।

८—जो आदमी दूसरों की आजीविका छीनते हैं, दूसरों के घर उजाड़ते हैं पत्नी का अपने पतिदेव से वियोग कराते हैं मित्रों में मन मुटाव उत्पन्न करते हैं वह निःसंदेह नरक में जाते हैं।

९—वह सत्य के पुजारी महात्मा मुनि धन्य हैं, जिन्हें न किसी से राग है और न किसी से द्वेष। जो सभी प्राणियों में एक समान प्रम की दृष्टि रखते हैं।

१०—जिस भक्त में ईश्वर को स्मरण करने की शक्ति हो उसको दीन या कंगाल न समझकर महा शक्तिशाली जानना चाहिए और जिसके पास यह

ऊँची से ऊँची और बड़ी से बड़ी सम्पत्ति नहीं है वह चाहे बड़ा भारी राजा हो परन्तु वास्तव में निर्धन और अनाथ है।

११—पापों के सरदार राग द्वेष हैं और उन का राजा है अहंकार। इसे तख़्त से नीचे उतार कर प्रभु का दास बना देने में ही भला है, तो फिर दासों के दास राग-द्वेष दोनों सीधे हो जायेंगे।

१२—अहंकार का दूसरा साथी है ममता, इसे भगवान के चरणों में बाँध देने का प्रयत्न करना ही आत्म-सुधार करना है।

१३—दीन-हीन, सरल, अनाथ, बच्चे माता को अधिक प्यारे होते हैं। भगवान रूपी जगत्-जननी माता को भी उसके ग़रीब बच्चे अत्यन्त प्रिय होंगे। ईश्वरीय प्रेम प्राप्त करने का सरल मार्ग ग़रीबों की सेवा है।

१४—केवल सोना चाँदी ही धन नहीं है, प्रत्युत सच्चा धन तो हृदय में रहता है। उत्तम विचार और पवित्र जीवन ही वास्तविक धन है, इस धन का कोष तो टूटी झोंपड़ी में रहने वाले निर्धन और हड्डियों के ढांचे में भी रह सकता है।

१५—जिसके पास पैसे नहीं हैं, परन्तु बुद्धि, विवेक, सत्ता, श्रद्धा, सदाचार और प्रभु भक्ति है, वह परम धनी है और जो रात दिन केवल पैसा बटोरने के कार्य में ग्रस्त है, वह सदैव ही निर्धन है।

१६—दुःखियों में, अनाथों में, भूखों में, रोगी में, अपाहज में और वाणी रहित पक्षियों में प्रभु को देखना ही, असली देखना है।

१७—जो दूसरों को बदनाम करने में नाम कमाना चाहते हैं, उनके मुख पर ऐसी कालख़ लगेगी जो मरने पर भी नहीं उतरेगी।

१८—जिस घर में नेक आदमी की निन्दा होती है, वह बरबाद हो जाता है, उसके नाम और चिह्न तक का पता नहीं मिलता।

१९—मनुष्य वह काम तो नहीं करता जो उसके अपने अधिकार में है, मगर वह काम करना चाहता है जो दूसरों के वश में है। सार यह है कि अपने दोषों को नहीं देखता, परन्तु दूसरों के दोषों की मन में अत्यन्त चिन्ता है, आश्चर्य।

२०—नम्रता का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता, कपास तो तलवार से भी नहीं कटती।

२१—सज्जन और दुर्जन हंस और जोंक के समान हैं, हंस दूध पीता है और पानी छोड़ देता है। मगर जोंक स्तनों पर लगी भी दूध जैसी अमृत वस्तु छोड़ कर रुधिर ही पीती है, अर्थात् सज्जन गुण ग्रहण करने वाला और दुर्जन दोष निकालने वाला होता है।

श्रीयुत बुद्धिवादीजी क्या कहते हैं ?

(ले०—अभय)

स्वाभाविक मतभेद

आर्य मित्र में 'मीठी मार' शीर्षक से कुछ लिख कर मेरे मित्र 'बुद्धिवादी' जी ने अलङ्कार पर न जाने क्यों कृपा की है। ये 'बुद्धिवादी' जी मेरे बहुत निकट परिचित हैं, इसी लिये उन्होंने मेरे साथ इतनी "खुल्ल" बरती है। ये लेख उनके एक दिन खाली बैठे का काम है। अतः वे अपना यह लेख 'बुद्धिवादी' के स्थान पर 'निठल्ले भाई' नाम से लिखते तो अच्छा था; क्योंकि बुद्धिवाद का तो इस लेख में कोई परिचय नहीं दिया गया है। हां, यदि बुद्धि का अर्थ चतुराई है, अर्थ का अनर्थ करना है, वाक्छल करना है तो बेशक इस में बुद्धि बरती गई है। पर ऐसी बुद्धि से मैं बाज़ आया। इसी बुद्धि से दूर रहने की इच्छा से मैं अपने को 'पागल' कहना पसन्द करता हूं। "परले सिरे का पागल" अभी तक मैं हुआ तो नहीं, पर होना अवश्य चाहता हूं।

यदि इस लेख में केवल विनोद होता तो मुझे इस पर कुछ नहीं लिखना था। पर विनोद के चोले में इसमें जो 'तीखी मार' की गई है, मतभेद को चुभती हुई भाषा द्वारा प्रकट किया गया है और पाठकों को उभारा गया है उसके कारण इस पर कुछ भी न लिखना भ्रम फैलने देना होगा।

हमारा मतभेद स्वाभाविक है। चूंकि बुद्धिवादी जी सरकार के एक बड़े नौकर हैं, सरकार का नमक खाते हैं, और कभी मौज आती है तो अपना खाली समय इस लेख लिखने जैसी 'आर्य समाज की सेवा में' लगा देते हैं; और दूसरी तरफ़ मैं गुरुकुल कांगड़ी में पला हूं और उस ज़माने में पला और पढ़ा हूं जब कि महात्मा मुंशीराम (महात्मा गांधी नहीं) के पक्के पागलपन के कारण गुरुकुल कांगड़ी में अन्तरंग सभा का कोई वास्तविक दखल न था और गुरुकुल से स्नातक हो जाने पर अपना सम्पूर्ण समय वैदिक धर्म (की सेवा) में ही बिता रहा हूं, वैदिक धर्म को यथाशक्ति अपने जीवन द्वारा फैलाने के सिवाय और कुछ अपना काम नहीं रखता हूं। इस लिये हमारा परस्पर मतभेद स्वाभाविक है। इस लिये बुद्धिवादी जी को राष्ट्रीय झण्डा, राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस), गांधी और गांधी की सब बातें बुरी लगें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? और इन बातों का विरोध करने के लिये और हंसी उड़ाने के लिये उन्हें उनकी 'बुद्धि' के प्रसाद से अनुकूल तर्कनायें भी मिल जायें तो इसमें भी क्या आश्चर्य है ? ऐसे आर्यसमाज के सेवकों को राष्ट्रीय झण्डा, राष्ट्रीय महासभा, गांधी, साबरमती का विरोध करने में ही अपने आर्यसमाज की सेवा लगती है। और फिर इस लेख में तो यह विरोध ठेठ उस ढंग से किया गया है जिसे गैर-आर्यसमाजी लोग 'आर्यसमाजीपन' नाम से कहने लगे हैं अर्थात् अर्थ का अनर्थ करने द्वारा। देखिये—

अर्थ का अनर्थ करना

(१) 'जब मन में उमंग हो, कुछ नयी लाभदायक बात जनता को सुनाने की प्रेरणा हो तभी लिखिये' हमारे इस निवेदन की हंसी यह कह कर उड़ाई ग[ई] है कि हमें तो टटोलने से भी अलङ्कार में एक नय[ी] बात नहीं मिली। मुझे तो बीसियों, सचमुच बीसियों प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने कहा और लिखा है कि अलङ्कार शुरु से अन्त तक नयी सामग्री जुटाने में सफल हुआ है। अभी प्रसिद्ध पत्रिका 'विशाल-

भारत' ने लिखा है "सच पूछिये तो ऐसे पत्र भी बहुत थोड़े हैं जिन्हें शुरु से आखिर तक पढ़ा जाये। आचार्य देवशर्मा अभय द्वारा सम्पादित अलङ्कार की गणना उन्हीं अल्पसंख्यक पत्रों में की जा सकती है।" परन्तु यदि 'बुद्धिवादी' जी जैसे विनोदी, सदा अगम्भीर आदमी को अलङ्कार में सब पुरानी-पुरानी बातें लगें तो इसमें हमारा क्या कसूर है ?

(२) इसी तरह दूसरा उपदेशामृत देते हुए बुद्धिवादी जी ने, हमारे निठुले भाई ने, पं० इन्द्रजी के सरस्वती पत्रिका में लिखे लेख के एक पैरे पर (जिसे अलङ्कार में सुमन-संचय में उद्धृत किया गया था) कुछ लम्बा चौड़ा लिख मारा है। उस का सारांश यह है कि हम (पं० इन्द्रजी या अलंकार वाले) राजनैतिक नेताओं (गांधी जी) की बातों को निर्भ्रान्त वाक्य मानते हैं। पर न तो मान्य पं० इन्द्र जी और न हम अलङ्कार वाले गांधी जी के किसी (हिन्दी या अंगरेज़ी में लिखे) वाक्य को निर्भ्रान्त मानते हैं। उधर गांधी जी ही अपने जीते जी किसी को अपना कथन निर्भ्रान्त नहीं मानने देते। फिर न जाने क्यों इतने परिश्रम से हमारे भाई ने आर्य-मित्र के पाठकों के दिलों पर यह असर डालने का यत्न किया है कि मानो 'अलङ्कार' कोई आर्यसमाज-विरोधिनी पत्रिका है।

(३) हमने अलङ्कार में हैदराबाद में सत्याग्रह किये जाने की बात लिखी थी तो हमारे मित्र ने सत्याग्रह की हंसी उड़ाने का यत्न किया है। पर अब सत्याग्रह हंसी उड़ाने की चीज़ नहीं रही है। सार्वदेशिक सभा जो कुछ हैदराबाद में कर रही है, वह अपनी शक्ति अनुसार सत्याग्रह कर रही है। खैर ये तीनों बातें तो बहुत कुछ विनोद मिश्रित हैं।

मेरा मन गुरुकुल कांगड़ी में था

(४) परन्तु चौथी और पांचवीं बात मेरे लिये गम्भीर हैं। मैं जानता हूँ कि बुद्धिवादी जी को आर्य समाज व गुरुकुल से बहुत प्रेम है। उनके हृदयतल में इनके लिये एक अन्तर्वेदना छिपी हुई है। यह और बात है कि उनमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे अन्य सब कुछ छोड़-छाड़कर आर्यसमाज (या गुरुकुल) की सेवा करने में लग जायें। पर मुझे इसमें शक नहीं है कि बुद्धिवादी भाई की ये बातें (चाहे वे मज़ाक की भाषा में लिखी गई हैं) उनके अन्दरी दिल की बातें हैं। अतः मुझे उनको गम्भीरता पूर्वक लेना चाहिये।

यह भ्रम बहुत जगह फैला हुआ है और जान में या अनजान में फैलाया गया है कि मेरा मन गुरुकुल के आचार्यत्व काल में गुरुकुल में नहीं रहा है। मेरा मन तो दिनों दिन गुरुकुल में ग्रस्त होता गया था और दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में मैं अपने जीवन का उद्देश्य गुरुकुल ही बना चुका था। पहले वर्ष तो मैं एक साल के लिये परीक्षणार्थ ही आचार्य बना था। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ में मेरा अपने देश सेवा में लगे भाइयों से कुछ देर तक सम्बन्ध बना रहना स्वाभाविक था। पर यद्यपि मेरा गांधी सेवाश्रम गुरुकुल के बिलकुल पास था तो भी मैं उन दो वर्षों में कभी उस आश्रम को देखने तक नहीं गया। मेरा मन तो गुरुकुल में था। अखबार भी मैं बहुत कम पढ़ता था। पर देश की स्थिति का आचार्य को पता रखना भी गुरुकुल कार्य के लिये ही आवश्यक था। गुरुकुल का आचार्य राष्ट्रीय संग्राम से सच्ची सहानुभूति न रखने वाला हो, महात्मा गांधी जैसे कभी कभी जन्मने वाले महान् धार्मिक पुरुष के आन्दोलन को न समझने वाला हो यह मैं कल्पना नहीं कर सकता। यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द जी "सत्यार्थप्रकाश पर दिखावा" तो नहीं कहे जायेंगे जब कि बुद्धिवादी जी को पता लगेगा कि उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध को निकाल देने का प्रस्ताव किया था, तो भी बुद्धिवादी जी उन्हें सच्चा पागल

तो मानते ही हैं ! उन श्रद्धानन्द जी ने तो सन् २१ में चाहा था कि गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारी राष्ट्रीय स्वयंसेवक होकर जेल में जावें। ऐसे लेख भी लिखे थे। वे भी क्या मेरी तरह गुरुकुल चलाने के नालायक थे ? मुझे तो साफ़ दीखता है कि जो वस्तु जिसकी वास्तव में अपनी होती है वही उसे बलिदान भी कर सकता है। गुरुकुल स्वामी श्रद्धानन्द का था, उनका पुत्र था। वह राष्ट्र के लिये इसे बलि चढ़ा सकते थे। इससे गुरुकुल नष्ट न हो जाता, परन्तु इसकी जड़ें पाताल मे पहुँच जातीं। गुरुकुल जिस चीज़ का नाम है वह तो चाहे गुरुकुल की इमारतें सरकार के कब्ज़े मे होतीं, चाहे गुरुकुल के उपाध्याय और ब्रह्मचारी जेल मे होते तो भी नष्ट होने वाली नहीं है। और इन आलीशान इमारतों के अन्दर भी विदेशी सरकार की खुशामद से 'जीता' हुआ भी गुरुकुल वास्तव में मरा हुआ होगा। यदि मैं जेल चला जाता (यद्यपि मैं जेल गया नहीं और नहीं कोई जेल जाने का काय किया) तो भी मेरा मन अपने कुल में अपने प्रिय ब्रह्मचारियों मे रहता इसमे मुझे कुछ सन्देह नहीं है। दूसरी तरफ ऐसा भी 'आचार्य' हो सकता है जो कि गुरुकुल मे रहते और राष्ट्रीय हित की बातों से अपने को बचाते हुये भी गुरुकुल से, गुरुकुल के ब्रह्मचारियों से, गुरुकुल के आदर्शों से बिलकुल दूर रह सकता है। मैंने तो अपने आचार्यत्व काल मे (सभा को अपनी बात न समझा सकने के कारण) सभा की नीति का ही पालन किया था और इतनी अच्छी तरह पालन किया था कि मुझे पूर्ण निश्चय है कि सन् ३२ में यदि मैं गुरुकुल का आचार्य न होता तो ऐसी शक्तियाँ काम कर रही थीं कि गुरुकुल ज़ब्त हो चुका होता। पर मेरे इन कार्यों का—ईमानदारी से सभा की नीति को ही विरोध सह कर भी चलाने का—यह फल मिल रहा है कि मुझे गुरुकुल चलाने के अयोग्य बताया जा रहा है। बल्कि एक आध व्यक्ति ने मुझ पर वचन भंग का भी दोष लगाया है और इसी का दुःख वह अन्तिम कारण हुआ है जिससे कि मैंने त्यागपत्र लिख देना उचित समझा। मैं तो कहता हूँ कि मैं स्वामी श्रद्धानन्द जी का प्रिय शिष्य हूँ, उनका कुछ न कुछ पागलपन मुझे भी मिला है, परमेश्वर की कृपा से मैं गुरुकुल को उनके आदर्शों पर अच्छी तरह चला सकता हूँ ऐसा पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी समझते थे, आचार्य रामदेव जी भी समझते हैं, और मैं समझता हूँ ऐसा नम्रता पूर्वक कह सकता हूँ। नहीं, मैं बेशक आचार्य जैसे ऊँचे पद के अयोग्य हूँगा, वे लोकोत्तर गुण जो आचार्य में अपेक्षित हैं मुझमें नहीं हैं, किन्तु कम से कम गुरुकुल के अयोग्य मैं इसलिये नहीं हूँ कि मेरा मन दो तरफ रहता है। मेरा मन तो एक तरफ़ था। दूसरी तरफ़ यदि था और जितना था वह तो आचार्य के लिये आवश्यक था। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि उतना दूसरी तरफ़ मन (यदि उसे दूसरी तरफ समझा जाये) तो स्वामी श्रद्धानन्द और आचार्य रामदेव जी का भी रहा है।

क्या गांधी और टागोर गुरुकुल का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकते ?

(५) बुद्धिवादीजी बेशक हंसी उड़ावें पर मैं अपने इस विश्वास को दोहराता हूँ कि गुरुकुल (जो कि एक शिक्षा संस्था है) की सञ्चालिका सभा में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पर विश्वास रखने वाले ही व्यक्ति होने चाहियें और उस गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में जैसा कि मैं कई वार लिख चुका हूँ, निम्न चार बातें आवश्यक तौर पर निहित हैं :—

(१) गुरु का केन्द्र होना।

(२) कुल बना कर रहना।

(३) ब्रह्मचर्य्य।

(४) वैदिक संस्कृति।

ऐसी गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में यदि ठाकुर रवीन्द्र और गांधीजी विश्वास नहीं रखते हैं तो उन्हें मत लीजिये। वह मेरी समझ में तो ये दोनों महानुभाव इसमें लिये जा सकते हैं और इनसे गुरुकुल का बड़ा लाभ हो सकता है। आप निश्चिन्त रहिये कि रवीन्द्र गुरुकुल में हवन को रोकेंगे नहीं बल्कि इसमें रस लेवेंगे। हम बेशक शान्ति-निकेतन के संगीत और कला को गुरुकुल से बहिष्कृत कर रक्खें पर वे हवन का बहिष्कार नहीं करेंगे। उनके शान्ति-निकेतन में भी हवन हो सकता है। वहां एक परिमित स्थान है जो कि अमूर्त, अव्यक्त, निष्कल ब्रह्म की उपासना के लिये ही अर्पित किया गया है और वेदों तथा उपनिषदों के भारी विद्वान् महर्षि देवेन्द्रनाथ द्वारा अर्पित किया गया है जहां कि कोई भी प्रतीकोपासना करना उचित नहीं है। क्या हमारे यहां भी सन्यासी हो जाने पर बाह्य अग्निहोत्र छोड़ देना नहीं होता? और गान्धीजी तो अपने साबरमती आश्रम में आचार्य रामदेवजी के हवन के लिये खुद समिधाएं लाया करते थे और मुझे भी उनके आश्रम में हवन के लिये यथेच्छ घी मिलता था। गांधी जी शुद्ध वेदोच्चारण को जो महत्त्व देते हैं, वेद-मन्त्रों के ज्ञान के लिये जितनी हृदय-शुद्धि की आवश्यकता समझते हैं, उतनी हम साधारण आर्यसमाजी नहीं करते। यदि बुद्धिवादीजी को पता नहीं है तो मैं बता देता हूँ कि गांधीजी को वेदमन्त्रों के सुनने और पढ़ने में उल्लास आता है। अपनी पुस्तकों के बारे में तो मुझे मालूम है कि गांधीजी ने यरवदा जेल में प्रातःकाल ४½ बजे नित्य नियम से सम्पूर्ण वैदिक नियम (प्रथम-खण्ड) पढ़ा है और बड़े ध्यान से विवेचनात्मक दृष्टि से पढ़ा है। उन्होंने 'ब्राह्मण की गौ' प्रकाशित होते ही डांडी-प्रयाण के ऐतिहासिक दिनों में आद्योपान्त पढ़ी है। उन्होंने पं० सातवलेकरजी की वेद सम्बन्धी बहुत सी पुस्तकें पढ़ी हैं। वेदों का ऋषिभाष्य का भी अवलोकन किया है।

और आप उनके सत्य के प्रयोगों से क्यों घबराते हैं? तब तो आप दयानन्द से भी घबराइये जिन्होंने कई बार अपने विचार बदले और हमें सदा सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करने के लिये नियम के तौर पर कह गये। बात यह है कि हमारे अपने अन्दर की कमज़ोरी है जिसके कारण हम दूसरों से घबराते है। यदि वैदिक धर्म में अटूट श्रद्धा है तो उस पर तुम अकेले चलो। सैकड़ों गांधियों और टागोरों को अपने उलटे रास्ते जाने दो, आप अपने सच्चे मार्ग पर चलते जाओ। उनको बुरा भला कहने से हमें कोई बल नहीं मिलेगा, वह तो अपने आचरण से ही मिलेगा। मैं तो इन्हें गुरुकुल पर नहीं लादता हूं। वे आर्यसमाज की समझ में अयोग्य ठहरे तो उन्हें छोड़ो। पर यह तो मानो कि गुरुकुल की संचालिका सभा में वे ही लोग होने चाहियें जो इस प्रणाली में पूर्ण विश्वास करते हों और इस पर अमल करते हों।

आज तो दुनिया में गुरुकुल की कोई प्रतिष्ठा नहीं है और यदि यही हालत चलती रही (जो कि मुझे विश्वास है कि नहीं चलेगी) तो पञ्जाब प्रतिनिधि सभा के नीचे ही गुरुकुल दम घुट कर मर जायगा। संसार में इसे कोई न जानेगा। पर यदि हम ठीक रास्ते चलें और विदेशों में भी गुरुकुल स्थापित होवें तो गुरुकुल की संचालिका सभा में योरुप के भी कोई ऋषि होवें यह मेरे लिये बड़ी खुशी की बात होगी। भाई! हंसी उड़ाने से, जो लोग नाम से नहीं किन्तु काम से वैदिक धर्म का पालन करने के कारण दुनिया में पूजे जाते हैं या शक्ति रखते हैं उनके विरुद्ध लिख कर अपनी क़लम की खुजली मिटा देने से वैदिक धर्म या आर्यसमाज एक भी इंच आगे नहीं बढ़ेगा, इसके लिये तो दिन रात आत्म-बलिदान (यज्ञ) करने की ज़रूरत होगी। तो इसके लिये अपने हृदय से पूछिये कि वह कुछ भी तैयार है या नहीं।

यह इस बात का सूचक है कि मैं उस 'अराष्ट्रीय और अनीतियुक्त बनाने वाली प्रक्रिया (Denationalizing and demoralizing Process) में से गुज़रा हूं जिसमें से सरकारी डिग्री पाने वाले भारतीय विद्यार्थी गुज़रते हैं। मैं ऐसे और भी कई पुरुषों को जानता हूं जिनके लिये एम. ए. आदि सरकारी डिग्री प्रतिष्ठा का सूचक न होकर बड़े अपमान की सूचक है। इस लिये मैं आशा करता हूं कि वशिष्ठ जी सरकारी डिग्री न रखने के कारण कभी अपने को 'यों ही' नहीं समझेंगे। मेरी समझ में बहुसंख्यक एम. ए. लोगों से—जो कि वास्तव में यों ही होते हैं—वे अधिक ज्ञानी, अधिक उपयोगी और अधिक कीमती पुरुष हैं।

—

विवाह में फजूलखर्ची और आडम्बर का महारोग—

श्रीयुत खुशालचन्द्र जी खुरसन्द के सुपुत्र रणवीर जी के हाल में हुये विवाहोत्सव पर देहरादून के एक होनहार नवयुवक मुझे इस प्रकार लिखते हैं।

"देहरादून में आचार्य रामदेव जी की कन्या चन्द्रप्रभा के विवाहोत्सव पर तड़क भड़क और आडम्बर को देख कर आपने उसके विरुद्ध आवाज़ उठाई थी। उस आवाज़ को मेरे जैसे कई नवयुवकों ने उत्साह पूर्वक सुना था। आशा हुई थी कि क्रियात्मक रूप में भी इसका भली भांति स्वागत किया जायगा।

प्रथम तो विवाह के अवसर पर अनावश्यक तौर पर केवल दिखावे मात्र के लिये बहुत सा खर्च करना व्यर्थ सी बात है। भारतवर्ष की वर्तमान आर्थिक और सामाजिक स्थिति को देख कर तो नितान्त आवश्यक हो जाता है कि केवल ब्राह्मण ही नहीं, सभी वर्ण वाले इस समय विवाह के अवसर पर सादगी और किफ़ायत से काम लें। देश के नेताओं को तो विशेष तौर पर इस ओर ध्यान देना उचित है।

परन्तु दुर्भाग्य से वह जहां तक तो सिद्धान्त और प्रचार का सम्बन्ध रहता है, विवाह पर अनेक प्रकार की बन्दिश लगाने के लिए गला फाड़ फाड़ कर अपीलें करते हैं और जहां कार्य का समय आता है वह साधारण लोगों से भी बाज़ी मार ले जाते हैं। इसका जीता जागता उदाहरण हाल ही में हुआ। खुशहालचन्द जी खुरसन्द के पुत्र रणवीर जी का विवाह है। मुझे उसके बारे में विस्तृत वृत्तान्त नहीं लिखना है। वह सब आप पढ़-सुन चुके होंगे। मैं संक्षेप में कह सकता हूँ कि इस अवसर पर दोनों पक्षों की ओर से ही कोई कार्यवाही दिखावे और आडम्बर की नहीं छोड़ी गई। कहने वाले तो यहां तक कहते हैं कि यह विवाह तो वास्तव में रुपये का विवाह हुआ है। खुशहालचन्द जी के सुपुत्र श्रीयुत रणवीर जैसे नवयुवक से सामाजिक सुधार की बहुत आशायें रखी जाती थीं। उन्हें विवाह के अवसर पर परस्पर कुछ लेन देन करना ही था तो उसे गुप्त रीति से कर सकते थे। परन्तु उन्हें तो केवल इस बात की प्रदर्शनी करनी थी कि वह ऐसे अवसर पर सुधार के विरोधियों को भी मात कर सकते हैं। सौभाग्य से या दुर्भाग्य से उन्हें अपने समाचार पत्रों की सहायता भी प्राप्त है जिससे उन्होंने प्रान्त भर में अपने वैभव और शान की अच्छी तरह ढोंडी पिटवा दी है।

व्यक्तिगत रूप से मेरे ऊपर तो इसका क्या प्रभाव पड़ा होगा परन्तु मुझे ऐसे नवयुवक भी मिले हैं जो उंगली से संकेत करते हुए कहते हैं—इसी का नाम सुधार, त्याग और पथ-प्रदर्शन है"।

निःसन्देह विवाह में फ़िज़ूलखर्ची और आडम्बर एक ऐसा महारोग है जिसके कारण हमारे समाज का ऊपर उठना बड़ा कठिन हो रहा है। हम इस बुराई को जानते हुए भी इसमें फंस जाते हैं। यह

टिप्पणी लिख कर मैं केवल इतना चाहता हूं कि भाई खुरसन्द जी इस नवयुवक भाई के कथन में यदि कुछ तेज़ी पावें तो उसकी उपेक्षा करते हुए इसकी कही बात की सचाई को अपने हृदय में स्थान देने की कृपा करेंगे तथा अन्य पाठक अपने सम्बन्धियों और मित्रों के आनेवाले विवाहों के अवसर पर इस बुराई में पड़ने से यत्न पूर्वक सावधान रहेंगे। सज्जन पुरुषों से ऐसी आशा करनी ही चाहिए। नहीं तो इस विषय पर कुछ लिखने का मैं कोई विशेष लाभ नहीं समझता। हमें तो अपने प्रभाव में होने वाले विवाहों में अत्यन्त मितव्ययिता और सादगी बरत कर उदाहरण पेश करना चाहिये। यही उपाय है जिससे हम इस गहरी बुराई से अपना पिण्ड छुड़ा सकेंगे। श्रावण मास में अलंकार के पाठक पं० जयदेव जी के अनुकरणीय विवाह का उल्लेख पढ़ चुके हैं। उन्हें यह जान कर प्रसन्नता होगी कि अभी पहिली फर्वरी को गांधी सेवाश्रम के एक दूसरे सदस्य तथा गुरुकुल कांगड़ी के एक निर्मल-हृदय प्रसिद्ध स्नातक पं० पूर्णचन्द्र जी विद्यालङ्कार का विवाह-संस्कार बन्नू में होने वाला है, जो कि घरवालों का कोप सह कर भी सर्वथा जात-पांत तोड़ कर एवं पूरी सादगी और मितव्ययिता के साथ किया जा रहा है।

'अभय'

देशभक्तों का बलिदान—

श्रीयुत अभयंकर, श्री आचार्य गिडवानी जी और श्रीयुत शरमल की असामयिक मृत्यु ने भारत को तेजस्वी नेताओं की सेवा से वञ्चित किया है। श्रीयुत अभयंकर ने स्वास्थ्य तथा आर्थिक स्थिति ठीक न होने पर भी, राष्ट्र सभा की आज्ञा का पालन करते हुए अपने आपको एसम्बली निर्वाचन की जद्दो-जहद में डाल दिया। निर्भीक वीर की भांति राष्ट्र सभा की आन को कायम रखते हुए अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया। इसी तरह बंगाल के प्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत शरमल ने भी राष्ट्र सेवा के भाव से प्रेरित होकर कम्युनल एवार्ड के अनौचित्य को सिद्ध करने के लिये अपने आपको निर्वाचन की जोखिम में डाला। दोनों देशभक्तों ने श्री स्वर्गीय दास की भांति रोग-शय्या में पड़े हुए भी देश-सेवा के कर्तव्य को पालना अपना परम धर्म समझा। आशा है इन दोनों देशभक्तों का बलिदान एसम्बली के भारतीय निर्वाचित सदस्यों को अपने कर्तव्य पालने की ओर विशेष रूप से प्रेरित करेगा।

इसी महीने में सिन्ध के प्रसिद्ध देशभक्त श्री आचार्य गिडवानी की मृत्यु से भी कांग्रेस को भारी नुकसान पहुँचा है। आचार्य गिडवानी कांग्रेस के रचनात्मक कार्य-क्रम के मुख्य स्तम्भ थे। राष्ट्रीय शिक्षा को असली रूप देने के लिये आपने जो त्याग तथा यत्न किया था, उसे स्वतन्त्र भारत कभी नहीं भूल सकता। तीनों वीर अपना कर्तव्य पालन करते हुए भारतमाता की स्वाधीनता के लिये बलिदान हुए हैं। यह बलिदान भारत की युवक सन्तति में निर्भीकता त्याग तथा सच्ची लगन के भाव को संचारित करें।

—

परैः सह विरोधेतु वयं पञ्च शतम् मताः*—

ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रकाशित जायंट पार्लियामैन्टरी कमेटी की रिपोर्ट ने भारतीय राष्ट्र के राजनीतिज्ञों के हृदयों में गहरा असन्तोष पैदा किया है। महासभा तो इस रिपोर्ट को किसी भी हालत में स्वीकार नहीं कर सकती, क्योंकि इस रिपोर्ट में भारतवर्ष को राष्ट्रीय महासभा के घोषित उद्देश्य

* घर की लड़ाई में हम पाण्डव ५ हैं और कौरव १०० हैं, परन्तु दूसरों के मुकाबले में हम १०५ हैं।

"पूर्ण स्वराज्य" के समीप जाने के स्थान पर, अधिक से अधिक दूर रखने की कोशिश की गई है। गवर्नरों के स्वेच्छाचारी अधिकार, सेफ़ गार्डस तथा साम्प्रदायिक निर्वाचन के सिद्धान्तों ने भारतीय राष्ट्र को टुकड़े टुकड़े में बाँट देने की योजना की है। सरकार को कांग्रेसी नेताओं से इस रिपोर्ट के लिये सहायता तथा सहयोग की आशा ही न थी। परन्तु सरकार को जिनसे सहयोग की आशा थी उन्होंने भी एक स्वर से इस रिपोर्ट को नामंजूर तथा रद्द करने की घोषणा की है। लिबरल पार्टी के मुख्य नेता श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री ने लिबरल फ़ेडरेशन के अधिवेशन में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि सरकार को हम से, इस रिपोर्ट पर आश्रित शासन-विधान को चालू करने के लिये, अणु-मात्र सहयोग की भी आशा नहीं रखनी चाहिए। सी. वाई. चिन्तामणि जैसे वैध आन्दोलन के पण्डितों की राय में वर्तमान शासन प्रथा, जायण्ट कमेटी की रिपोर्ट में प्रस्तावित शासन व्यवस्था से अच्छा है। श्री डाक्टर अम्बेदकर तथा एसम्बली में दलित जातियों के प्रतिनिधि श्री राजा साहब ने भी इस रिपोर्ट को नामंजूर करने की सलाह दी है। सर आगा खाँ तथा कुछ सरकार-परस्त मुसलमानों और एंग्लो इंडियनों और युरोपियनों को छोड़ कर किसी भी जिम्मेवार भारतवासी ने इस रिपोर्ट का समर्थन नहीं किया।

इस समय आवश्यकता इस बात की है कि भारत के सब राष्ट्रीय पक्ष एक होकर इस रिपोर्ट को नामंजूर करें। हमें अपने अन्तरीय मतभेदों को भुला कर जायण्ट पार्लियामेन्टरी कमेटी की रिपोर्ट का विरोध करना चाहिए और सरकार को बाधित करना चाहिए कि वह साइमनकमीशन की रिपोर्ट की भान्ति इस रिपोर्ट को भी वापिस ले। युधिष्ठिर ने पद्दलित और कौरवों के अन्यायमुक्त व्यवहार से पीड़ित होते हुए भी पाण्डवों को विदेशी राजा के अत्याचार से दुर्योधन को बचाने की सलाह दी थी। आज हमें भी विदेशी सरकार की अन्याय पूर्ण, स्वतन्त्रता-घातक रिपोर्ट का विरोध इसी भावना से करना चाहिए।

—

युरोप में आत्म-निर्णय-सिद्धान्त की विजय—

जर्मन-महायुद्ध के बाद, जर्मनी को 'सार' का प्रदेश फ्रांस के आधीन करना पड़ा था। वर्सेल्स की सन्धि के अनुसार निश्चय किया गया था कि सन् १९३५, जनवरी में 'सार प्रदेश' की जनता के लोकमत के अनुसार इस प्रदेश को फ्रांस, जर्मनी या राष्ट्र-संघ के आधीन किया जायगा।

राष्ट्र-संघ के आधीन 'सार' की जनता की सम्मतियाँ इस प्रकार हैं—

जर्मनी के पक्ष में	४७६०८९
राष्ट्र-संघ के प्रबन्ध में	४६६१३
फ्रांस के पक्ष में	२०८३

इस अवसर पर जर्मनी के एकाधिकारी शासक हिटलर ने निम्न-लिखित घोषणा की है :—

"With the return of the Saar there are no more territorial claims by Germany against France and I declare that no more such claims will be raised by us. We are now certain that the time has come for appesaement and conciliation."

"'सार' वापिस मिलने के बाद जर्मनी फ्रांस से किसी भूमिभाग को लौटाने की मांग पेश नहीं करेगा। हमारी सम्मति में अब शान्ति और मेल-मिलाप का समय आ गया है।"

यूरोप के—विशेषकर मध्य-यूरोप के—राष्ट्रों में क्षण-क्षण में होने वाले परिवर्तनों को दृष्टि में रखते हुए हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में भविष्य-वाणी करना कठिन है, परन्तु फिर भी हर हिटलर की इस घोषणा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ वर्षों तक जर्मनी और फ्रांस का पारस्परिक वैमनस्य उग्र रूप में प्रकट नहीं होगा।

—

भारतीय साम्यवाद—

बम्बई कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के बाद से भारतीय राजनीति में साम्यवाद की विशेष चर्चा है। यद्यपि भारतीय साम्यवाद का निश्चित स्वरूप क्या है? इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी, श्रीयुत सुभाष बोस तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू भारतीय साम्यवाद के प्रतिनिधि हैं। तीनों व्यक्ति भारतीयता के रंग में रँगे हुए हैं। तीनों ने भारत की स्वाधीनता की रक्षा के लिये अपने आप को कुर्बान किया हुआ है। इस समय भारतवर्ष में, साम्यवाद के नाम पर रूस, इटली तथा जर्मनी के साम्यवादियों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। भारत की राष्ट्रीयता की रक्षा के लिये इस प्रवृत्ति को रोकने की आवश्यकता है। अभी यूरोप को रवाना होते हुए श्रीयुत सुभाष बाबू ने हर हिटलर तथा यूरोपियन साम्यवाद और रशियन साम्यवाद के कई अंशों से मतभेद प्रकट किया था और भारतीयों को उनका अन्धा अनुकरण न करने की सलाह दी थी। दिल्ली में महात्मा गांधी ने भी हर हिटलर तथा मसोलिनी के उपायों से मतभेद प्रकट किया है। भारतवर्ष को इस समय अन्तर्राष्ट्रीय वादविवादों में उलझने के स्थान पर, राष्ट्रीयता में रँगे हुए आन्दोलनों की आवश्यकता है। ऐसे आन्दोलन ही भारत-राष्ट्र की आत्मा को स्वतन्त्र तथा तेजस्वी बना सकते हैं।

—

सरकार तथा ग्राम-व्यवसाय-संघ—

भारत-सरकार के एक उच्चाधिकारी ने विज्ञप्ति-पत्रमें कांग्रेस द्वारा महात्मा गांधी के निरीक्षण में संचालित 'ग्राम-व्यवसाय-संघ' के सम्बन्ध में सरकारी एजण्टों, कारकुनों को विशेष-रूप से देख-भाल करने की आज्ञा दी है। इस विज्ञप्ति द्वारा कांग्रेस के ग्राम-व्यवसाय-संघ को अविश्वास तथा संदेह की दृष्टि से देखा गया है और इसे कांग्रेस की राजनीतिक चालों का अंग माना गया है। हमारी सम्मति में सरकार के लिये इस संघ को सन्देह की दृष्टि से देखना स्वाभाविक ही है क्योंकि इस संघ के यत्न से ग्रामवासी स्वावलम्बी तथा आत्माभिमानी बनेंगे। स्वावलम्बी तथा आत्माभिमानी देहाती सरकार के अत्याचारों तथा अन्यायों को बर्दाश्त नहीं करेंगे। हमें सरकार के इस सन्देहात्मक रुख पर व्यर्थ का क्रोध प्रकट न कर, असली रूप में इस संघ को अपनाना चाहिए।

भीमसेन

लेखकों के सम्बन्ध में

(१) जब मन में उमंग हो, कुछ नयी लाभदायक बात जनता को सुनाने की प्रेरणा हो, तभी लिखिये।

(२) काग़ज़ के एक तरफ़, हाशिया और पंक्तियों के बीच में जगह छोड़ कर, सुवाच्य अक्षरों में लिख कर भेजिये।

(३) एक प्रति अपने पास रख कर ही लेख आदि भेजिये, अप्रकाशित लेख आदिक वापिस किया जाना आवश्यक नहीं है।

(४) लेख आदि रचना को छापने न छापने, इस अंक में छापने, उस अंक में छापने, घटाने बढ़ाने, लौटाने न लौटाने का अधिकार सम्पादक को रखने दीजिये, इसके बिना काम नहीं चल सकता है।

विज्ञापनों के सम्बन्ध में

केवल अपनी आमदनी करने की दृष्टि से अलंकार में विज्ञापन नहीं लिये जायगे। इस लिये—

(१) अधार्मिक, अश्लील, पतनकारी विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(२) असत्य, अतिशयोक्ति पूर्ण, भ्रमोत्पादक विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(३) स्वदेशी के विरोधी, विदेशी के प्रचारक गरीबों को हानि पहुँचाने वाले विज्ञापन नहीं लिये जायेंगे।

(४) पुस्तकों के विज्ञापन भी वे ही लिये जायेंगे जिनके विषय में हमने स्वयं पढ़ कर या किसी अन्य तरह पूरा संतोष प्राप्त कर लिया होगा।

अलंकार के नियम

(१) अलंकार प्रत्येक सौर महीने के प्रारंभ (अंग्रेजी महीने के मध्य) में प्रकाशित होता है।

(२) डाक खर्च सहित अलंकार का वार्षिक मूल्य ३) है, एक प्रति का ।-) विदेश से ६ शिलिंग या ४)।

(३) ग्राहकों को चाहिये कि वे वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजें, वी० पी० न मंगावें। वी० पी० से मंगाने में कम से कम ≈) अधिक व्यय उनको व्यर्थ में करने पड़ेंगे, अन्य जो असुविधा होती है, वह जुदा है।

(४) ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या तथा पूरा पता साफ़ लिखना चाहिये।

(५) उत्तर पाने के लिये जबाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें, अन्यथा उनके लिखे अनुसार कार्य कर दिया जावेगा, उत्तर नहीं दिया जा सकेगा।

(६) लेख कविता तथा रचनायें, संपादक 'अलंकार' गांधी सेवाश्रम, डा० खा० गुरुकुल कांगड़ी, जि० सहारनपुर,

या

१७, मोहनलाल रोड, लाहौर,

के पते पर भेजनी चाहिये तथा मनीआर्डर व विज्ञापन तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र प्रबंधक 'अलंकार' १७ मोहनलाल रोड लाहौर के पते पर आने चाहियें।

(७) यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक न पहुँचे तो उन्हें इस बात की सूचना १५ दिन के भीतर देनी चाहिये। इस के बाद मूल्य ले कर ही वह अंक भेजा जा सकेगा।

अलंकार

फाल्गुन

वार्षिक मू

विषय सूची

अलंकार के नियम

(१) अलंकार प्रत्येक सौर महीने के प्रारंभ (अंग्रेजी महीने के मध्य) में प्रकाशित होता है।

(२) डाक खर्च सहित अलंकार का वार्षिक मूल्य ३) है, एक प्रति का ।-) विदेश से ६ शिलिंग या ४)।

(३) ग्राहकों को चाहिये कि वे वार्षिक मूल्य मनी-आर्डर से भेजे, वी० पी० न मंगावें। वी० पी० से मंगाने में कम से कम ≈) अधिक व्यय उनको व्यर्थ में करने पड़ेंगे, अन्य जो असुविधा होती है, वह जुदा है।

(४) ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या तथा पूरा पता साफ़ लिखना चाहिये।

(५) उत्तर पाने के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें, अन्यथा उनके लिखे अनुसार कार्य कर दिया जावेगा, उत्तर नहीं दिया जा सकेगा।

(६) लेख कविता तथा रचनायें, संपादक 'अलंकार'
१७, मोहनलाल रोड, लाहौर,
के पते पर भेजनी चाहिये तथा मनीआर्डर व विज्ञापन तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र भी प्रबंधक 'अलंकार' १७ मोहनलाल रोड लाहौर के पते पर आने चाहियें।

(७) यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक न पहुँचे तो उन्हें इस बात की सूचना १५ दिन के भीतर देनी चाहिये। इस के बाद मूल्य ले कर ही वह अंक भेजा जा सकेगा।

आवश्यक सूचना

'अलंकार' के पाठकों को यह समाचार ज्ञात हो ही चुका होगा कि पंजाब-सरकार ने 'अलंकार' के दिसम्बर १६३४ अंक में प्रकाशित एक लेख को आपत्तिजनक समझ कर 'अलंकार' तथा 'नवयुग प्रेस' से एक-एक हज़ार की ज़मानत मांग ली है। यह ज़मानत ८१ फरवरी १६३५ तक जमा कर देनी चाहिये। हम यह प्रयत्न कर रहे हैं कि इस संकट के कारण 'अलंकार' का प्रकाशन बन्द न हो। परन्तु 'अलंकार' किसी पूँजीपति का पत्र नहीं है, इससे सम्भव है कि हम लोग ज़मानत जमा करने का प्रबन्ध न कर सकें अथवा इसमें कुछ समय लग जाय। इस दशा में लाचार होकर हमें 'अलंकार' का प्रकाशन स्थगित करना पड़ रहा है। आगामी अङ्क ज़मानत जमा करने पर ही निकलेगा। आशा है पाठक इस विपत्ति के समय हमारा सहयोग देंगे।

व्यवस्थापक

विषय सूची

संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ

1948

Rajendrakumar
DT Saharanpur
UP
Vill. Po Narsen Kalan
School address
Rajendra Kumar X A
Muzaffarnagar
Jat Inter College
UP

चा ७)।

(३) ग्राहकों को चाहिये कि वे वार्षिक मूल्य मनी-आर्डर से भेजे, वी० पी० न मंगावें। वी० पी० से मंगाने में कम से कम ≈) अधिक व्यय उनको व्यर्थ में करने पड़ेंगे, अन्य जो असुविधा होती है, वह जुदा है।

(४) ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते समय अथवा मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या तथा पूरा पता साफ़ लिखना चाहिये।

१७, मोहनलाल रोड, लाहौर, के पते पर भेजनी चाहिये तथा मनीआर्डर व विज्ञापन तथा प्रबन्ध संबन्धी पत्र भी प्रबंधक 'अलंकार' १७ मोहनलाल रोड लाहौर के पते पर आने चाहिये।

(७) यदि किन्हीं ग्राहकों को कोई अंक न पहुँचे तो उन्हें इस बात की सूचना १५ दिन के भीतर देनी चाहिये। इस के बाद मूल्य ले कर ही वह अंक भेजा जा सकेगा।
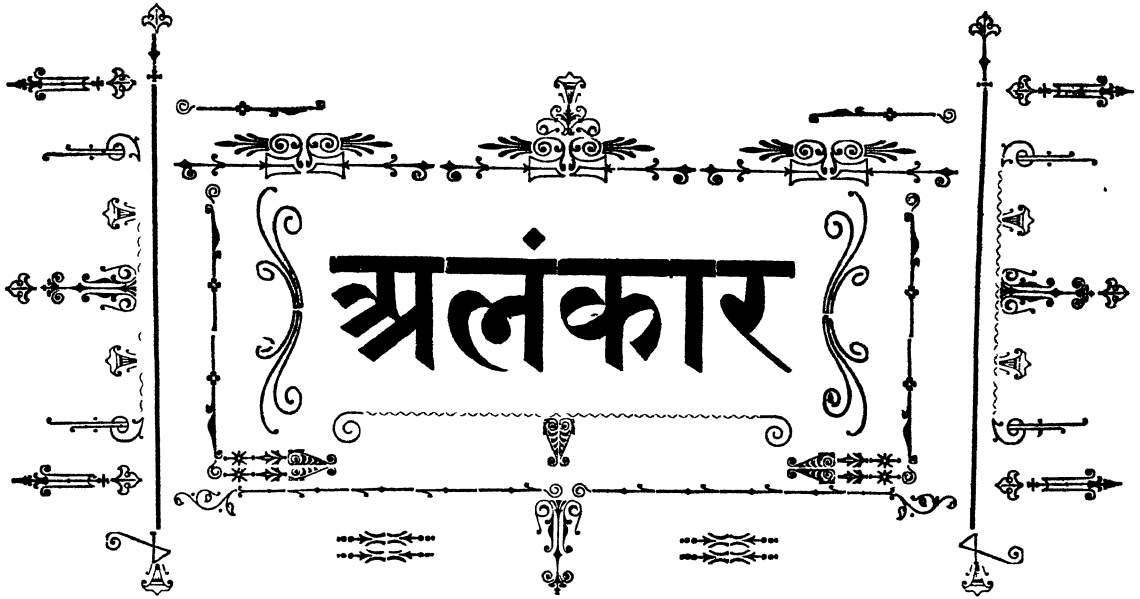
का ते अस्त्यलंकृतिः सूक्तैः, कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ?

"सुन्दर वचनों से हम तेरा क्या अलंकार कर सकते हैं ? हे इन्द्र ! वह समय कब आवेगा जबकि हम तुझे अपने आप को दे देंगे, पूर्ण आत्मसमर्पण कर देंगे ?" ऋ० ७–२९–३॥

वर्ष ५] फाल्गुण, १९९१ :: मार्च, १९३५ [संख्या ३

ग्राम-सन्देश

[ले०—द्विरेफ विद्यालङ्कार]

आओ भारत सुत मिल गावें।
मधुर मनोहर गीत सुनावें।

ग्राम नाम है सबको प्यारा
वसुधा में सुख धाम हमारा
मातृ-भूमि का उजला तारा
इसकी प्रतिमा हिये बिठावें।

सुखद कला की सुन्दर क्यारी
भ्रातृभाव की मौंड सुखारी
प्रकृति-देवि की पद-रज धारी
सुषमा इसकी निशि दिन ध्यावें।

सात्विक जीवन सरल बितावे
उच्च विचारों को अपनावें
शुभ उद्योग हिये में लावें ?
गुण गण गरिमा उसकी गावें।

कृषक जनों की कृषि सेवा में
श्रमजीवी की श्रान्त क्रिया में
दोनों की सन्तोष कथा में
ग्रामों का सन्देश सुनावें॥

आओ भारत सुत सब मिलकर
दुखियों के चिर सेवक बनकर
निज माता के कष्ट दूर कर
जीवन अपना सफल बनावें॥

गीता-प्रतिपादित कर्म और यज्ञ

[ले०—योगीराज श्री अरविन्द]

[भगवद्गीता पर बहुत से विद्वानों की बहुत-सी पुस्तकें निकली हैं। किन्तु योगिराज अरविन्द की अँगरेजी में दो भागों में निकली, उनके गीता-सम्बन्धी निबन्धों के संग्रह-जैसी पुस्तक मैंने अभी तक कोई नहीं देखी। यह अति उच्चकोटि का परिपूर्ण गम्भीर ग्रन्थ शायद गीता पर सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसका 'कर्म और यज्ञ'-नामक एक अत्युपयोगी अध्याय आज हम ...द्वार' के पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता पाते हैं। यद्यपि इतने वर्षों के बाद अब कहीं इस ग्रन्थरत्न को हिन्दी-...र के लिए प्रकाशित करने का आयोजन हुआ है और उसके तीन भागों में से एक भाग प्रकट भी हो गया है तो भी निम्न ...य अभी तक हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुआ है। आशा है, इस लेख को पाठक दिव्यवचनों के योग्य एकाग्रता तथा अवधान ...थ पढ़ेंगे।—अभय]

बुद्धियोग को एवं इसके परिणाम ब्राह्मीस्थिति ...लेकर गीता के द्वितीय अध्याय का शेष भाग ...ा गया है। यहाँ पर गीता की अनेक शिक्षाओं ...बीज हैं, गीता का निष्काम कर्म, समता, ...-सन्यास-परित्याग, भगवान् में भक्ति—इन शिक्षाओं का सूत्रपात इसी स्थल पर हुआ है। ...नु ये शिक्षायें यहाँ बहुत संक्षिप्त और दुर्बोध ... अब तक जिस शिक्षा के ऊपर सर्वापेक्षा अधिक ... दिया गया है वह यह है कि मनुष्य साधार-... कामना से प्रेरित होकर कार्य करता हैं, वहाँ से ... को हटा लेना होगा, इन्द्रियसुख की तलाश में साधारणतः मनुष्य को जो वेग और अज्ञता होती है उससे छुटकारा प्राप्त करना होगा, लाखों वासनाओं के पीछे फिरनेवाली बुद्धि और इच्छा को वहाँ से लौटाकर ब्राह्मीस्थिति के निष्काम ऐक्य और निरुद्वेग शान्ति में प्रतिष्ठित करना होगा। अर्जुन यहाँ तक तो समझ सका। ये बातें उसके निकट एकदम नयी नहीं थीं। उस समय की प्रचलित शिक्षा का सार-मर्म यही था—यह शिक्षा मनुष्य को ज्ञान का मार्ग बतलानेवाली थी; पुरुषार्थ साधन के लिये संसारत्याग और कर्मत्याग का पथ, संन्यास का पथ बतलानेवाली थी।

इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्रियसुख, कामना और मानवीय कर्म को त्याग करके बुद्धि को ईश्वरमुखी करना, निष्क्रिय पुरुष, अचल अरूप ब्रह्मकी ओर करना—ये शिक्षायें ज्ञानमार्ग के सनातन बीज स्वरूप हैं। यहाँ पर कर्म को स्थान नहीं है, क्योंकि कर्म का सम्बन्ध अज्ञान से है, कर्म ज्ञान के सम्पूर्ण विपरीत है, कामना कर्म का बीज है और बन्धन इसका फल है। यही उस समय का प्रचलित दार्शनिक मत था; जब श्रीकृष्ण ने कहा कि बुद्धि-योग की अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, उस समय ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने भी इसी मत को स्वीकार कर लिया है। वे विशेष रूप से यह कहने लगे कि कर्म योग का अंग है अतएव इस शिक्षा में विषम असामञ्जस्य मालूम पड़ता है। केवल इतना ही नहीं; क्योंकि कुछ काल तक अति सामान्य नितान्त निर्दोष कर्म किया जा सकता है; किन्तु यहाँ पर अर्जुन के सम्मुख जो कर्म है वह आत्मा की निष्कम्प शान्ति और ज्ञानका सम्पूर्ण विरोधी है—यह कर्म भीषण, यहाँ तक कि, पैशाचिक है, यह तो निष्ठुर और रक्तपात पूर्ण युद्ध है, एक विराट हत्याकाण्ड है। तथापि आभ्यन्तरीण शान्ति, निष्काम समता और ब्राह्मीस्थिति-सम्बन्धी शिक्षा के द्वारा इस भीषण कर्म के समर्थन की चेष्टा हो रही है। इस विरोध का सामञ्जस्य अभी नहीं हुआ है। अर्जुन का अभियोग यह है कि उसको जो शिक्षा दी गई है वह विरोध पूर्ण और गड़बड़ी में डालनेवाली है—यह वैसी शिक्षा नहीं है जिसकी मदद से सीधे-सादे निश्चित श्रेय की ओर मनुष्य जा सकता है। इस आपत्ति के उत्तर में श्रीकृष्ण भगवान् ने कर्मकी प्रकृत नीति को बतलाना आरम्भ किया है।

भगवान् ने प्रथम ही परमार्थ लाभ के दो मार्गों में जो अन्तर है उसका वर्णन किया है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३।३॥

मुक्ति-लाभ करने के लिए मनुष्य ज्ञानयोग या कर्म-योग किसी एक का अवलम्बन कर सकता है है। साधारण धारणा यह है कि ज्ञानमार्ग कर्म को मुक्ति का विरोधी समझकर इसका परित्याग करता है, कर्ममार्ग कर्म को मुक्ति का सहायक समझ कर इसका ग्रहण करता है। भगवान् ने अभी इन दोनों के मिश्रण या सामञ्जस्य की विशेष चेष्टा नहीं की, वे केवल यही बतलाने लगे कि सांख्य वादियों के मतानुसार कर्मों का स्वरूप से त्याग, "संन्यास" एकमात्र पथ नहीं है और न पथ की अपेक्षा उत्तम ही है। आत्मा को, पुरुष को "नैष्कर्म्य" अर्थात् शान्त, कर्मशून्यता के भाव को अवश्य प्राप्त करना होगा; क्योंकि प्रकृति ही कर्म करती है, आत्माको इस कर्मस्रोत के ऊपर उठना होगा एवं स्वाधीनता और शान्ति में प्रतिष्ठित होकर प्रकृति की क्रिया-परम्परा को अविचलित-भाव से अवलोकन करना होगा। आत्माके नैष्कर्म्य का वास्तविक अर्थ यही है, प्रकृति-परम्परा का अन्त इसका अर्थ नहीं है। अतएव यह समझना भूल है कि किसी प्रकार का कर्म न करने से ही नैष्कर्म्य की प्राप्ति हो सकती है। केवल कर्म परित्याग यथेष्ट नहीं है, परन्तु यह मुक्तिलाभ का बहुत उचित पथ भी नहीं है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥३।४॥

"कर्म किये बिना कोई भी निष्क्रिय भाव को प्राप्त नहीं करता, केवल संन्यास से सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती।"

किन्तु क्या यह मोक्ष-लाभ के लिए एक अपरिहार्य और प्रयोजनीय उपाय नहीं है? क्योंकि

यदि प्रकृति का कर्म जारी रहेगा, तो फिर आत्मा उसमें बद्ध हुए बिना किस प्रकार से रह सकेगा? यह सब किस प्रकार से हो सकता है? मैं युद्ध करूँ, तथापि मैं अपनी आत्मा में समझूँ कि मैं युद्ध नहीं कर रहा हूँ, और जयाकांक्षा नहीं रखूँगा पराजय से विचलित नहीं होऊँगा, सांख्यवादियों की शिक्षा यही है कि जो व्यक्ति प्रकृति की क्रिया में नियुक्त होती है उसकी बुद्धि अहंकार अज्ञान और कामना में बद्ध हो जाती है एवं इसलिये कर्म में आकृष्ट होती है—किन्तु यदि बुद्धि छूट जाय तो ऐसी दशा में कामना और अज्ञान के अन्त होने के साथ ही कर्म का भी अन्त हो जाता है। अतएव मुक्ति-लाभ करने के लिए अन्त में संसार और कर्म का परित्याग करना ही होगा। अर्जुन के प्रकाश न करने पर भी, उसके मन में यह आपत्ति उठी थी, यह बात उसके परवर्त्ती कथन से प्रकट होती है; भगवान् ने इस बात को उसके कहने से पहले ही जान कर उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि इस प्रकार का त्याग अपरिहार्य नहीं है और संभव भी नहीं है।

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।३।५॥

"कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये क्षणकाल भी नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों से अवश होकर प्रत्येक मनुष्य को कार्य करना पड़ता है।"

सारे विश्व में चिरकाल से विश्व-शक्ति की जो विराट क्रिया चल रही है उसकी तीव्र अनुभूति गीता की एक उल्लेखयोग्य विशिष्टता है। परवर्त्तीकाल में तान्त्रिक शास्त्रों ने इस ओर विशेष ज़ोर दिया था—यहाँ तक कि वे प्रकृति या शक्ति को पुरुष से श्रेष्ठतर मानते थे। यद्यपि गीता में यह अनुभूति उतनी ज़ोरदार नहीं है, तथापि गीता के ईश्वरवाद और भक्तितत्त्व के साथ संयुक्त होकर इसने प्राचीन वेदान्त के कर्मत्याग की प्रवृत्ति का विशेष-भाव से दमन किया है। प्राकृतिक जगत् में देहधारी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता—एक मुहूर्त के लिये भी नहीं, एक सेकण्ड के लिये भी नहीं, उसका जीवित रहना भी कर्म है, समग्र-विश्व-जगत् ही भगवान् का कर्म है, केवल जीवित रहना भी उनकी क्रिया है।

हम लोगों का शारीरिक जीवन इसका पालन और रक्षा एक यात्रा की भाँति है "शरीर-यात्रा" है—किन्तु कर्म किये बिना इसको भी सम्पन्न नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि कोई मनुष्य शरीर-पालन के बिना रह भी सके, यदि सर्वदा वृक्ष की भाँति निश्चल होकर खड़ा रह सके या पत्थर की नाईं जड़वत् बैठा रह सके—"तिष्ठति", तथापि इस प्रकार निश्चल या जड़भाव के रहने से ही वह प्रकृति के हाथ से परित्राण नहीं पावेगा, प्रकृति की क्रिया परम्परा से मुक्ति नहीं पायेगा। क्योंकि कर्म शब्द से केवल हम लोगों की शारीरिक क्रिया और चलने-फिरने का ही बोध नहीं होता है, हम लोगों का मानसिक जीवन भी एक बहुत बड़ा जटिल कर्म है—पर यह विश्राम-हीन शक्ति का वृहत्तर एवं अधिकतर प्रयोजनीय कर्म है—मानसिक क्रिया ही शारीरिक क्रिया का कारण और निर्देशक है। इन्द्रियों के विषय हम लोगों के बंधन के उपलक्ष्य मात्र हैं, उनको ग्रहण करने के लिए मनका आग्रह हो यह हम लोगों के बंधन का निमित्त कारण है। मनुष्य अपने कर्मेन्द्रियों को संयत कर सकता है और उनकी स्वाभाविक क्रियाओं को रोक सकता है—किन्तु यदि उसका मन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहे, तो इससे कुछ भी लाभ नहीं

हुआ। ऐसा मनुष्य आत्मसंयम की भूल धारणा के वश में अपने को धोखे में डालता है, वह इसके उद्देश्य या प्रकृत तथ्य को नहीं समझता और वह अपने आभ्यन्तरीण जीवन के मूलतत्त्वों को भी नहीं समझता, अतएव ऐसे मनुष्य के आत्मसंयम की समग्र प्रणाली मिथ्या एवं व्यर्थ है।*

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥३।६॥

केवल शारीरिक कर्म नहीं किन्तु मानसिक कर्म भी न तो स्वयं बंधन हैं न बंधन के प्राथमिक कारण हैं। प्रकृति की महाशक्ति मन, प्राण और शरीर-रूपी अपने विराट क्षेत्र में कार्य करेगी ही, प्रकृति के अन्दर जो चीज़ विपज्जनक है वह है तीन गुणों के द्वारा मुग्ध करने की उसकी शक्ति—ये तीन गुण बुद्धि को गड़बड़ा कर आत्मा को ढक देते हैं। हम लोग बाद में देखेंगे कि गीता के लिए कर्म और मुक्ति की कठिन समस्या तो यही बात है गुणत्रय की मुग्धकारी क्रिया से मुक्त होओ—इसके बाद कर्म रह सकता है, रहेगा ही, यहाँ तक कि विषम उपद्रवमय कर्म भी चल सकता है, उससे कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि आत्मा के नैष्कर्म्य लाभ करने पर पुरुष को कुछ भी स्पर्श नहीं कर सकता।

* "मिथ्याचारी" शब्द का अर्थ कपटाचारी (hypocrite) मुझे ठीक नहीं मालूम होता। जो मनुष्य इस प्रकार पूर्ण एवं कठोर भाव से अपने को सुखों वंचित करता है वह कपटाचारी कैसे हो सकता है? वह भ्रम में पड़ा हुआ है, "विमूढात्मा" है और उसका आचार—उसके आत्मसंयम की प्रणाली—मिथ्या और व्यर्थ है। गीता का निस्सन्देह यही अर्थ है। —लेखक

किन्तु अभी गीता इस बड़ी बात को नहीं छेड़ रही। चूँकि मन ही निमित्त कारण है, चूँकि कर्म-हीनता असम्भव है, इस लिए शारीरिक और मानसिक क्रिया को संयत और नियमित करना ही कर्तव्य और युक्तियुक्त है। बुद्धि का यन्त्र-स्वरूप मन इन्द्रियों को वश में लावे एवं उनको उपयुक्त कर्म में लगावे और यह सब कर्मयोग रूप से किया जावे :—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्त स्तु विशिष्यते ॥३।७॥

किन्तु आत्मसंयम का सारमर्म क्या है? योगरूप से कर्म करने का अर्थात् कर्मयोग का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है, अनासक्ति; इन्द्रिय विषयों और कर्मफल में मन को न लगा कर कर्म करना। इसका अर्थ सम्पूर्ण कर्म-शून्यता नहीं, (कर्मशून्यता तो भ्रम, मोह, आत्म-प्रतारणा है और असम्भावना है) वरं सम्यक्-भाव से स्वाधीनता के साथ कर्म करना, इन्द्रियों और षड्रिपुओं की अधीनता को त्याग कर कर्म करना, कामना-शून्य होकर अनासक्ति भाव से कर्म करना, ये ही सिद्धि-लाभ के प्रथम गूढ़ रहस्य हैं। श्रीकृष्ण ने कहा—इस प्रकार से आत्म-संयम के साथ कर्म करो, 'नियतं कुरु कर्म त्वम्;' मैंने कहा है कि ज्ञान (बुद्धि), कर्म की अपेक्षा बड़ा है 'ज्यायसी कर्मणो बुद्धिः;' किन्तु ऐसी बात मैंने कभी नहीं कही है कि कर्म की अपेक्षा कर्म-शून्यता बड़ी है, पर विपरीत ही सत्य है, 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'। क्योंकि ज्ञान का अर्थ कर्मत्याग नहीं है, इसका अर्थ है समता तथा कामना और इन्द्रिय विषयों के प्रति अनासक्ति। बुद्धि जब प्रकृति की निम्न क्रिया से इन्द्रियावश्यकता से, मुक्त होकर ऊर्द्ध्व में आत्मा में प्रतिष्ठित होती है, एवं आत्म-ज्ञान की शक्ति में एवं शुद्ध

विषय-शून्य आध्यात्मिक अनुभूति के निजानन्द में मन की इन्द्रियों और शरीर की क्रियाओं को नियमित करती है—'नियतम् कर्म'* कहने से बुद्धि की उसी अवस्था का बोध होता है। कर्मयोग के द्वारा बुद्धियोग परिपूरित होती है। आत्ममुक्तिदायक बुद्धियोग कामना-शून्य कर्मयोग के द्वारा सार्थक होता है। इस प्रकार से गीता ने निष्काम कर्म की प्रयोजनीयता समझाई है और सांख्यवादियों के केवल बाह्य, शारीरिक विधि का परित्याग करके उनके आभ्यन्तर ज्ञान की प्रणाली के साथ योग की प्रणाली का मिलन किया है।

(अग्रिम अङ्क में समाप्त)

* "नियतम् कर्म" की साधारणत: जिस प्रकार की व्याख्या की जाती है, उस व्याख्या को मैं ग्रहण नहीं कर सकता। साधारणतः टीकाकारों ने "नियतम् कर्म" का अर्थ सन्ध्या उपासना प्रभृति वेदोक्त नित्य नैमित्तिक कर्म समझा है। पूर्वोक्त श्लोक के 'नियम्य' शब्द को लेकर ही इस श्लोक में 'नियतम्' कहा गया है, इसमें सन्देह नहीं है। प्रथम श्रीकृष्ण ने एक तत्व का वर्णन किया—जो व्यक्ति मन के द्वारा इन्द्रियों को नियमित करके कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करता है, वही श्रेष्ठ है—'मनसा नियम्य आरभते कर्मयोगम्' इसके बाद ही इस तथ्य-वर्णन से उन्होंने एक उपदेश निकाला, इस तथ्य-वर्णन के सार को लेकर एक नियम में परिणत किया—'नियतं कुरु कर्म त्वम्' तुम नियत कर्म करो। यहां पर 'नियतम्' शब्द में 'नियम्य' को लिया है, 'कुरु कर्म' ने 'आरभते कर्मयोगम्' को लिया है, बाह्यविधि के द्वारा निर्दिष्ट नैमित्तिक कर्म नहीं, मुक्त बुद्धि के द्वारा नियत कामना-शून्य कर्म ही गीता की शिक्षा है।—लेखक

किस पथ से ?

किस पथ से वह पान्थ गया है ?

अगम सुगम या दुर्गम पथ से
वन पर्वत के निर्जन मग से
ग्राम नगर के घण्टा पथ से
जीवन के या सूने पथ से—
नैनों की सब पीड़ा हर के
व्याकुल चित को शीतल कर के
जन लोचन में पद-रज रख के
धूमिल दिशि में सम्मुख बढ़ के—
हँस के रोके और रुला के
हिय में सब के प्रेम बसा के
फिर प्रियतम से नेह लगा के
त्याग राग की बीन बजा के—
भव-बन्धन को छोड़ छुड़ा के
नेह गेह सों तोड़ तुड़ा के
दुख में सुख की झलक दिखा के
चिर सेवा की अलख जगा के—
शैल शिखा के उत्तर पथ में
विश्व वीचि के फेनिल मग में
मनो राज्य के शुभ शतपथ में
स्ववैभव के पावन पथ में—

किस पथ से वह पान्थ गया है ?

'द्विरेफ'

रुई की बैलगाड़ियाँ

ले०—वंशीधर विद्यालङ्कार

इधर दक्षिण देश में सर्दियों के दिनों में रुई की बैलगाड़ियाँ बिक्री और प्रेसिङ्ग के लिए शहरों में आती हैं। जिस समय प्रातःकाल होना प्रारम्भ होता है उस समय ये बैलगाड़ियाँ जिस प्रकार आती हैं, उनका एक चित्र इस कविता में खींचने का प्रयत्न किया गया है।—ले०

(१)

सूखी; बरसाती नदिया के,—
पुल पर मट्टी के, छोटे से,—
बैठा हूँ मैं—मेरे आगे,
चिह्न लिए नूतन स्मृतियों के,—
राह चली जाती है अपने,
रस्ते पर अविरल धारा से।
सरिता तो केवल जाती है,
राह मगर जाती आती है॥

(२)

पौष मास है, घास दीखती,
पक हुए पीले गेहूँ—सी।
थोड़ा पानी, धूप ज़रा सी,
इसको कुछ से कुछ कर देती।
थोड़े पानी के मिलते ही,
खिलती हरी भरी मखमल-सी।
ज़रा धूप के लग जाते ही,
पक कर है, पीली पड़ जाती॥

(३)

दिवस-राज की पहली किरणें,
चुपके-से, उगते प्रातः में,—
हर तिनके से आकर लिपटीं,
गई रात का हाल पूछतीं।
इन सूखे तिनकों के दिल की,
मृदु प्रसन्नता सोने जैसी।
भू पर उगी हुई किरणों की,—
नई ज्योति-सी झिलमिल करती॥

(४)

बैल-गाड़ियाँ चली आरहीं,
निद्रित-सी ऊँघतीं ऊँघतीं।
बोरे डाल रुई के जिन पर,
तट पर रख कड़वी का गट्ठर।
यही बिछौना-जिसके ऊपर,
पगड़ी का उपधान बना कर।
देकर सब बोझा रस्ते को,
सोया है किसान गठड़ी हो॥

(५)

आँखें बन्द किए, कुछ खोले,
मानों मूर्तिमान् निद्रा से।—
बैलों के धीमे से पड़ते,
आगे को हैं कदम ऊँघते।
जिन पर पड़ता है गाड़ी का,
आगे ऊँघ ऊँघ कर पहिया।
इसी तरह आगे को बढ़ती,
शान्त-निशा सी गाड़ी चलती॥

(६)

निश्चल गर्दन में बैलों की,
निश्चल हो लटकी हैं घण्टी।
वह चुपचाप खड़ी है ऐसी,
मानों हो मुद्रा निद्रा की।
कभी किसी पत्थर से लगता,
पहियों को जब हलका झटका।—
तब उसमें कुछ गति हो जाती,
जिससे हो टन टन धीमी-सी॥

(७)

पहिए की खड़ खड़ है लगती,
चुप्पी के दिल की धड़कन-सी।
इस सोती दुनिया में इकली,
जाग रही मानों वह ध्वनि ही।
इसके एक सहारे केवल,
वातावरण हो उठे चञ्चल।
जिससे दूर दूर लग जाता,—
पता बैलगाड़ी आने का॥

———

माया

ले०—सुरेन्द्र

(१)

हे स्वर्णिम-द्युति पंखों वाली !
माये ! तेरी ज्योति निराली,
जिसके मोहक आकर्षण से
खिंच आती दुनिया मतवाली ॥

(२)

तेरे पंखों की उज्ज्वलता,
हर लेती है मनो विमलता,
कलुषित कल्मष से भर देती
मुनियों के उर में मादकता ॥

(३)

त्रिगुण मयी ! तू जाल बिछाकर,
अपने पाशों में उलझा कर,
नाटक की नर्तक बाला सी,
छिप जाती है झलक दिखाकर ॥

(४)

तेरी रूप-माधुरी-ज्वाला,
सुधा-गरल की जलती हाला,
पहले सुख का स्रोत बहाती,
पीछे से विषमय कटु प्याला ॥

(५)

अपने ही कर से भर प्याला,
तू देकर हाला पर हाला,
कोमल अधरों से कर चुम्बन,
माये ! कर देती मतवाला ॥

(६)

तू अपनी यों मोहक माया,
अनजाने में गेर अकाया !
मृग तृष्णा-से भव बन्धन में,
फंसा फंसा करती भरमाया ॥

(७)

जो कहते हैं सुख-क्षण-भंगुर,
हेय जगत के हैं, सुख अंकुर,
मायाविनि ! उनको तू अपने,
खींच लगाती है सत्वर उर ॥

(८)

तेरे इस मृदु-परिरंभन में,
मनो मुग्धकर प्रति-चुम्बन में,
शिथिल भाव से पड़े हुए वे,
लक्षच्युत हो जाते क्षण में ॥

(९)

हे रूपसि ! दो रूपों वाली !
हेय कुम्भ विष भर कर आली,
साकी सा भर भर कर प्याला,
पिला पिला करती घट खाली ॥

दक्षिण-भारत में प्रथम गुरुकुल

[ले०—श्री हरिदत्त आयुर्वेदालंकार]

गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के पुनरुद्धारक श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी की अन्तिम समय तक यह इच्छा थी कि दक्षिण-भारत में भी गुरुकुल कांगड़ी के आदर्शों के अनुसार ही एक संस्था स्थापित की जाय जिसके द्वारा कि ब्रह्मचर्य तथा तपस्या का भाव भारत के नौजवानों में कूट-कूट कर भरा जाय जिससे कि वे आनेवाले स्वातन्त्र्य-युद्ध में भारत के लिये पूर्ण उपयोगी हो सकें। उन्होंने अपनी इस हार्दिक इच्छा को पत्रों द्वारा तथा बातचीत में अपने कितने ही मित्रों तथा शिष्यों पर प्रकट किया था। अपने शहीद होने से सिर्फ़ १५ दिन पहिले ही उन्होंने श्री रामचन्द्रजी पेट्यर पर जो कि गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ मे ३ साल तक अध्यापक का कार्य करते रहे थे, इस हार्दिक इच्छा को प्रकट किया कि मैं दक्षिण-भारत में गुरुकुल कांगड़ी के आदर्शों के अनुसार हो एक गुरुकुल स्थापित हुआ देखना चाहता हूँ। उनकी यह भौतिक देह अपनी इस हार्दिक अभिलाषा को पूर्ण हुआ न देख सकी; किन्तु उनको आत्मा स्वर्ग से अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण हुआ देख कर अवश्य ही प्रसन्नता अनुभव करती होगी।

श्रद्धेय स्वामीजी से प्रोत्साहन मिलने पर श्री रामचन्द्र जी ने बंगलौर में आकर इस अभिलाषा को पूर्ण करने का संकल्प किया। बंगलौर दक्षिण भारत में सदा से ही स्वास्थ्य के लिये मशहूर जगह रहा है और आज भी हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े व्यायामविज्ञ (Physical Culturist) यहाँ रह प्रतिदिन हज़ारों नौजवानों को देश के लिये तैयार कर रहे है। इसी बंगलौर से १३ मील की दूरी पर

गुरुकुल का एक दृश्य

शहरों की हलचल तथा चिमनियों के धुएँ की पहुँच से दूर गुरुकुल को स्थापित करने के लिए एक स्थान चुना गया। प्रथम यह स्थान भी साधु वास्वानी जी द्वारा शक्ति-आश्रम खोलने के लिये चुना गया था किन्तु उनके अपने कार्य को स्थगित कर देने पर इसी स्थान पर गुरुकुल की स्थापना करने का निश्चय किया गया। यह स्थान एक छोटी नद

वृषभावती के किनारे केंगरी (Kengeri) ग्राम से ½ मील के फ़ासले पर चीड़ के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों छोटी-छोटी हरी-भरी पहाड़ियों से घिरा हुआ एक छोटा मैदान है। इस स्थान पर प्रकृति देवी अपने सुन्दरतम रूप में प्रगट हुई है। बंगलौर के श्री डा० रामराव जी रिटायर्ड सिविल सर्जन ने इस शुभ-संकल्प को पूरा करने के लिये अपनी सारी ज़मीन दे दी और २६ फ़रवरी १९२८ के शुभ दिन इस स्थान पर गुरुकुल की स्थापना की गई।

गुरुकुल का प्रारम्भ कुछ छोटी झोंपड़ियों मे कर्मचारियों तथा ब्रह्मचारियों के साथ हुआ था और

गुरुकुल के ब्रह्मचारी तथा कर्मचारीगण

|ब से आज तक यह लगातार उन्नति ही करता |ला आ रहा है। इस समय गुरुकुल में ७ कर्मचारी .५ ब्रह्मचारी तथा रहने और पढ़ने के पक्के मकान, |स्तकालय, भोजन-भण्डार, हस्पताल आदि सभी |ीज़ें बन चुकी हैं और इसके सिवाय समीपस्थ |ामों मे गुरुकुल की तरफ़ से ३ दिन के स्कूल तथा :क रात्रि-स्कूल, एक पुस्तकालय, Reading oom तथा हस्पताल भी क़ायम किया जा चुका है। इतने थोड़े ही समय में इसका अधिक विस्तार हो जाना इस बात की प्रत्यक्ष साक्षी है कि लोगों ने इसकी आवश्यकता को दिल से अनुभव किया है।

श्रद्धेय स्वामीजी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के समय जो उद्देश्य अपने सामने रक्खा था, वह उन्होंने गुरुकुल के एक प्रतिष्ठित दर्शक Mr. Myron H. Philips के सामने निम्न शब्दों मे प्रगट किया था—

"Our object was a school where strong and religious charactor could be built up on the basis of pure Vedic instructions We recognised two great want of the people —man of charactor and religious unity Our primary aim is simply to give our boys the best moral and ethical training it is possible to give them—to make them good citizens and religious men and to teach them to learning for learning's sake" (Gurukula through European eyes page 13)

"हमारा मुख्य उद्देश्य ऐसी संस्था स्थापित करने का था जहाँ कि शुद्ध वैदिक आदर्शों के अनुसार नौजवानों को दृढ़ और धार्मिक व्यक्तित्ववाले बनाया जा सके। हमने मनुष्यों की दो बड़ी आवश्यकताओं को अनुभव किया है अर्थात् सदाचारी मनुष्य और धार्मिक एकता। दूसरा मुख्य उद्देश्य यथासम्भव नौजवानों को सदाचार की शिक्षा देना और उनको अच्छा नागरिक तथा धार्मिक बनाना

है और इसके साथ-साथ ही उनको उत्तम शिक्षा देना।"

इन्हीं आदर्शों को लेकर सन् १९०२ ई० में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की गई थी और उसके बाद से उत्तर-हिन्दुस्तान में छोटे-बड़े बीसियों गुरुकुलों की स्थापना हो चुकी है किन्तु दक्षिण-भारत में १९२८ ई० से पहिले एक भी गुरुकुल की स्थापना नहीं हो सकी। इसका मुख्य कारण यही समझ में आता है कि दक्षिण-भारत हिन्दुस्तान के इतिहास के प्रारम्भ से ही अनार्यों की बस्ती समझा और कहा जाता रहा है और यहाँ के लोग धर्म के नाम से अपने पुराने विचारों का एक रत्ती-भर भी बदलने के लिए तैयार नहीं होते हैं। इसी लिए यदि कोई यहाँ पर जन्म-मूलक जाति-भेद को न मानकर शुद्ध वैदिक आदर्शों के अनुसार ऐसी संस्था क़ायम करना चाहे, जहाँ कि सब वर्णों के विद्यार्थी एक साथ खान पान तथा शिक्षा ग्रहण कर सकें, तो वे न केवल उसके साथ असहयोग ही करेंगे किन्तु उनको प्राण-पन से नष्ट करने की चेष्टा भी करेंगे। इसी लिए आज से ६ साल पूर्व तक ऐसी संस्था का क़ायम करना असम्भव कल्पना समझी जाती थी। किन्तु आजकलके नौजवान असम्भव को सम्भव कर दिखा रहे हैं। नौजवान युवकों के एक समूह ने श्रद्धेय स्वामीजी की इस अभिलाषा को भावी हिन्दुस्तान तथा वैदिक धर्म की उन्नति के लिए आवश्यक समझा और उन्होंने स्वामीजी की मरते समय की इस अन्तर्वेदना को दिल में अनुभव किया। हज़ारों संकटों के आने की आशंका होने पर भी उन्होंने वैदिक संस्कृति के गौरव इस गुरुकुल को स्थापित और अब तक सैकड़ों विपत्तियों के आने पर भी वे उसकी उत्साह-पूर्वक उन्नति करते चले आ रहे हैं।

इस समय गुरुकुल में कर्नाटक तथा मद्रास-प्रांत के सभी जातियों के लगभग २२ विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। विद्यार्थियों को खाना-पीना तथा शिक्षा आदि सब कुछ निःशुल्क दिया जाता है। गुरुकुल में संस्कृत, हिन्दी, इँग्लिश, कैनाड़ी आदि भाषाओं का ज्ञान तथा भूगोल, इतिहास, गणित, धर्मशिक्षा आदि विषयों की शिक्षा मुख्यतः दी जाती है। इस के साथ-साथ ही कातना, बुनना, Gardenig आदि आजकल के उपयोगी राष्ट्रीय विषयों की भी क्रियात्मक शिक्षा दी जाती है और ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक योगासन तथा यौगिक अभ्यासों की भी उचित शिक्षा दी जाती है। किन्तु सबसे बड़ी विशेषता जो कि इस गुरुकुल की शिक्षा के विषय में कही जा सकती है, वह किताबों की शिक्षा को दूर करके मौखिक शिक्षा देने की है। आजकल के सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी सभी स्कूलों तथा

प्रात:कालिक सन्ध्या

विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी किताबों को रटने में ही अपनी सारी शक्ति और प्रतिभा को खर्च कर देते हैं और फिर भी वे उस विषय को उतनी योग्यता से ग्रहण नहीं कर सकते हैं, जितना कि विना पुस्तकों के उस विषय को ग्रहण कर सकते हैं। इसका परिणाम यह होता हैं कि विद्यार्थी अपने विद्यार्थी जीवन से रिटायर्ड होने के बाद जब दुनिया में प्रवेश करता है, तो वह अपने ज्ञान को किताबों तक ही सीमित समझता है और जिन किताबों के वह इस जगत् में अपनी सत्ता को स्थिर रखने में बड़ी कठिनाइयाँ अनुभव करता है। इसलिए कविश्रेष्ठ रवींद्रनाथ टैगोर ने अपने एक भाषण में कहा था—

"The genious of our boys is crushed between the book leaves."

ब्रह्मचारी व्यायाम तथा योगासन कर रहे हैं

अर्थात्—"हमारे विद्यार्थियों की प्रतिभा पुस्तकों के पृष्ठों के बीच में कुचली जाती है।"

इसलिए प्रत्येक विषय की शिक्षा जहाँ तक सम्भव होती है वह कहानियों तथा साधारण बातचीत और प्रतिदिन के उपाख्यानों द्वारा ही दी जाती है। इससे विद्यार्थी जहाँ किताबों को रटने की आदत को छोड़कर अपने दिमाग़ पर पड़नेवाले बोझ से बच जाते हैं वहाँ वे उस बचे हुए समय से अन्य भी उपयोग ले सकते हैं। इसका मुख्य फायदा यह होता है कि विद्यार्थी दिन-दिन किताबों को न रट कर किताबी कीड़े नहीं बनते किन्तु वे अपने दिमाग़ से विषय को समझ कर ग्रहण करने की कोशिश करते हैं और विषय को ज़्यादा अच्छी

गुरुकुल के ब्रह्मचारी स्वयं बरतन साफ़ कर रहे हैं

तरह से समझ पाते हैं। इस प्रकार की शिक्षा का ही यह परिणाम है कि इतनी छोटी उम्र में विद्यार्थियों ने अपनी एक सभा क़ायम कर ली है जिसका नाम "आर्य-कुमार सभा" है। इसमें प्रति सप्ताह वे स्वयं ही व्याख्यान देते तथा भिन्न-भिन्न राजनैतिक तथा सामाजिक विषयों पर वाद-विवाद भी करते हैं तथा एक "गुरुकुल ज्योति" नाम की पत्रिका भी वे प्रति मास कैनाड़ी भाषा में अपने आप लिखकर प्रतिमास प्रकाशित करते हैं। इसमें लिखे गये लेख हिन्दुस्तान की किसी भी संस्था के इतनी उम्र के विद्यार्थियों से कई दर्जे अच्छे होते हैं। इसी लिए यह आशा की जाती है कि इस संस्था से निकले हुए स्नातक संसार में जाकर सिर्फ़ किताबों पर ही अपने को आश्रित न समझ कर दुनिया में ज़्यादा योग्य साबित हो सकेंगे और सरजार्ज एंडरसन ने जो अपनी सम्मति भारतीय स्नातकों के विषय में लिखी है, उसे ग़लत सिद्ध करेंगे। अर्थात्

"A derelict a wanderer on the fall as the earth, uneinployed, vecanse—he is unemployable."

एक अन्य विशेषता जिसकी तरफ़ सबसे प्रथम इसी गुरुकुल ने क़दम उठाया है और जिसने इसको अन्य गुरुकुलों से बहुत ऊपर उठा दिया है वह है ब्रह्मचारियों की आत्म-निर्भरता। प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक जितने भी कार्य होते हैं वे सब विद्यार्थी स्वयं अपने हाथ से ही करते हैं। किसी भी कार्य के लिए उसको नौकर (Helper) की आवश्यकता नहीं पड़ती है। प्रातःकाल उठते ही शौच जाकर दन्तधावन करके प्रार्थना करते हैं। इसके बाद छोटे विद्यार्थी आँगन को साफ करते हैं, मध्यम अवस्था के विद्यार्थी बर्तन साफ़ करते तथा पानी आदि भरते हैं और बड़ी अवस्था के विद्यार्थी अन्य कार्यों को करते हैं। प्रतिदिन दो विद्यार्थी भोजनालय के कार्य के लिए नियुक्त किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कपड़े साफ़ करना, बग़ीचे में पानी देना, रसद लाना आदि जितने भी प्रतिदिन के कार्य होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी स्वयं अपने हाथ से ही करते हैं। यह आत्म-निर्भरता सचमुच ही इस संस्था की एक ऐसी विशेषता कही जा सकती है जिसका कि अनुकरण प्रत्येक संस्था तथा विशेषतया गुरुकुलों को अवश्य ही करना चाहिए। वेद में ब्रह्मचारी के लिये जिस तप का वर्णन किया गया है उसी का यथासम्भव अनुकरण इस संस्था में किया गया है।

इसके अतिरिक्त सब वर्णों को एक साथ ही शिक्षा देना तथा भोजन करना ये सब विशेषतायें यद्यपि भारतीय शिक्षा के लिए नई बातें नहीं कही जा सकती हैं और आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी भारतवर्ष की शिक्षा में इस प्रकार की समानता बरती जाती थी जैसा कि निम्न एक उद्धरण से मालूम किया जा सकता है—

"The high, indeed unparalaled, specialisation of the meditative and the intellectual life of India, and its respect for Indian education are expressed by the group of the sanyasies or peripatetic teacher his disciples with prince and peasent, here meeting in equality of studentship." (Dramatisation of History. By petric geddes. P. 29.)

किन्तु फिर भी दक्षिण-भारत में आज भी ऐसी संस्थायें मिलनी मुश्किल हैं जहाँ कि इस विषय की तरफ़ कुछ क़दम उठाया गया हो। इसलिए इस विषय में आगे क़दम उठाकर इस संस्था ने दक्षिण-भारत के आगे अपनी धर्म की संकीर्ण गली को

छोड़ कर धर्म के विस्तृत मैदान में आने के लिए आह्वान किया है और आशा है कि भविष्य में दक्षिण-भारत अपनी इस मार्ग-दर्शक संस्था को ज़रूर याद करेगा।

गुरुकुल की तरफ़ से एक प्रचार-विभाग भी खोला गया है। इसका उद्देश्य गाँवों में प्रचार-केन्द्र स्थापित करके ग्रामवासियों को वैयक्तिक तथा सामूहिक सफ़ाई के लिए प्रेरित करना, ग्रामों का संगठन करके ऐसी ग्राम-सभायें स्थापित करना जिनके द्वारा ग्रामवासियों को अपने अधिकारों का पता लग सके तथा बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना और उनकी शारीरिक और बौद्धिक उन्नति करना तथा ग्रामवासियों को चिकित्सा संबंधी सहायता देना। इस विभाग की तरफ़ से केंगरी ग्राम में एक बड़ा सभा-भवन बनाया गया है, जिसमें एक चिकित्सालय है। यह चिकित्सालय एक शिक्षित डाक्टर के इञ्चार्ज में रहता है और प्रतिमास १००० से अधिक मनुष्य Surgical and Medical सहायता प्राप्त करते हैं। इसके साथ-साथ ही एक पुस्तकालय तथा वाचनालय भी स्थापित किया गया है। पुस्तकालय में इस समय वर्नाकुलर तथा इँग्लिश की लगभग ५०० पुस्तकें हैं तथा कुल पत्र-पत्रिकाओं की संख्या १३ है। बच्चों की शिक्षा के लिए तीन दिन की पाठशालायें तथा एक रात्रि-पाठशाला स्थापित की गई है जिनमें कि लगभग ५० विद्यार्थी प्रतिदिन शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते हैं। प्रति सप्ताह हरिजन विद्यार्थियों को स्नान करवाना, भजन आदि सिखाना तथा हरि-कथा करने का भी प्रबन्ध किया है। इस प्रकार इस विभाग में अभी तक कर्मचारी ही कार्य करते हैं, क्योंकि विद्यार्थी अभी तक बहुत छोटी अवस्था के ही हैं, किन्तु यह आशा की जाती है कि निकट-भविष्य में ब्रह्मचारी ये सब काम स्वयं अपने हाथ से ही करने लग जायेंगे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचारियों को कर्मयोग के द्वारा तपस्या तथा ब्रह्मचर्य की शिक्षा देना ही इस संस्था का मुख्य उद्देश्य है। और इसी उद्देश्य को अपने सामने रख कर, भगवान् श्रीकृष्ण के "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" के उपदेश को याद करके यह निरन्तर चुपचाप इन विस्तृत पहाड़ियों के बीच में अपने कर्तव्य को करती चली जा रही है। यद्यपि अभी तक लोगों को इस संस्था के विषय में उतना ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, जितना कि इस संस्था के लिए आवश्यक है, किन्तु यह आशा की जाती है कि शीघ्र ही यह संस्था दक्षिण-भारत की आदर्श संस्था सिद्ध होगी और दुनिया में वैदिक धर्म के नाम को उज्ज्वल करेगी।

मेरा दैन्य

[कवियित्री—श्रीमती सरस्वती देवी साहित्याचार्य]

मेरी जीर्ण कुटी में आकर, तुम करते हो अमृत वर्षण;
धन्य धन्य तुम कर जाते हो, मुझको मेरे जीवन-धन!
क्या कहते हो "दीन जनों पर, है मेरा दृढ़तम अनुराग;
गगन विचुम्बित प्रासादों से, मैं बचकर आता हूँ भाग"॥

सत्य सत्य जगदीश! इसी से, दीन-नाथ है तेरा नाम;
करुणा की धारा से बरबस, करते जन को पूरण काम॥
यही दैन्य, निधि रूप मुझे है, इसे न करना मुझसे दूर;
दीन बनी मैं तुमको देखूँ, इन नयनों से नित भरपूर॥

राष्ट्र का वीर योद्धा—

स्वर्गीय वीरेन्द्रनाथ शशमल

[ले०—कृष्णचन्द्र]

"उच्चकोटि का स्वाभिमान उन्हें इसकी आज्ञा न देता था कि उनका देश परतन्त्र रहे, उन्हें कोई गुलाम कहे। वे इसी प्रबल भावना से देश के स्वातन्त्र्य संग्राम में मध्यकालीन राजपूत की तरह जूझ पड़े; देश की आन बचाने के लिए उन्होंने सच्चे राजपूत की तरह अपना सब कुछ—कपड़े जूती तक भी—त्याग दिया।"

"मेरा सिर चिता पर भी न झुकाया जाय," यह बंगाल के वीर नेता वीरेन्द्रनाथ शशमल की अन्तिम इच्छा थी। इस इच्छा में उनका सम्पूर्ण चित्र प्रतिबिम्बित है। वह अपने सारे जीवन में अदम्य व स्वतन्त्र और साहसी बने रहे, किसी के सामने सिर न झुकाया कभी परवश न हुए। स्वतन्त्रता और प्रान्त-गौरव की यही उत्कट भावना थी, जो उन्हें देश के गौरव व स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये सार्वजनिक जीवन में खींच लाई। उच्चकोटि का स्वाभिमान उन्हें इसकी आज्ञा न देता था कि उनका देश परतन्त्र रहे, उन्हें कोई गुलाम कहे। वे इसी प्रबल भावना से देश के स्वातन्त्र्य संग्राम में मध्यकालीन राजपूत की तरह जूझ पड़े, देश की आन बचाने के लिए उन्होंने सच्चे राजपूत की तरह अपना सब कुछ—कपड़े-जूती तक का भी—त्याग किया। सर्वस्व त्याग, संगठन-शक्ति और स्वातन्त्र्य की उत्कट भावना के कारण ही बंगाल में उनका अपरिमित प्रभाव हो गया था, जिसे देखकर सरकार सदा उनसे काँपती रहती थी।

बंगाल के इस वीर योद्धा का जन्म आज से ५४ साल पूर्व १८८० में तहसील काथी (ज़िला मिदनापुर) के चण्डीवेरी गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री विश्वम्भर शशमल था। घर में पालन-पोषण और शिक्षा का ठीक क्रम चलता रहा। कुशाग्र बुद्धि होने के कारण वे शीघ्र ही सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते गये और उन्होंने एफ० ए० पास कर लिया। इस समय तक उनमें स्वतन्त्र प्रकृति, आत्म-निर्भरता का वह भाव प्रबल रूप से उत्पन्न हो चुका था। उनकी इच्छा ज़रूर मानी जानी चाहिये, उन्हीं की इच्छा सर्वोपरि है। उसी समय युवक वीरेन्द्रनाथ के दिल में यूरोप जा कर शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई। माता-पिता तथा अन्य सारे सम्बन्धियों ने उनकी इच्छा का तीव्र विरोध किया। परन्तु इससे उन्होंने अपना विचार न बदला। वे अपने बड़ों की इच्छा के विरुद्ध १६०२ में इंगलैण्ड के लिये चल ही पड़े। १९०५ई० में बैरिस्टर होकर वे वापस भारत पहुँचे। कुछ सालों तक आपने कलकत्ता हाईकोर्ट में प्रैक्टिस शुरू की और फिर मिदनापुर चले गये। यहाँ आपकी गिनती शीघ्र ही उच्चकोटि के बैरिस्टरों में होने लगी। श्री की वर्षा होने लगी।

यों तो आप सार्वजनिक जीवन में कई साल पहले से ही प्रवेश कर चुके थे, परन्तु वस्तुतः १९१४ ई० से आप इस क्षेत्र में विशेष रुचि लेने लगे। दामोदर की भीषण बाढ़ ने जल-प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया था, हज़ारों मकान धराशायी हो गये थे, सैकड़ों पशु बह गये थे और जनहानि भी कम न हुई थी। हज़ारों ग्रामीण बे-घरबार होकर दाने-दाने

को मुहताज हो रहे थे। उनकी सेवा करने को कोई आगे न आता था। ऐसे समय श्री वीरेन्द्रनाथ आगे बढ़े। उन्होंने उनकी सेवा करने में, उन्हें आश्रय और अन्न की सहायता देने में दिन रात एक कर दिया। अपना पूरा समय इस कार्य के लिये सौंप दिया। बैरिस्टर वीरेन्द्रनाथ अदालतों को—जहाँ प्रति मिनट चाँदी की वर्षा हो रही थी—छोड़ कर गाँवों में गये, उन लोगों की सेवा करने के लिये, जिनके पास तन के लिये न कपड़ा रहा था, न खाने को अन्न का एक दाना। उनका निस्स्वार्थ अनथक और आदर्श सेवा ने सारे बंगाल का ध्यान उधर खींच दिया। सभी पत्रों में बैरिस्टर वीरेन्द्रनाथ शशमल की सेवाओं की चर्चा होने लगी। सेवा और त्याग से ही कोई जनता का पूज्य हो सकता है, यह वीरेन्द्रनाथ ने कर दिखाया। आपकी ऐसी लगन देख कर सरकार भी आश्चर्यान्वित रह गई। इसके बाद आप मिदनापुर के सार्वजनिक जीवन में अच्छी तरह भाग लेने लगे। म्यूनिसिपल कमेटी के सदस्य बन कर जनता की अधिकाधिक सेवा की।

इतने में ही सन् १६२० का वह प्रसिद्ध वर्ष आ गया, जिस साल भारत के सेकड़ों लक्ष्मी के दुलारे वकीलों व बैरिस्टरों ने अपनी हज़ारों की आमदनी पर लात मार कर लोक सेवा का व्रत लिया था। पं० मोतीलाल नेहरू अलाहाबाद में अपने पेशेवालों के लिये त्याग का आदर्श पेश कर रहे थे, तो कलकत्ते में स्व० देशबन्धुदास अपने सहकारियों के साथ अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित कर रहे थे। कलकत्ता में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अवसर पर जब स्व० दास अपने सुख-वैभव, वेश-विन्यास पर लात मार कर मोटे खुरदरे कपड़ों में लोगों के सामने आये, तब सम्पूर्ण जनता ने उनके असाधारण त्याग को देख कर श्रद्धा से अपना मस्तक नत कर लिया था। श्री वीरेन्द्रनाथ शशमल भी पीछे रहनेवाले न थे। उन्होंने भी अपने सेनापति के साथ लोक-सेवा का व्रत लेकर सर्वस्व त्याग कर दिया।

तब से वे हमेशा श्री दास के दाहिने हाथ रहे। उनके त्याग का महत्त्व और भी अधिक प्रतीत होने लगता है। जब हम यह देखते हैं कि नागपुर-कांग्रेस से लौटने पर उनके पास इतना पैसा भी न रहा था कि वे कलकत्ते का जीवन व्यतीत कर सकते। उन्होंने गाड़ी-घोड़े सब बेच दिए। हज़ारों कमाने वाले इस बैरिस्टर के पास मकान तक का किराया देने को न रहा, आखिर वे मिदनापुर चले गये।

कलकत्ता राजनैतिक आन्दोलन से बचने के लिये न छोड़ा था, परन्तु अपने रहन सहन के लिए दूसरों से पैसे लेना आपके लिए असम्भव था। उनका आत्म-गौरव इसकी आज्ञा न देता था। वे मिदनापुर पहुँच कर जोरों के साथ कांग्रेस-आन्दोलन में लग गये। तमलुक, कांथी, घराल तहसीलों में आपने दो मास तक पैदल यात्रा कर वहाँ के निवासियों को राष्ट्रीयता का सन्देश सुनाया। यह उस समय नई बात थी। कांग्रेसी नेताओं के लिये यह नया आदर्श था कि वे जनता से मिलने के लिये अपने ऐश-आराम का इस सीमा तक त्याग कर दें। इन्हीं दिनों सरकार ने बंगीय ग्राम्य-स्वायत्त-शासन क़ानून बनाया। इससे बंगाल के नागरिकों के अधिकारों पर कुठाराघात होता था। इसका खूब विरोध हुआ। श्री वीरेन्द्रनाथ शशमल ने इस अन्याय कारक क़ानून के विरुद्ध कांग्रेस से सत्याग्रह —लगानबन्दी का सत्याग्रह करने की आज्ञा चाही। कांग्रेसी नेता अभी इतना भीषण क़दम बढ़ाने के लिये तैयार न थे। लेकिन वीर स्वाभिमानी नेता ने

इसकी परवा न की और अपनी ज़िम्मेवारी पर किसानों में सत्याग्रह-आन्दोलन जारी कर दिया। यद्यपि उस आन्दोलन में अन्य नेताओं के सहयोग न देने और अभी पूर्ण समय न आने के कारण पूरी सफलता प्राप्त न हुई, तथापि सरकार के लिये भीषण समस्या अवश्य उपस्थित हो गई। किसानों में यह आन्दोलन इतने तीव्र रूप से फैल गया कि उन्होंने कर देने से इन्कार कर दिया। सरकार को वसूली के लिये सशस्त्र पुलिस तक भेजनी पड़ी। इसी आन्दोलन में इस सर्वस्व त्यागी नेता ने देखा कि यदि जनता में काम करना हैं, तो उन्हीं में मिल जाना आवश्यक है। जनता से अपने को दो अंगुल दूर रख कर यदि नेता चाहें, तो वे कोई आन्दोलन नहीं चला सकते—जन सेवा नहीं कर सकते। परन्तु जनता—भारत की ग्रामीण जनता इतनी दरिद्र है कि उसके पास कपड़े तक नहीं हैं। उसके पास सुन्दर सुन्दर कपड़े पहन कर यदि नेता जावेंगे, तो जनता उनका मान तो करेगी, परन्तु उन्हें अपना नहीं समझ सकती। जनता के साथ अपने को मिला देने के लिये—तन्मय हो जाने के लिये इस त्यागी वीर ने इन दिनों जूती तक का परित्याग कर दिया था। महात्मा गान्धी को छोड़ कर कितने हैं भारत में इस सीमा तक त्याग करनेवाले!

कुछ समय बाद १९२१ ई. में भारत में ड्यूक आफ़ कनाट पधारे। उनके बहिष्कार का देशव्यापी आन्दोलन किया गया था। श्री शशमल ने बंगाल में हड़ताल संगठित की। बड़ी ज़बर्दस्त हड़ताल की गई। गोरे यात्रियों को घोड़ागाड़ी तक नहीं मिला। दूध, दही, सब्ज़ी तक की दुकानें कलकत्ते में बन्द थीं। वह हड़ताल कलकत्तावासी आज तक याद करते हैं।

इसी साल दिसम्बर में स्व० दासबाबू के साथ आप गिरफ़्तार हुए। ६ मास के बाद रिहा होने पर आपने कांग्रेस का कार्य और भी ज़ोरों के साथ शुरू कर दिया। १९२३ ई. में जब स्वराज्य-पार्टी की स्थापना हुई आपने अपने सेनापति को पूरा सह-योग दिया। आप तभी से उनके दाहिने हाथ समझे जाने लगे। आप भी बंगाल-कौंसिल में चुने गये।

१९२८ ई. में आप मिदनापुर के ज़िला-बोर्ड के अध्यक्ष चुने गये। आपने इस पद पर रहकर जनता की खूब सेवा की। परन्तु आपका देश-प्रेम सरकार सहन न कर सकी।

१९२०-२१ ई. के देश के वीर असहयोगी सैनिकों को जिन्होंने राष्ट्र का आह्वान सुनकर अपनी आजी-विका पर लात मार दी थी, आपने बहुत सहायता दी। बहुत से देश-भक्तों को ज़िला-बोर्ड में रखकर आपने अपूर्व साहस का परिचय दिया।

आपने ज़िला-बोर्डों और स्थानीय संस्थाओं के सामने यह नवीन आदर्श रखा कि उन पर अधि-कार कर किस तरह देश की सेवा की जा सकती है। इससे सरकार बुरी तरह नाराज़ हो गई। आप के कार्यों की खूब देखभाल होने लगी। आख़िर एक दिन आर्डर निकाल कर उनसे डिस्ट्रिक्टबोर्ड की अध्यक्षता ले ली। परन्तु इससे उनका प्रभाव और भी बढ़ गया।

अब भी आप कांग्रेस-कार्य में उत्साह से भाग ले रहे थे। १९२६ ई० में कृष्णनगर में बंगाल-कांग्रेस के आप अध्यक्ष चुने गये। स्व० दास से जो हिन्दू-मुस्लिम-पैक्ट बनाया था, उसमें आपका भी कम हाथ न था। स्व० दास की मृत्यु के बाद बंगाल में और सम्पूर्ण भारत में राजनैतिक आन्दोलन शिथिल हो गया आप भी फिर अपने अदालती कार्य में लग गये।

१९३० ई० में राष्ट्र फिर एक बार प्रसुप्त सिंह की तरह जाग उठा। सारे देश में एक नये जीवन का संचार हो गया। राष्ट्रीय संग्राम ने सरकार को भयभीत कर दिया। नमक-आन्दोलन बढ़कर भद्र-अवज्ञा के रूप में परिणत हो गया। सरकार घबरा कर दमननीति का चक्र चलाने लगी। उचित अनुचित का ख़याल न रहा। कांची तहसील—वीरेन्द्र नाथ की तहसील—में पुलिस का अत्याचार अपनी सीमा पार कर गया। वीरेन्द्रनाथ ने पुलिस के इन निर्दय अत्याचारों का तीव्र विरोध करके ही शान्त न हुए। आपने ग़ैर-सरकारी समिति बनाकर उन अत्याचारों की जांच भी शुरू कर दी। उनका कहना था कि जब सरकार स्वयं जाँच नहीं करती तब निरीह ग्रामीणों पर हुए अत्याचारों की जाँच राष्ट्र को—कांग्रेस को—करनी चाहिये। जांच के समय बड़े-बड़े गुल खिलने लगे, पुलिस के अत्याचारों का रहस्योद्‌घाटन होने लगा। सरकार यह कभी बरदाश्त न कर सकती थी। बंगाल के वीर योधा गिरफ़्तार कर लिये गये। परन्तु आपका कहना था कि जाँच करना सरकार के कानून की दृष्टि से भी जुर्म नहीं है। पुलिस ने खिज कर मुझे गिरफ़्तार किया है। हाईकोर्ट के विद्वान् जजों ने आपकी इस दलील को सुना और आपको रिहा कर दिया। इसी साल आप अपनी राष्ट्रीय सेवाओं के कारण कलकत्ता-कारपोरेशन के सदस्य चुन लिये गये, यद्यपि आपका मुक़ाबला वहाँ के प्रसिद्ध धनी दानी श्री रामाचरण बनर्जी से था।

आप स्व० जे. एम. सेन गुप्त की पार्टी के प्रधान स्तम्भ रहे और उनके देहावसान के बाद उस पार्टी के नेता हुए।

आपका प्रभाव अब तक भी प्रमुख रहा। जब सारे देश में नेशनलिस्ट पार्टी की बुरी हार हो रही थी, आपका विजयी होना आपके व्यापक प्रभाव का प्रबल प्रमाण है। यद्यपि आप कांग्रेस के विरोध में खड़े हुए थे, तथापि सब कांग्रेसी नेताओं को यह विश्वास था कि वे असेम्बली में राष्ट्रीय प्रगति के लिये बहुत सहायक सिद्ध होंगे। वे अब तक भी कांग्रेस के थे, कांग्रेस उनके लिये मान्य संस्था थी। परन्तु मालवीयजी के शब्दों में उनके लिये देश कांग्रेस से भी बड़ा था। साम्प्रदायिक निर्णय को वे भारत के लिये—राष्ट्र के लिये—राष्ट्रीयता के विकास के लिये घातक समझते थे। इस प्रश्न पर कितना ही मतभेद हो, सबको विश्वास था कि वे कांग्रेस के मार्ग में बाधा न डालेंगे। (ठीक ऐसे समय) जब कि कौंसिलों के अनुभवी, राष्ट्रीय समस्या को समझने वाले राष्ट्र के वीर योधा की असेम्बली में विशेष आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, आपका देहावसान सचमुच राष्ट्र की बड़ी भारी क्षति है। आपका देहान्त २५ नवम्बर को हुआ।

उड़ीसा को आपने पृथक् प्रान्त बनाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया था। किन्तु खेद है कि आप उड़ीसा को पृथक् प्रान्त के रूप देखने के लिये बच न सके।

हम भी राष्ट्र के इस वीर योधा से स्वातन्त्र्य की उत्कट भावना, प्रान्त-गौरव व आत्म-सम्मान देश के लिए सर्वस्व-त्याग और कष्टसहिष्णुता की शिक्षा लें।

स्वप्न की कार्य-प्रणाली*

[ले०—श्री राजाराम शास्त्री]

कल्पना कीजिये कि सृष्टि के आदि में मनुष्य को स्वप्न नहीं आते थे। अभी तक स्वप्न की सृष्टि ही नहीं हुई थी। उस समय मनुष्य की क्या दशा होगी। कोई व्यक्ति दिन भर आहार की प्राप्ति के लिये परिश्रम करता रहा, अन्त में उसका शरीर और अधिक परिश्रम न कर सकता था। उसे विश्राम के द्वारा अपनी शक्ति को फिर से ताजा करने की आवश्यकता हुई। दिन भर के काम में शरीर को जो क्षति पहुँची थी उसकी पूर्ति अनिवार्य हो गई। इसी बात को शरीर ने थकावट के रूप में सूचना दी। उधर दिन का प्रकाश भी जाता रहा। आहारान्वेषण के लिये समय भी उपयुक्त न रहा। मनुष्य ने स्वभावतः निद्रा देवी की शान्तिमय गोद में अपने झंझटों से छुटकारा लिया। अपनी सारी चिन्ताओं को भुला दिया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही न रहा। और यदि सारी प्रकृति उसके साथ ही सो जाती तो इस में कोई हर्ज भी न था। उनके समान प्रकृति वाले मनुष्य तथा अन्य प्राणी सो भी गए। क्योंकि परिश्रम उनके लिये प्रकाश रहते हुए ही अधिक स्वाभाविक था। और समान इच्छा वाले होने के कारण जीवन-संग्राम में इन्हीं के साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता विशेष रूप से थी। इस तरह उसकी बहुत सी चिन्ताओं का कारण भी जाता रहा। किन्तु संसार की तो सृष्टि ही द्वन्द्वात्मक है। कुछ प्राणियों को रात्रि में ही अधिक प्रकाश और अवकाश मिलता है। और भिन्न प्रकृति होने के कारण यही प्राणी मनुष्य के सबसे बड़े दुश्मन थे। उन्हें उससे कोई सहानुभूति न थी, न उसकी कोई आवश्यकता थी। ऐसी अवस्था में उसका एकान्त निद्रा में मग्न हो जाना आशंका-रहित न था। और जो व्यक्ति ऐसी नींद सोया वह अवश्य ही इस संग्राम में पराजित हुआ, और उसकी वंश-परम्परा भी उसके साथ ही नष्ट हो गई। इस मैदान में सफल होने की एक ही शर्त थी। और उसे पूरा करना अनिवार्य था। मनुष्य इन रात्रि की आपत्तियों से अपने जीवन की रक्षा तभी कर सकता था जब उसे निद्रा काल में भी उनकी सूचना मिल जाय। पास आती हुई विपत्ति का आभास हो जाय। अर्थात् कम से कम उन शब्दादिकों को ग्रहण करने की शक्ति उसमें शेष रहे, जिनसे उनके जीवन के लिये आशंका स्वरूप आपत्तियों का संकेत मिलता है। संक्षेप में आशंकाओं के प्रति सचेत रहना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त क्रमशः अपनी अन्य आवश्यकताओं के प्रति जाग्रत रहना भी यदि जीवन-रक्षा के लिये नहीं, तो दूसरों से आगे बढ़ जाने में अवश्य ही उपयोगी सिद्ध हुआ होगा। जो व्यक्ति इस प्रकार अपनी जाति के अन्य व्यक्तियों से बाज़ी ले गया होगा संसार में सबसे अधिक उसी का स्थान सुरक्षित होगा। और उसी की सन्तति-परम्परा को स्थायी होने का अधिकतम अवसर प्राप्त हुआ होगा।

इस शर्त को पूरा करने का साधन भी मनुष्य

* स्वप्न मीमांसा नाम की अप्रकाशित पुस्तक का एक अध्याय।

की प्रकृति में ही मौजूद था। इच्छाएँ स्वभाव से ही जागृति-परक होती हैं। और आशंकाओं में तो सचेत करने का गुण विशेष रूप से होता है। जाग्रत काल में जिस आशंका का निराकरण नहीं हुआ है, अथवा जिस इच्छा की पूर्ति नहीं हुई है, वह निद्राकाल में भी चेतना को चैन नहीं लेने देती। उसे विचलित कर ही देती है। किन्तु यदि प्रत्येक इच्छा और आशंका मनुष्य को जगा ही दिया करती, तब तो निद्रा का उद्देश्य ही निष्फल हो जाता। जो व्यक्ति ऐसे रहे होंगे अवश्य ही शरीर की मरम्मत के लिये पर्याप्त अवकाश न मिलने के कारण कुछ दिनों में नष्ट हो गए होंगे। सौभाग्य-वश निद्रा भी बिल्कुल अपने वश की बात नहीं थी। मनुष्य कुछ जान-बूझकर या इच्छापूर्वक नहीं सोया था। इसके लिये भी उसे विवश होना पड़ा था। यह प्रकृति भी उसके स्वभाव में ही थी। इस ओर इच्छाएँ और आशंकाएँ अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये मनुष्य को जगाना चाहती थीं। उधर निद्रा की प्रेरणा उसे सुलाना चाहती थी। दोनों के संघर्ष का फल यह हुआ कि न तो इच्छाएँ और आशंकाएँ उसे बिलकुल जगा ही सकीं और न निद्रा की प्रेरणा बिलकुल सुला ही सकी। फलतः एक अर्द्ध-चेतनावस्था का प्रादुर्भाव हुआ, जो निद्रा और जागृति, चेतन और अचेतन, अवस्थाओं की मध्यावस्था थी। इसी का नाम स्वप्न हुआ। इसमें दोनों अवस्थाओं की सन्धि थी। किन्तु यह सन्धि स्थायी न थी। यह शान्ति की सन्धि न थी, बल्कि युद्ध की सन्धि थी। अर्थात् युद्ध में प्रत्येक पक्ष का दूसरे पक्ष के द्वारा आंशिक गत्यवरोध मात्र था। इसका कदापि यह तात्पर्य न था कि अन्त में कोई एक पक्ष दूसरे पर विजय न प्राप्त कर लेगा। अन्तिम निर्णय तो पक्षों की निर्बलता-प्रबलता पर ही अवलम्बित था। यदि निद्रा पर आक्रमण करने वाली इच्छा या आशंका प्रबल पड़ी तब तो यह अर्ध चेतना की अवस्था पूर्ण चेतना में परिणत हो गई और यदि वह निर्बल पड़ी तो अचेतनावस्था में लीन हो गई। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं की इस क्षणिक सन्धि ने चेतना के लिये एक मध्यस्थ या प्राइवेट सिक्रेटरी का काम दिया, क्योंकि इस प्रकार जो इच्छाएँ या आशंकाएँ जीवन के लिये अधिक महत्व की होने के कारण अधिक प्रबल थीं वही चेतना तक पहुँच सकीं। अन्य साधारण इच्छाओं और आशंकाओं को—जिनका महत्व कम था—इस मध्यस्थ ने स्वयं ही अपने उचित और मोहक व्यवहार से तृप्त कर दिया। निद्रा भङ्ग का कोई कारण नहीं रहा। अर्द्ध चेतनावस्था का गुण अथवा दोष ही यही है कि वह कल्पना और वस्तु स्थिति में, वर्तमान और भविष्य में विवेक नहीं कर सकती। वस्तुतः विवेक से ही चेतना की मात्रा नापी जाती है। अपूर्ण चेतना में भेद भाव या वैषम्य कम होता है। समता का प्राधान्य होता है। "साम्यलयः वैषम्य सृष्टिः।" इस अर्द्ध चेतना के सामने इच्छाओं या आशंकाओं का जो अप्राप्त उद्देश्य उपस्थित था, उसे उसने प्राप्त समझ लिया। इच्छाओं और आशंकाओं से प्रेरित इष्ट-सिद्धि के काल्पनिक चित्र और उसकी वास्तविक सिद्धि में भेद करना असम्भव हो गया। जिस इष्ट को प्राप्त करना था वह प्राप्त दिखाई पड़ा। अब भी बच्चों के स्वप्न में यह गुण बड़ी स्पष्टता और सरलता से दिखाई पड़ता है। उदाहरण लीजिए—

(१) एक छोटी लड़की मिसरी के लिये रोते-रोते सो गई। दूसरे दिन जागने पर रोने लगी। कारण पूछने पर उसने कहा—"कोई मेरा डब्बा भर चाकलेट-बादाम उठा ले गया, जो बिस्तर पर मेरे

पास था।" इस लड़की की उम्र दो वर्ष से कुछ ही अधिक थी। और वह कठिनाई से बोल पाती थी। अवश्य ही उसने यह स्वप्न देख कर अपनी इच्छा तृप्ति की थी कि वह एक बड़े डब्बे में भरा हुआ चाकलेट लिये हुए है, और स्वप्न और जागृति का विवेक न कर सकने के कारण जागने पर रोने लगी थी। (ब्रिल)

(२) एक तीन वर्ष की लड़की पहिली ही बार झील में नाव पर सैर करने को ले जायी गई। उसे इसमें इतना आनन्द आया कि वह नाव से उतरती ही नहीं थी और जब उतारी गई तो रोने लगी थी। दूसरे दिन सबेरे उसने कहा—"आज रात को नाव पर झील में मैं सैर कर रही थी।" (फ्रायड)

बच्चों में ऐसे स्वप्नों की प्रधानता होनी ही चाहिये। क्योंकि उनके मन की गति ठीक वैसी ही होती है, जैसी आदिम मनुष्य के मन की। आखिर आदिम मनुष्य की स्थिति भी मनुष्य जाति का बचपन ही तो थी। मनुष्य की चेतना अभी उद्बुद्ध नहीं हुई थी। इस समय की तुलना में उस समय की जागृति भी अर्द्ध-चेतन ही थी। उस समय मनुष्य की मनस्थिति में जाग्रत और स्वप्न का उतना भेद नहीं था। मनुष्य की इच्छाएं जटिल नहीं थी। उनमें पारस्परिक विरोध नहीं उत्पन्न हुआ था। ऐसी सीधी सादी इच्छाओं को व्यक्त करने के लिये उस समय की विचार शैली भी पर्याप्त और अनुकूल थी। यही कारण है कि ऐसी इच्छाओं से प्रेरित स्वप्न अब भी जागृति की नक़ल ही जान पड़ते हैं।

(३) दक्षिणीय शीत-कटिबन्ध के अन्वेषक डाक्टर 'नारडेन्सक्योल्ड' बतलाते हैं कि ध्रुवीय देश के जाड़ों में जो लोग उनके साथ रहते थे निरन्तर खाने पीने के स्वप्न देखा करते थे। उनकी अन्य इच्छाएँ भी स्वप्नों में तृप्ति-लाभ करती थीं। उनमें से एक ने स्वप्न में देखा कि डाकिया उनके लिये बहुत-सी डाक लाया है। (हूय)

(४) प्रो० मैकमिलन ने, जो 'पीरी' के साथ उत्तर ध्रुव को गए थे, बतलाया कि स्वप्नों में उन लोगों को कितना आनन्द मिला था। कारण स्पष्ट ही है। इन लोगों को जो कि न्यूयार्क के भोजनालयों का उपभोग किया करते थे, सीधे-सादे शीत-कटिबन्ध और सुखाए हुए भोजन पर रहना पड़ा। वे उन चीज़ों को स्वप्न में देखते थे, जिनके लिए वे लाला-यित थे। बढ़िया-बढ़िया सिगार और हाई-बाल पीते थे। (ब्रिल)

किन्तु मनुष्य जैसे-जैसे प्रकृति पर विजय प्राप्त करता गया, उसको बहुत-सी प्रारम्भिक आवश्यक-ताओं को अपूर्ण रहने का अवसर कम मिलने लगा। अब ऐसी इच्छाएं साधारण अवस्था में बहुत कुछ पूरी हो जाती हैं। किन्तु इस स्थिति में मनुष्य प्रायस के ही नहीं आ गया है। इन प्रारम्भिक और जीवन रक्षा के लिये अनिवार्य इच्छाओं की पूर्ति और सभ्यता के निष्कंटक विकास के लिये उसे बड़ा भारी त्याग करना पड़ा है। उसे अपनी बहुत सी इच्छाओं का विरोध करना पड़ा है। उनके लीला-क्षेत्र को सीमाबद्ध कर देना पड़ा है। बहुधा इन्हें तृप्ति से वंचित ही रह जाना पड़ता है। सामा-जिक जीवन में व्यक्ति की इच्छाएँ स्वच्छन्द विलास नहीं कर सकतीं। इसी तत्व पर समाज पर शासन और व्यक्ति की समाज-भक्ति का आधार है। इस समाज-भक्ति के अन्तर्गत वे सभी भय और आशायें सन्निहित हैं, जो व्यक्ति को समाज से तथा समाज को अन्य व्यक्तियों से हो सकती हैं। इन सामाजिक इच्छाओं और व्यक्तिगत इच्छाओं के विरोध के कारण, स्वार्थ और परार्थ के संघर्ष के

कारण व्यक्ति में एक अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। इच्छाओं के पारस्परिक विरोध से उसके मनोभावों में जटिलता आ जाती है। इस विरोध का फल यह होता है कि बहुत सी इच्छाओं का जाग्रत-जीवन में दमन किया जाता है। और यही इच्छाएँ स्वप्न में आती हैं। इस लिये स्पष्ट है कि विकसित मनुष्य के स्वप्नों में ऐसी इच्छाओं का प्राधान्य होगा, जो आन्तरिक विरोध के कारण जागृति-काल में कार्यान्वित नहीं हो सकी हैं, चाहे इन इच्छाओं का आरम्भ ही पूर्व दिन के किसी अनुभव से हुआ हो अथवा ये प्राचीन हों, और पूर्व दिन की किसी घटना से उद्बुद्ध-मात्र हो गई हों। किन्तु इच्छाओं का निग्रह उनकी उपेक्षा और बहिष्कार कर्मों तक में ही सीमित नहीं है। उसका क्षेत्र चेतना तक पहुँचना है। उन पर ध्यान तक नहीं दिया जाता। अर्थात् इन्हें अव्यक्त अथवा तिरोहित कर दिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह निग्रह भी सामाजिक जीवन और अन्तर्द्वन्द्व के विकास का अनुगामी होने के कारण विकसित चैतन्य अर्थात् जागृति-काल का ही सहचर है। और इस लिए स्वप्न की अर्द्ध चेतनावस्था, में इसका उतना प्रभुत्व नहीं रहता। यदि ऐसा न होता तो निगृहीत इच्छाएँ स्वप्न में भी चेतना में प्रवेश ही न पा सकतीं। किन्तु निग्रह-शक्ति के प्रभाव का सर्वांश में लोप भी नहीं हो जाता। स्वप्न में भी इच्छाओं की बिलकुल नग्न क्रीड़ा नहीं हो पाती। इन्हें सीधे मार्ग को छोड़ कर वक्र गति वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यंग्योक्ति, गूढ़ोक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। उन्हें अपना भेश बदलना पड़ता है, जिससे उनका सच्चा स्वरूप, उनका अवांछनीय वीभत्स स्वरूप पहिचाना न जा सके। उनकी कृति अत्यन्त स्पष्ट न हो जाय। और सभ्यता तथा संस्कृति को चोट न पहुँचे।

दूसरी ओर संस्कृति के विकास के साथ साथ जीवन भी जटिल होता गया। इच्छाओं और स्वार्थों की जटिलता के ही कारण जीवन जटिल हुआ। किन्तु जीवन की जटिलता ने भी इच्छाओं के नानात्व और विभिन्नता में असीम वृद्धि कर दी और इन्हें व्यक्त करने के प्रयत्न में विचारों का और भाव-व्यंजन शैली का भी समानान्तर विकास हुआ क्यों कि इस समय के विचारों और इच्छाओं की जटिलता के अभिव्यंजन के लिए पुरानी विचार-शैली बिलकुल ही अनुपयुक्त है। चैतन्य के विकास के कारण अचेतनावस्था और चेतनावस्था, व्यक्त और अव्यक्त का, भेद बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि पुरानी विचार शैली में हम इतने अनभ्यस्त और उससे इतने अपरिचित हो गए कि अब उसे समझना भी हमारे लिए दुरूह हो गया है। यही कारण है कि स्वप्नों की भाषा हमें समझ में नहीं, आती क्यों कि स्वप्न में चैतन्य का ह्रास होने के कारण उस प्राचीन अर्ध चेतनावस्था की पुनरावृत्ति होती है और उसी विचार-शैली का प्रयोग होता है जो अनुद्बुद्ध चेतना के लिए स्वाभाविक है। इसलिये स्वप्नों को समझने के लिए उनका भाषान्तर करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त इच्छाओं का रूप उपर्युक्त वेश-परिवर्तन के कारण ही अप्रत्यक्ष, गूढ़ और लाक्षणिक हो जाता है। इन कारणों से स्वप्न का प्रकट-रूप—जिसे उसकी भाषा अथवा शब्द कह सकते हैं—और उसके आन्तरिक रूप—जिसे उसका तात्पर्य या भाव कह सकते हैं—अर्थात् उसके प्रकट अर्थ और गूढ़ार्थ का विवेक कर लेना आवश्यक है। साम्य के विचार से आगे इनका उल्लेख स्वप्न की 'व्यक्त सामग्री' और अव्यक्त सामग्री' के नाम से किया जायगा।

स्वप्न के अक्षरार्थ को ही तत्त्वार्थ समझ लेने के

कारण अर्थात् उसकी 'व्यक्त सामग्री' और 'अव्यक्त सामग्री' में भेद न कर सकने के कारण ही बहुत काल से वैज्ञानिक लोग स्वप्न को मस्तिष्क का असम्बद्ध प्रलाप और जनसाधारण उसे रहस्यमय, अलौकिक भविष्यद् वाणी समझते रहे हैं और यह स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास का यह दोहा लीजिए:—

मास दिवस का दिवस गा, मर्म न जाना कोइ।
रथ समेत रवि थाकेउ, निशा कौन विधि होई॥

जो लोग इसका अक्षरार्थ करते हैं और उसी को तत्वार्थ समझ लेते हैं उन्हें क्या यह एक असम्भव घटना का प्रदर्शन न जान पड़ेगा? उनका इस बात को लेकर तर्क-वितर्क करना कोई आश्चर्य जनक बात नहीं है कि मास दिवस का अर्थ बारह दिन लिया जाय अथवा तीस दिन। सूर्य का रथ कितने दिन ठहरा रहा? इत्यादि।

किन्तु अलंकार और साहित्यशास्त्र जाननेवालों के लिए इन बातों का कोई महत्व नहीं है। उन्हें तो स्पष्ट दिखाई देता है कि पद्य का अक्षरार्थ तो एक अलंकार मात्र है। वास्तव में कवि का तात्पर्य उस मन स्थिति का चित्रण करना है जो आनन्द के समय हुआ करती है। कौन नहीं जानता कि सुख की घड़ियाँ छोटी होती हैं, दिन घड़ियों में समाप्त हो जाते हैं और महीने दिनों में गुज़र जाते हैं। इसी प्रकार यदि किसी हृदयहीन व्यक्ति को चाँदनीमें खड़ी किसी सौंदर्य-प्रतिमा की ओर संकेत करके कहा जाय—

कनक लता पै चन्द्रमा धरे धनुष द्वै बान।

तो अधिक सम्भव यही है कि वह चन्द्रकिरणों के सिर पर स्थित चन्द्रमा और उसकी कालिमा को अपनी कल्पना से विकृत करके इस पद्यार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन करने लगे। बहुत से उदाहरण देना व्यर्थ है। आदि में मनुष्य की अनुद्बुद्ध चेतना के अनुकूल रचे हुए पौराणिक रूपकों का तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अक्षरार्थ करके कितनी प्रवंचना और कितना अनर्थ किया जाता है, कितना अंधकार फैलाया जाता है, यह किसी से छिपा नहीं है। यहां पर इस विषय के विस्तार के लिए स्थान नहीं है। इतना ही दिखलाना अभीष्ट है कि स्वप्न में प्रकटरूप से जो वस्तुएँ अनुभव में आती हैं वे तो उसकी सामग्रीमात्र हैं जिसका वह अपनी कार्य प्रणाली के अनुसार अपनी इष्टसिद्धि के लिए उपयोग करता है। इसे ही सब कुछ समझ लेने के कारण अब तक वैज्ञानिक लोग स्वप्न को असम्बद्ध स्मृतियों का उन्मत्त ताण्डवमात्र समझते रहे हैं और उसे सम्बद्ध मानसिक व्यापारों की कोटि से सर्वथा बहिष्कृत रखते आये हैं। इसी कारण उनका यह विचार रहा है कि जीवन से स्वप्न का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु स्वप्न के आंतरिक विचारों और भावों के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि स्वप्न के विचार भी जागृत जीवन के विचारों की परम्परा से सर्वथा अविच्छिन्न और अव्यवहित रूपसे उसी संतति में हैं। यह भी उसी अनवरत शृङ्खला के एक अंग है जो जागृत काल में दिखाई देती है और उसी प्रकार पूर्वजीवन के अनुभवों से नियंत्रित और कार्यकारण सम्बन्ध में बँधे हुए हैं। किन्तु जो व्यक्ति अलंकारों के प्रयोग से परिचित नहीं हैं, जिसे यह नहीं मालूम है कि किन किन सिद्धान्तों के अनुसार अलंकृत भाषा का निर्माण होता है वह ऐसी भाषा के गर्भ से उसके मूल तात्पर्य को नहीं निकाल सकता। इसी प्रकार स्वप्न की व्यक्त सामग्री पर पहुँचने के लिए उसकी कार्य प्रणाली का ज्ञान आवश्यक है। यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि स्वप्न की विचार-शैली उन अवस्थाओं की विचारशैली है जिन में चेतना अनुद्बुद्ध रहती है, जैसे व्यक्ति, अथवा समाज का बाल्यकाल इत्यादि। अतः इन अवस्थाओं की तुलना से हम उसे समझ सकते हैं।

(क्रमशः)

साधुओं (साधकों) की सेवा में

[ले०—तरंगित हृदय]

क्या तू कहीं एकान्त में जाकर बैठना चाहता है? यह ठीक है कि प्रभु की प्राप्ति के लिये साधना करना आवश्यक है। परन्तु इसके लिये जंगल में जाने की कौन ज़रूरत है? साधना तो वह करनी चाहिये और वैसी करनी चाहिये जिससे कि तेरी आत्मोन्नति की बाधा दूर होवे और तेरा आत्म-विकास सिद्ध होवे। इस लिये, ऐ साधक! वर्त्तमान युग के साधक! तुझे आत्म प्राप्ति के लिये जो आवश्यक तपस्या करनी है उसे तू वृक्षों के जंगल की जगह इस मनुष्यों के जंगल में ही बैठकर कर सकता है। सिंह, चीते, भगियाड़ आदि से आक्रान्त; लोहूलुहान कर देनेवाले कण्टकों से अकीर्ण, सब प्रकार की सुख व सुविधाओं से शून्य, मार्ग-हीन जंगल में रहना भी तपस्या हो सकती है परन्तु ऐ साधक! इस मनुष्यों के जंगल में जहां साथी लोगों के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर-रूपी वन्य पशुओं से भयंकर आक्रमण तुझ पर होते रहते हैं, जहां विरोधियों की तीक्ष्ण आलोचनाओं और अपवादों की चोटें तेरे हृदय को ज़ख्मी करती रहती हैं और जहां पग-पग पर आनेवाली कि कर्त्तव्यविमूढ़तायें तेरे रास्ते को रोकती रहती हैं, ऐसे भयंकर मनुष्य-जंगल में बैठकर तपस्या करना कहीं अधिक कठोर तपस्या करना है, अधिक पवित्र करनेवाली और बहुत ऊँचा उठानेवाली तपस्या करना है। जड़ वृक्षों के जंगल में और प्राकृतिक जंगली जीवन बितानेवाले मूक पशुओं के बीच में चुपचाप शान्ति से रह कर यदि तू समझने लगेगा कि तूने काम, क्रोध, लोभ मोह को जीत लिया है तो ये तेरी बड़ी भारी आत्मवञ्चना या तेरा घातक भ्रम में पड़ना होगा। अरे षड्रिपुओं को जीतने का अभ्यास तो जीते-जागते, विकारयुक्त होनेवाले, अपने मनोभावों के पञ्जों और दाढ़ों से तुझे अन्दर से फाड़ खा सकनेवाले मनुष्यों के समुदाय में ही हो सकता है। तू निर्विकार हो गया है इसकी परख इसी प्रकार हो सकती है कि यह देख लिया जाय कि काम क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष के प्रबल प्रहार होने पर भी तुझ में प्रतिक्रिया या विक्रिया नहीं पैदा होती। इसी लिये मैं कहता हू कि तुझे अपनी साधना के लिये मनुष्य समाज से अपने को विच्छिन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तेरी साधना का तपोवन यहीं है, मनुष्य वृक्षों के बने हुए इसी जंगल में ही है, जिसमें तेरा जन्म हुआ है और जिसकी सेवा के लिये तू जन्म के साथ ही ऋणी हुआ है।

.˙.

मैं यह नहीं कहता कि तू एकान्त सेवन मत कर। एकान्त सेवन तो साधना के लिये परमावश्यक है। पर वह अभीष्ट एकान्त मनुष्य-समाज से भौतिक रूप में जुदा हो जाने से प्राप्त नहीं हो जाता। बहुत से मनुष्य संसार से भाग कर मठों, मन्दिरों, आश्रमों, कुटियों व वनों में जा बसते हैं पर संसार उनसे ज़रा भी दूर नहीं होता, क्योंकि संसार उनके मनों में पूरी तरह भरा रहता है। बल्कि एकान्त सेवन करने से ऐसे लोगों में भरा हुआ यह संसार बुरी तरह से फूट निकलता है, जो कि उनके समाज में रहते हुए सामाजिक प्रभाव के कारण स्वभावत: कुछ अंकुश में रहता है। सचमुच ऐसे लोगों के लिये (बिना पथ प्रदर्शक प्राप्त किये) एकान्त सेवन एक बड़ी ख़तरनाक वस्तु हो जाती है। उन्हीं लोगों के लिये कहा जाता है कि उनके "एकान्त होने का अर्थ है कि उनके केवल काम क्रोध इत्यादि ही साथी रह जायें और कोई साथी न रहे।" दूसरी तरफ़ भौतिक रूप में लगातार समाज में काम करते हुए भी लोग अपने हृदय की गुफ़ा मे निरन्तर एकान्त सेवन करते हैं? इस लिये मैं कहता हूं ऐ एकान्त चाहनेवाले भाई! तू पर्वत की गुफ़ा को खोजना छोड़ कर अपने हृदय गुहा में प्रवेश पाने का यत्न कर। शान्ति और एकान्त ढूँढने के लिये जगह-जगह भटकते फिरनेवालों को आख़िर में जब कभी एकान्त मिलेगा वह इसी जगह मिलेगा। और जिसे यह एकान्त मिल गया है उसे फिर सब स्थानों और सब कालों के लिये एकान्त मिल गया है।

मैं यह भी नहीं कहता कि कभी आँख मींच कर बैठने की या लोगों के शोर-शराबे वा अन्य प्रभावों से दूर बैठने की साधक को ज़रूरत नहीं है। पर लोग बाह्य आँखों को बन्द करके व समाज से दूर भाग कर प्राय: भटकते हैं, चैन नहीं पाते। क्योंकि वे एकान्त सेवन अधिक करते हैं, एकान्त स्थिति पाने का यत्न उतना नहीं करते। वे बाह्य आँख अधिक मींचते हैं निर्विषय होने का यत्न उतना नहीं करते। इसी लिये ये सब उत्तम बाह्य क्रियायें भी उनके लिये उन्नति का साधन नहीं बन पातीं।

ऐ साधु! तू कर्म, सेवा-कर्म भी, इसलिये नहीं करता है चूंकि तू इसे झंझट (बाधन) समझता है, रजोगुण के वशीभूत होना समझता है। पर क्या तूने कभी अपने हृदय को टटोल कर देखने का यत्न किया है कि तेरी इस कर्म में अप्रवृत्ति का वास्तविक कारण कायक्लेशभय, अथवा आलस्य तो नहीं है? अरे, कायक्लेश से डरना, दु:ख से भागना, आराम की सूक्ष्म-से सूक्ष्म भी इच्छा करना साधु का काम नहीं है और आलस्य करना, तो तमोगुण के वशीभूत होना है जो कि रजोगुण के वशीभूत होने से भी अधिक बुरा है। यदि भोजन, शौच स्नान आदि कार्य तू अनिवार्य समझ कर करता है तो तेरा शुद्ध हुआ हृदय तुझे कुछ चिन्तन से यह भी बतला देगा कि जिस समाज में तू उत्पन्न हुआ है उस की सेवा करना, जिस देश के अन्न वस्त्र में तू साझीदार हुआ है उसके प्रति कर्त्तव्य पालन करना, अथवा सृजनहार प्रभु के प्रीत्यर्थ कुछ समय सेवा कर्म करना भी तेरे लिये अनिवार्य है। तू घण्टों बैठकर रामनाम की माला फेरता है। पर क्या तू झाडू देता हुआ प्रभु नाम नहीं ले सकता, देश के एक सैनिक का कर्त्तव्य करता हुआ अपने प्रभु को निरन्तर अपने साथ नहीं देख सकता, चर्खे व धुनकी की ध्वनि मे नामध्वनि नहीं सुन सकता! मेरे जैसे अनेक लोग तो बहुत बार तकली व चर्खे से कातते हुये न केवल प्रभु नाम को जपते हैं, किंतु जप की संख्या भी कर लेते हैं, इससे माला का

भी काम ले लेते हैं। अरे, प्रभु प्राप्ति की साधना तो हल चलाते हुए भी की जा सकती है। मुझे हँसी आती है जब मैं देखता हूँ कि हमारे साधु लोग विदेशी सरकार के बहुत से हुक्मों को कानून (दण्ड) के भय से पालन करते हैं परन्तु स्वदेश के प्रति अपने स्वयं करने योग्य कर्त्तव्यों को पालन करने में छोटापन बल्कि साधुत्व से पतित होना समझते हैं। प्राचीनकाल के सत्यकाम तो गो-सेवा करते-करते ब्रह्मवित् हो जाते थे, पुराने कबीर कपड़ा बुनाई का काम करने में कभी झंझट नहीं समझते थे। तो आज के साधु निर्लेप सेवा-कर्म में झंझट मानें यह कितना आश्चर्य है। अरे निष्काम कर्म तो आत्मविशुद्धि करनेवाला होता है। हृदय का जो मैल निष्काम कर्म की साधना से दूर होता है वह अन्य किसी प्रकार नहीं दूर हो सकता। तो ऐ साधु! कर्म करना तो बड़ा साधक है, यह बाधक कहाँ है? बाधक तो है आलस्य, प्राकृतिक स्वाभाविक दुःख से अपनी चमड़ी को बचाने की इच्छा, अतपस्या। वह साधु साधु नहीं कहा जा सकता जो कि कुछ समय सेवा के कार्य को आत्मोन्नति के लिये—किसी अन्य प्रयोजन से नहीं किन्तु अपनी साधना के प्रयोजन से ही—नहीं करता।

∴

और मोक्ष, क्या तू मोक्ष को अकेला ही पा लेगा? अरे, तू इस संसार का एक छोटा-सा अंश है, इससे अटूट सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है तो तेरे अकेले के मुक्त होने का क्या अर्थ है? या तो हम सभी बद्ध हैं (स्वयं हमारे परमेश्वर ने भी अपने आपको बाँध रखा है) या हम सब (अपने सच्चे स्वरूप में) मुक्त हैं। फिर वैवृतिक मोक्ष व कैवल्य का यदि कुछ समझ में आने लायक अर्थ है, तो वह यही है कि तब तू अपने मुक्त स्वरूप को अनुभव कर लेगा। पर इसमें तू संसार से कहीं बाहर नहीं हो जायगा। बल्कि तब तू संसार से ज्ञान पूर्वक सम्बद्ध हो जायेगा, अभी तक (बद्ध अवस्था में) तू अज्ञानपूर्वक संसार में बँधा हुआ है। और तू मोक्ष किस वस्तु से चाहता है? संसार से तो तेरा सम्बन्ध-विच्छेद हो नहीं सकता। क्या दुःख से? दुःख तो सुख के साथ जुड़ा हुआ। दुःख-सुख परस्पर सापेक्ष हैं, सदा जुड़े हुए हैं। तो क्या तू सुख दुःख दोनों से छुटकारा पाना चाहता है? सुख और दुःख से छुटकारा पाने के लिये तुझे सुख और दुःख में अपना राग और द्वेष छोड़ देना होगा, बस यही पर्याप्त है। ससार से संबन्ध विच्छेद की कुछ ज़रूरत नहीं है। इतने से तुझे मोक्ष मिल जायगा। पर सब संसार को दुःख सागर में गोते खाते छोड़कर क्या तू अकेला दुख से मुक्ति को पा सकेगा! औरों को दुखी छोड़कर अपने मोक्ष के आनन्द को तू भोग सकेगा? तू यह जाने या न जाने, पर सुख दुःख से छुटकारा पा लेने पर तेरी सब प्रवृत्ति स्वभावतः संसार को मुक्त करने के लिये ही होगी इसमें कुछ संदेह नहीं है। इसलिये मोक्ष को जो कुछ तूने समझ रखा है, वह वैसा नहीं है। मोक्ष कहीं पड़कर सो जाने जैसी चीज़ नहीं है। तो फिर क्या तू बंधनों से मुक्त होना चाहता है? बन्धन कौन से? अज्ञान के सिवाय और कोई वास्तविक बन्धन इस संसार में नहीं है। नहीं तो जब हमारे प्रभु ने ही अपने आपको आनन्दपूर्वक अनन्तों अटल अटूट नियमों के बंधनों से बाँध रखा है, तो हमें कैसी मुक्ति चाहिये? निस्सन्देह सत्य नियमों का बन्धन तो कोई बन्धन नहीं है। मुक्ति तो स्वरूप को पहिचान लेना ही है और वह 'स्व' इस विश्व से इतना एक रूप है कि जब कभी तू यह सच्ची मुक्ति पाने का यत्न

करेगा तो तेरा यह यत्न शेष संसार को अप्रभावित नहीं रख सकेगा और तो क्या, यही कैसे सम्भव है कि तू गुलाम भारतवर्ष में बैठकर अपने मोक्ष का साधन कर रहा हो और उससे भारत के बन्धन-मुक्त होने में कोई सहारा न लगे। यदि तू ऐसा नहीं समझता है तो तेरे विचारने में कुछ भूल है। इसलिये ऐ साधक ! तू अच्छी तरह समझ बूझ। विचार कर कि मोक्ष क्या है उसका साधन क्या है ? संसार को माया समझ लेने से काम नहीं चलेगा। जहाँ संसार माया हो जाता है वहाँ तो मोक्ष भी कोई चीज़ नहीं रहती। तू अपने को धोखा देना छोड़ दे, तब तू उस सच्चे मोक्ष साधन में लगेगा जो कि अपने लिये नहीं है, जो सब जगत् के लिये है। तब तू प्रभु की अनन्त लीला में विचरना ही अपना ध्येय समझेगा। तब तू उस प्रभु में एक होकर उसका काम करना ही मोक्ष भोगना समझेगा। अथवा तब तू मोक्ष की भी इच्छा छोड़ कर कहने लगेगा—

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिना मार्त्तिनाशनम्॥

∴

ऐ मेरे साधक (साधु) भाइयो ! यदि मेरी ये बातें तुम्हें समझ में नहीं आतीं तो इसका कुछ कारण है। वह कारण शायद यह है कि चिरकाल से हम व्यष्टि के साथ समष्टि के सम्बन्ध को भूल गये हैं, इसलिए हम स्वार्थ को आत्मोन्नति के रूप में छिपाने के अभ्यस्त हो गये हैं। हम भूल गये हैं कि जहाँ साधना का केन्द्र व्यष्टि (व्यक्ति) है वहाँ साधना का क्षेत्र समष्टि (जगत्) है। हम भूल गये हैं कि हमने वैयक्तिक उन्नति तो करनी है किन्तु वह समष्टि में (जगत्) में करनी है। नहीं तो कर्म त्याग, एकान्त और मोक्ष विषय में हम इतनी अशुद्ध धारणायें न बना लेते।

जब हम अपनी वैयक्तिक साधना समष्टि जगत् में करेंगे तो हम देखेंगे कि साधना अपने समीपी पड़ोसियों द्वारा ही समष्टि तक पहुँच सकती है। अतः तब हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कह कर स्वदेश के प्रति अपने कर्तव्य की, या स्वदेशी के महान् सिद्धान्त की अवहेलना नहीं कर सकेंगे।

जब हम समष्टि में साधना करेंगे तो हम देखेंगे कि समष्टि की वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों के द्वारा ही हम अपनी आत्मोन्नति तक पहुँच सकते हैं, बेशक़ कभी समय था जब कि संसार के मनुष्य परस्पर भौतिक तौर पर इतना अधिक संनिकट नहीं रहते थे। परन्तु आज वैज्ञानिक युग की इस निकटता के कारण जब एक दूसरे के कर्मों का एक दूसरे पर इतना अधिक प्रबल प्रभाव पड़ता है तो इस समय हम कर्मयोग के महान् उपदेश की कैसे अवहेलना कर सकते ?

इसी तरह जब हम वर्त्तमान जगत् में स्थूल-शक्ति का प्राधान्य, अर्थ का आदर आदि बातों को प्रबलता से प्रवर्त्तमान देखते हैं तो हम अपनी साधना को इन से बिना मुकाबिला किये कैसे आगे चला सकते है ? बेशक किसी समय मानसिक शक्ति का विशेष महत्व था, अर्थ गौण वस्तु थी, अवस्थायें सब प्राकृतिक थीं; उस समय तो एकाकी तपस्या अथवा स्थूल कर्म की अनावश्यकता का कुछ अर्थ हो सकता था। किन्तु अब इन परिस्थितियों में तो 'जगन्मिथ्या ब्रह्म सत्यं' कह कर व्यवहार से आँख मूंद कर अपने भौतिक, आर्थिक, राजनैतिक धर्मों की अवहेलना (अपने को बिना नाश किये) नहीं कर सकते।

∴

जब मैंने योग साधन करने के लिये गुरु की तलाश की तो प्रारम्भ में ही गुरु महाराज ने कहा कि तुम पहिले १०, १५ रुपये माहवार का प्रबन्ध करलो फिर मेरे पास रहना। प्रबन्ध तो मैंने किया पर मैं सोचने लगा कि जिस देश की औसत आमदनी २, ३ रुपये माहवार है उस भारत देश में योग साधन करना क्या केवल अमीरों के लिये ही सम्भव है। मेरे अन्तःकरण ने पूछा कि क्या देश की इस दुरवस्था को (जिसमें ग़रीबी के कारण सर्वसाधारण के लिये योग करना भी सम्भव नहीं है) दूर करने में लगना ही योग साधन करना नहीं है।

जब मैंने हठयोग की क्रियायें सीखी और गुरु महाराज ने बताया कि मुझे गोदुग्ध और गोघृत यथेच्छ सेवन करना चाहिये तो मैं भारत में दुर्लभ शुद्ध गोदुग्ध और शुद्ध गोघृत की तलाश में रहने लगा और इस श्रीकृष्ण के देश में गोवंश का वर्त्तमान ह्रास और दुर्गति अनुभव करके एक दिन मैं रो पड़ा। सोचने लगा कि क्या गोसेवा करने में सर्वात्मभाव से लग जाना ही योग साधन नहीं है। क्या यह कोई छोटी साधना है? हम साधु लोगों को इसे छोड़ कर अन्य साधना मार्ग ढूँढने की क्या आवश्यकता है।

जब मैं नेति और धोति सीखने लगा तो मुझे मालूम हुआ कि प्रायः सब हठयोगी महात्मा लोग विदेशी मलमल की नेति व धोति बताते हैं। यह देखकर मेरी अन्तरात्मा चीख़ उठी 'अरे, क्या यह हमारा योग भी विलायती मलमल के बिना नहीं हो सकता? क्या जब मन्चेस्टर की मिलें नहीं बनी थीं तब योगी लोग नेति धोति नहीं करते थे?' मैंने तो आंध्र से हाथ कता और हाथ बुना ५) गज़ का बारीक खद्दर मँगाया, पर मैं सोचने लगा कि धन के योग में लगे हुये अँगरेज़ लोग हमसे अधिक बड़े योगी हैं जो कि शरीर का योग करनेवाले हम भारतीय साधुओं तक से कपड़े बेच कर धन खींच रहे हैं, पर हमारा हठयोग जहाँ-का-तहाँ पड़ा हुआ है, वह हमारे शरीरों को भी उन्नत नहीं कर रहा है।

ऐ मेरे साधु भाइयो! क्या ऐसे प्रश्न तुम्हारे अन्तःकरण में कभी नहीं उठते? यदि उठते हैं तो क्या उत्तर पाकर तुम्हें समाधान हो जाता है। मैंने तो जब तक इस अस्वाभाविक योगसाधन को किया तब तक यही समझते हुए किया कि इसमें मैं जो समय, शक्ति और धन का व्यय कर रहा हूँ उससे मैं इस दुःखी दीन दरिद्र देश का अधिक से अधिक ऋणी होता जा रहा हूँ अतः इस साधन से जो शक्ति मुझे प्राप्त होगी उसका सर्व प्रथम उपयोग इस भारी ऋण के उतारने में ही होगा।

∴

ऐ साधक साधुओ! तुम अपने ऊँचे पद को पहिचानो। आत्मस्मृति को प्राप्त करो तो तुम देखोगे कि तुम्हारी आत्मसाधना ही अज्ञानान्धकार को दूर कर सकती है, राज-सिंहासनों को पलट सकती है, पीड़ितों के घावों को भर सकती है। पर वह तुम्हारी आत्मसाधना सच्ची होनी चाहिये।

ये देखो आज संसार आर्थिक विषमता के कष्टों से कराह रहा है। तुम अपनी आवश्यकताओं के कम करने (अपरिग्रह) की साधना से और आलस्य रहित होकर कर्म करने (श्रम) की साधना से इसे उबार सकते हो। भीख माँगना, माला जपना या अन्य कोई वाह्य चिह्न साधु का लक्षण नहीं है। साधु वह है जिसने प्राकृतिक आवश्यकताओं को कम से कम कर के आत्म-निर्भरता व स्वतन्त्रता को प्राप्त किया है, जिसने सर्वथा

अप्रमादी कटिबद्ध होकर आत्मा के चेतन्य स्वभाव को विकसित किया है।

ये देखो यह भारत ही सदियों से गुलामी में पड़ा सड़ रहा है संसार में अन्यत्र भी राजनैतिक पीड़ायें हो रही हैं। तुम हो जो इस बिगड़ी राज-शक्ति को सुधार सकते हो। तुम्हारा पद राजाओं से ऊपर है। प्रजा को तो कुछ देर तक राजा अपने दण्ड से भी ठीक रास्ते चला सकता है। पर राजा को अपनी तपस्या द्वारा ठीक रास्ते चलाना तुम्हारा ही काम है। सचमुच गेरुआ पहिनना या दण्ड धारण करना आदि कोई भी बाह्य चिह्न साधु का लक्षण नहीं है। साधु तो वह है जिसके अन्दर अग्नि है, तेजस्विता है, जिसके तेज रूपी दण्ड के सामने कोई अन्याय, कोई पाखण्ड, कोई अत्याचार खड़ा नहीं रह सकता।

ये देखो सारा ही संसार किस तरह अज्ञान के गहरे अँधेरे में पड़ा हुआ है। इसे ज्ञान का प्रकाश तुम्हारी ही सत्य की भावना दे सकती है। निःसन्देह साधु वही है जिसके लिये सचमुच संसार की सब माया मिट गई हो और ज्ञान का सूर्य उदय हो गया हो।

इस लिये तरंगित हृदय कहता है सुनो भाई साधो! तुम्हें यह पाप-मग्न पीड़ित और पतित संसार पुकार रहा है। सुनो! सचमुच साधु वह है जो ऐसा साधक होवे।

संपादकीय

गुरुकुल कांगड़ी में अशान्ति के दिन—

यह संतोष का विषय है कि गत मास गुरुकुल कांगड़ी में जो अशान्ति और अराजकता की लहर उठ गयी थी वह अब शान्त हो गयी है। यह ठीक है कि गुरुकुल कांगड़ी के इतिहास में गुरु शिष्यों (आचार्य तथा ब्रह्मचारियों) के परस्पर सम्बन्ध के विषय में इतनी बड़ी दुर्घटना पहिले कभी नहीं हुई। यह दुर्घटना इतनी बढ़ी कि अन्त में अनुशासन (नियंत्रण) की दृष्टि कायम रखते हुए गुरुकुल के तीनों महाविद्यालयों तक को अनिश्चित काल के लिये बन्द कर दिया गया तथा उपाध्यायों को एक महीने का नोटिस भी दे दिया गया। मेरी राय में यह क़दम नाहक उठाया गया, इससे गुरुकुल को हानि ही पहुँची है, लाभ शायद कुछ नहीं हुआ है। यह भी विचारणीय है कि प्रतिनिधि सभा के सिवाय गुरुकुल बन्द कर देने का अधिकार किसी अन्य को प्राप्त है भी या नहीं। परन्तु हम समझते हैं कि ऐसी अशांति की-सी अवस्था में अच्छी भावना से जो कुछ किया गया अब वह सब ठीक है। इसी तरह अब यह विचार करना भी निरर्थक है कि इस दुःखदायी अवस्था लाने में दोष किसका है। आम जनता के लिये तो दोषी सदा अधिकारी ही होंगे जिन्होंने गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को शिक्षित करने का ज़िम्मा ले रखा है। इसी तरह ब्रह्मचारियों ने जो भूख-हड़ताल का हथियार पकड़ा था वह बड़ा बुरा था इस विषय में भी आम-जनता की यही एक राय होगी, इससे अधिक गहराई में वह और नहीं उतर सकेगी। अनशन की आवश्यकता और स्थान को मैं मानता हूँ। और मेरठ के श्री शिवदयालुजी ने इस विषयक मेरी चिट्ठी-पत्री छापकर इस सम्बन्ध में मुझे और नामी कर दिया है। परन्तु अनशन को मैं एक बड़ा पवित्र आध्यात्मिक हथियार समझता हूँ, जिसे हरकोई नहीं चला सकता। भूख-हड़ताल इससे बिलकुल जुदा चीज़ है जोकि श्रमजीवियों द्वारा कारख़ाने के मालिकों के प्रति की गयी श्रम-हड़ताल की तरह ही एक हड़ताल है, दबाव डालने का तरीक़ा है। भूखा मरने का डराव देकर काम कराना कभी भी उचित नहीं हो सकता। इसलिये मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने अपने इस कार्य के लिये खेद प्रकट किया है और आगे वे ऐसी भूख-हड़ताल नहीं करेंगे—इसका उन्होंने विश्वास दिलाया है। इस पर लगभग दो सप्ताहों के उपरान्त महाविद्यालय खोल दिये गये हैं और सब काम ठीक प्रकार चल पड़ा है। दूसरी तरफ़ श्रीमान् आचार्य चमूपतिजी ने भी बहुत अच्छा किया है कि उन्होंने गुरुकुल के आचार्यत्व को त्याग दिया है। ऐसे विद्यार्थियों के आचार्य होने

का कुछ मतलब नहीं है, जो कि उनमें श्रद्धा न रखते हों। आचार्य चमूपतिजी तो दयानन्द-सेवा-सदन के आजीवन सदस्य हैं। अतः हम आशा करते हैं कि वे अब पहिले की तरह ही वैदिक साहित्य निर्माण अथवा प्रचार के महान् कार्य में अपने को अर्पित कर रखेंगे और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से गुरुकुल की भी सेवा करते रहेंगे। वे गुरुकुल से अपना सम्बन्ध बनाये रखेंगे। ईश्वर करे कि गुरुकुल की कुलभावना सदा अक्षुण्ण बनी रहे। क्योंकि यही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की जान है।

—

क्या श्रद्धानन्द-दल संप्रदाय है ?—

वैसे तो कोई संघ, समाज व दल संप्रदाय बन सकता है कालान्तर में प्रायः बन जाता है, परन्तु श्रद्धानन्द दल के विषय में अभी तक ऐसी कोई आशंका नहीं की जा सकती। कोई समाज संप्रदाय—बुरे अर्थों में संप्रदाय—तभी बनता है जब कि उसमें किन्हीं पुरुषों का स्वार्थबद्ध हो जाता है। श्रद्धानन्द-दल के पास रुपया प्रतिष्ठा या अन्य कोई भौतिक शक्ति है ही नहीं जो कि स्वार्थी पुरुषों को इसमें आकृष्ट कर सके। यह दल तो कुछ असली जीवन बिताना चाहनेवाले भाई-बहिनों का एक सम्मेलन-स्थान व परिवार है। इसका संगठन भी कोई ऐसा नहीं है जिस से इस दल में कोई संगठन-बल आ गया हो। इस बात की हमें इच्छा भी नहीं है। मैं तो श्रद्धानन्ददल का बाक़ायदा सदस्य बनने के लिये भी किसी को विशेष प्रेरणा नहीं करता, दल की तीनों प्रतिज्ञाओं को लेनेवाले बहुत-से बल्कि सारे आर्यसमाजी हो जायँ इस पर ही बल देता हूँ। यदि हज़ारों आदमी इन तीन व्रतों को लेनेवाले हो जायँ पर वे श्रद्धानन्द-दल के सदस्य न बनें तो इसमें भी मैं श्रद्धानन्द दल की वृद्धि समझता हूँ। अर्थात् श्रद्धानन्द-दल के प्राण (आत्मा) को मैं बढ़ाना चाहता हूँ, शरीर (मूर्त्ति) को नहीं। तो फिर इस दल में साम्प्रदायिकता का तो कोई डर है ही नहीं। सम्प्रदायिकता तो शरीर (मूर्त्ति) पर ही ज़ोर देने का नाम है। श्रद्धानन्द दल के प्रवर्त्तक भाई ईश्वरदत्त मेधार्थी के भी ये ही विचार हैं वे तो यहाँ तक कहते हैं कि आर्यसमाज में जब तीन हज़ार दृढ़ सदस्य दल के हो जायँ तो फिर आगे इसकी सत्ता रखने की ज़रूरत नहीं रह जायगी। हाँ, कई भाइयों को इस दल का नाम श्रद्धानन्द-दल रखना साम्प्रदायिकता का सूचक लगता है ऐसा मालूम हुआ है। इसका कारण यह है कि बहुत से लोग जो स्वामी श्रद्धानन्दजी को नहीं जानते वे अपने मन में स्वामीजी के विषय में कुछ साम्प्रदायिक भावना रखते हैं। ऐसा होने के कुछ बाह्य कारण हैं। पर वास्तव में स्वामी श्रद्धानन्द जी ज़रा भी साम्प्रदायिक न थे। संन्यासी होने पर तो उन्होंने बाह्य रूप में भी किसी संप्रदाय से अपना सम्बन्ध न रखने दिया था। वे आर्यसमाज की किसी पार्टी के, किसी प्रान्त के या किसी गुरुकुल के न थे। वे केवल आर्यसमाजियों के या हिन्दुओं के भी नहीं थे, किन्तु मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सबके थे। इस विषय में किसी को भ्रम हो तो उन्हें पौष मास के श्रद्धानन्द-विशेषांक में नाना प्रकार के नेताओं के लिखे हुये लेखों को ग़ौर से पढ़ लेना चाहिये और अपना भ्रम मिटा लेना चाहिये। और हम लोगों ने तो प्रारम्भ से यह निश्चय कर लिया है कि हम श्रद्धानन्द-दलवाले अपने सर्वथा साम्प्रदायिकता से शून्य निर्मल व्यवहार द्वारा ही यह सिद्ध कर देंगे कि हमने जिस महान् आत्मा के पुण्य-नाम की शरण ली

है उसके साथ साम्प्रदायिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है और यदि किन्हीं लोगों के मनों में उदार श्रद्धानन्द के विषय में ऐसे संकीर्णता के अथाह संस्कार बैठ गये हैं तो उनके मनों से भी यह दल इन संस्कारों को पूर्णतया मिटा सकेगा।

मोहाना-व्यायाम-सम्मेलन—

अपने देश के सर्वतोमुखी पुनरुद्धार के लिये जो कुछ थोड़े से यत्न हो रहे हैं, उनमें एक नवयुवकों में व्यायाम की रुचि पैदा करना भी है। परन्तु खेद है कि इसकी तरफ बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। गुलामी मनोवृत्ति के प्रभाव के कारण सुधारक भी प्रायः दिमागी व मानसिक शिक्षा पर ही विशेष ध्यान देते हैं, शरीर-साधना पर उनका ध्यान नहीं जाता। मोहाना (जि० बुलन्दशहर) के निवासी श्रीयुत नारायण राव जी को गुरुकुल, गुरुकुल की शाखायें तथा कुछ अन्य शिक्षा-संस्थाएँ तो ज़रूर जानती हैं जहां कि वे अवैतनिक रूप से सेवा-भाव से नवयुवकों में व्यायाम-शिक्षा का प्रशंसनीय कार्य करते रहे हैं। परन्तु 'अलंकार' के पाठकों को विदित होवे कि ये श्री नारायण राव जी उन सधे हुए लक्ष्य-सम्पन्न महानुभावों में से हैं जिन्होंने नवयुवकों में व्यायाम-प्रचार करना अपने जीवन का ध्येय बनाया है और जो इसके द्वारा देशोद्धार होने में पूर्ण विश्वास रखते हैं। अतः इसी कार्य में पूर्ण भाव से लगे हुए हैं। इस दिशा में उन्होंने बहुत काम किया है। गुरुकुल के उत्सव पर जो शारीरिक साधनों के प्रदर्शन कुछ वर्षों से जनता देखती रही है वह इन्हीं की शिक्षा का फल है। बुलन्दशहर के ज़िले में उन्होंने १४ वर्ष से व्यायाम सम्मेलन नाम की एक संस्था का प्रारम्भ किया हुआ है जिसमें प्रतिवर्ष लगभग एक हज़ार विद्यार्थियों के अतिरिक्त ग्रामीण पुरुषों के दल भी कबड्डी, कुश्ती आदि भिन्न-भिन्न खेलों के लिये भिन्न-भिन्न चल-उपहार रखे हुए हैं। अभी जनवरी में मोहाना का जो १५वां व्यायाम-सम्मेलन हुआ है उसके समाचार हम ने सुने हैं। वार्षिक व्यायाम-सम्मेलन के अवसर पर इतने विद्यार्थियों का गांवों में इकट्ठा होकर शारीरिक कौशल की स्पर्द्धा में भाग लेने का दृश्य बड़ा ही प्रभावशाली और आशा-संचारक होता है। इससे न केवल विद्यार्थियों में किन्तु आस-पास के ग्रामों के अन्य नवयुवकों में भी नवीन उत्साह प्रस्फुरित हो उठता है। हम चाहते हैं कि इस प्रकार के व्यायाम-सम्मेलन देश के अन्य ग्राम-केन्द्रों में भी स्थापित हों तथा नारायण राव जी जैसे अन्य परोपकारी, उत्साही महानुभाव जनता में शारीरिक उन्नति की रुचि उत्पन्न कराने वाले निकलते रहें।

वैदिक विवाह का एक नमूना—

गांधी-सेवाश्रम के पं० पूर्णचन्द्र जी विद्यालंकार का जो विवाह अभी बन्नू के श्री ला० ठाकुरदास जी की कन्या सौ० दयावती के साथ हुआ है, वह शायद वर्त्तमान अवस्थाओं में अधिक से अधिक वैदिक आदर्श का अनुसारी विवाह कहा जा सकता है। इसमें बाजा, मुकुट-धारण, दहेज आदि कोई भी आडम्बर, कोई भी अवैदिक रस्म-रिवाज़ नहीं हुआ। कुल १२ खद्दरधारी सज्जन विवाह में गये। ये १२ भी इस लिये गये चूँकि इस सम्बन्ध के प्रचलित जात पात को तोड़कर किये जाने के कारण, पं० पूर्णचन्द्र जी के सम्बन्धियों को (जो स्वभावतः जात-पात मानते हैं) इसमें अधिक से अधिक शरीक होने देना सुधार की दृष्टि से बड़ा अच्छा था। निरर्थक रिवाजों का स्थान स्वभावतः कन्या

के पितृपाद जी द्वारा अन्तिम समय कन्या को दिया हृदयस्पर्शी उपदेश तथा युगलों के लिये आये हुए नेताओं, गुरुओं, महात्माओं के सन्देश और आशीर्वादों के सुनाये जाने ने लिया। इन दोनों कार्यों ने उपस्थित जनता के वायु-मण्डल को ऊँची भावनाओं से भर दिया। वर-वधू दोनों के संस्कृतज्ञ होने के कारण दोनों ने पढ़े जाने वाले वेदमन्त्रों का हृदय द्वारा रस पान किया। पर जिस वैदिकता पर साधारणतया वैदिक कहानेवाले विवाहों में भी उचित ध्यान नहीं दिया जाता, वह बात भी इसमें पूर्णतया पूरी की गयी थी। विवाह के समय "आभूषणों" से सर्वथा शून्य-कन्या के पवित्र तन पर जो सादे वस्त्र शोभायमान हो रहे थे वे पं० पूर्णचन्द्र जी की माता के काते हुए पवित्र सूत्र के ही बने हुए थे। इसी तरह वैसे ही वस्तुतः मांगलिक वस्त्र पं० पूर्णचन्द्र जी के शरीर पर थे। पं० पूर्णचन्द्र जी को तीनों मामाओं के घर से भी उनकी मातृ-स्वसाओं के अपने हाथ से इसी प्रयोजन के लिये प्रेमपूर्वक काते हुए और बुने हुए वस्त्र ही भेंट में दिये गये थे। इस प्रकार वैदिक विवाह के निम्न मन्त्र के आदेश का इस विवाह में ठीक प्रकार पालन किया गया था।

मा अकृन्तन्नवयन् याश्च देवीस्तन्तनभितो ततश्च तास्ते॥

हम भी शुद्ध वस्त्र का व्रत धारण करने वाले इस युगल के लिये इस मन्त्र के अन्त में की गयी दीर्घायुष्य की प्रार्थना में अपने आप को सम्मिलित करते हैं।

—

स्त्रियों के समान अधिकार—

इस शुभ विवाह के अवसर पर श्रीयुत ला० ठाकुरदास जी ने अपनी कन्या को जो उपदेश दिया था उसमें आजकल बहुत कहे जानेवाले स्त्रियों के समान अधिकार की भी उन्होंने आलोचना की थी। उनका छपा हुआ छन्दोबद्ध उपदेश तो बहुत उत्तम था। उसका कुछ अंश उद्धृत करना यहाँ उपयोगी होगा—

समय है कि कुछ तुझको उपहार दूँ मैं।
कोई वस्त्र या कुछ अलंकार दूँ मैं॥
मयस्सर जो हो, तो रतन-हार दूँ मैं।
न इक बार ही बल्कि सौ बार दूँ मैं॥
न दूँगा, तो हो जायगी बात हेटी।
तू ले कुछ न कुछ तुझ को देता हूँ बेटी॥
न हीरे, न मोती, न अनमोल मनके।
न कलियों की माला, न जोड़े सुमन के॥
ऋणी क्यों हों सर्राफ़ के, या चमन के।
नहीं अंग भूषण, ये भूषण हैं मन के॥
अगर यह अलंकार स्वीकार होगा।
तो तेरा भी आदर्श शृंगार होगा॥
पड़े तुझ पे संकट ख़ुशी से वह सहना।
कड़ा शब्द कोई पति से न कहना॥
न तू माँगना कोई वस्त्र और गहना।
फ़क़त भाग्य पर अपने संतुष्ट रहना॥
जो माथे पे तेरे कभी बल न होंगे।
तो स्वामी ग़रीबी में दुर्बल न होंगे॥

एक स्थल पर कहा है—

अगर बोलनी आगयी मीठी बोली।
सुमन तुल्य है फिर तमंचे की गोली॥

अन्त में कहा है—

तू सन्तान अपनी को आर्य बनाना।
ग़ुलामों से पहिले भरा है ज़माना॥
हुआ आज वह धन धनी के हवाले।
कि अब वह सँभले या ईश्वर सँभाले॥

परन्तु निम्न पति-भक्ति की शिक्षा में कई लोग अति समझेंगे।

है कर्त्तव्य तन मन से स्वामी की सेवा।
कि है स्वामी सेवा का फल मिष्ट मेवा॥
न गंगा, न यमुना, न सरयू, न रेवा।
मगर है यह मन्दाकिनी मुक्ति देवा॥
पति को जो पूजेगी उद्धार होगा।
इसी घाट बड़ा तेरा पार होगा॥

मैं भी स्त्रियों के अधिकार को मांग नेवालों में हूँ, पर फिर भी पति-भक्ति के ऐसे उपदेश को उस का विरोधी नहीं देखता। बात स्पष्ट है कि पति में भी इतनी ही पत्नी-भक्ति होनी चाहिये। पर समान अधिकार का मतलब यही है कि दोनों में से किसी के साथ अन्याय नहीं होना चाहिये। यह नहीं है कि पुरुष और स्त्री जाति में जो प्राकृतिक स्वभाव आदि का भेद है उसकी भी उपेक्षा की जाय और उसके अनुसार घर के कार्यों में श्रमविभाग करना भी अनुचित समझा जाय। मेरे 'स्त्रियों के समान अधिकार-वादी' होने का अर्थ यही है कि मैं मानता हूँ कि अब तक पुरुष स्त्रियों के साथ न्याय नहीं करते रहे हैं, वह न्याय ज़रूर होना चाहिये। इस से अधिक कुछ नहीं।

—

स्नातकों के लिये सेवा-स्थान—

यद्यपि अभी तक आम लोगों का यह भारी भ्रम पूरी तरह निर्मूल नहीं हुआ है कि सरकारी डिग्री के बिना सेवा-स्थान पाना या रोज़ी कमाना नहीं हो सकता, तो भी अब इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है कि दिनों दिन ऐसा ही समय आ रहा है जब कि राष्ट्रीय शिक्षणालयों के स्नातकों की मांग विशेष रूप से होगी। हमें यह मांग बढ़ती अनुभव होती है। अतः हम ने सोचा है कि यदि राष्ट्रीय शिक्षणालय के स्नातकों के लिये सेवास्थानों की सूचना देने की सेवा 'अलंकार' कर सके तो यह भी एक बड़ा अच्छा कार्य होगा। इस लिये हम ने 'हमारे राष्ट्रीय शिक्षणालय' इस स्तंभ में स्नातकों के लिये सेवा-स्थान की सूचना देने का निश्चय किया है। पर इस के लिये सब लोगों के सहयोग की आवश्यकता है। हम ने गुरुकुल कांगड़ी आदि गुरुकुलों तथा अन्य विद्यापीठों के संचालकों से प्रार्थना की है कि उनके यहाँ स्नातकों की जो मांगें आवें उन्हें वे कृपया 'अलंकार' में प्रकाशित करने भेज दिया करें। हम अन्य सब पाठकों से भी निवेदन करते हैं कि जिन्हें जो कोई स्थान स्नातकों की सेवा का मालूम हो वे उसकी ठीक ठीक सूचना हमें भेज दें। आशा है जनता के सहयोग से 'अलंकार' इस दिशा मे भी कुछ सेवा कर सकेगा।

अभय

—

'अलंकार' पर पंजाब सरकार का कोप—

पंजाब-सरकार ने १९३१ के इमर्जेन्सी एक्ट के मातहत 'अलंकार' का दिसम्बर १९३४ का अङ्क ज़ब्त कर लिया है। वसन्त-पञ्चमी के दिन सायंकाल 'अलंकार'-कार्यालय तथा नवयुग प्रेस की तलाशी ली गई। 'अलंकार' के इस पर्चे की जितनी प्रतियां मिली पोलीस अपने साथ ले गई। रविवार १० तारीख को पंजाब-सरकार ने 'अलंकार' के पब्लिशर तथा नवयुग प्रेस के कीपर भीमसेन विद्यालंकार को हज़ार हज़ार रुपये की ज़मानतें जमा करने का हुक्म जारी किया। मैं लाहौर से बाहर गया हुआ था इस लिये सोमवार को यह हुक्म मुझे प्राप्त हुआ। इसके मुताबिक २१ फ़र्वरी तक यह ज़मानतें जमा कर देनी हैं। जमा न करने पर 'अलंकार' तथा प्रेस बन्द करने होंगे। इस अङ्क के जिस लेख पर आपत्ति की गई है उसका शीर्षक यह है—'स्वामी दयानन्द

के प्रथम शिष्य के राजनैतिक कार्य' : तथा 'देशभक्त श्यामजी कृष्ण वर्मा।'

वसन्त-पञ्चमी के दिन 'अलंकार' के इस अङ्क की सब प्रतियाँ ज़ब्त कर ली गई हैं। हमारे पास केवल मात्र प्रैस ब्रांच की ओर से भेजा हुआ इस लेख का अंग्रेज़ी अनुवाद है

उस लेख के आधार पर ही निम्नलिखित बातें इसके सम्बन्ध में स्पष्टरूप से कही जा सकती हैं। इस लेख में श्यामजी कृष्णवर्मा (जिनका निकट-भूत में देहान्त हुआ है) की संक्षिप्त जीवनी लिखी गई है। यह लेख मराठी के 'श्रद्धानन्द' से संकलित किया गया। इस लेख में उनके जीवन की विविध घटनाओं का संग्रह है।

हमारी सम्मति में इस लेख में कोई ऐसी आपत्ति-जनक बात नहीं है जिस से इस पर प्रैस-एक्ट के अनुसार कार्यवाही की जा सके । हमारा विचार पंजाब-सरकार के इस हुक्म के बखिलाफ़ हाईकोर्ट मे अपील करने का है । परन्तु यह तभी हो सकता है यदि 'अलंकार' के प्रेमी पाठक इस सम्बन्ध में हमारा हाथ बटाएँ।

पंजाब-सरकार की आज्ञा के अनुसार हमें २० फ़र्वरी तक १०००) ज़मानत के तौर जमा कर देना चाहिए तभी आगामी अङ्क निकल सकता है । अपील आदि अदालती कार्य के लिये भी हमें धन की आवश्यकता है।

'अलंकार' के प्रेमी पाठक 'अलंकार' की आर्थिक स्थिति से परिचित ही हैं । 'अलंकार' का संचालन केवल-मात्र लोक-सेवा की दृष्टि से किया जा रहा है। लोक-सेवा की दृष्टि से ही इस में व्यापारी विज्ञापन नहीं छापे जाते। समाज तथा जनता में विशुद्ध, आर्य-संस्कृति, अध्यात्मवाद तथा धर्ममयी राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करनेवाले लेख ही प्रकाशित किये जाते हैं। 'अलंकार' वर्तमान हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का अनूठा पत्र है। सिद्धान्तवाद तथा लोक-सेवा की विशुद्ध भावना से संचालित पत्र के लिये प्रथम वर्ष में ही आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना कठिन है। इस लिये 'अलंकार' के संचालकों ने इस समय यही निश्चय किया कि 'अलंकार' के प्रेमी पाठकों के सामने सारी स्थिति को स्पष्टरूप में रख दिया जाय। तथा उन्हें प्रेरित किया जाय कि वह अपनी शक्ति अनुसार 'अलंकार' को ज़मानत जमा करने तथा पंजाब-सरकार के इस हुक्म के विरुद्ध अपील आदि करने के लिये धन आदि की सहायता दें। यदि 'अलंकार' के प्रेमी पाठक स्वयं या अपने मित्रों से इस आध्यात्मिक जीवन-संचारी मासिकपत्र को जारी करने के लिये, कम से कम १०) भी भिजवा सकें तो यह पत्र इस आपत्ति में से सफलता-पूर्वक उत्तीर्ण हो सकता है। 'अलंकार' की उपयोगिता तथा आवश्यकता के सम्बन्ध में कुछ लिखना अप्रासंगिक है।

हमें आशा है कि 'अलंकार' के प्रेमी हमारी इस अपील पर शीघ्र ध्यान देंगे । और इस अङ्क के पहुँचने के साथ ही अपने अपने हिस्से के १०) भेज कर 'अलंकार' को जारी रखने में हमारा हाथ बँटाएँगे। आशा है 'अलंकार' के प्रेमी हमें निराश न करेंगे और भविष्य में भी 'अलंकार' द्वारा सेवा करने का अवसर देंगे।

—

एसम्बली का रंगमंच—

दिल्ली मे एसम्बली का अधिवेशन शुरू हो गया है। कांग्रेसी प्रतिनिधियों के प्रवेश ने एसम्बली को थोड़ा-बहुत जीवित-जागृत बना दिया है। कांग्रेस पार्टी के यत्न से सरकार को निम्न लिखित चार मौकों पर शिकस्त खानी पड़ी है।

श्रीयुत शरच्चन्द्र बोस को एसम्बली का मैंबर निर्वाचित होने पर भी एसम्बली में नहीं आने दिया गया। सरहद के रैडशर्ट-पेसोसिएशन पर से पाबन्दियाँ नहीं हटाई गईं। भारतीय लोकमत के विरुद्ध किये गये इंडो ब्रिटिश व्यापारी समझौते को अस्वीकार किया गया। जायण्ट-पार्लमैंटरी की प्रस्तावित सुधार-योजना तथा नयी शासन-व्यवस्था को अस्वीकार किया गया। इन चारों अवसरों पर जनता के प्रतिनिधियों ने सरकार के प्रस्तावों को अस्वीकार किया और उसकी अन्याय-पूर्ण दमन-नीति की निन्दा की।

सरकार की यह पराजय इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारत-सरकार लोकमत की अवहेलना कर, मनमाने ढंग से ही शासन कर रही है। प्रजासत्तात्मक शासन, आर्थिक स्वतंत्रता आदि की घोषणाएँ केवल कोरी बातें हैं। हम आशा करते हैं कि कांग्रेस के प्रतिनिधि अपनी संगठित शक्ति द्वारा सभ्य संसार के सामने भारतीय सरकार की इस स्वेच्छाचारिता को हर समय स्पष्ट करते रहेंगे और जनता को एसम्बली. कौंसलों तथा नवीन प्रस्तावित शासन व्यवस्था के माया जाल में फँसने न देंगे।

—

ब्रिटिश पार्लमैंएट और भारतीय शासन-व्यवस्था—

इन्हीं दिनों ब्रिटिश पार्लमैंट के हाउस आफ़ कामन्स में, प्रस्तावित भारतीय शासन-व्यवस्था का मसविदा विचारार्थ पेश है। इस का द्वितीय वाचन समाप्त हो गया है। मज़दूर-दल के नेताओं ने इस अवसर पर जो संशोधन पेश किये हैं उनमें मुख्य संशोधन यह है कि इस शासन-व्यवस्था में, (डोमिनियनस्टेटस) औपनिवेशिक स्वराज्य को भारत का राजनैतिक आदर्श घोषित किया जाय। भारत के श्री श्रीनिवास शास्त्री आदि नेताओं की भी यही माँग है। भारत का कोई भी राजनैतिक दल इस माँग का विरोध नहीं करता। यह सब कुछ होने पर भी ब्रिटिश-सरकार के प्रतिनिधि, सर सैम्युएल होर तथा एटौर्नी जनरल मि० इन्सकिप ने इस सम्बन्ध में जो घोषणाएँ की है उनसे पता लगता है कि वह भारत की शासन-व्यवस्था में डोमिटियनस्टेटस का शब्द सम्मिलित नहींकरना चाहते।

भारतीय राष्ट्रमें इस समय अदम्य आत्म-सम्मान तथा राष्ट्रीय जागृति का भाव पैदा हो चुका है। उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश पार्लिमेण्ट द्वारा स्वीकृत नवीन शासन-व्यवस्था भारत के राजनैतिक वातावरण को सन्तुष्ट तथा शान्त बनाने में नाकामयाब रहेगी। और दोनों राष्ट्रों में दिन प्रति दिन अविश्वास के भाव गहरे होते जाएँगे। यह स्थिति दोनों के लिये हानिकारक है।

—

'हिन्दी-सन्देश' का पुनर्जन्म—

"'हिन्दी-सन्देश' मासिक लाहौर से लगभग एक साल तक निकलता रहा है। मासिक दिन प्रति दिन उन्नति कर रहा था। परन्तु किन्हीं कारणों से प्रथम सम्पादक महोदय इसे बंद करके 'अलंकार' को अलंकृत करने में जुट गये। हिन्दी-प्रेमियों को यह जान कर हर्ष होगा कि स्वामी सत्यदेवजी परिव्राजक के सम्पादकत्व में 'हिन्दी-सन्देश' फिर नवीन रूप में हिन्दी जगत् में पदार्पण करेगा। उपर्युक्त मासिक का लक्ष्य राष्ट्रीय साहित्य का प्रचार और उलझी हुई सामाजिक समस्याओं को सुलझाना होगा। प्रथम अंक अप्रैल के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होगा। वार्षिक मूल्य केवल दो रुपया। व्यवस्थापक 'हिन्दी-सन्देश' १७, मोहनलाल रोड, लाहौर।"

यह समाचार पंजाब की हिन्दी-प्रेमी जनता मे हर्ष के साथ सुना जायगा। स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक के सम्पादकत्व में सम्पादित मासिक पत्र हिन्दी-प्रचार की जीती-जगती मूर्ति होगा। मद्रास जैसे अ हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्त में, हिन्दी-प्रचार को सफल बनाने मे स्वामी सत्यदेवजी का विशेष भाग है। आज पंजाब मे हिन्दी-प्रचार तथा हिंदी साहित्य को जीवन-संचारी बनाने के लिये स्वामी सत्यदेवजी जैसे प्रभावशाली निर्भय, स्वतन्त्र प्रवृति वाले व्यक्ति की आवश्यकता है। स्वामी सत्यदेवजी पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के प्रथम सभापति हैं। हमें आशा, क्या पूर्ण विश्वास है कि स्वामी सत्यदेव जी के सम्पादकत्व मे 'हिन्दी-सन्देश' पंजाब मे हिन्दी-प्रचार का शक्तिशाली साधन बनेगा। हम सहयोगी को पुनर्जन्म पर बधाई देते हैं और इसके दीर्घ जीवन की मंगल कामना करते हैं।

—

लाहौर में कवि-सम्राट् रवीन्द्र—

१४ फर्वरी को प्रातःकाल कवीन्द्र रवीन्द्र लाहौर मे स्टूडेण्ट यूनियन के प्रधान की स्थिति मे पधारे। पंजाब का विद्यार्थी-समुदाय अनुकरणशील, मानसिक गुलामी तथा आदर्शहीन शिक्षा का शिकार बना हुआ है। आशा है कवि सम्राट् का जीवन-सञ्चारी सन्देश पंजाब के विद्यार्थियों मे मौलिकता तथा आदर्शवाद को पैदा करेगा। हम कवि-सम्राट् का हार्दिक स्वागत करते हैं।

—

कम्युनलएवार्ड और कांग्रेस—

एसम्बली में मुसलमान सदस्यों, सरकारी सदस्योंतथा यूरोपियनों ने मिलकर इंग्लैंड के प्राइम-मिनिस्टर द्वारा किए गये साम्प्रदायिक निर्णय को स्वीकार कर लिया है। कांग्रेस के प्रतिनिधि इस प्रश्न पर तटस्थ रहे। कांग्रेस के इस विषय में होने पर भी एसम्बली के मुसलिम सदस्यों ने कांग्रेस का साथ नहीं दिया और कांग्रेस का नयी शासन व्यवस्था को नामंजूर करनेवाला प्रस्ताव स्वीकार नहीं हो सका। हम कांग्रेस की कार्यकारिणी के सदस्यों से निवेदन करना चाहते हैं कि उन्हें अब फिर परिवर्तित अवस्थाओं तथा मुसलमानों की मनोवृत्ति को देखते हुए कम्युनल-एवार्ड के विरुद्ध विशेष आन्दोलन संगठित करने की आवश्यकता को अनुभव करना चाहिए। कहीं यह न हो कि कांग्रेस की उदासीनता कम्युनल एवार्ड की हिमायत के रूप में परिवर्तित हो जाय; और कांग्रेस भारतीय राष्ट्र को भिन्न भिन्न टुकड़ों में विभक्त करने का निमित्त बने। यदि कांग्रेस और कुछ नहीं कर सकती, तो उसे कम से कम साम्प्रदायिक निर्णय के स्थान पर नयी योजना तैयार करने की ओर अपनी शक्ति लगानी चाहिए।

भीमसेन

—

प्राप्ति स्वीकार—

इण्डियन एम्ब्रोडरी वर्क्स (जो हरेक प्रकार के कपड़े पर सुनहरे और चाँदी के फूलकाढ़ी का काम करते हैं), नौर्थ चित्राई स्ट्रीट, मदुरा के संचालक श्री अमरनाथ जी तुली ने नमूने के तौर पर शुद्ध खद्दर का एक जम्पर जिस पर खालिस स्वदेशी ज़री से काम किया गया है, हमें भेजा है। प्रति जम्पर की कीमत १।≋) है, दर्जन की १६॥), जम्पर अच्छा और सस्ता है।

सम्पादक

—

नवयुग प्रेस, लाहौर में भीमसेन विद्यालंकार मुद्रक तथा प्रकाशक द्वारा मुद्रित होकर 'अलङ्कार'-कार्यालय, १७-मोहनलाल रोड से प्रकाशित।

It was clear that the terms of Gladstone's amendment went, in exculpation, far beyond the findings of the Commission; it was rejected by a substantial majority, and the Government had its way.

No impartial person could interpret the findings of the Commission as a general acquittal for the Parnellites. Nevertheless, it was inevitable that the revelation of the carelessness and blunders of *The Times* and the exposure of Pigott's forgery should have caused some revulsion of popular feeling. Mr Gladstone and his party were immensely elated by the issue, and the Unionists correspondingly chagrined. But the elation was short-lived. Mr. Parnell had entered an action for libel against *The Times* in 1888; in February, 1890, the case was compromised by the payment of £5000 damages. Before the compromise was reached Parnell was already involved in litigation of another kind. On November 17th, 1890, Captain O'Shea obtained a decree *nisi* against his wife, with Parnell as co-respondent.

Parnell affected to believe that the divorce suit was a matter of merely personal interest. The organs of Nonconformity sounded another note, and Mr. Gladstone quickly re-echoed it. On November 24th he expressed the view that Parnell's "continuance in the leadership would be productive of consequences disastrous, in the highest degree, to the cause of Ireland," but on the 25th the Irish Party, ignorant of Mr Gladstone's letter, re-elected Parnell as Sessional Chairman of the Party.

The Parnellite split

Mr Gladstone immediately published his letter, and the thunder-cloud burst. For some weeks the utmost confusion prevailed in the Home Rule camp. Mr. Dillon and Mr. O'Brien, then in the United States, called upon Parnell to resign; Mr. Healy vehemently urged the same conclusion upon his colleagues in Committee Room No. 15,[1] the Roman Catholic Bishops issued a pronouncement of similar purport. But Parnell held grimly on. He would neither abdicate, nor submit to deposition. At length (Dec 6th) a majority of his colleagues, forty-four in number, withdrew their allegiance and elected Mr Justin McCarthy as their leader. Twenty-six remained faithful to the old Chief. For nine months Parnell made frantic efforts to maintain his position in Ireland. His pluck was superb, but all the cards were against him, and on October 6th, 1891, the painful struggle was terminated by his premature death.[2] Thus was removed from the political stage one of the great personalities of the century. "On the list of Irish patriots" Mr. Gladstone placed him "with or next to Daniel O'Connell," deeming him to be "of more masculine and stronger character than Grattan." That he loved Ireland is certain, whether his love for Ireland was as intense as his hatred of England is doubtful.

[1] Where the Irish Party met at this time.

[2] *Ætat* 45.

Interruption of the Unionist régime

Parnell's death overshadowed another event of some parliamentary significance. On the very same day that Parnell died, under circumstances almost tragic, at Brighton, there passed away, full of years and honour, Mr. W. H. Smith, the Leader of the House of Commons. Succeeding to the leadership at a critical moment Mr. Smith had done yeoman service to his party. Disarmingly simple, transparently honest, invariably courteous, he retained the respect of his opponents and won the affection of his friends. By universal acclaim the brilliant Chief Secretary was called to fill the vacant place. Mr. Balfour had accomplished the task to which he had set his hand in Ireland. He had shown himself sympathetic towards undeserved suffering, quick to devise healing remedies, but, above all, inflexibly firm in the vindication of law. He had greatly extended the operation of the Ashbourne Act, and had set up a Commission for dealing with congested districts. He proposed, in 1892, to crown his work by a large measure of Local Government, but the scheme was coldly received, and early in June it was abandoned. A few weeks later Parliament was dissolved.

Mr Gladstone's Fourth Ministry

The General Election which ensued grievously disappointed the hopes of Mr. Gladstone. Instead of the majority of at least 100 on which he had confidently counted, the country gave him one of forty, and that highly precarious in composition. England was still staunchly Unionist, but was overborne by the "Celtic fringe". In the new Parliament the Unionists numbered 315,[1] the Gladstonian Liberals 269, and the Irish Home Rulers 81[2] In view of the composite majority opposed to him Lord Salisbury decided to meet Parliament, but, on an amendment to the Address, he was beaten by a majority of forty, and in August he gave way to Mr. Gladstone. The Cabinet of 1892 differed little in personnel from that of 1886, but was reinforced by Mr. H. H. Asquith, a young Oxonian who had quickly established a reputation at the Bar and in Parliament and now became Home Secretary; by Mr Bryce, a great jurist, by Mr. H. H. Fowler, a shrewd lawyer, who did admirable work at the Local Government Board, and others. The new Ministry at once (Sept. 1892) suspended by proclamation the operation of the Crimes Act in Ireland, and thus cleared the decks for the great measure of 1893

The second edition of Home Rule, 1893

The second edition of Home Rule was disclosed to the House by the Prime Minister on February 13th, 1893. In several important particulars it differed from the first. The single-chamber device with its two "Orders" was dropped, and the bicameral system was frankly adopted. The Legislative Council of forty-eight members was to be elected for eight years by persons who owned or occupied land of the rateable value of £20 per annum. The Legislative Assembly was to consist of 103 members, elected by the existing

[1] Of whom 269 were Conservatives [2] 9 Parnellites, 72 anti-Parnellites.

constituencies, except Trinity College Should the two Chambers disagree, the question was to be decided, but only after the lapse of two years, in joint session by a majority. In the original draft Irish members, to the number of eighty, were to be retained at Westminster, but not to vote on questions affecting Great Britain exclusively. This "in and out" clause was subsequently dropped, and the Irish members were retained for all purposes.

The Bill, after prolonged discussion, was pushed through the House of Commons by the amazing energy of Mr. Gladstone, but in the Lords it was thrown out by 419 to 41 (Sept. 8th). An immediate appeal to the country might have given Mr. Gladstone the mandate he wanted to deal with the House of Lords; or it might not Denied the opportunity of bringing the matter to an issue, Mr. Gladstone decided that his part in the great drama was played Weighed down by increasing infirmity of sight and hearing, and sincerely desiring a quiet interval between the turmoil of politics and the grave, he resigned office in March, 1894. The interval he had craved lasted four years. He emerged from his retirement to plead the cause of the Armenian Christians in 1896, but on May 19th, 1898, after some months of suffering, he passed away

Death of Gladstone

Noble tributes were paid to his memory in both Houses of Parliament, his body lay in state in Westminster Hall, and was afterwards buried in the Abbey. One of the ablest of his lieutenants has since painted his portrait in colours which will never fade. For a final appreciation of a statesman who played so large a part in contemporary affairs, who excited in unusual measure alike admiration and detestation, the time has not, perhaps, arrived. But this much may be said. Though lacking the simplicity and directness characteristic of Bright, he was a consummate orator. Endowed by nature with a commanding presence and a sonorous voice, he acquired by art an extraordinary command of language and uncommon felicity of illustration. As a debater he was not equal to Disraeli, lacking his imperturbable temper and his sense of humour; and although he could rouse intense enthusiasm among his followers, he cannot be said, like Peel, to have "played on the House like an old fiddle" Great as an orator he was still greater as a man; marvellous in the versatility of his interests, and touching life on many sides, a genuine scholar of the old Oxford School, and a devoted son of the Anglican Church. As a statesman his greatest strength lay in finance. He had been admirably trained in the school of Peel, and he was, throughout his career, a jealous guardian of the public purse. Perhaps he spent too much of his ministerial life at the Treasury; undoubtedly he spent too much of his public life in the House of Commons Consequently his statesmanship was of the strictly parliamentary type, his gaze was too closely concentrated upon tactics, sometimes, as in 1884-1885, with disastrous results To say

that his outlook was insular would be untrue ; no man had a more vivid sympathy with oppressed nationalities, or a more touching faith in the universal efficacy of parliamentary institutions. But although he was frequently aroused to vehement speech by tales of oppression and occasionally to prompt action, as, for example, by the bad faith of Russia in regard to the Penjdeh incident, yet his interest in external affairs was intermittent, and his temper, in such matters only, was apt to be procrastinating. Nevertheless, no one could look upon him without a sense that here was a man cast in an heroic mould, and that whether he was right on a given question or wrong, in nothing was he less than great.

Lord Rosebery's Ministry

After Mr Gladstone's resignation the Queen selected Lord Rosebery as his successor, and for fifteen months he carried on the government.[1] Sir William Harcourt succeeded to the leadership of the House of Commons, and the interest of the Session of 1894 centred on his Budget. The Queen's Speech of 1895 contained a portentous list of measures, including Welsh Disestablishment, Licensing Reform, and the abolition of Plural Voting, but no part of this ambitious programme was brought to legislative fruition, on June 21st the Government was beaten on a War Office vote and promptly resigned.

The Unionist Ministry, 1895-1905

The Queen again sent for Lord Salisbury, who for the third time became Prime Minister. No longer, however, was he at the head of a purely Conservative Administration. Things had moved fast since 1886 when Lord Hartington had twice declined the generous offer of Lord Salisbury. He and Mr Chamberlain now agreed that the time had come for an even closer alliance between the two wings of the Unionist Party. Early in 1887 an attempt had been made, by a round-table conference, to find a basis of compromise on Irish Government between Mr Chamberlain and the Liberal Home Rulers. But the attempt proved abortive and was not renewed. On the other hand the working alliance between the Conservatives and the Liberal Unionists had now been maintained for nearly ten years. To Mr. Gladstone's second attempt to carry Home Rule in 1893 the latter had offered uncompromising opposition. On succeeding to the Premiership Lord Rosebery had made the significant admission that before Home Rule was conceded " England as the predominant member of the partnership of the three kingdoms will have to be convinced of its justice ". But the schism in the old Liberal Party was now too deep for healing, and unless the Liberal Unionist leaders were to renounce for ever the hope of official service, there remained to them no alternative but coalition with the Conservatives. One of those leaders conceived himself to be charged with a political

[1] There was virtually no change in the personnel of the Cabinet. The new Premier resigned the Foreign Office to Lord Kimberley, who was succeeded at the India Office by Mr H. H. Fowler.

mission, far transcending the claims of party He was quick, also, to discern the signs of the times. The centre of political interest was shifting rapidly from the centre to the circumference. The strong administration of Mr Balfour, the repeated failure of Mr. Gladstone, the agrarian revolution now in quiet process of accomplishment—all these things seemed to promise an abatement in the acuteness of the Irish controversy The majority given to Mr. Gladstone in 1892 was not only small but precarious; the predominant partner remained wholly unconvinced; the mind of the nation was turning in another direction. On the formation of the new Ministry some surprise was felt when Mr Chamberlain selected the Colonial Office. It was, in fact, an unmistakable indication that he was conscious of the trend of opinion. Lord Hartington, who had now succeeded to the Dukedom of Devonshire, became President of the Council; Lord Lansdowne, another Liberal Unionist, accepted the War Office; Mr. Goschen the Admiralty, and Sir Henry James took a Peerage and the Chancellorship of the Duchy Such appointments not only brought an immense accession of strength to Lord Salisbury's Ministry, but marked a notable stage in the evolution of a new political party.[1]

General Election of 1895

Of this evolution the country evidently approved. The new Ministry wound up the business of the Session with all possible speed, saved a few useful measures from the Liberal wreck, and in July made their appeal to the constituencies. The electorate was asked to confirm the verdict pronounced by the House of Lords upon the second edition of Home Rule The reply was unequivocal. In the new Parliament Unionists numbered 411, Liberals 177, and Nationalists (of both sections) 82. The country had made up its mind on Home Rule, and wanted to hear no more of it. For a decade its wishes were respected In 1898-1899 the Government carried two measures of first-rate importance. The Local Government Act of 1898 applied to Ireland the elective principle which was already revolutionizing local administration on this side of the Channel. That this Act opened out a "great vista of useful and patriotic work" [2] to Irishmen of all parties cannot be questioned. The second measure was of even greater significance In form it only established "a Department of Agriculture and other Industries and Technical Instruction in Ireland" In effect, it initiated a social and economic revolution. Worked in close connection with the Local Government Act of 1898, and interpreted and administered with rare wisdom and devotion by Sir Horace Plunkett, it has verily laid the foundations of a "new Ireland," and has taught some

[1] Lord Salisbury himself took the Foreign Office, and other important appointments were Mr Balfour (First Lord of the Treasury and Leader of the Commons), Lord George Hamilton (India), Sir M. Hicks Beach (Exchequer), Sir M W. Ridley (Home Office), and Lord Halsbury (Lord Chancellor)

[2] The words are Sir H Plunkett's, *Ireland in the new Century*, p 88.

lessons which Great Britain has yet to learn.[1] With the enactment of legislation so full of happy augury for the future the historian of the nineteenth century may be well content to close an important section of his work.

Domestic affairs—1880-1901

In contemporary interest South Africa was rapidly eclipsing Ireland. But before we pass to Colonial and Imperial topics, a word may be said as to domestic affairs. It is a grave, though common, misconception to suppose that the last years of the Victorian era constituted in this respect a period of stagnation. It is true that the fervour of Mr. Gladstone compelled the Liberal Party to concentrate their energies on a single issue. But except for an unimportant interlude administrative and legislative responsibility was not theirs, and the Tories, reinforced by the leader of the new Radicalism, betrayed no pedantic adherence to old-fashioned formulas. The *laisser-faire* doctrines of the Manchester School were light-heartedly jettisoned; more and more reliance was placed upon the efficacy of the elective principle, heavier and heavier functions were imposed upon the State, and municipalities invaded the sphere of commercial enterprise. This was one manifestation of the new spirit, but there were many others. Among them not the least significant was a rising of self-consciousness, or class-consciousness, in the ranks of the manual labourers. The last period of the nineteenth century was punctuated by a series of strikes and labour disputes. By no means all of them were due to disregarded demands for higher wages. The distribution of the product of industry was only one factor in the economic problem, searchings of heart went deeper than that. "Fundamentals" as to the conduct of business and the organization of industry were called in question. The manual worker had not only learnt his letters but had attained to the full stature of citizenship. That this should react upon his industrial status was inevitable. He refused to be regarded as a mere "hand," a mechanical cog in the great wheel of industry; he demanded recognition as a man, a workman, and a citizen

Reorganization of Local Government

We have treated the evolution of representative democracy as one of the outstanding features of the nineteenth century. But the Acts of 1832, 1867, and 1884-1885 affected only Central Government. By the Act of 1835 the same democratic principle was applied to municipalities The last years of the century witnessed the completion of the work by the democratization of Rural Government Both the great Parties contributed to this development. The Act of 1888 provided for the creation of sixty-two "administrative counties," some of them co-terminous with the historic shires, some representing subdivisions of the same, and some sixty "county boroughs"—towns with over 50,000 inhabitants In each county or county borough the Act set up a Council consisting in part of

[1] *Cf. e.g.* F. E. Green, *The Awakening of England.*

Councillors elected for a term of three years directly by the ratepayers, in part of Aldermen co-opted by the Councillors. To these Councils were transferred the administrative functions of Quarter Sessions, while the latter retained their judicial functions The control of the Police was confided to a joint Committee of the County Council and Quarter Sessions. A similar Act was passed for Scotland in 1889, and in 1894 the elective principle was extended to parishes, and to intermediate areas known as urban or rural districts. These Acts did much to evolve administrative order out of the chaos which had been created by generations of piece-meal legislation; authorities were concentrated; areas were readjusted and simplified. More than this · the Acts provided a *cadre* and machinery for a number of social and economic reforms of far-reaching significance.[1]

Finance

The new Councils have proved themselves undeniably efficient, but not economical. Local taxation and local indebtedness have increased with appalling rapidity: in 1875 the liabilities of local authorities in England and Wales stood, in round figures, at £92,000,000; in 1905 at £482,984,000. Not less appalling to old-fashioned economists was the growth of Imperial taxation. Sir Robert Peel's last Budget (1846) provided for an expenditure of £55,000,000; Sir Michael Hicks Beach in 1898 had to find £102,000,000; to-day the expenditure approaches £200,000,000[2] These facts give additional significance to financial policy, but during the period now under review two Budgets only call for special notice. The first was Mr. Goschen's of 1888; the second was Sir William Harcourt's in 1894 In 1888 Mr. Goschen carried through a scheme for the "conversion" of the greater part of the funded debt of the country. The fact that "Consols" bearing interest at 3 per cent. stood considerably above par enabled Mr. Goschen to effect an immediate reduction of interest to 2¾ per cent., and a further reduction, after 1903, to 2½ per cent. Mr. Goschen's "city" experience and connections stood him in good stead; the hook was craftily baited and greedily swallowed. Nor did the policy of transaction lack justification at the time, or for some years to come. In 1897 "Goschens" touched 113⅞. The South African War and the marked rise in the rate of interest which followed thereon put a different complexion on the matter. Sir William Harcourt's Budget of 1894 was notable for a marked increase in direct taxation in the form of "death" duties. The convenience of this method of raising revenue is unquestioned; whether revenue so raised ought, in strictness, to be applied to any purpose save the extinction of capital liabilities is a much more doubtful point. The immediate justification was the fact that by both Parties social reforms were being pushed forward in hot haste and that reforms have to be paid for.

[1] For further detail, *cf* Marriott, *English Political Institutions*, p. 260 *seq.*
[2] The estimate for 1913-1914 is £195,825,000.

The "condition of England"

Throughout the greater part of this period social conditions caused grave disquietude. The agricultural depression which began in 1879 became steadily worse; trade was shifty; employment was precarious; industrial disputes incessant. The Capital was seriously alarmed by labour riots in 1887; in 1889, 75,000 dock labourers were on strike in London, the result being a notable improvement in working conditions; a prolonged strike among gas workers (1889-1890) led to the adoption in many gas-works of a system of profit-sharing; railway porters, brick-makers, boot and shoe makers, colliers and iron workers followed suit in 1890 Things were no better in 1891, and the Government, therefore, appointed a strong Commission to "inquire into questions affecting the relations between employers and employed and the conditions of labour" This step, wise in itself, had no immediate effect upon the situation. The cotton trade of Lancashire was paralysed by a dispute which lasted from November, 1892, to March, 1893. Hardly was this war ended by the Brooklands agreement when the great coal strike of 1893 broke out and lasted for more than three months. In 1895 there was a long-drawn dispute in the shipbuilding yards of Glasgow and Belfast.

Social Reform

The year which witnessed the great coal strike was noteworthy for the foundation, under the presidency of an advanced socialist, of the Independent Labour Party. A year earlier (1892) the Government created at the Board of Trade a special Labour department which has done useful work in the collection and dissemination of statistical information. A Board of Agriculture had been created in 1889. Meanwhile, the Legislature was not idle in regard to economic and social problems. The establishment of a gratuitous system of elementary education (1891)--another result of Mr. Goschen's skilful finance—has been already noted. An Act for the prevention of cruelty to children and prohibiting their employment under the age of ten was passed in 1889; local authorities were encouraged to insist on the notification of infectious diseases (1889) and to prohibit the sale of milk from dairies thus notified (1890). In 1890 they were empowered, under a drastic *Housing Act*, to purchase insanitary areas, demolish unfit dwellings, and erect new ones. In 1892 the rural districts got their turn. Under the *Small Holdings Act* County Councils were empowered to purchase land, and re-sell in quantities of not less than one and not more than fifty acres to actual cultivators, to whom three-fourths of the purchase money might be advanced. Holdings of not more than ten acres might be let to labourers. The money for the transaction was to be borrowed from the Public Works Loan Commissioners. Useful extensions of the acknowledged principles of the Factory Acts were achieved in 1891 and 1895, and in 1892 a *Shop Hours Act* was passed. It prohibited the employment of persons under eighteen years of age for more than seventy-four hours per week, including meal times, in shops. Of much

wider scope and significance was the *Workmen's Compensation Act* passed in 1897. This Act contained a new principle fearlessly applied Henceforward, employers were to be liable to pay compensation for death or injury, even though their workmen had been guilty of "contributory negligence" and they themselves had not. The operation of the Act was in the first instance confined to mines, factories, railways, quarries, docks, and engineering sheds, but nevertheless it registered an important stage on the road towards compulsory insurance. The expenses of the Act were charged wholly upon the employers.

These Acts, and others of like import, are sufficiently indicative of the new spirit which was beginning to permeate the nation and the Legislature. It was stimulated partly by an awakening of the social conscience, and partly by outside pressure exerted by organized bodies of manual workers. Among these the most powerful were the Trade Unions, whose aims were now undergoing considerable modification. That they should rely in increasing degree upon political action was a natural result of the democratization of the parliamentary machine; that their demands should assume more and more socialistic hue was, perhaps, equally inevitable. In both respects the "New Unionism" owed much to the powerful leadership of a new personality in English politics. This was Mr John Burns, a young engineer, who first obtained notoriety in connection with the riots in Trafalgar Square, who then made his mark on the London County Council, and before long impressed himself upon the attention of the House of Commons. Great, however, as was the awakening of the social conscience, it is not in this direction that the historian must look for the characteristic movement of the closing years of the Victorian era

Imperialism

On June 21st, 1887, the ageing Sovereign celebrated the fiftieth anniversary of her accession to the throne. The occasion evoked a remarkable demonstration of loyalty and affection among all classes of her people at home and her subjects over-sea The enthusiasm was more than redoubled when, ten years later, she celebrated her "diamond" Jubilee. On both occasions there was a solemn service and a great review of battleships in the Solent. Yet there was a difference between them. In the first procession the central feature was the brilliant bodyguard of Princes: sons, sons-in-law, and grandsons of the Queen. The second was, as a military spectacle, even more splendid, but apart from the figure of the aged monarch, touching in complete simplicity, public attention was riveted upon a group of black-coated citizens who formed a part—to the outward eye an incongruous part—of the superb pageant. These were the Prime Ministers of the self-governing Dominions, and other representatives of over-sea Colonies Their presence struck the keynote of the Imperial Jubilee.

The Jubilees

The Jubilee celebrations had a threefold significance: they marked the zenith of the Queen's personal popularity among her subjects; they were a recognition of her dynastic position in Europe; and, above all, they forged fresh links between the Imperial Crown and the over-sea Dominions,—between the mother and the daughter lands. Lord Beaconsfield would have given much to have seen those days. In a remarkable degree they vindicated his prescience. As a factor in domestic politics the Crown had sensibly declined in importance during the last two hundred years. The Jubilees brought home to the imagination of the dullard that the Crown had a new function to fulfil, a new role to play, as the representative of Imperial interests and the embodiment of Imperial sentiment.

The Imperial idea

The increasing recognition of this sentiment was the characteristic differentia of the last years of the Victorian era. In the first decades of the reign the prevailing sentiment had been weary impatience of a useless though temporary burden. That the Colonies would in no short time sever the ties that bound them to the motherland was the hope of many and the expectation of all. The argument of Sir George Cornewall Lewis's *Essay on the Government of Dependencies* commanded in the 'forties all but universal assent.[1] So late as 1872 Tennyson had to rebuke *The Times* for having advised the Canadians to "take up their freedom as the days of their apprenticeship were over". But *The Times* represented prevailing sentiment more truly than Tennyson.

The turn of the tide did not come until the 'eighties. Many things then contributed to swell it. The publication of Sir John Seeley's *Expansion of England* in 1883 was at once a cause and an indication of the change. The political future, he maintained, belonged to the "big states". The Western Powers were quick to take the hint and the scramble for Africa began. That scramble was due essentially to a realization of the rapid shrinkage of the world. Science was annihilating time and space, and the remotest corners of the earth were being brought within the sphere of European politics In Great Britain the new spirit was stimulated, partly by the apprehension of these facts, partly by the activity of neighbours and rivals, but, above all, by multiplied manifestations of the rising Imperial temper in the Colonies themselves

Imperial co-operation

The year which witnessed the first Jubilee witnessed also, by a happy coincidence, the meeting of the first Colonial Conference.

[1] "If a dominant country understood the true nature of the advantages arising from the supremacy and dependence of the related communities, it would voluntarily recognize the legal independence of such of its own dependencies as were fit for independence, it would, by its political arrangements, study to prepare for independence those which were still unable to stand alone; and it would seek to promote colonization for the purpose of extending its trade rather than its empire, and without intending to maintain the dependence of its Colonies beyond the time when they need its protection."—Published in 1841

The Conference was the outcome of the efforts of a band of enthusiasts among whom W. E. Forster, Edward Stanhope, and Lord Rosebery were conspicuous Its first-fruit was the *Imperial Defence Act* of 1888 for the increase of the Australasian squadron. The loyal and spontaneous offer of the Australasian Colonies to provide military contingents for the war in the Soudan in 1885 had raised the whole problem of Imperial co-operation for defence and war; the splendid services rendered by the Colonies in the South African War (1899-1902) made a further and profound impression both upon the Britons of the home-land and upon their neighbours. It was manifest that for military purposes the Empire must henceforward be regarded as an unit. Meanwhile, the experiment of a Conference initiated in 1887 was repeated at Ottawa in 1894, and again in London in 1897, 1902, and 1911.[1] These Conferences have touched very cautiously, when at all, the larger question of constitutional reconstruction for the Empire as a whole, but in regard to defence, communications, shipping, and many minor matters they have rendered incalculable service to the cause of Imperial unity. Primarily, however, they have been valuable in bringing together, in friendly and intimate communication, the responsible statesmen of the mother and the daughter lands

Territorial expansion

Meanwhile, the actual expansion of territory has been far from insignificant. Communication with the Far East was rendered more secure by the annexation of the island of Socotra in 1886 and by the establishment of a Protectorate over North Borneo in 1888. More significant was the revival of a device which since the days of Adam Smith had fallen into some discredit. The statesmen of the seventeenth century cordially encouraged the concession of Charters to companies of merchants. Such concessions brought to the Crown a maximum of profit with a minimum of responsibility. Adam Smith condemned the confusion between political and commercial purposes, holding that the function of a merchant was inconsistent with that of a Sovereign. None the less, this method of colonization had solid advantages, and in the last decades of the nineteenth century they became increasingly obvious. The "company of merchants" took risks and tried experiments, the Crown and the nation reaped where the merchants had sown. The device seemed to be particularly appropriate to Africa, upon which the attention of the European Powers was largely concentrated during the last fifteen years of the century.

Africa

The Berlin Conference of 1884-1885 initiated the scramble for African territory. British advance can here be indicated only by a bare enumeration of dates. In the South a Protectorate was

[1] For history of the Conference, *cf Responsible Government in the Dominions*, vol III, and Jebb, *Colonial Conference*; Marriott's *Evolution of the British Empire and Commonwealth*, pp. 282.309.

established over Bechuanaland (1885). On the West coast over the Niger territory (1885), and, in the same year, a Charter was granted to the Royal Niger Company. But Chartered companies and Protectorates are, as a rule, transitory phases, and in 1900 Nigeria was transferred to the Crown. On the East coast the Chartered Company of East Africa (1888) similarly prepared the way for the direct sovereignty of the Crown (1896). In 1889 a Charter was granted to the South African Company, which has built up a great power in Matabeleland and Mashonaland, and in the same year Central Africa was declared to be under British protection. In 1890 Lord Salisbury concluded a comprehensive agreement with Germany, one of the fruits of which was a British Protectorate over Zanzibar. Germany herself was established on the East coast, in the hinterland of Zanzibar, on the South-west from Angola to Cape Colony, while in the North-west she acquired Togoland, a strip of territory between the British Gold Coast and Dahomey, and the Cameroons, a large tract to the south-east of Nigeria. With Portugal Lord Salisbury came to terms in 1891, and with France, in reference to West Africa, in 1898. Further treaties were concluded with Germany in regard to Portuguese Africa in 1898, and to the Soudan in 1899. It was generally held that Heligoland—ceded to Germany in 1890—was a cheap price to pay for the African agreement, and, in any case, the partition of Africa will probably be accounted Lord Salisbury's most enduring achievement in the domain of Foreign Policy.

The Western Powers and the Far East

But it was not only Africa that was brought within the sphere of Western statesmanship. The attack of Japan upon Korea in 1894 proclaimed to the world the entrance of a new Power into world-politics. China intervened to save Korea from the grasp of Japan, and the latter promptly turned upon the mediator, captured Port Arthur, and imposed upon China the treaty of Shimonoseki (1895) China was obliged to cede the Liao-Tung peninsula, the island of Formosa, and to promise a large indemnity. But Europe could not see with unconcern the rise of a new Power in the Far East. Russia, therefore, with France and Germany, stepped in to deprive Japan of the fruits of victory, and, having come to the aid of China, proceeded to claim her reward. Germany obtained a lease of Kiao-Chow in 1898 and Russia a similar lease of Port Arthur in 1899 England, fearful of being left in the cold, obtained Wei-hei-Wei, and France got concessions near Tonkin These encroachments roused into fresh life the old hostility of the Chinese to Western influences, and in 1899 a national uprising, led by the "Boxers" threatened the extermination of all foreigners in China Japan joined the Western Powers in the task of rescuing their countrymen from Pekin, and in 1901 peace was restored A year later the world was startled to learn that Great Britain had so far emerged from her traditional diplomatic isolation as to conclude an alliance with Japan.

Australia

To this significant step Great Britain was, perhaps, induced by a recognition of the vulnerability of her position in the Pacific. The material development of the Australasian Colonies had not kept pace with their constitutional evolution. Between 1854 and 1890 all these Colonies—New South Wales, Victoria, Tasmania, South Australia, Queensland, Western Australia, and New Zealand—attained to the full dignity of responsible government. What they continued to lack was not government but subjects. The vast spaces of the great southern continents were virtually unpeopled.[1] The spirit of high protection ran riot, immigration was discouraged, and Australasian democracy was primarily concerned to keep up the price of labour. Mingled with this motive was the laudable ambition to preserve Australia as a white-man's country. To the realization of this and similar ambitions some closer form of political union was essential But Federation was, in Australia, a plant of slow and timid growth. Ever since 1847 the project had been intermittently discussed, but not until 1883 did it actually begin to take shape.[2] Several things then combined to render the problem insistent: the question as to the desirability of imported Chinese labour for the mines; the escape of some French convicts from New Caledonia into Australian territory; rumours that France was intending to annex the New Hebrides, above all, Lord Derby's disavowal of the action of Queensland in setting up the British flag in New Guinea. Between 1883 and 1893 many conferences were held, and many schemes were discussed, but in 1893 the question was temporarily suspended by a severe financial crisis Between 1895 and 1899 the draftsmen were again continuously at work, and in the latter year a Bill, which expressed the mind of Australia, was sent home for the approval of the Imperial Legislature Thanks to the tact of Mr. Chamberlain, then Colonial Secretary, and of Mr. (now Sir Edmund) Barton,[3] the Bill became law, with a single amendment, as the Australian Commonwealth Act in 1900. It was the last great statute to which Queen Victoria gave her Royal assent, and in doing so she expressed her fervent hope that "the inauguration of the Commonwealth may ensure the increased prosperity and well-being of my loyal and beloved subjects in Australia".[4]

Death of Queen Victoria

Happy was the fate which permitted the venerable Sovereign to watch over the cradle of a new Nation. But this function, inexpressibly appropriate, was almost the last she performed. Her health, which throughout her reign had been remarkably robust,[5] was now failing rapidly. She felt acutely the humiliation inflicted upon the country by the defeats to her arms in South Africa,[6] but

[1] The total population of Australasia in 1901 was only 4½ millions.
[2] I do not ignore the abortive measure of 1850
[3] Afterwards first Prime Minister of the Commonwealth of Australia
[4] For constitutional details, cf Marriott, *Political Institutions*, pp. 326-327
[5] With one short interval after the Prince Consort's death
[6] Ap *Quarterly Review*, No. 193.

never did she show herself more truly the mother of her people than in the dark days of the winter of 1899-1900. She it was who insisted, in December, 1899, that large reinforcements should be sent out, and that Lord Roberts should be entrusted with the command. Having thus made adequate, though tardy, preparation, she faced the issue with calm courage and complete confidence. Despite failing health she went in and out among her people, encouraging the fighters, consoling the wounded, comforting the mourners, warning and stimulating responsible Ministers. She followed closely all the efforts of her soldiers in South Africa and cordially commended their successes. Especially did she appreciate the gallantry of the Colonial contingents, and of the Irish regiments. The latter's services she acknowledged with more than words. She gave them permission to wear a sprig of shamrock on St Patrick's Day, and when the time came for her spring holiday in 1900 she determined, instead of going to the South, to devote it to Ireland. In this determination there was perhaps a tinge of self-reproach. "She desired almost passionately," so we learn from one who knew her, "to be loved by the Irish,"[1] but she had done little to win their love. Pathetically she strove, at the last, to make amends. Her last April she spent in Dublin, where she was enthusiastically welcomed by all classes. The strain of the effort was enormous, and combined with that of the South African war it hastened her end. On January 2nd, 1901, she welcomed Lord Roberts on his return from South Africa, and on the 19th the public learnt that she was seriously ill. On the 22nd, in the presence of two sons, three daughters, and her grandson, the German Emperor, she passed away. She was in her eighty-second year, and had reigned sixty-three years seven months and three days.

The close of a reign and an era

"A little figure in a great age," was Goldwin Smith's description of Queen Elizabeth. Untrue of Queen Elizabeth, it would be still less true of Queen Victoria. Her death marked the close of a great life, a great reign, and a great historical epoch. Her personal character was a compound of shrewdness, simplicity, and sincerity. She was, said John Bright, "the most absolutely truthful person I have ever known". Her gift of sympathy was known to all, her punctuality in business and her devotion to duty could be known to comparatively few Yet all men could see "how superbly she continued to stand sentry to the business of her Empire"—virtually to the end[2] The building of that Empire was largely, as we have seen, the work of her reign, and she was unaffectedly proud of it.

Her reign had other claims to distinction which the foregoing pages have been intended to illustrate. Of the literature of the epoch no mention has been made, since the mention could only have

[1] Ap. *Quarterly Review*, No 193

[2] *Cf* for a fine appreciation, *Quarterly Review*, No 193.

been catalogic and perfunctory. Nor of the achievements of science. Never were those achievements greater, and never were they applied with ampler generosity to the service of humanity. Whether regard be paid to the relief of human suffering, to the multiplication of utilities, or to the augmentation of wealth, the Victorian era incurred a heavy debt to the devoted workers in the scientific sphere.

Not less impressive were the changes in the economic and social structure: the enlargement of the bounds of commerce, the genesis of new forms of industrial activity; the development of the principles of co-operation and combination; the deepening sense of social responsibility and social solidarity,—all these things were characteristic of the England of the nineteenth century.

Nevertheless, our survey would seem to have substantiated the claim put forward in the opening pages of this work Great as were its achievements in the domain of pure intellect, of applied science, of social service, and of industrial development, the nineteenth century will take rank among the ages by virtue of its contribution to political experiment and to the art of government. The on-coming of Democracy, extension of the Overseas Empire and the evolution of the self-governing portions of that Empire into a Confederated Commonwealth, these are the things that will to all time distinguish the Victorian era.

SELECT BIBLIOGRAPHY

The assigned limits of this work do not allow for an exhaustive or critical bibliography, for which see Sir E. Ll. Woodward. *Age of Reform 1815-1870* and R C K. Ensor · *England 1870-1914* For many aspects of the period there is still much work to do in the files of government departments in the Public Record Office and in the private papers of ministers, of which the British Museum has large collections.

The following rough working list of books has been drawn up since the text was last revised

A. General :—

The Annual Register ; Hansard : *Parliamentary Debates* (compiled mainly from newspapers) ; *Statutes of the Realm ;* P Ford ed *Hansard's Parliamentary Papers 1696-1834* and *Select List of British Parliamentary Papers 1833-1899* The best histories are Sir E Ll Woodward *Age of Reform 1815-1870 ;* R C K. Ensor . *England 1870-1914 ;* and E Halévy *History of the English People in the 19th Century* (incomplete for 1841-1895) See also · Sir S Walpole · *History of England* [1815-1856] and *History of 25 Years* [1856-1880] , H Paul *Modern England* [1846-1895] , J. McCarthy *History of our Own Times* [1837-1897] , *Political History of England .* 1801-1837 (G C Brodrick and J. K Fotheringham) and 1837-1901 (Sir S Low and Ll C Sanders) ; H W C. Davis . *Age of Grey and Peel ,* R H Gretton · *A Modern History of the English People 1880-1922* (based on newspapers) , *History of " The Times " ;* Sir J A. R Marriott *This Realm of England*

B. Constitutional . —

W. Costin and J S Watson · *Law and Working of the Constitution* II, 1784-1914 , Sir C G. Robertson · *Select Statutes, Cases, and Documents ,* Sir D. L Keir . *Constitutional History of Modern Britain* 1485-1937 , with F H Lawson · *Cases in Constitutional Law ,* Sir T E May . *Constitutional History of England,* ed F Holland, and *Parliamentary Practice,* ed Sir G Campion , W. Bagehot . *English Constitution,* ed A J Balfour , Sir H Maine *Popular Government ,* W E H Lecky *Democracy and Liberty ,* Sir W R Anson · *Law and Custom of the Constitution,* 2 ed , A. V Dicey *Law of the Constitution,* 9 ed , and *Law and Public Opinion ,* A L Lowell *Government of England ;* E. and A G Porritt · *Unreformed House of Commons ;* J R M Butler · *Passing of the Great Reform Bill ;* C Seymour *Electoral Reform in England and Wales ;* C S. Emden · *The People and the Constitution ,* ed. *Selected Speeches on the Constitution ;* Sir W S Holdsworth . *History of English Law* XIII, XIV , M Ostrogorski *Democracy and the Organization of Political Parties ,* K B. Smellie *100 Years of English Government,* 2 ed , N. Gash · *Politics in the Age of Peel ,* Marriott . *Mechanism of the Modern State ,* Sir W I Jennings *Cabinet Government ;* S and B Webb *English Local Government ,* J. Redlich and H W Hirst *Local Government in England.*

C. Economic and Social —

Sir J. H. Clapham · *Economic History of Modern Britain.*

The Economist (from 1844) ; *Economic History Review ;* G. R Porter : *Progress of the Nation ,* C. R. Fay · *Great Britain from Adam Smith to the Present*

Day; F Engels *Condition of the Working-Class in England in 1844*; T Carlyle *Chartism*, M Hovell *Chartist Movement*, J L and B Hammond *Town Labourer, Village Labourer, Skilled Labourer*, all 1760-1832; *Bleak Age*, H Mayhew. *London Labour and the London Poor*, M Beer *History of British Socialism*, B. Webb *My Apprenticeship*, S and B. Webb *Trade Unionism*, *Industrial Democracy*, G M Young ed *Early Victorian England*, G. D H Cole *Cobbett*; ed *Cobbett's Rural Rides*, *Short History of the British Working Class Movement*; *Chartist Portraits*, *A Century of Co-operation*, T S Ashton *Industrial Revolution*, R J Cornewall-Jones *British Merchant Service*, R E Prothero *English Farming Past and Present*, C Booth *Life and Labour of the People of London*, W Milne-Bailey *Trade Union Documents*

Vast stores of information lie in the decennial *Census* returns and in blue books, of which these *Reports* may be singled out. on agriculture, (*a*) select committees, 1814, 1821-1822, 1833, 1848, (*b*) royal commissions, 1879, 1881-1882, 1893-1897, on combination laws, 1825, poor law commissioners', 1834 and 1909, factory commissioners', 1833, 1842, 1876, on municipal corporations, 1835, on hand loom weavers, 1840, on trades unions, 1876, on trade depression, 1885, and on labour, 1893

Excellent and imaginative pictures of ordinary life are to be found in the novels of Dickens, Trollope, Disraeli (*Sybil*), George Eliot, Kingsley, Mrs. Gaskell, Meredith, and Mrs Humphry Ward, and in Kipling's stories.

D. Foreign Policy.—

R W Seton-Watson *Britain in Europe* is the best guide, supplemented by H W V Temperley and L M Penson *Foundations of British Foreign Policy* Their *A Century of Diplomatic Blue Books* lists all parliamentary papers on foreign affairs from 1814 to 1914. Sir E Hertslet *Map of Europe by Treaty* gives all treaty texts for 1814-1891; *British and Foreign State Papers* (indexes, vols. 64 and 93) cover 1815-1901 These two works, which overlap each other, are not confined to Great Britain Nor are G Weil *L'Éveil des Nationalites* 1815-1848, C-H Pouthas *Démocraties et Capitalisme* 1848-1860, H. Hauser, J Maurain and P Benaerts *Du Libéralisme à l'Impérialisme* 1860-1878, and M Baumont. *L'Essor industriel* 1878-1904, the most recent general histories of Europe

See also Marriott *History of Europe 1815-1939*, *Makers of Modern Italy*; *The Eastern Question*, Sir C K Webster *British Diplomacy 1813-1815* (texts), *Congress of Vienna*, *Foreign Policy of Castlereagh 1815-1822*, *Foreign Policy of Palmerston 1830-1841*, Temperley *Foreign Policy of Canning*, *England and the Near East—the Crimea*, B K Martin *Triumph of Lord Palmerston*; R Cobden *Three Panics*, J A Hobson · *Cobden the international man*, G B. Henderson *Crimean War Diplomacy*, G M. Trevelyan *Garibaldi and the making of Italy*, P de la Gorce · *Histoire du second Empire*; E Eyck *Bismarck* (better in German than in English), Newton *Life of Lyons*, Sir H Maxwell *Life of Clarendon*, S Lane-Poole *Stratford de Redcliffe*, Fitzmaurice *Life of Granville*, A Ramm ed. *Gladstone-Granville Correspondence 1868-1876*; Seton-Watson · *Disraeli Gladstone and the Eastern Question*, W. Taffs *Odo Russell*, Acton *Historical Essays*; Mrs R Wemyss *Memoirs and Letters of Morier*, W L Langer *European Alliances and Alignments* [1871-1890]; *The Diplomacy of Imperialism* [1890-1902], A. J Marder. *British Naval Policy 1880-1905*

See also (G below) lives of other foreign secretaries.

E. The Empire.—

(I) *India.*

Cambridge History of the British Empire IV and V, with full bibliographies

A. B Keith *Constitutional History of India 1600-1935*, ed *Speeches and documents on Indian policy*, R Muir *Making of British India*; Marriott, *English in India*, D. C. Boulger: *Lord W Bentinck*; Hastings *Private Diary*; Colchester. *Administration of Ellenborough*, Hardinge *Viscount Hardinge*, Sir W Napier *Conquest of Scinde*, *Life of Sir C Napier*, Sir W. Lee Warner, *Protected Princes of India*, *Life of Dalhousie*; J. C Baird *Letters of Dalhousie*; Sir H S. Cunningham, *Earl Canning*, Sir J W Kaye and G B Malleson: *History of the Sepoy War*; T. Rice Holmes: *History of the Mutiny*; Sir F. J Goldsmid *Outram*; Sir H B. Edwardes *Sir H Lawrence*, R. B Smith: *Lord Lawrence*; L Shadwell. *Life of Colin Campbell*, J. C Marshman ed.: *Memoirs of Sir H Havelock*, Sir G O. Trevelyan: *Cawnpore*; Sir H. Durand, *Afghan War*; Sir W W Hunter: *Lord Mayo*, L. Wolf. *Lord Ripon*; Sir C. Ilbert *Government of India*; Sir A Lyall *Rise and Expansion of British Dominion in India*; *Life of Lord Dufferin*; Roberts. *41 Years in India*, Curzon *British Government in India*, Sir W S Churchill *With the Malakand Field Force*, Sir R Coupland. *Indian Problems 1833-1935*, R. Kipling: *Soldiers Three*, *Plain Tales from the Hills*, etc., V Garrett and E Thompson, *Rise and Fulfilment of British Rule in India*

(II) *The Dominions and the Colonies*

Cambridge History of the British Empire II, VI-VIII, with full bibliographies, especially for each dominion

Sir C. P Lucas: *Historical Geography of the British Colonies*; and ed. *Durham Report*; E M Wrong *Charles Buller and Responsible Government*; E. G Wakefield: *Art of Colonization*, Sir G C. Lewis: *Government of Dependencies*, Sir C W Dilke: *Greater Britain*, Sir J R Seeley: *Expansion of England*, J. van der Poel *The Jameson Raid*, B Williams: *Rhodes*; Sir C Headlam ed: *Milner Papers*, E Crankshaw: *The Forsaken Idea* [Milner's imperialism], J. A Hobson *Imperialism*, L S Amery: "*The Times*" *History of the War in South Africa*, H E Egerton. *British Colonial Policy*; *Federations and Unions of the British Empire*, Marriott: *Evolution of British Empire and Commonwealth*, R Muir *Short History of the British Commonwealth* II; Sir W I Jennings and C. M Young *Constitutional Laws of the British Commonwealth*, A B. Keith *Speeches and Documents on British Colonial Policy 1763-1917.*

F. Ireland.—

J L Hammond *Gladstone and the Irish Nation.*

J. C Beckett *Short History of Ireland* (introductory), J E Pomfret. *Struggle for Land in Ireland*, Sir J O'Connor *History of Ireland*, W E. H. Lecky: *Leaders of Public Opinion in Ireland*, Bryce ed *Two Centuries of Irish History*, N Mansergh *Ireland in the Age of Reform and Revolution*, F. S L. Lyons *Irish Parliamentary Party* 1890-1910, *Reports* of the Devon (1845), Richmond (1881), Bessborough (1881), Cowper (1887), and Special (1890) Commissions

W J. FitzPatrick ed.: *Correspondence of Daniel O'Connell*; G S Lefevre *Peel and O'Connell*; *Gladstone and Ireland*, Sir C G Duffy: *Young Ireland*; R. B O'Brien. *50 Years of concessions to Ireland*; *Life of Drummond*, *Life of Parnell*, J Mitchel *Jail Journal*; H. Le Caron *25 Years in the Secret Service*, M J F McCarthy. *The Irish Revolution*, T. P O'Connor: *The Parnell Movement*, Sir H. Plunkett. *The New Ireland*

G. Biographies, &c (short titles) —

The Dictionary of National Biography (ed Sir L Stephen and Sir S. Lee) and its *Supplements* cover almost everyone of importance.

A Aspinall ed *Letters of George IV*; *Formation of Canning's Ministry*, Buckingham *Memoirs*, C C. F Greville *Journals* (best though rarest ed. Strachey and Fulford), Sir A Alison *Castlereagh Correspondence*, W R Brock *Lord Liverpool and Liberal Toryism*, Temperley *Canning*, Sir H Maxwell ed *Creevey Papers*, J W. Croker *Correspondence and Diaries*; G M Trevelyan *Grey of the Reform Bill*, *John Bright*, G Wallas *Francis Place*, Sir D. Le Marchant *Althorp*, Esher, A. C Benson, and G E Buckle ed *Letters of Queen Victoria*, L Strachey *Queen Victoria*, R. Fulford *Prince Consort*, W M Torrens *Melbourne*, Disraeli *Lord G Bentinck*, Sir R Peel *Memoirs*, C S Parker *Peel*, *Graham*, A A W Ramsay · *Peel*; I I Bowen . *Cobden*, Lady F Balfour . *Aberdeen*, Sir G. O Trevelyan *Macaulay*, H C F Bell *Palmerston*, G P Gooch ed *Early Letters of Russell*, Sir S Walpole . *Russell*, J Bright *Diaries*, J L. and B Hammond *Shaftesbury*, Malmesbury *Memoirs*, Sir T W Reid *Forster*, W F Monypenny and G E Buckle *Disraeli*, J Morley *Gladstone*, *Cobden*, P Guedalla *Gladstone and Palmerston*, *The Queen and Mr Gladstone*, Lady G Cecil *Salisbury*; Lady F Cavendish *Diary*; B Holland *Devonshire*, A R D Elliot: *Goschen*, Rosebery *Miscellanies*, Crewe *Rosebery*; S Gwynn and G M Tuckwell. *Dilke*, Lady V Hicks-Beach *Hicks-Beach*, Selborne. *Memorials*, Argyll *Autobiography*, A G. Gardiner *Harcourt*, Sir A E West *Private Diaries*, E Marjoribanks and I Colvin *Carson*, Sir W S Churchill *Lord R Churchill*, J A Spender *Campbell-Bannerman*, J. L Garvin and J Amery *Chamberlain*; Newton *Lansdowne*.

H Thought —

G. M Young *Victorian England Portrait of an Age*

J Bentham *Fragment on Government* (pubd 1776, but important), J H Newman: *Apologia pro vita sua*, J S Mill *Utilitarianism*, *On Liberty*, *Representative Government*; *Autobiography*, C R. Darwin *Origin of Species*, Sir H Maine *Ancient Law*, T H Green *Political Obligation*, H. Spencer: *Principles of Ethics*